

हमारे श्रीमहाराजजी



लेखक

ब्रह्मचारी शिवानन्द 'आञ्जनेय'

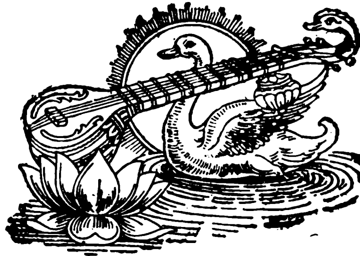
सम्पादक

स्वामी सनातनदेव

हमारे श्रीमहाराजजी

(पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका जीवन-परिचय)

स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती कृत भूमिका-समलंकृत



लेखक—

ब्रह्मचारी शिवानन्द 'आञ्जनेय'

सम्पादक—

स्वामी सनातनदेव

मिलने का पता—

श्रीकृष्णाश्रम, दावानलकुण्ड

वृन्दावन (मथुरा)



प्रथम संस्करण : नवम्बर १९७०

द्वितीय संस्करण : मई १९७८

तृतीय संस्करण : दिसम्बर १९८४

मूल्य : [illegible] मूल्य

बीस रुपया



प्रकाशक—

श्रीपूर्णानन्द तीर्थ (श्रीउड़ियाबाबा)

ट्रस्ट समिति

वृन्दावन (मथुरा)

मुद्रक—

श्रीसर्वेश्वर प्रेस,

वृन्दावन

वन्दन : अभिनन्दन

ब्रह्मचारी श्रीआञ्जनेयजीने 'हमारे श्रीमहाराजजी' को एक समर्थ अभिव्यञ्जना दी है। अबतक जीवन-चरितके साहित्य-में जो अनेक अमूल्य रत्न प्रकट किये गये हैं, उनमें यह सर्व-श्रेष्ठ रत्नके रूपमें प्रकट हुआ है। यह इतनी श्रद्धा, भावना, प्रीतिके स्नेहसे सिक्त करके लिखा गया है कि चिरकाल तक भावुक भक्त, अभ्यासी साधक एवं जिज्ञासुजनोंको पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

श्रीमहाराजजी—'तुम ब्रह्म हो'—ऐसा प्रायः नहीं बोला करते थे। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा भी नहीं बोलते थे। उनसे जब कोई पूछता कि आप कौन हैं तो कहते—'जो तुम देख रहे हो।' कभी कहते—'मैं चराचरका सेवक हूँ।' कभी कहते—'मेरे एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश चिनगारियोंकी तरह चमकते और बुझते रहते हैं। उनसे कोई कह देता कि आप हमारे पिता हैं, स्वामी हैं, मित्र हैं तो 'हाँ' कर देते थे। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि उनकी दृष्टिमें कोई विशेष नहीं है। उन पर जो कोई, जिस किसी विशेषका आरोप कर ले, सब ठीक है। न विधि, न निषेध। उनकी उन्मुक्त मुस्कान ही मानो समग्र प्रपञ्च हो।

उनके शरीरको कोई चुपके-चुपके उठा ले जाता, कोई उनके पेटपर सिर रखकर सो जाता। कोई पूजा करता, कोई झूला झुलाता। कोई कृष्ण कहता, कोई राम, कोई शिव कहता। उन्होंने स्वयं किसीको न कभी कोई प्रेरणा दी कि ऐसा कहो या मानो और न तो किसीको निषेध ही किया। लोगोंने गालियाँ

भी दीं और स्तुतियाँ भी कीं। पूजा-प्रतिष्ठा भी हुई और अपमान-तिरस्कार भी हुए। फूलमाला चढ़ीं और गडाँसा भी। परन्तु यह सब औरोंकी दृष्टिमें था, अज्ञानियोंकी दृष्टिमें था, उनकी दृष्टिमें कुछ नहीं, ज्यों-के-त्यों अविचल, निर्विकार। यदि कभी किसीने अधिष्ठानकी स्वयंप्रकाशकी अथवा ब्रह्मकी मूर्ति देखी हो तो कहा जा सकता है कि वह हमारे श्रीमहाराजजीका ठीक-ठीक दर्शन कर चुका है। सभी अध्यारोप और अपवाद उनमें हुए और गये। सभीका पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म है। अनेक महात्मा इसका उद्घोष भी करते रहते हैं; परन्तु वे ब्रह्मके व्यावहारिक स्वरूप थे। जिज्ञासुओंके लिये वे ब्रह्मविद्वरिष्ठ महात्मा थे, भक्तोंके लिये भगवान् थे, परन्तु वे स्वयं क्या थे उसको वे भी नहीं बतला सकते थे।

यह हमारे जन्म-जन्मका पुण्य प्रारब्ध अथवा ईश्वरका भूरि-भूरि अनुग्रह ही था कि हमें उनके सत्संग, आलाप और घनिष्ठ सम्पर्कका सुअवसर प्राप्त हुआ। हमने उनके साथ यात्राएँ कीं, भोजन किया, शयन किया, बरसोंतक उनकी गोदमें क्रीड़ा की। उनकी वह मस्ती, वह मुस्कान, वह सिंहकी-सी चाल, वह वेदान्त-गर्जना, वह निरपेक्षता अब भी मूर्तिमान होकर हमारे नेत्रोंके सम्मुख नृत्य कर रही है। हम इस कल्पनासे ही गद्गद हो जाते हैं कि हमें उनके निज जनोंमें एक स्थान प्राप्त हुआ। मैं रूठता था, वे मनाते थे। मैं खानेको मना कर देता था, वे खिलाते थे। हमने कभी अपने मनसे उनको एक माला नहीं पहनायी, कभी एक फूल नहीं चढ़ाया; परन्तु मैंने अनेक बार यह अनुभव किया कि मैं उनमें समा गया हूँ और वे मुझमें समा गये हैं। वे अपने स्थानपर ज्यों-के-त्यों हैं। हमारा उनमें डूबना और उतराना शाश्वत है। यह होता आया है और होता रहेगा।

हमारे इस अविच्छेद्य सम्बन्धको माया, प्रकृति, अविद्या अथवा सर्वान्तर्यामी ईश्वर भी विच्छिन्न नहीं कर सकता। यह अटूट है, शाश्वत है, परमार्थ है।

महापुरुषोंके जीवन-चरित्रोंकी लड़ीमें, कड़ीमें 'हमारे श्रीमहाराजजी' एक सुमेरु रत्नके समान सर्वदा देदीप्यमान रहेगा और अनेक जिज्ञासु एवं ज्ञानी, महात्माका जीवन कैसा होता है, इसकी शिक्षा इससे लेते रहेंगे।

हमारे श्रीमहाराजजीके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम और ब्रह्मचारी श्रीआञ्जनेयजीका हार्दिक अभिनन्दन।

वृन्दावन
२६-९-७०

अखण्डानन्द सरस्वती
ट्रस्टाधिपति
श्रीपूर्णानन्दतीर्थ (श्रीउड़िया बाबा) ट्रस्ट समिति

आमुख

आजसे प्राय: बत्तीस वर्ष पूर्वकी बात है इन पंक्तियोंके लेखकके मनमें यह संकल्प हुआ था कि परम पूज्यपाद श्रीमहाराजजीकी जीवनकथा लिखी जाय। परन्तु वह काम हो कैसे ? हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं था जिससे हम उनके प्रारम्भिक जीवनका विवरण संकलित कर सकें। तब मैंने उनसे ही पूछ-पूछकर कुछ बातें लिखनी आरम्भ कीं। परमकृपालु तो थे ही। मैं जो पूछता बता देते थे। इस प्रकार उन्हींकी कृपासे हम उनके विषयमें कुछ सामग्री सञ्चित करनेमें समर्थ हुए।

पीछे यथासमय मैंने उन्हें क्रमबद्ध करके लिखना आरम्भ किया और प्राय: सौ पृष्ठ लिख भी लिये। किन्तु फिर लेखनी रुक गयी और मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मैं उनकी जीवन-कथा लिखनेका अधिकारी नहीं हूँ। प्रत्येक कार्य किसी योग्य अधिकारीके द्वारा सम्पन्न होनेपर ही सफल होता है। सर्वान्तर्यामी हरि जिससे जो काम कराना चाहते हैं उसीके हृदयको उसके लिए प्रेरित करते हैं और वही उसमें सफल भी होता है। जीवकी सारी योग्यता उन्हींका तो कृपाप्रसाद है। उस समय तो चित्तमें कुछ निराशा-सी थी कि अब यह कार्य कैसे होगा ? क्योंकि श्रीमहाराजजीके भक्तपरिकरमें लेखनादिकी ओर किसी अन्य व्यक्तिकी कोई प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती थी। परन्तु भगवत्कृपाके खेल तो बड़े अनूठे होते हैं। वह किससे कब क्या करायेगी—कुछ कहा नहीं जा सकता। सचमुच वह अघटनघटना-पटीयसी हैं। उसने यह अद्भुत लीला की हमारे परम प्रिय ब्रह्मचारी श्रीआञ्जनेयजीके हृदयमें बैठकर।

श्रीब्रह्मचारीजी जन्मत: आन्ध्रदेशीय हैं। तिलगू इनकी मातृभाषा है। हिन्दीका विधिवत् अध्ययन इन्होंने कभी नहीं किया। पढ़ने और बोलने का तो अभ्यास है, परन्तु लिखना बिलकुल नहीं जानते। हाँ, अँग्रेजीका अभ्यास अवश्य है। तथापि भगवत्कृपासे इन्हें भावसम्पत्ति भरपूर प्राप्त है। श्रीगुरुदेवके चरणोंमें इनकी अटूट श्रद्धा है। और भाषा तो भावका ही अनुसरण करती है। जहाँ भाव न हो वहाँ कोरा वागाडम्बर तो काष्ठपुत्तलिकाके शृङ्गारके समान है। अत: अन्तर्यामी श्रीगुरुभगवान्ने इन्हींको इस कार्यके लिए अपना माध्यम चुना। एक बार स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीका

संकल्प भी यह कार्य करनेका हुआ था। इस विषयमें उन्होंने जब श्रीमहाराजजीसे चर्चाकी तो उन्होंने कहा, "सन्तोंकी जीवनी कागजपर नहीं लिखी जाती, वह तो दिलमें लिखी जाती है।" बस इतनेसे ही उनका संकल्प तो निवृत्त हो गया। परन्तु यह अवश्य एक हृदयमें ही लिखी जा रही थी और इस पुस्तकके पन्नोंमें वह हृदयांकित जीवनगाथा ही अभिव्यक्त हुई है।

श्रीब्रह्मचारीजीको आरम्भसे ही यह कार्य करनेकी लगन थी। उन्होंने मेरे लिखे हुए पन्नोंकी प्रतिलिपि करा ली और जहाँ-तहाँसे आवश्यक सामग्री जुटाते रहे। उपदेश और संस्मरणोंके रूपमें श्रीमहाराजजीके विषयमें जो साहित्य प्रकाशित हो चुका है उसका भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। श्रीमुखसे जो श्लोक और शब्द सुने थे उन्हें भी खूब सहेज कर रखा है और उनका यथास्थान उल्लेख भी किया है। उनके प्रेमियोंसे मिलनेपर उनके विषयमें जो उपयोगी बातें मिलीं उन्हें भी नोट कर लिया। इस प्रकार वर्षों से वे इस कार्यके लिए आवश्यक सामग्री सञ्चित करते रहे हैं। प्रायः दस वर्ष हुए उन्होंने पहले अँग्रेजीमें पूरी जीवनी लिखी थी। परन्तु फिर सोचा कि श्रीमहाराजजीके अधिकांश प्रेमी प्रायः हिन्दी जाननेवाले ही हैं और भारतकी राष्ट्रभाषा भी हिन्दी ही है। अतः यह पवित्र चरित्र हिन्दी भाषामें होनेसे ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। पहले तो विचार था कि उस अँग्रेजी पाण्डुलिपिका ही अनुवाद करा लिया जाय। किन्तु अँग्रेजी और हिन्दीकी लेखनशैली एवं वाक्यविन्यासमें बड़ा अन्तर होता है। अतः उन्होने स्वतन्त्र रूपसे ही यह ग्रन्थ लिखानेका निश्चय किया। मुझसे उन्होंने इसकी चर्चाकी और मेरा सहयोग चाहा। मैं तो चाहता ही था कि किन्हीं योग्य अधिकारी के द्वारा यह कार्य सुसम्पन्न हो जाय। अतः मुझे इसमें सहयोग देनेमें क्या आपत्ति हो सकती थी। मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस कार्यके लिए श्रीब्रह्मचारीजी प्रायः आठ महीने कसौली और फिरोजपुर छावनीमें मेरे साथ रहे। वे अपनी टूटी-फूटी हिन्दी भाषा और तिलगू लिपिमें लिख लेते थे और मैं उनसे सुनकर भाषाका परिष्कार करते हुए उसे देवनागरी लिपिमें लिखता जाता था। इसमें जो कुछ लिखा गया है सब उन्हींके हृदयका उद्गार है। शब्दावली भी अधिकतर उन्हींकी है। मैंने केवल उनके शब्दोंको यथास्थान बिठानेका ही काम किया है। कहीं-कहीं अधिक विस्तार होनेपर कुछ कम करनेका भी प्रयत्न किया है।

इस प्रकार यह अद्भुत ग्रन्थ तैयार हुआ। इसे स्वयं ही 'अद्भुत' कहना कुछ उल्टी-सी बात है। परन्तु करूँ क्या? यही इस ग्रन्थके विषयमें

मेरा मत है। इसका श्रेय सर्वथा श्रीब्रह्मचारीजीको ही है। परन्तु यह बात न तो उनकी मान्यता है और न मेरा मत है। उन्होंने तो इस कार्यके लिए अपनेको यन्त्रवत् उत्सर्ग कर दिया था। दिनभर मनन होता रहता और रातको एक-एक बजेतक लेखनी चलती रहती। लिखनेवाले ये थे, किन्तु लिखानेवाला कोई और था। इन्हें कुछ पता नहीं था कि वह क्या लिखावेगा। इसमें तलस्पर्शी भाव है, तत्त्वस्पर्शी विचार है, मर्मस्पर्शी काव्य (गद्यकाव्य) है और लक्ष्यस्पर्शी खोज है। एक सच्चे सन्तकी जीवनीमें जो कुछ होना चाहिए वह सभी इसमें मिलेगा। यह लेखककी कोई कलाकृति नहीं, साधना है। अथवा यों कहो कि यह उनके हृदयका भावमय चित्र है। उनके गुरुदेव ही उनके इष्टदेव हैं और यह ग्रन्थ उनकी वाङ्मयी पूजा है। जब वे उनके विषयमें लिखने लगते हैं तो लेखनी मुखरित हो उठती है। परन्तु बहुत-कुछ लिख जानेपर भी वह अतृप्त-सी ही रह जाती है। उसे और भी बहुत कुछ कहना रह जाता है। परन्तु करे क्या, जिसके विषयमें वह कहना चाहती है वह तो अवाङ्मनसगोचर है। वह उसका ठीक-ठीक परिचय दे कैसे सकेगी? इसलिए उसे चुप होना पड़ता है। परन्तु उसका मूकास्वादन तो होता ही रहता है। आइये, हम भी उसके साथ उस अनिर्वचनीय रसका आस्वादन करें।

पुस्तक आपके हाथोंमें है। इसे यथासम्भव सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया गया है। परन्तु खेद है कि इसकी छपाईमें कई अशुद्धियाँ रह गयी हैं। पीछे दिये गये शुद्धिपत्रमें उनके संशोधनका प्रयत्न किया गया है। आप उसके अनुसार यदि अपनी पुस्तक शुद्ध कर लेंगे तो इसका भाव समझनेमें सुविधा रहेगी, नहीं तो कई जगह कुछ अस्पष्टता रह जानेकी सम्भावना है।

विनीत :
सनातनदेव

नम्र निवेदन

परमाराध्य गुरुदेव श्रीमहाराजजीकी असीम अनन्त अहैतुकी अनुकम्पासे, परम पूज्य श्रीबाबाके शुभाशीर्वादसे, परमादरणीय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीस्वामी अखण्डानन्दजीके आदेशसे तथा पूज्य स्वामी सनातनदेवजीके अपनत्वपूर्ण महान् सहयोगसे 'हमारे श्रीमहाराजजी' के रूपमें उनकी दिव्य जीवन-लीलाओंका यह आंशिक लेखन हो सका है, जिसकी उनके प्रेमी भक्त-जन चिरकालसे बाट जोह रहे थे। इन परम आदरणीय गुरुजनोंके श्रीचरणोंमें बार-बार प्रणाम कर यहाँ यह सूचित करता हूँ कि किस प्रकार इस ग्रन्थका अवतरण हुआ।

जिस समय पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने संन्यास लिया था उसी समय मुझे भी श्रीमहाराजजीकी चरणसेवा और सन्निधि प्राप्त हुई थी। प्रायः सातवर्षतक उनकी प्रत्यक्ष लीलाओंका आस्वादन, उनकी महावाणीका श्रवण और चरणरजके सेवनका सौभाग्य रहा। उसी समय मुझे श्रीमुनिलालजी (स्वामी सनातनदेवजी) द्वारा विधिवत् संगृहीत श्रीपूर्णानन्दप्रसंग नामका एक हस्तलिखित चरित्र मिला। इन अद्भुत परमाराध्य महापुरुषको देखते हुए मुझे वह संग्रह केवल सूत्ररूप ही जान पड़ा। उससे सन्तोष तो नहीं हुआ, परन्तु यह उत्साह अवश्य हुआ कि इस दिशामें अन्वेषण करूँ। जिन-जिन सन्तोंसे इस विषयमें जानकारी प्राप्त हो सकती थी उनसे मिलकर इसकी खोज करनेका मन हुआ। मैं जैसे-जैसे उनकी नित्यानन्दमयी लीलाओंका आस्वादन करता गया मुझे उनके उस आनन्दकान्तिमय जीवनकी खोजका शौक बढ़ता गया। श्रीमहाराजजीने आज्ञा दी कि जाओ गंगाकिनारे विचरो। मैं कर्णवाससे लेकर कानपुरके भी आगेतक धाराजीके किनारे-किनारे पैदल विचरता रहा और श्रीपूर्णानन्दप्रसंगमें जिनका उल्लेख था उन सन्तोंसे मिलता गया। जहाँ-जहाँ श्रीमहाराजजी अपनी सर्वात्मविहार लीलाके पहले रहे थे उन स्थानोंमें गया और उन सन्तोंसे मिला तथा उनके और श्रीमहाराजजीके साथ रहे हुए प्रेमी भक्तोंसे मिला और उनके साथ हुए सत्संग तथा जीवनचर्याके विषयमें अनुसन्धान करता रहा। उन सन्तोंके सिद्धान्त, साधन, रहन-सहन

और जीवनके विषयमें भी स्पष्टतया समझनेका प्रयत्न किया। इसमें मुझे सफलता भी मिली।

इस प्रकार फर्रुखाबादसे लक्ष्मणझूलातक जो श्रीमहाराजजीके प्रेमी सन्त रहे उनके सान्निध्य और सेवासे मेरी अभिलषित खोजमें बहुत उपयोगी सामग्री मिली। श्रीमहाराजजी भी कभी-कभी अपनी मौजमें कोई-कोई प्रसंग सुना जाते थे। और ऐसा कहकर सावधान भी कर देते थे कि यह बात गाँठ बाँधकर रखो, यह करोड़ोंकी बात है, फिर सुननेको नहीं मिलेगी और न कहनेवाले ही मिलेंगे। श्रीमहाराजजीके चरणोंमें जो भक्तवृन्द आते थे उनके लीलानुस्मरण सुनकर भी मैं अपने हृदयमें यह रस भरता था।

धीरे-धीरे अवश्यम्भावी लीलासंवरणका प्रसंग सिरपर टूट पड़ा। वास्तवमें सनाथ होते हुए भी उस आकस्मिक अदृष्टने हमको अनाथ और भ्रमपूर्ण दुःख-जालोंमें पटक दिया। तब इन उमड़ती हुई दुःखतरंगोंमें कोई आश्रय न पाकर मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। उस समय यह अन्तःप्रेरणा हुई कि उनकी समग्र लीलाओंका चिन्तन करते हुए बदरीनारायणतक गंगा-तटपर विचरो। उस समय साथमें कागज, कलम और स्याही रखते हुए गंगातटमें विचरकर श्रीमहाराजजीका यह लीलाचिन्तन लेखबद्ध करने लगा। ऋषिकेशमें पूज्य स्वामी शिवानन्दजीके शिष्य स्वामी श्रीचिदानन्दजी ने उन हस्तलिखित कतिपय प्रसंगोंको सुनकर अनुरोध किया कि इन्हें अवश्य पूरा करो। बहुत सुन्दर हो रहा है। फिर वृन्दावन आया। तब इस लीलाचिन्तनको सुनकर पूज्य स्वामी सनातनदेवजीने इन्हें लिखनेके लिए मुझे मानवसेवासंघसे कापियाँ दिलवायीं। इसके पश्चात् मैं हाथरस गया वहाँ प्रिय गुरुभक्त श्रीवंशीगोपाल तिवारीने अनुरोध किया कि इस पुस्तकको यहीं रहकर पूर्ण करो। तथा उन्होंने ही हस्तलिखित प्रति सुवाच्य अक्षरोंमें लिखनेके लिए श्रीदेवीदयालजी भट्ट रिटायर्ड प्रिंसिपल साहबको दी। श्रीबाबूराम शर्माके पुत्र रमेशचन्द्र शर्मा उस समय हाथरस नगर-पालिकाके एक्जिक्यूटिव आफीसर थे। उन्होंने मुझे अपना सारा बँगला देकर मेरे रहन-सहनकी व्यवस्था कर दी। मैं जी-जानसे जुट गया। इसमें मेरा एकमात्र उद्देश्य श्रीमहाराजजीका चिन्तन ही था, क्योंकि उनका चिन्तन ही पूर्णानन्द-स्वरूप है। यह सब मैंने आँग्ल भाषामें लिखा था। परन्तु जितना भी लिखता अधिक-अधिक लिखनेकी लालसा बढ़ती थी। 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' वाली बात हो गयी। उत्साहपूर्वक इसे अधिक-से-अधिक सुन्दर लिखनेका चाव बढ़ा।

इसी बीचमें मैंने पूज्य बाबासे इस ग्रन्थके विषयमें चर्चा की और इसमें सफलता-प्राप्तिके लिए उनका आशीर्वाद माँगा। आपने कहा, "इसमें हरएक दृष्टिसे लाभ है, तुम लिखते जाओ।" मैं जब उनसे मिला वे प्रसन्न हुए और मुझे उत्साहित करते रहे। मैं एकान्तमें इसी गुरुसमर्चनामें संलग्न था, परन्तु अपनी दुर्बलता देखकर इसे सबके आगे व्यक्त नहीं करता था। कुछ काल पश्चात् प्रेमी सन्तजन और भक्तपरिकरने अपनी संस्मरणाञ्जलि और उनकी विस्पष्ट कृपाओंका प्रकाशन दो खण्डोंमें 'श्रीउड़िया बाबाजीके संस्मरण' नामसे किया। उनके प्रकाशनके पश्चात् एक दिन हमारे परम-श्रद्धेय तथा श्रीमहाराजजीके अभिन्नस्वरूप स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने अकस्मात् मुझपर कृपादृष्टि करके कहा, "इन सस्मरणोंकी सहायतासे तुम श्रीमहाराजजीका जीवनचरित लिख सकते हो। उनका यह संकेतमात्र ही नहीं था। उस मधुर मुसकानके साथ प्रेमभरी दृष्टिसे वे इसे लिखनेका बल भी प्रदान कर रहे थे। फिर भी उपयुक्त समय अभी दूर था। तथापि लिखनेकी लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

फिर श्रीस्वामीजी द्वारा संस्थापित 'चिन्तामणि' नामकी त्रैमासिकी पत्रिकाका श्रीगणेश हुआ। तब उसके सम्पादक श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदीने श्रीमहाराजजीके विषयमें लेख या पुस्तक लिखनेका प्रेमपूर्ण अनुरोध किया। मुझे उत्साह तो अवश्य था, परन्तु अपनी दुर्बलताओंका विचार करके डरता था। फिर स्वामीजीने स्वयं आज्ञा की कि लिखो और लाओ, देरी मत करो। इस कार्यके लिए मुझे उत्साह तो था ही, परन्तु जनता-जनार्दन और सन्तसमाजके सम्मुख आनेमें चित्त हिचकता था। दाक्षिणात्य होनेके कारण हिन्ही भाषा लिखनेमें डरता था, क्योंकि भाषा, भाव और विचारका तो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। फिर कुछ साहस बटोरकर और करुणावरुणालय सद्‌गुरुदेवको प्रणामकर सभी गुरुजनोके स्मरण और ध्यानपूर्वक मैंने हिन्दीमें लिखना आरम्भ किया। पहले 'अहैतुकी कृपा' शीर्षक प्रसंग लिखकर स्वामी सनातनदेवजीको दिखाया। आप सुनकर प्रसन्न हुए और स्वयं सहयोग देकर इसे सफलतापूर्वक पूर्ण करनेकी अनुमति दे दी। हिन्दी और आंग्ल भाषाकी प्रतिपादनशैलियाँ भिन्न होती हैं और उन भाषाभाषियोंकी रुचियों में भी अन्तर होता है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है और श्रीमहाराजजीके परिकर-की मातृभाषा भी है। श्रीमहाराजजीकी निजी वाणी तथा उनके भाव और विचार भी हिन्दीमें व्यक्त हुए हैं। इसलिए मूलतः यह पुस्तक उनका यथा-वत् चरित्र होनेमें सफल हुआ है। मैं तो तिलगूभाषी होनेके कारण संकोच कर रहा था। किन्तु स्वामी सनातनदेवजीकी स्वीकृतिसे सबल होकर

श्रीगुरुदेवकी इस आराधनामें एक मन, एक दिल और एक प्राणसे संलग्न होनेके लिए मेरी उमंग और उत्साहमें वृद्धि हो गयी। तब मैं पूज्य मौनीबाबा स्वामी प्रबोधानन्दजीका आशीर्वाद लेकर श्रीरामकृष्णसाधनकुटी कसौली पहुँच गया। वहाँ पूज्य बंगाली बाबाजीके शिष्य श्रीविवेकचैतन्यजी ब्रह्मचारी ने बड़े प्रेमसे रखा। वहाँ चार महीने रहनेपर भी यह काम पूरा नहीं हुआ। फिर स्वामी सनातनदेवजीके साथ वृन्दावन होते हुए फिरोजपुर छावनी गया। वहाँ हमारी सुख-सुविधाका रामबाग-समितिने पूरा ध्यान रखा। इस प्रकार पूरे आठ मासमें यह ग्रन्थ पूरा हुआ।

भाई! मैं तो दाक्षिणात्य हूँ। जब हरिद्वारके गंगाजलकी एक बूँद सिरपर गिरती थी और आचमनको मिलती थी उस समय वह आनन्द लेते ही बनता था। उतने हीसे श्रीगङ्गाजीके दर्शन, मज्जन और पानका अद्भुत आनन्द मिल जाता था तथा उसे पानेकी और लालसा बढ़ती थी। ऐसा ही यह श्रीगुरु-भगवान्के दिये हुए उनके अपने पूर्णानन्दसिन्धुका बिन्दु है। अत: इसके दर्शन, स्पर्शन और मज्जनसे अतीव आनन्द प्राप्त होगा तथा उसे और भी अधिक प्राप्त करनेकी लालसा जगेगी। यह तो नामब्रह्म है, इसमें जितना निमज्जन करेंगे उतना ही यह अपना ऐश्वर्य, माधुर्य तथा रूप और लीला आदि प्रकट करेंगे। जिन्हें सच्चे सन्तोंकी खोज है इसके द्वारा अवश्य उनकी अभिरुचिकी पूर्त्ति होगी। मानवीय जीवनविज्ञानके लिए यह एक प्रयोगशाला है। यह सब श्रीगुरुप्रसाद और भक्तप्रसाद ही है। उनकी कृपावाटिकासे चुने हुए फूलोंसे बनी यह वैजयन्तीमाला है। इसकी भूमिका लिखकर परम पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने इस बालक को अनुगृहीत किया है। वास्तवमें यह आपकी अनुकम्पाका ही प्रसाद है। उनकी कृपा श्रीमहाराजजीकी ही कृपा है। पूज्य स्वामी सनातनदेवजी महाराज ने भी इसमें सहयोग देकर इस बालकपर महती कृपा की है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। उनके पूर्ण सहयोगके बिना यह महत्कार्य असम्भव ही था। 'गुण तुम्हार समुझहिं निज दोषू' वाले विस्पष्ट सत्यकी व्याख्या ही यह कृति है।

'बाल विनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु।'

बालककी भूल क्षमा करें। यदि कोई भूल या त्रुटि जान पड़े तो मुझे अथवा स्वामी सनातनदेवजीको सूचित करें, अवश्य सुधारनेका प्रयत्न किया जायगा।

श्रीकृष्णाश्रम, वृन्दावन — **कृपाप्रार्थी—**

फाल्गुन शु० ११ सं० २०२६ वि० — **शिवानन्द 'आञ्जनेय'**

ग्रन्थकारके विषयमें

ग्रन्थकार श्रीआञ्जनेयजीके विषयमें क्या कहा जाय। हम लोगोंमें वे ऐसे घुल-मिल गये थे कि उनके विषयमें कुछ जाननेकी बात कभी किसीको फुरी ही नहीं। न कभी किसीने उनका कोई गौरव ही माना। उनके भाव ही ने उनकी भाषाको गति दी है। इतने सुयोग्य होनेपर भी वे श्रीमहाराजजीके परिकरमें बालवत् रहते थे। देखनेमें भी अपनी आयुकी अपेक्षा अल्पवयस्क ही जान पड़ते थे। परिकरमें कोई भी रोगी या अशक्त हो उसकी सेवा करनेको सर्वथा सन्नद्ध रहते थे। शरीर और वस्त्रोंके परिष्कारकी ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता था। गुरुदेवके श्रीचरणोंमें उनकी अटूट श्रद्धा-भक्ति थी। वे अँग्रेजीमें भी श्रीमहाराजजीकी जीवनी लिखना चाहते थे। परन्तु इस संकल्पके फलीभूत होनेसे पूर्व ही प्रभुने अपने इस पार्षदको अपने पास बुला लिया। हमारे ट्रस्टाधिपति सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीका परमार्थ आश्रम, सप्तसरोवर, हरिद्वारमें श्रीमद्भागवतका प्रवचन चल रहा था। वहीं ३ अक्टूबर सन् १९७३ को उन्हें मस्तिष्ककी नाड़ी फटने (Cerebral Haemorrhage) का आक्रमण हुआ और प्रायः चौबीस घण्टोंमें ही अचेतावस्थामें उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

उनके पूर्वाश्रमके विषयमें यद्यपि हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है तथापि इस पुस्तकके आरम्भमें ही उन्होंने इतना परिचय तो दिया ही है कि वे आन्ध्रप्रदेशके गण्टूर जिलेके चीराला नामक ग्रामके रहनेवाले थे और किसी समाचार पत्रके सम्वाददाता थे। उन्होंने यद्यपि मैट्रिकतक ही शिक्षा पायी थी तथापि मेधावी छात्र होनेके कारण अँग्रेजीमें उनकी योग्यता अच्छी थी। उनका जन्म ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। पिताजी उस जिलेके अच्छे पहलवान थे। घरमें तीन भाई थे। उनका विवाह भी हुआ था और प्रायः छः महीनेका अल्पवयस्क पुत्र छोड़कर ही वे विरक्त हो गये थे। वह बालक अब एम. ए. होकर सर्विस कर रहा है। वह पीछे आकर उनसे मिला भी था।

खेद है कि उनके परिवारसे परिचय न होनेके कारण उनके विषयमें हम अधिक कुछ नहीं लिख सकते। उनकी साधना और अनुभूतियोंका यत्किञ्चित् आभास जहाँ-तहाँ इस पुस्तकमें ही मिल जाता है।

—सम्पादक

समर्पण

श्रीहरिनामरस-मूर्ति दीनदयालु वात्सल्यभण्डार
ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीको
पुण्य स्मृतिमें

आपका बालक
'आञ्जनेय'

श्रीपूर्णानन्दतीर्थस्तवः

(रचयिता—पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)



श्रीपूर्णानन्दतीर्थस्फुरदमृतगवीविप्रुषाऽऽप्लावितानां,
नास्माकं मोक्षचिन्ता प्रविदितमहसां ब्रह्मभावं गतानाम् ।
किन्त्वेषा बोधधारा विघटितनिखिलाकारसंस्कारकारा,
स्वच्छन्दं दन्ध्वनीति प्रतिपदमधुना तामनुव्यञ्जयामः ॥१॥

ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। इस अद्‌भुत तीर्थसे वचनसुधा लहराती है। हम उसके सीकरोंमें स्नान कर चुके हैं। हमें अद्वितीय ज्योतिका बोध हो गया है और ब्रह्मात्मभावका अनुभव है, मोक्षकी कोई चिन्ता नहीं है। फिर भी उस कृपा-सीकरसे प्राप्त बोधकी धारा प्रवाहित होकर समस्त आकार एवं संस्कारके कारागारको छिन्न-भिन्न कर रही है और स्वच्छन्द उपदेश-ध्वनिसे परिपूर्ण कर रही है। अब हम प्रतिपद उसीको अभिव्यक्ति देते हैं।

शिक्षा सर्वागमानां निखिलजनमनः पावनी कापि दीक्षा,
दीप्ता सर्वात्मदृष्टिर्निरवधिकरुणा किं नु वात्सल्यवृष्टिः।
निष्ठा ब्रह्मात्मविद्याद्युतिदलिततमस्तोमविद्वन्मणीनां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो जगति विजयते सत्प्रतिष्ठा यतीनाम् ॥२॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी जय हो, जय हो। यह हमारे महाराजजी सम्पूर्ण शास्त्रोंकी मूर्त्तिमती शिक्षा हैं अथवा निखिल जनताके मानसको पावन करनेवाली कोई दीक्षा। ये प्रदीप्त सर्वात्मदृष्टि हैं, अपार करुणाके पारावार हैं अथवा वात्सल्यकी वर्षा हैं। हो न हो ब्रह्मात्मविद्याकी द्युतिसे अज्ञानान्धकारको दूर अपसारित करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। ऐसा लगता है जैसे महात्माओंकी शाश्वत प्रतिष्ठा ही इनके रूपमें प्रकट हो गयी हो।

सम्भोगे विप्रलम्भे निरुभयमभयं भाति भूपो रसानां,
विक्षेपे वा समाधौ विहरणनिपुणा ब्रह्मविद्येव नूनम् ।
इत्थं लोकेरशोकैरनुपदमधिकं भाव्यमानोऽवधूतः,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थः पथि पथि पथिकान् नन्दयन् बम्भ्रमीति ।।३।।

संयोग शृङ्गार और वियोग शृङ्गार दोनोंसे अलग और दोनोंमें विद्यमान ये निर्भय रसराज ही हैं क्या ? हो सकता है विक्षेप एवं समाधिमें समान विहार करनेवाली ब्रह्मविद्या ही इनके रूपमें प्रकट हुई हो। आनन्द से भरपूर जनता सब ओर इनके बारेमें उद्भावना कर रही है। ये कौन हैं। कोई अवधूत हैं। इनको लोग श्रीपूर्णानन्दतीर्थके नामसे जानते हैं। मार्गवासी लोगोंको आनन्द देनेके लिए ये पैदल ही पथ-पथपर विचरण करते हैं।

ब्रह्मानन्दाब्धिलीलाललितलहरिकाव्यञ्जितासंख्यबिन्दु-
ब्रह्माण्डव्रातरोमा विधुतविधिविधुत्र्यक्षविस्तारसीमा ।
संविद्भूमांशुमालोज्ज्वलविमलरुचिध्वस्तमायाविलासः,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो मम मनसि मनागात्मभावं बिभर्त्तु ।।४।।

ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। ब्रह्मानन्दसागरकी लीलाललित असंख्य बिन्दुओंसे छलकते हुए राशि-राशि ब्रह्माण्ड इनके रोम-रोममें स्थित हैं। विष्णु, ब्रह्मा और शंकरके विस्तारकी सीमा टूट चुकी है। अनन्त संवित् के राशि-राशि चिदाभास रश्मिसमूहकी चमकसे माया-विलासका विध्वंस हो रहा है। यही श्रीमहाराजजी कृपापूर्वक हमारे मनमें थोड़ा-सा आत्मभाव भर दें।

तीर्थानां नास्ति संख्या विलसति पुरतः कापि तेषामभिख्या,
येषां स्नानप्रदानप्रवचनपटिमा कां कलां नातिशेते ।
तच्चित्रं यस्य चित्रं कलितमपि मनाक् छ्रेयसां प्रेयसां च,
पारोक्ष्यं संपिधत्ते वितरति परमां पूर्णतामात्मरूपाम् ।।५।।

तीर्थोंकी संख्या नहीं है, गंगा-पुष्करादि, महात्मागण, विद्वान् सभी तीर्थ हैं। उनकी अद्भुत शोभा प्रत्यक्षरूपसे अनुभवमें आती रहती है। उनमें

स्नान करो, दान करो, प्रवचन सुनो। उनकी पटुता सभी कलाओंका अतिक्रमण कर जाती है। परन्तु श्रीपूर्णानन्दतीर्थमें एक विचित्रता है। यदि एक बार, केवल एक बार थोड़ी देरके लिए उनके चित्रका भी आकलन कर लिया जाये तो वह श्रेय एवं प्रेय दोनोंको प्रत्यक्ष कर देता है और आत्मस्वरूप सच्ची पूर्णताका दान कर देता है।

सा दृष्टिः सूक्ष्मलक्ष्या स्थिरचरविषया वासनास्पर्शशून्या,
सा दृष्टिर्दृश्यमुक्तं करणमिव परं सम्प्रसादैकरूपा।
सा दृष्टिर्यत्र नान्यत् सकलमविकलं ब्रह्म प्रत्यक् प्रशान्तं,
श्रीपूर्णानन्दनेत्रद्वयरसविलसत्कोणकारुण्यमात्रम् ॥६॥

वह दृष्टि जिसका लक्ष्य सूक्ष्म होता है, खुली रहकर स्थावरजंगमको देखती भी रहती है किन्तु वासनाका स्पर्श भी नहीं होता। वह दृष्टि जिसमें दृश्य न हो, निर्विषय करणके समान हो और सम्प्रसन्न समाधिरूप हो। वह दृष्टि जिसमें द्वैत है ही नहीं, सब कुछ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्विकार एवं प्रशान्त ब्रह्म ही है। वह शाम्भवी मुद्रा, सम्प्रज्ञात समाधि, अथवा निर्विकल्प-निर्बीज ब्रह्मनिष्ठा श्रीपूर्णानन्दतीर्थ महाराजके नयनयुगलके विलासपूर्ण कोणका कारुण्य-मात्र ही है।

यत्किञ्चद्वास्तु वस्तु प्रणमत कृतिनो ज्ञानतोऽज्ञानतो वा,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थामृतकणपवनस्पर्शधन्यं धरण्याम्।
यत्सम्पर्कादनर्हामिव हरिहरतां मन्यमाना महान्तः,
स्वान्तर्व्योम्नि प्रशान्तं निरुपधिविमलं ब्रह्म पूर्णं लभन्ते ॥७॥

सज्जनो! धरतीपर चाहे कोई भी वस्तु क्यों न हो, जो श्रीपूर्णानन्दतीर्थके अमृतकणसे प्लावित वायुके स्पर्शसे धन्य हो चुकी हो उसे ज्ञान या अज्ञानसे प्रणाम कीजिये। उस वस्तुके सम्पर्कसे महापुरुषोंके हृदयमें भी वैराग्यकी ऐसी उदात्त भावना उदित हुई है कि उन्होंने हरिहर पदवीको भी अयोग्य समझकर अपने हृदयाकाशमें प्रशांत, निर्माय, निर्मल, पूर्णब्रह्मको उपलब्ध किया है।

रे रे ब्रह्माण्डकोट्यः फलत बहुविधं रोमकूपेष्वभीक्ष्ण-
मीशा रे सावकाशं निजपदविहितां सद्व्यवस्थां विधत्त।
रक्ता भक्ता विरक्ता विलसत सकले सत्कले निष्कले वा,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थं वयमिह कुशला उत्कलं संविशामः ॥८॥

अरे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डो ! तुम हमारे एक-एक रोमकूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बार-बार फलो-फूलो। रे ब्रह्माण्डके स्वामियो ! तुम अवकाशके अनुसार अपने पदकी मर्यादाके अनुसार ब्रह्माण्डोंकी सद्व्यवस्था करो। रागी, भक्त और विरक्तो ! तुम लोग सत्कल या निष्कल ईश्वरमें विहार करो। हम चतुर लोग इसी धरतीपर, इसी जीवनमें उत्कल श्रीपूर्णानन्द-तीर्थमें भलीभाँति प्रवेश कर रहे हैं।

माया छाया वराकी कथमिव लभतां मय्यनन्ते प्रतिष्ठा-
मस्थाने चेश्वरत्वं द्रुहिणहरिहरा हन्त वह्नेः स्फुलिङ्गाः।
अद्वैते द्वैतखेला गगननलिनवत् स्वप्नवज्जीवमेला,
श्रीपूर्णानन्दवाणी श्रुतिशिखरसुधास्वर्णदी नः पुनातु ॥९॥

"तुच्छ माया छायामात्र है। वह मुझ अनन्तमें स्थान कैसे पा सकती है ? ईश्वरता भी किसकी ? कैसे ? राम राम ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो मुझमें आगकी चिनगारीके समान हैं। अद्वैतमें द्वैतका खेल आकाशमें कमल के खेल-सा है और जीवोंका मेला स्वप्न-सा।" यह है श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी वाणी। यह श्रुतिशिखर अर्थात् वेदके शिरोभाग वेदान्तकी सुधागंगा है। यह हमें पवित्र करे।

भक्तिः श्रद्धैकमूला विरहितविषया बोधमूलं विरक्ति-
र्दिध्यासा लक्षितेऽर्थे श्रवणमननजा सम्प्रसूते समाधिम्।
ज्ञानाभ्यासप्रधाना घनरतिरुदिता हन्त्यविद्यामवद्यां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थे वचसि वयममी निर्भरं मज्जिताः स्मः ॥१०॥

"भक्तिका एकमात्र कारण है श्रद्धा। ब्रह्मबोधका साधन है वैराग्य। सम्पूर्ण विषयोंमें अरुचि वैराग्य है। श्रवणमननजन्य निदिध्यासन लक्ष्यार्थमें समाधिको जन्म देता है। ज्ञानाभ्यासप्रधान घनरति उदित होकर भेदजननी अविद्याका नाश कर देती है।" यह हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थके वचन जो स्वयं तीर्थ हैं। अब हम निश्चिन्त होकर इसमें मग्न हो चुके हैं।

श्रीपूर्णानन्दकल्पद्रुमतलरजसा पाविते भूप्रदेशे,
यस्मिन्कस्मिन्निषीदन् सपदि निजपदे शान्तवृत्तिर्निसर्गात्।
दर्शं दर्शं स्वरूपं परिणतिविधुरं ब्रह्म निर्भेदमद्धा,
नः श्रद्धां नानुबन्धं श्रुतिशिखरगिरामाग्रहं नानुमन्ये ॥११॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थ हैं कल्पवृक्ष। उनके पदतलकी धूलिसे पावन जिस किसी भूमिप्रदेशमें बैठते ही बिना किसी साधनके तत्काल वृत्ति अपने स्वरूप में शान्त हो जाती है। परिणामरहित निर्भेद ब्रह्म अपना ही स्वरूप है—इसका साक्षात्कार होने लगता है। अब मुझे श्रद्धा, अनुबन्धचतुष्टय अथवा वेदान्तश्रवणके बिना ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता—इस मतवादमें आग्रह नहीं रहा।

क्षीराब्धिस्नापिताङ्घ्रिप्रथितगिरिशिरोनीलरत्नाङ्कजन्मा-
ऽऽर्त्तत्राणैकान्तशिक्षः क्षपितकलिमलो लब्धसंन्यासदीक्षः।
ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिप्रखररविकरोद्धूतमोहान्धकारो,
विश्वात्मा प्रत्यगात्मा विहरतु हृदये पूर्ण आनन्दतीर्थः ॥१२॥

गिरिशिरोमणि नीलाचल। स्वयं लक्ष्मीपिता क्षीरसागर जिनके चरणारविन्दका प्रक्षालन करते रहते हैं। श्रीपूर्णानन्दतीर्थने वहाँ जन्म लिया। उन्होंने सारी शिक्षा ऐसी प्राप्तकी जिससे आर्त्तोंका संरक्षण हो। लोगोंके मनसे कलियुगकी मलिनता धो दी। संन्यासदीक्षा ग्रहण की। ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिकी प्रखर रविरश्मियोंसे मोहान्धकारका निवारण कर दिया। वे ही विश्वात्मा हैं। वे ही प्रत्यगात्मा हैं। वे ही अद्वितीय पूर्णानन्द-तीर्थ हैं। हमारे हृदयमें चिरकाल तक विहार करें।

आविर्भूतं पुरस्तान्महदहह महो यद्रहो योगिगम्यं,
रम्यं स्वानन्दपूर्णं स्मितललितमुखं स्निग्धमुग्धावलोकम्।
आश्लिष्यद्वक्षसाऽलं विमृशदतिरसान्मूर्ध्नि हस्ताम्बुजाभ्यां,
लीलाशीलान्तरङ्गं मम नयनयुगं निर्युगं सञ्चकास्तु ॥१३॥

एकान्त साधना करके योगीजन जिस महान् दिव्य ज्योतिका दर्शन प्राप्त करते हैं, आश्चर्य है वही मेरे नेत्रोंके सामने प्रकट हो गयी है, कितना रमणीय, आनन्दसे परिपूर्ण। मुखारविन्द स्मितसुन्दर। अवलोकन स्नेहसे भरपूर एवं मुग्ध है। यह दिव्य ज्योति मुझे अपने वक्षस्थलसे आलिंगन करना चाहती है। बड़े प्रेमसे करकमलोंसे शिरःस्पर्श कर रही है। इसका हृदय लीलाके भावसे परिपूर्ण है। यह मेरे दोनों नेत्रोंके सामने कालकल्पनासे मुक्त होकर प्रकाशित होती रही।

पूर्णानन्ददया दृशा रसदया शश्वत्प्रसादोदया,
ब्रह्मज्ञानविनोदया जनमनोमोदाय निःखेदया ।
विश्वप्रेमविकासहासमुदया त्रैलोक्यसम्पद्दया,
पूर्णानन्ददया मदीयमनसे काञ्चित्कणां यच्छतु ।।१४।।

श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी दया अपनी पूर्णानन्ददायिनी दृष्टिसे मेरे मनको एक छोटी-सी कणिकाका दान कर दे। वह दृष्टि रसदायिनी है, निरन्तर प्रेम प्रसादसे आर्द्र है। ब्रह्मज्ञान विनोदिनी है, प्रेमी भक्तोंको आनन्द देनेके लिए अश्रान्त जागरूक है। हास्य-प्रमोदके द्वारा विश्व-प्रेमको विकसित करती है। त्रैलोक्य-सम्पदाका दान करती रहती है। हाँ ऐसी है यह उनकी दृष्टि ।

अखण्डानन्दसम्बोधपूर्तये ब्रह्ममूर्तये ।
सुधास्मितसमाश्लिष्टनेत्रान्तस्फूर्तये नमः ।।१५।।

वे अखण्डानन्दबोधकी सम्पूर्ति हैं। ब्रह्मकी मूर्त्ति हैं। सुधाभरी मुस्कानसे समाश्लिष्ट उनके नयनकोण छलकते रहते हैं। गुरुदेव श्रीपूर्णानन्द-तीर्थको नमस्कार है।



श्रीपूर्णानन्दाष्टकम्

पावनं परमं पुण्यं पद्मपत्रमिव स्थितम् ।
पूर्णप्रेमप्रदातारं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥१॥
सुखदं शान्तिदं सौम्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
सारासारप्रवक्तारं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥२॥
भजनं भाजनं भव्यं भक्तिभावप्रदायकम् ।
भक्तानन्दकरं भाव्यं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥३॥
मानदं मोहकं मुख्यं मानातीतं मनोहरम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥४॥
तार्किकं तर्कहन्तारं तर्कातीतं तु तुष्टिदम् ।
त्यक्तदण्डं तुरीयं तं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥५॥
परात्परं परातीतं पालकं परमेश्वरम् ।
पुरीनिवासिनं पुण्यं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥६॥
लौकिकं वैदिकं शास्त्रं ज्ञानविज्ञानसंयुतम् ।
भक्तान् शिक्षयते यस्तं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥७॥
लेह्यं चोष्यं च पेयं च सुचर्व्यं भोज्यमेव च ।
भुँक्ते भोजयते यस्तं (श्री) पूर्णानन्दं नमाम्यहम् ॥८॥

पुण्यं पापहरं स्तोत्रं यः पठेद्भक्तिभावतः ।
न त्वसौ भयमाप्नोति न दुःखं न पराभवम् ॥



विषयानुक्रमणिका





पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज



श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः

हमारे श्रीमहाराजजी

अर्थात्

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका जीवन-परिचय



: १ :

उनकी अहैतुकी कृपा

(उपक्रमणिका)

इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम् ।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ॥

भगवच्चरित्रकी अपेक्षा भी सन्त और भक्तोंके चरित्र भगवद्रसको प्रत्यक्ष प्रकट करानेवाले, शाश्वत आनन्द प्रदान करनेवाले, जीवनके वास्तविक स्वार्थका दिग्दर्शन करानेवाले तथा उसकी सहजावस्था और उनके स्वाभाविक माहात्म्यका उद्घाटन करनेवाले होते हैं। अतः अपनी कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक और भावमयी सम्पत्तियोंका सच्चा अभ्युदय करनेवाला समझकर मैंने श्रीमहाराजजीकी गुणगरिमाका गान करनेका निश्चय किया है।

इस अनुसन्धानप्रधान युगमें वास्तविक अनुसन्धान करने योग्य क्या है? दर्शनीय क्या है? श्रवणीय क्या है और माननीय क्या है? सच पूछें तो वह वस्तु अपना आपा ही है। यही युग, कल्प और शताब्दियोंसे

गूँजता हुआ श्रुति और सन्तोंका उद्घोष है—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**।'[1] (गीता १५।१५) सन्त ही जीवनका सर्वस्व है—ऐसा समझकर इस अजर-अमर गाथाके अनुसन्धानकी जिज्ञासा हुई। सन्त ही वास्तव में कवि है, क्योंकि वह क्रान्तदर्शी है, वह असलियतका आशिक, आर्त्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थीके लिए अनन्त निधि, प्राणिमात्रकी मधुर अमृतवर्षिणी माता तथा नित्य जीवनका दाता है और वही सम्पूर्ण रसोंमें विहार करनेवाला है। ऐसा जानकर मैं उनके जीवन-विज्ञानकी वाटिकामें विकसित पुष्पोंका चयन करनेके लिए चल पड़ा तथा उसके त्यागरसामृतसे भरपूर फलोंका आस्वादन करनेके लिए उद्यत हो गया। श्रीगुरुदेवके चरणोंकी उपासनासे सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्ति होती है और ज्ञानदाता गुरुदेवके समान इस त्रिभुवन में कोई नहीं है—ऐसा समझकर मैं अपने अनन्त आत्माका प्रदान करनेवाले श्रीगुरुदेवकी गुणगरिमाका कुछ बखान करता हूँ। उनकी महती अनन्त कृपासे ही इस अभिलाषाकी पूर्ति होगी। अपनी ओर देखने पर तो पैर पीछे हटने लगते हैं, लेखनी रुक जाती है और हृदय काँपने लगता है। परन्तु जब उन करुणा-वरुणालयकी ओर दृष्टि जाती है तो उत्साह उमड़ने लगता है और हृदय उल्लसित हो उठता है। उनकी अहैतुकी कृपासे ही आगे बढ़ना सम्भव है। प्रभो! शक्ति प्रदान करके इस प्रयासको सफल बनाइये।

(श्रीचरणोंकी ओर)

मेरी जन्मभूमि समुद्रतटपर थी। वहाँ ताड़के वृक्षोंकी बहुलता होनेके कारण मद्यनिषेध तथा समुद्र होनेके कारण नमक-सत्याग्रहमें सक्रिय भाग लेनेका अवसर मिला। जबसे श्रीराजेन्द्रबाबू काँग्रेसके अध्यक्ष हुए तबसे पत्रिका-प्रतिनिधियोंकी ओरसे संकेतलिपि (Short-hand) में नेताओंके प्रवचनोंकी प्रतिलिपि तैयार करनेका काम करने लगा। एकबार वेटपालममें पूज्य श्रीबापूजीको सहारा देनेका अवसर भी आया। उस समय मनको इस भावतरङ्गने अपनेमें निमज्जित कर लिया कि जीवनमें किसीका गुलाम नहीं रहूँगा। उसी समय हृदय और जीवनमें देश प्रेम प्रवाहित होने लगा। उन्हें देखकर '**स्वदेशे स्ववेशे स्वधर्मे स्ववर्णे जनानां प्रशस्यः प्ररूढोऽनुरागः**' यह जीवनका लक्ष्य बन गया।

असहयोग आन्दोलन चल रहा था उस समय अचानक मैंने सुना कि एक महात्मा पागल हो गये हैं। मैंने पूछा, "कौन?" उत्तर मिला, "दास

१. सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं (आत्मा) ही जानने योग्य है।

शेष स्वामी।" मैंने उनके गुरुदेव श्रीवासुदेव स्वामीको देखा था। परन्तु बालक होनेके कारण उनके सत्सङ्गका लाभ नहीं उठा सका। उन्होंने अपने परम प्रयाणसे पूर्व अपने सहस्रों शिष्योंमें सुब्बदास नामक शिष्यको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। और उन्हें अपने शेष रूपसे ही ठहराया था। तबसे आपका नाम श्रीदासशेष स्वामी हुआ।

उनका नाम सुनते ही मैं तुरन्त उनके दर्शनोंकी लालसासे चल पड़ा। स्वामीजी मेरे मित्र मधुसूदनराव चार्टर्ड एकाउण्टेण्टके घर पर थे। मैं उन्हें देखते ही समझ गया कि वे भगवदुन्मत्त हैं, पागल नहीं हैं। उनके समीप बैठने पर उनके अङ्गसे दिव्य गन्ध प्रसारित होती जान पड़ी। बहुत कालके सिर दर्दसे पीड़ित एक व्यक्ति उनके पास आया। उन्होंने उससे कहा, "राधेश्याम कहो।" उसके कहते ही उसका दर्द बन्द हो गया। रोते-रोते आया था, हँसते-हँसते चला गया। मैं आश्चर्यचकित होकर उन कौपीनमात्रधारी सन्तके साथ चल पड़ा। उनके अर्चाविग्रहको देखा तो वे चैतन्य, मुसकराते हुए और श्वास-प्रश्वास लेते जान पड़े। उन्होंने भोग लगाकर प्रसाद दिया। उस समय उनके शरीरपर उज्ज्वल नीलमणि-जैसी कान्ति उद्भासित हो रही थी।

मैंने उनसे अपने घर चीराला पधारनेकी प्रार्थना की। उन्होंने स्वीकार कर लिया और अकेले ही वहाँ पहुँच गये। केवल दो ग्रास भिक्षा ली। मैं सायंकालमें उनके पास गया। मालूम हुआ कि इस समय स्वामीजी मेरे मित्र शास्त्रीकी जङ्घापर सिर रखकर विश्राम कर रहे हैं। उतनी देर तक शास्त्रीजोको श्रीयुगलसरकारके वृन्दावनविहारकी झाँकी होती रही। वे भाव-विभोर होकर कह रहे थे कि यही सन्त की सहज रसरूपता है। रात को आठ बजे श्रीस्वामीजी और मैं विठ्ठलनगर चीरालामें अच्युतिनि सुब्बाराव राघवरावके घर छापर थे। उस समय मैंने श्रीस्वामीजीका प्रत्येक अङ्ग उज्ज्वल नीलमणिके समान जगमगाता देखा। उन नीलकमल रूप श्रीदासशेषजीसे दिव्य गन्ध निकल रही थी। मैं सहसा उनके श्रीचरणोंमें ढुलक गया। मुझे चेतना नहीं थी। चेत होनेपर देखा कि उज्ज्वल नील ज्योत्स्ना कुछ मन्द होकर श्यामवर्ण हो गयी है।

मैंने पूछा, "यह क्या हुआ?" वे बोले, "तुम्हारे पाप धुल गये हैं, अब सावधान होकर भजन करो।" जैसे श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी अङ्गकान्ति जगाई-मधाईके पापोंका सङ्कल्प लेने पर कुछ मलिन हो गयी थी और

फिर उसे आत्मसात् कर लेनेपर पुनः पूर्ववत् उज्ज्वल हो गयी उसी प्रकार मेरे पापोंको आत्मसात् कर लेनेपर श्रीदासशेषजीकी अंगकान्ति, जो पहले मलिन हो गयी थी, पुनः नीलोज्ज्वल हो गयी।

केवल इतना ही नहीं हुआ, मुझे उनकी हृदयश्रीका भी दर्शन हुआ। मुझे स्वप्नमें रसिकेश्वर श्रीश्यामसुन्दर और रासेश्वरी श्रीकिशोरीजीके दिव्य वृन्दावनविहारकी लीलाएँ दिखायी देने लगीं। उस समय महामन्त्र के सङ्कीर्तनकी ध्वनि भी सुनायी देती थी। उस ध्वनिकी अनवरत तरंगें प्रवाहित होती थीं। मानो नामब्रह्मसागरमें निरन्तर ज्वार-भाटा आ रहा हो। ऐसा जान पड़ता था मानो उनका चित्त ही मेरा चित्त बन गया। वे तो मानो चैतन्यरसविग्रह श्रीश्यामाश्यामकी लीलारसभूमि ही रह गये—मानो नामब्रह्मके मूर्तिमान् नृत्यकी रंगभूमि ही बन गये। इसे उनकी अहैतुकी कृपा कहो या शक्तिपात—यह सब हुआ अवश्य।

फिर स्वामीजी श्रीरङ्गम् चले गये। मैं उनके लिए बेचैन हो गया। मानो मेरे हाथमें आया हुआ खजाना खो गया। उस समय जलसे निकाली हुई मछलीको-सी मेरी अवस्था थी। भगवान्ने नेल्लूरमें मेरी नियुक्ति कर दी। वहाँकी यात्रा श्रीस्वामीजीकी खोजमें मेरी सहायक बनी। मेरे वहाँ पहुँचनेसे पूर्व श्रीस्वामीजी मेरे मित्र वोड्डुपल्ली सीताराम आञ्जनेयके घर ठहरे हुए थे। जब मैं वहाँ पहुँचा तो उन्होंने बताया कि अब वे श्रीरङ्गम् चले गये हैं। मैं उनके बिखरे हुए कृपापुष्पोंको बटोर रहा था। सीताराम आञ्जनेयने कहा, "मैंने स्वामीजीसे पूछा था कि गीताका सर्वोत्तम श्लोक कौन-सा है।" श्रीस्वामीजीने गीता खोलकर मेरे आगे रख दी। भगवान्की उस वाङ्मयी मूर्तिने मुझे यह श्लोक दिया—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (९।३०)

स्वामीजी प्रपत्तिमार्गके सन्त थे। गीताजीने भी उनके प्रपत्तिरसकी ही पुष्टिकी। मानो भगवद्वात्सल्यको खोल दिया। अब निरशाके लिए कोई स्थान नहीं था। भगवान् तो अनन्त वात्सल्यके भण्डार हैं—इस विश्वासकी पुष्टि हुई और उनका उत्साह द्विगुणित हो गया।

वहाँसे मैं श्रीस्वामीजीकी खोजमें चल पड़ा। मार्गमें परम प्रशान्त स्वात्मनिष्ठ श्रीरमण महर्षिजीके दर्शन हुए। उनसे पूछा कि वैवाहिक

जीवन आध्यात्मिक खोजमें साधक है या बाधक ? वे बोले, "इस मुख्य प्रश्न पर विचार करो कि मैं कौन हूँ।" फिर सिनेमाका दृष्टान्त देकर कहा कि शुद्ध प्रकाश देनेवाले अपने आत्माकी ओर बुद्धि उलटकर खोजो। इस प्रकार उनका सत्सङ्ग कर कावेरीके किनारे-किनारे पैदल ही पक्षीतीर्थ होकर चल पड़ा। रास्तेमें रसामृतलहरी भगवल्लीलाओंके दर्शन और चिन्तनमें डूबता-उतराता तथा रसवाहिनी सहज कवितामें झूमता श्रीरङ्गम् पहुँच गया।

वहाँ परम भक्त नटेश अय्यरने कहा, "श्रीस्वामीजी श्रीवृन्दावन आदि उत्तर भारतके तीर्थोंकी यात्राके लिए गये हैं। कुछ दिनोंमें ही श्रीकृष्णलीलामृतगान-उत्सवमें चीराला पधारेंगे।" मैं कावेरीका जल लेकर ठीक उत्सवके समय चीराला पहुँच गया। मैंने कावेरीके जलसे श्रीस्वामीजी के चरण धोये और सारा चरणामृत पी गया। कैसा आश्चर्य हुआ ? जिनका दिव्य विग्रह मयूरकण्ठके समान नीलवर्ण है, मुखाम्बुजश्री प्रसन्नतासे परिपूर्ण है और जिनकी मधुर मुसकान मनको हरनेवाली है उन श्रीश्यामसुन्दरकी किशोरमूर्ति प्रत्यक्ष मेरे साथ उस उत्सवस्थलीमें विचरने लगी। उनकी प्रेमभरी चितवनने मेरे हृदयको घायल कर दिया। "घायलकी गति घायल जाने।"

उत्सव समाप्त हुआ। पूज्य श्रीस्वामीजी व्रजयात्रामें श्रीभगवत्कृपाकी अपनी अनुभूतियाँ सुना रहे थे। कहते थे—"कुछ लोगोंने मेरे पैर छू लिए, इसलिए उनमें फफोले पड़ गये। परन्तु फिर वे स्वयं ही मिट गये। सारी यात्रा गोलोक धामके प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए हुई।" किसीने उनके सामने बैलको चाबुक मार दिया। उसी समय उन्हीं स्थानोंमें उनके शरीरमें चाबुक लगनेके चिह्न प्रकट हो गये। इस प्रकार **"मैत्रः करुण एव च"** ये भक्तके लक्षण उनमें मूर्त्तरूपसे प्रकट हुए। सत्य ही है—"ज्यों-ज्यों भीजै स्याम रङ्ग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।" आप कहते थे कि मन्त्र देते समय मेरे ओठ जलने लगते हैं और बड़ी दुर्गन्ध आती है। इससे स्पष्ट मालूम हुआ कि आचार्य पापोंको दहन करते हुए मन्त्र प्रदान करते हैं। मानो वे नूतन जन्मदाता ही होते हैं।

श्रीस्वामीजीके सामने मैंने यह प्रश्न रखा कि अब मुझे क्या करना चाहिए। आपने कहा, "आओ, ध्यानमें बैठो, श्रीप्रिया-प्रियतम ही निश्चय करेंगे।" मैं रात्रिके समय आँखें खोले ध्यान करने लगा। उस समय मुझे श्रीवृन्दावनके नित्यकिशोर वर-वधू श्रीधामकी ओर जाते हुए

दिखायी दिये। उस रूपमाधुरी और लीलास्थलीको देखकर मैं चकित हो गया। श्रीस्वामीजीको मैंने श्रीभगवान्‌का वह क्रियात्मक प्रत्यक्ष आदेश सुनाया। आप सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उसके पश्चात् मुझे स्वप्नावस्थामें भी श्रीवृन्दावनकी वनस्थली और गंगातटकी झाड़ी दिखायी दी।

उनकी उपासना थी कि श्रीलाडिलीजी मेरी पुत्री हैं, मैं उनकी माँ हूँ और श्रीकृष्ण मेरे दामाद हैं। उनके शरीरमें उनके इष्टविग्रह प्रकट होते थे। उनके शरीर और जीवन इष्टदेवकी लीलास्थली बन गये। उनमें रसप्रतिभाविता मति मूर्त्तिमती होकर प्रकट हुई थी। वे स्वयं श्रीश्यामसिन्धु की लहरी ही थे। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने गुरुदेवसे प्राप्त श्रीअवधयुगल-सरकारकी भी प्रत्यक्ष अनुभूतिकी थी। भाव ही उनका जीवन था और जीवन ही भाव था। ये दो नहीं, एक थे। वे "जित देखूँ तित स्याममई" ही थे। भक्त प्रेमरसका पान करते हैं और कराते हैं। वे कहते थे, "वृन्दावन तुम्हारे भीतर है, हृदयमें है।" वृन्दावनके सुप्रसिद्ध सन्त श्रीसङ्कर्षणदासजीने उनके बाल्मीकि रूपमें दर्शन किये थे। मैंने पूछा, "यह सब क्या हो रहा है।" वे बोले, "यह सब करुणावरुणालयकी लीला है।"

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥[1]

उन्होंने अपने जीवनमें अपने गुरुस्थान श्रीपादुकाक्षेत्रमें तथा दास-कुटीर अंगलकुदरूमें सीतापरिणय, रामराज्याभिषेक आदि अनेकों उत्सव किये थे। स्वयं माधुकरी वृत्तिसे रहकर कीर्त्तनमण्डलीके साथ गाँव-गाँव घूमकर अखण्डकीर्त्तन करते थे। उनके जीवनमें महाभावोंकी वृष्टि होती थी। उन्हें इसी वर्ष माघमासमें परमपद प्राप्त हुआ है। इसलिए यहाँ उनका कुछ विस्तृतरूपमें स्मरण करना आवश्यक हुआ।

उन परम कृपालु सन्तशिरोमणिने सन् १९४२ में मुझसे कहा कि चलो, प्रयाग कुम्भमें सन्तोंके दर्शन करेंगे। आजकल उत्तर भारतमें ब्रह्मण्यमूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हैं, हरिनाममूर्त्ति श्रीहरिबाबाजी हैं

---

१. मैं न धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मज्ञानी हूँ और न आपके चरणकमलोंमें भक्ति रखने वाला ही हूँ। मेरे पास कुछ भी नहीं है और न मेरा कोई दूसरा आश्रय ही है। अतः मैं शरणागत के एकमात्र आश्रय आपके चरणतलकी शरण ग्रहण करता हूँ।

और भागवतमूर्ति श्रीशान्तनु विहारी हैं।[1] मैं गुण्टूरसे चलकर वर्धा पहुँच गया। श्रीस्वामीजी इस यात्रामें मेरे साथ नहीं थे। वर्धामें मुझे महात्मा गाँधीजीके दर्शन हुए। उनकी त्यागमयी सौम्य मूर्ति हृदयको प्रिय लगी। वहाँ श्रीराजेन्द्रबाबूकी अध्यक्षता और गाँधीजीके नेतृत्वमें अखिल भारतीय गोरक्षा कान्फ्रेंस हो रही थी। उसमें भारत और गौमाताको एक रूपमें चित्रित देखकर एक वास्तविकताका दर्शन हुआ। वहाँसे मैं झूसी-प्रयागराज पहुँचा और ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीकी सेवामें रहने लगा। उन दिनों भागवतमूर्ति पं० शान्तनु विहारीजी भी वहीं थे। बलिया वाले श्रीश्याम-सुन्दरजीने, जो डिस्ट्रिक्ट बोर्डके सेक्रेटरी थे, उनका परिचय दिया कि ये गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाले 'कल्याण' मासिक पत्रके सम्पादकीय विभागमें हैं और सर्वतोमुखी विद्वान् हैं। मैं उनके साथ सन्त, विरक्त और आचार्योंके दर्शनोंके लिए चल दिया। सभीने उनका हृदयसे स्वागत किया। उन्हींके साथ मैंने त्रिवेणीमें स्नान किया। सर्दी अधिक होनेसे ठिठुरने लगा तो उन्होंने मुझे अपनी चादर ओढ़ा दी। उनकी ऐसी उदार प्रकृति और अनवरत लहराती प्रसन्नता देखकर चित्तमें प्रसन्नता हुई। उनकी मन्द मुसकान आजतक ज्योंकी त्यों मेरे हृदयमें गड़ी हुई है। जिस प्रकार वंशी श्रीकृष्णरस की मधुरताको वितरित करती है उसी प्रकार उनका श्रीभागवतका रस-वितरण था। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर श्रीमद्भागवतरसालयके रसपानसे विभोर हो जाते थे।

श्रीदासशेषजी तो पहुँचे नहीं, पर मेरा मन भगवत्परायण मधुमय महापुरुषके दर्शनोंके लिए व्याकुल रहने लगा। खोज आरम्भ हुई। श्रीकरपात्रीजीकी तितिक्षा, तप, लग्न और धर्मनिष्ठा तथा विद्वता और शास्त्रप्रतिपादनकी शैली अच्छी लगी। श्रीब्रह्मप्रकाशजीकी सरल और सरस प्रकृति तथा गम्भीरता और गीताप्रवचनकी शैली बड़ी मधुर लगी। ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीके अनवरत नाम स्मरण, तीर्थनिष्ठा, नियमनिष्ठा, कर्मनिष्ठा तथा भागवत पारायण, लगन एवं उत्साहने प्रभावित किया। मैंने उनसे पूछा, "आपने भागवतके अनेकों पारायण किये हैं, उनका सार बताने की कृपा कीजिये।" तब आपने ये दो श्लोक लिखे—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं,
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

---

१. पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीका पूर्वाश्रमका नाम।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं,
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ।।
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्,
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा,
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ।।[१]

परन्तु रसिकस्वरूप श्रीदासशेषजीके पश्चात् फिर कोई अन्य रसमयी मूर्त्ति नहीं मिली। चित्त अकुलाता था। उसी समय मैंने प्रयागराजमें श्रीसीताराम बाबा और आनन्द ब्रह्मचारीजी आदि भक्तोंके मुखसे सन्तसम्राट् ब्रह्मण्यमूर्त्ति श्रीउड़ियाबाबाजी और हरिनाममूर्त्ति श्रीहरिबाबाजीके शुभ नाम, लीला और महत्त्व आदिके विषयमें सुना। एक भक्तने कहा, "अरे भैया ? श्रीहरिबाबाजीके पलक तो पृथ्वीकी ओर ही लटके रहते हैं, वे बड़े समयनिष्ठ और नामनिष्ठ हैं तथा दीनोंके प्रति दयालु हैं उन्होंने गङ्गाजीकी बाढ़से पीड़ित प्रजाओंकी रक्षाके लिए बाँधकी रचनाकी है। वे स्वयं भगवन्नामकेशरी हैं। यदि गौराङ्ग महाप्रभुका प्रेम और उनकी नामलीला देखनी हो तो इस नवीन नवद्वीपनागरके दर्शन करो। वे अक्लिष्टकर्मा हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी तो साक्षात् श्रीनित्यानन्दजीके अवतार हैं। इन दोनोंका परस्पर अलौकिक प्रेम देखने ही योग्य है। "अस स्वभाव कहुँ सुनहुँ न देखहुँ।" दूसरे भक्तने कहा—"अरे भैया ! ये दोनों नित्य गौर-निताई हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी तो बाँधके वाञ्छाकल्पतरु आशुतोष भगवान् शंकर ही हैं। उनकी उदारता, उनकी मस्ती और उनका ध्यान

१. श्रीगोकर्णजी कहते हैं—"पिताजी यह शरीर हड्डी, माँस और रुधिरका पिण्ड है। इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें। स्त्री-पुत्रादिको कभी अपने न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभंगुर देखें। इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्की भक्तिमें लगे रहें।

"भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है। उसका आश्रय लिए रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुँह मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा शीघ्रसे शीघ्र दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवत्कथाके रसका ही निरन्तर पान करें।"

देखते ही बनता है। वे केवल आत्मज्ञानी नहीं है, अपितु आत्मप्रेमी हैं। वे ऐसे सर्वसमर्थ हैं कि प्राण दे सकते हैं और ले सकते हैं तथा राज्य दे सकते हैं और ले सकते हैं। उन्हें अन्नपूर्णा सिद्ध हैं। वे अद्‌भुतकर्मा हैं। उनकी उदारताकी सीमा नहीं है। देखो, रामघाटमें कुत्ता, बन्दर और कौआ आदि जीव-जन्तुओंका भोज किया। ये सब निमन्त्रित ब्राह्मणोंकी तरह समयपर आये और पशुत्व भूलकर अपने लिए नियुक्त बाँसोंके बाड़ेमें बैठकर भोजन करके चले गये। प्राणिमात्रके प्रति समान उदारता तो यहीं मिलेगी। जिस प्रकार बोधिवृक्षकी डालियाँ बुद्धभगवान्‌के चरणस्पर्शके लिए झुक आयी थीं उसी प्रकार जिस आम्रवृक्षके नीचे बाबा बैठते थे उसकी डालियाँ बाबाके चरण-स्पर्शके लिए झुक आयी थीं। उन्होंने मुर्दोंको जीवित किया। वे कर्त्तु-मकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ हैं।' एक भक्त बोले, "यह तो दक्षिणी है, हिन्दी कम जानता है। देखो, उनकी दृष्टि और व्यवहार तो यह हैं—

> **"हरिरेव जगज्जगदेव हरिः हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः।**
> **इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुत्तरति॥"[1]**

उन्होंने क्रोधरूप शैतानको भस्म कर दिया है। तुम जाओ और देखो। उनमें यह श्लोक मूर्त्तिमान् है—

> **"अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।**
> **निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणं च॥"[2]**

उन महापुरुषोंकी गुणगरिमा और प्रभाव सुनकर चित्त लालायित हुआ कि शीघ्र ही दर्शन करूँ। अतः कुम्भ समाप्त होते ही वृन्दावन पहुँच गया। यह विश्वास हृदयमें अवश्य था कि मैं उन अदृश्य भगवान्‌के हाथमें हूँ, जिनका कुछ भाग्यशाली ही दर्शन करते हैं और जिनसे विरले प्रेमी ही प्रेम कर पाते हैं। मैं और ब्रह्मचारी पद्मनाभ, जो आगे चलकर दण्डिस्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती हुए, वृन्दावन पहुँचे, जिसके

---

१. श्रीहरि ही संसार हैं और संसार ही हरि हैं। श्रीहरि और संसारमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। जिसकी ऐसी बुद्धि है वह पुरुष परमार्थ-परायण है और संसार-सागरको पार कर जाता है।

२. अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रियता, लोभहीनता, दान, निर्भयता और शोकहीनता—ये ज्ञानके दश लक्षण हैं।

विषयमें कहा है—**'यत्र भक्तिर्नृत्यति यत्र सन्निहितो हरिः ।'**[१] वहाँ श्रीकृष्णाश्रममें पहुँचनेपर मालूम हुआ कि दोनों बाबा श्रीबाँधपर हैं। तुरन्त हम दोनों बाँधके लिए चल दिये। अनूपशहरमें पतितपावनी कलिमलहारिणी श्रीगङ्गाजीको प्रणामकर उनमें स्नान किया। फिर कुछ देर विश्राम करनेपर मालूम हुआ कि यह अनूपशहर हरिधाम बाँधके लिए साक्षात् हरिद्वार है। तथा बाँधरूप कैलासका मानो हरद्वार है। यहांसे प्रस्थान करके हरिधाम बाँधको प्रणाम किया और सिरपर वहाँका रज धारण किया। मनमें तरह-तरहकी भाव-तरङ्गें उठने लगीं। यह सन्तचरणाङ्कित भूमि है। यह बाँध नहीं, पूज्य श्रीहरिबाबाजीकी कृपारसमयी मूर्त्ति है। हरिबोलकी देन है, नामप्रभावकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति है, नाम-गंगाकी प्रवाहिणी है और साक्षात् हरिकी कृपाकटाक्षमहिमाकी प्रदर्शिनी है। इसने श्रीहरिके वाञ्छाकल्पतरु नामको सार्थक कर दिया है तथा श्रद्धा-विश्वासको जाग्रत् किया है। इससे यह पाठ मिलता है कि इस प्रकारका श्रम श्रम नहीं, दीनदयालकी दृष्टिपातके लिए सच्ची प्रार्थना ही है। इसने श्रमदान, सम्पत्तिदान और जीवनदानके सहित नाम-नरेशके साथ आश्रित-आश्रयरसानुभूतिकी शृङ्खला प्रदर्शितकी है। यहाँ सन्तशिरोमणि श्रीहरिबाबाजीके माध्यमसे सच्चा स्वल्पदान भी भवदीय नाम-रूप-लीला-धामके रसप्राकट्यका हेतु बन गया है।

उस हरिधाम बाँधको मन ही मन कोटि-कोटि प्रणामकर श्रीहरिबाबाजीकी स्मृतिमें झूमते और पद-पदपर सन्तकरुणारसका आस्वादन करते हम आगे बढ़े। पतितपावनी श्रीगंगाजी मानो अपने पापप्रक्षालनजनित मालिन्यको प्रक्षालित करनेवाले सन्तोंके दर्शन और स्पर्शसे आह्लादित हो उस प्रसन्नताकी धाराको प्रवाहित करती मन्द गतिसे अपने प्रियतमके साथ मधुर मिलनके लिए चल रही थीं। ऋतुराज वसन्त मानो सन्तसमाजका स्वागत कर रहे थे। हरिधाम बाँधके चारों ओर हरियाली छायी हुई थी। मानो बाँधधामके प्राकृत भण्डारमें धन-धान्यकी समृद्धि सुशोभित हो। जैसे-जैसे आगे बढ़े नामोद्घोष सुननेको मिला। नगाड़ा, खोल, मृदङ्ग और झाँझके साथ नामकेशरीकी गर्जना कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट हुई। धीरे-धीरे सत्संगभवनके समीप पहुँचा। बाँधके प्रमुख अंग स्वामिबाँधको तथा वहाँकी स्वच्छता और रमणीयताको देखकर चित्त आह्लादित हुआ मानो 'सफाई ही खुदाई है' यह

---

१. जहाँ भक्ति नृत्य करती है, जहाँ श्रीहरि सर्वदा विराजमान रहते हैं।

वाक्य चरितार्थ हो रहा था। वहाँके वातावरणमें **'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा'** यह वाक्य मानो गूँज रहा था।

वहाँ महापुरुषोंकी चरणरजमें अभिषिक्त होनेका सुअवसर मिला, जो एकमात्र भक्तिप्रदान करनेवाला है। बस, हर्षोल्लाससे नृत्य करने लगा। सत्संग हो रहा था। सब मन्त्रमुग्ध होकर श्रवण कर रहे थे। नित्योत्सव-स्वरूप, नयनानन्ददाता दोनों महापुरुषोंका दर्शन किया। उनमें एक अत्यन्त शान्त और गम्भीर मुद्रामें कथावाचकके सिंहासनके समीप सिर नीचा किये नववधूके समान बैठे थे। उनके सलज्ज भावमें गौराङ्गसुन्दरता छिप नहीं पाती थी। उनके स्वच्छ वस्त्रोंकी कान्ति सुन्दरताको सुन्दर कर रही थी। तथा दूसरे अवधूतशिरोमणि स्थिर सुख सिद्धासनसे ध्यानमग्न हुए विराजमान थे। उनके रोम-रोमसे प्रसन्नता और आनन्दका झरना झर रहा था। मुखकमलपर आनन्द उल्लसित हो रहा था। यही उनकी शाश्वती सहजा स्थिति थी।

कथा समाप्त होनेपर श्रीहरिबाबाजी दृष्टि नीची किये दायें-बायें न देखते हुए जल्दी-जल्दी अपनी कुटियाकी ओर चल दिये। सुरक्षा-परिकर मार्गमें किसीको मिलने नहीं देता था। तथा सदाशिवरूप श्रीउड़ियाबाबाजी अपनी सहज समाधिसे उतरकर धीरे-धीरे चलने लगे। स्पष्ट दीखता था कि वे आनन्दमें छके हुए हैं। जैसे पूर्णचन्द्रको देखकर समुद्र आह्लादसे उछल-उछलकर उसे चूमनेके लिए उमड़ता है वैसे ही जनसमूह उनके चरणस्पर्शके लिए दौड़ रहा था। आनन्दमूर्तिकी आकर्षणशक्ति उसे बलात्कारसे खींच रही थी। उनके मुखचन्द्रपर सभीके नेत्र चकोरकी भाँति लगे हुए थे। आप समुद्रकी भाँति सभीके साथ घुल-मिल रहे थे, तथापि मक्खनकी तरह असंग थे। अपने भवभय-हारी प्रेमप्रदायी अमृत-हस्त सबके सिरपर रखते थे और सभीको कृपा-कटाक्षसे निहारकर निहाल कर देते थे। चलते-चलते सबसे आवश्यक बातचीत होती जाती थी। मैंने आरम्भसे ही देखा कि वे अपने समीप आनेवाले भक्तोंकी लौकिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक सभी प्रकारकी समस्याओं और उलझनोंको बड़ी आत्मीयता और सहानुभूतिसे सुलझाते हैं। उन्होंने मानो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिए अपनेको उत्सर्ग किया हुआ था। ऐसा जान पड़ता था कि जब वे सिद्धासनसे ध्यानस्थ होते थे

तब उनकी स्थिति **'नेह नानास्ति किञ्चन'** में होती थी और जब बाहर आते थे तब **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** रूपसे रहते थे। वे वास्तवमें **'आकाश कोशतनवोऽतनवो महान्तः'**[1] थे। मैंने स्पष्ट देखा कि वे स्वभावसे ही महान् शान्त, परम मधुर, प्राणिमात्रके लिए अत्यन्त उदार, दीन-दुखियोंके लिए परम सुहृद् और राग-द्वेषशून्य हैं। वे आत्मस्वरूपसे परम स्वतन्त्र और प्रेममूर्ति सन्तशिरोमणि हैं। भगवान् सदाशिवके पास जैसे ऋषिमण्डली रहती है वैसे ही उनके समीप सर्वदा जिज्ञासु साधक बने रहते थे। तथा उनके परिकरमें जैसे भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी आदि रहते हैं वैसे ही आपके परिकरमें भी सभी प्रकृतिके नर-नारी रहते थे। यह आपकी विरुद्धधर्माश्रियता का निदर्शक था।

उनकी कथनी और रहनीमें एकत्व देखकर, उनकी समरसताकी सरस माधुरीका आस्वादनकर तथा उन्हें आनन्दमयी दृष्टिसे सबको आनन्दित करते देखकर चित्त उनके चरणोंकी शरणके लिए लालयित हो उठा। पता नहीं कब उन्होंने खींचकर अपना लिया।

(श्रीचरणोंकी छत्रछायामें)

एक बार किसीने प्रश्न किया—श्रीमहाराजजी ! जिन-जिनने आपका दर्शन किया है क्या उन सभीका कल्याण हो जायेगा ?

श्रीमहाराजजी—अवश्य, परन्तु मेरा दर्शन तो कोई नहीं करता।

तुरन्त यह जिज्ञासा हुई कि इनका वास्तविक दर्शन क्या है ? एक बार स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीने भरी सभामें कहा था कि जिस प्रकार गीताजीके तत्त्वको देखनेवाला, प्रतिपादन करनेवाला और श्रवण करनेवाला आश्चर्यमय है वैसे ही हमारे श्रीमहाराजजीके नाम, रूप और लीला आदि हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(२-२९)

'उसको कोई आश्चर्यचकित होकर देखते हैं, क्योंकि आप सर्वविलक्षण-स्वरूप हैं। कोई आश्चर्यचकित होकर उसका बखान करते हैं तथा भावोंमें उन्मज्जित-निमज्जित होते हुए उसके स्वरूप और रूपसे चमत्कृत

---

१. आकाशकोश ही जिनका शरीर है ऐसे वे अशरीरी महापुरुष।

होते उसका श्रवण करते हैं। यह सब होते हुए भी उसे वास्तवमें कोई नहीं जानता।'

अब यह उत्कट अनुसन्धानका विषय रहा कि श्रीमहाराजजीका वह सुदुर्लभ आश्चर्यमय दर्शन क्या है। आपके दर्शनसे यह स्पष्ट दिखायी देता था—

आश्रित्य पूर्णपदवीमास्ते निष्कम्पदीपवद्योगी।
आशावसनो मौनी नैराश्यालङ्कृतस्वान्तः॥[1]

बिन्दु आनन्दसिन्धुमें लीन हो गया है; इसलिए अब किसी प्रकारकी पिपासाका प्रश्न नहीं रहा है। वे निरन्तर आवृत्तचक्षु हैं—उनके नेत्र उलट गये हैं—उदासीन हैं। 'गुरुने दिया पूरा ज्ञान, नयना रूँठ गये, नहीं कछुक ध्यान।' आओ, देखो, अनुसन्धान करो। उनकी दृष्टि इधर नहीं उधर लगी हुई है। लगी ही नहीं, आनन्दमदिरामें मदान्ध हो रही है। नशेमें चूर-चूर है, नेत्र चकाचक छके हुए हैं। उनके रोम-रोमसे आनन्द छलक रहा है। उनका स्वरूप और रूप मानो इस श्लोककी प्रत्यक्ष व्याख्या ही है—

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ (भाग० ३।२८।३७)

अर्थात् जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरमें लपेटे हुए वस्त्रके रहने या गिरनेकी कोई सुधि नहीं रहती उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी दैववश अपने देहके उठने-बैठने अथवा कहीं आने-जाने या लौटनेके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित है।

आपको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो पूर्णानन्दसिन्धु उमड़ रहा है। यह स्पष्ट ध्वनि होती थी कि—'**पूर्णात्पूर्णमुदच्यते**' तथा '**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।**' आप तो साक्षात् अनुष्ठानकी मूर्त्ति हैं। आप स्पष्ट दिखला रहे हैं कि '**देवो भूत्वा देवान् यजेत्।**' आप

---

१. योगी पूर्ण पदवीमें स्थित होकर निष्कम्प दीपकके समान स्थिर होता है। दिशाएँ ही उसके वस्त्र होते हैं, वह मननशील होता है तथा उसका अन्तःकरण नैराश्यसे अलंकृत होता है।

एक होकर मानो एकके साथ एकमेव हो गये हैं। अगतिशील होकर अगतिशीलके साथ, शान्त होकर शान्तके साथ, अजायमान होकर अजायमानके साथ और अमनस्क होकर अमनस्कके साथ एक हो गये हैं। **तत्त्वतः 'अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगादगति च गतिमत्तां प्रापदेकमनेकम्'** अर्थात् जो मायाके योगसे अजन्मा होनेपर भी जायमान-सा, अगति होनेपर भी गतिमान-सा और एक होकर भी अनेक-सा दीखता है। परन्तु यहाँ आश्चर्य की बात तो यह है कि ये मूर्त्त होनेपर भी अमूर्त्तस्थ हैं, गतिवान् होनेपर भी अगतिस्थ हैं और ब्रह्मसमुद्रकी अशान्त ज्वार-भाटामें भी अशान्त हैं। पाणिपादयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें अपाणिपाद हैं। वह निःस्पन्द ब्रह्म सभी कुछ अव्यवहितरूपसे देखता है और वह पूर्णानन्दब्रह्म भीतर-बाहर दोनोंकी सन्धिमें भी **'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'** इस दृष्टिसे रूपको नेत्रोंके समान साक्षात् देखते हैं।

एक बार आपसे किसीने प्रश्न किया कि 'महाराजजी ! यह दृष्टि कैसे प्राप्त हो ?' आप बोले, "बेटा ! यहाँ देखते हुए न देखना है और सुनते हुए न सुनना है।"

प्रश्न—तो यह सब क्या है ?

श्रीमहाराजजी—यह सब मेरी चकचक (चमक) है। ये सब जीवाभास हैं।

आप स्पष्ट कहते थे कि **'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः'** (उस इस आत्मासे आकाश हुआ और आकाशसे वायु) ऐसा क्रम है। बस, इससे आगे पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। 'आकाश' का अर्थ है 'कुछ नहीं' अर्थात् आत्मासे 'कुछ नहीं' उत्पन्न हुआ अतः आत्मा ही आत्मा है।

वह आनन्दात्मा ही इस पूर्णानन्द (श्रीमहाराजजी) रूपमें विराजमान है। यहाँ ज्ञानामृतसे तृप्ति स्पष्ट दीखती है। 'सबमें एक और एकमें सब' इस ज्ञान-विज्ञानका खेल ही आपका जीवन था। वह **'यत्र यत्र मनो याति तत्र यत्र समाधयः'** की मूर्त्तिमती व्याख्या थी। यहाँ जीवनदर्शन और सद्दर्शन अभिन्न होकर जिज्ञासुओंका पथप्रदर्शन कर रहे थे। उनका हस्तकमल सिरपर आनेपर उसकी कोमलता और मृदुलतासे चकित होकर ऐसा जान पड़ता था मानो आनन्दधातुसे ही यह मूर्त्ति गठित हुई है। ईश्वर गुरु और फड़कते हुए ब्रह्मरूपसे स्वयं आत्मकाम और निःस्पृह होनेपर

भी हम लोगोंके लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और प्रेमकी वर्षा करते हुए कृपाकटाक्षके द्वारा मानो आपकी साक्षात् दीनदयालुता ही दीनोंपर द्रवित होकर मूर्त्तरूपसे प्रकट हुई है। यह पूर्णानन्दमूर्त्ति मानो 'बिनु पग चलहि सुनहि बिनु काना' और 'आननरहित सकल रस भोगी' की साक्षात् प्रतीक है। यह अपनी सृष्टिमें भक्तोंके स्वप्न, जाग्रत और समाधि आदि स्तरोंमें प्रवेशकर स्वयं चले विना ही अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाती है, उनके दुःख निवृत्त करती है, उन्हें उपदेश देती है, औषध बताती है, 'मैं अमुक स्थानमें हूँ, आ जाओ' ऐसा कहकर पुकारती है और भटकनेवालोंको सावधान करती है। सब लोग इससे संक्रान्त और सम्भ्रान्त हो रहे हैं। वे क्या-क्या कृपाका खेल करते थे—वे ही जानें। उनमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और अन्तर्यामिता आदि ईश्वरीय गुण स्पष्ट देखे गये थे। ये उनकी अनन्तगुणगणनिलयताके द्योतक थे। जैसे ब्रह्म सर्वदा समरूपसे सर्वत्र हजिरा-हुजूर है वैसे ही आप उससे भी स्पष्ट सर्वत्र हाजिरा-हुजूर करुणावरुणालय सरकार थे और अपने सगुण निर्गुणरूपसे अनन्त कृपाका खेल करते थे।

मैं आपके श्रीचरणोंमें पहुँचा। जैसे खोया हुआ बालक बहुत दिनों बाद घर पहुँचे तो माता-पिता उसे प्रेमसे छातीसे लगा लेते हैं वैसे ही आपने अपना वरद हस्त मेरे सिरपर फेरते हुए पूछा, "बेटा ! कहाँसे आये हो ?" मैंने टूटी-फूटी हिन्दीमें अपनी सब कहानी कह सुनायी। प्रथम दिन ही मुझे आपका चरणामृत और महाप्रसाद मिला। आपकी अमृतवर्षिणी दृष्टि मुझपर पड़ी। उनका अमृतदायी भवभयहारी सुकोमल हस्त सिरपर अङ्कित हुआ। मुझे आपने वात्सल्यरससे सराबोर कर दिया और 'बेटा' कहकर सुदृढ़ सम्बन्धकी स्वीकृति दी।

आप बोले—"बेटा ! मुझे सच्चे हृदयसे जो एक गिलास जल पिलाता है उसका मैं ऋणी हो जाता हूँ।" सच है—'ऐसो को उदार जग माहीं।' फिर मुझे आज्ञा दी, 'यदि तुमसे कोई उत्तेजित होकर बोले तो तुम क्रोध मत करना।' मैंने स्पष्ट देखा कि वे कभी किसीसे भला-बुरा नहीं कहते। कोई भला या बुरा करनेपर, भला या बुरा बोलनेपर वे न स्तुति करते हैं न निन्दा। न रोकते-टोकते हैं और न चित्त ही बिगाड़ते हैं। अनेकों धाराओंका प्रतिघात होनेपर भी जैसे चट्टान स्थिर रहती है वैसे ही वे अचल रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे उपेक्षा करते हैं। उनका बोलना, रहना, चलना 'सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख-दुःख सरिस

प्रशंसा-गारी'का प्रतीक है। इतना ही नहीं, उन्होंने क्रोधरूप शैतानको सदाके लिए नष्ट कर दिया है। कहते थे—'तुम सबके हितके लिए कुछ संकेत करता हूँ—मुझे कहीं ले जाओ, किसी भी परिस्थितिमें क्रोधका नाम-निशान नहीं भासेगा।' उद्विग्नताने उन्हें छुआ तक नहीं था। उदासीनताकी छायातक नहीं दीखती थी। उनकी मुखाम्बुजश्री समरस माधुरीसे निरन्तर आह्लादित रहती थो। उनका जीवनरस—

क्रुद्ध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चनः॥[1]

इस श्लोकका प्रतीक था। उन्हें बड़ी-से-बड़ी विपत्ति भी चलायमान नहीं कर सकती थी। सामने कोई सङ्घर्ष होने लगता तो आप अपनेमें सिमिट जाते थे। बाह्य घटनाओंका तथा अपने पास रहनेवाले विरुद्ध स्वभावोंका अपने स्वभावसे स्पर्श नहीं होने देते थे। एक बार पं० सुन्दरलालजीने विलविलाते हुए कहा, "बाबा ! ये सब बिगड़ रहे हैं, कुछ ख्याल करो"—तो आप बोले, "पण्डितजी ! क्या मैं अपना स्वभाव बिगाड़ूँ। इन मूर्खोंको डण्डा लेकर मारूँ। मैं एम० ए० क्लासका मास्टर हूँ। इशारेसे बताता हूँ। करो तो करो, नहीं तो मरो। थाल परोसकर रखा है। उसे खाना और पचाना इनका काम है।" पण्डितजी कहते थे, "यह बाबा नहीं माँ हैं—कुपुत्रो **जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"**

इन्हीं दिनों पण्डित शान्तनुविहारीजी प्रयागकुम्भमें ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास लेकर बाँधपर आये। उनका नाम हुआ श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वती। उनकी बालसूर्यप्रभा-जैसी संन्यासमूर्त्तिको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने प्रणाम किया। श्रीमहाराजजीसे पहले हीसे आपका सम्बन्ध था। केवल सम्बन्ध ही नहीं उन्हें आपका हृदय समर्पित था। 'श्रीमहाराजजी' शब्द उन्होंने उन्हींके लिए रख छोड़ा है। एक भक्तने एकबार उनसे कुछ प्रतिष्ठित सन्तोंके विषयमें पूछा तो आपने स्पष्ट कहा, "भैया ! मेरी श्रद्धा-भक्ति तो श्रीमहाराजजीमें है। 'महाराजजी' शब्दका प्रयोग उन्हींके लिए होता है। औरोंसे इतनी घनिष्ठता नहीं है। तुम जाओ, दर्शन करो, ये सब भी अच्छे सन्त हैं।" श्रीमहाराजजी भी इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा

---

१. जो क्रोध करे उसके प्रति क्रोध न करे, कोई बुरा-भला कहे तो मीठा बोले, निन्दा आदि भी सहन करे और किसीका अपमान न करे।

किया करते थे। एकबार उन्होंने पल्टू बाबासे कहा था, "उनका त्याग देखो। घर-बार, स्त्री-पुत्रादिको त्यागा, प्रतिष्ठा त्यागी। इतने धुरन्धर विद्वान् होते हुए कितनी सादगीसे रहते हैं। क्या यह साधारण बात है?"

श्रीमहाराजजी सब परिकरको साथ लेकर गङ्गास्नानको जाते थे। रास्तेभर सत्सङ्ग होता रहता था। श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि, "चलते-फिरते, खाते-पीते जप करो।" उसी प्रकार आपका चलते-फिरते, खाते-पीते सत्सङ्ग चलता रहता था। यहाँ तक कि प्रसाद बाँटते समय भी सत्सङ्गकी कुछ बातें कहते रहते थे। एक दिन अपने हाथोंमें श्रीगङ्गाजीकी रेती लेकर कहा, "यही ब्रह्म है।" आपने पूछा, "गङ्गाजी क्या हैं?" किसी ने कहा, "यह भगवान्का चरणामृत है।" आप बोले, "नहीं, यह साक्षात् ब्रह्म है।" एक दिन गङ्गास्नानको जाते हुए मेरी ओर संकेत करके कहा, "इस लड़केको राग नहीं है।" तब परम भक्त रामेश्वरजीने कहा, "यह तो अच्छी बात है।" आप बोले, "नहीं, रागके बिना वैराग्य भी नहीं होता।" श्रीमहाराजजीकी यह उक्ति आज मुझे सर्वथा सत्य जान पड़ती है। गुरुदेव और उनके दिये हुए साधनमें राग न होनेके कारण मेरे साधन और जीवनमें वैसा विकास नहीं हुआ जैसा होना चाहिए था। उन्होंने मुझे गीताके इस श्लोकपर ध्यान देने और इसके तात्पर्यका अनुसन्धान करनेका आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

अर्थात् मेरेमें ही मन लगाओ और मुझमें ही बुद्धि स्थिर करो। ऐसा करनेसे अन्तमें निःसन्देह मुझमें ही निवास करोगे।

यह उनकी आज्ञा भी है और आश्वासन भी। मैंने इसका तात्पर्य यही समझा कि मुझे गुरुदेवका ध्यान और गुरुमन्त्रका ही जप करना चाहिए। **गुरुमूर्तिः सदा ध्यानं गुरुमन्त्रं सदा जपेत्।'**

मेरी दीक्षा

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणयाप्नोति श्रद्धां श्रद्धया सत्यमश्नुते॥

जीवनमें व्रत—दृढ़ निश्चय एवं संयम होता है तो उससे दीक्षा (तत्परता) आती है। तत्परता आनेपर—नैपुण्य प्राप्त होता है।

निपुणतासे श्रद्धा आती है और श्रद्धा (आस्था) से सत्यकी उपलब्धि होती है ।

पूज्य श्रीमहाराजजी ने मुझे आज्ञा दी कि स्वामी अखण्डानन्दजीके साथ जाओ और इनके दीक्षागुरु ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीशंकराचार्यजीसे दीक्षा लो। मैंने कहा, "आपके श्रीचरणोंकी छत्रच्छाया पर्याप्त है, और दीक्षाकी क्या आवश्यकता है ?" आप बोले, "बेटा ! ब्राह्मण-शरीर है, साधुसमाजमें योगपट्ट आदि पूछते हैं। उनके यथोचित निर्वाहके लिए दीक्षा आवश्यक है।" आप तीन प्रकारके गुरु बताया करते थे—विद्यागुरु, दीक्षागुरु और सद्गुरु।

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीको मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और शंकरलालजी को संन्यास-दीक्षा दिलानेकी आज्ञा हुई। निर्मलदास भी साथ हो गये। अनूपशहर आनेपर श्रीविश्वम्भर प्रसादजी अतरौलीवाले मिल गये। उन्होंने रेलसे जानेका आग्रह किया और उसके लिए पैसा भी देने लगे। स्वामी अखण्डानन्दजीने कहा, "श्रीमहाराजजीकी इच्छा हमें पैदल भेजनेकी नहीं है। इसके लिए समयका सङ्कोच है। यह विश्वम्भरप्रसादजीका आग्रह उन्हींकी इच्छा है।" अत: उनकी कृपा मानते हुए पैसेकी सेवा स्वीकार कर ली। रास्तेमें कानपुर उतरे। श्रीस्वामीजी भी किसीसे कम गुरु नहीं थे। उन्होंने नये होनेवाले संन्यासियोंकी परीक्षाके लिए हमें माधूकरी भिक्षा लानेकी आज्ञा दी। आप गङ्गाघाटपर बैठ गये और हम लोग प्रचण्ड घाममें माधूकरी करनेके लिए चल दिये। मुझे लू लग गयी और तारकोलकी तपी सड़क पैरोंको चाट गयी। हम भिक्षा लाये और सबने मिलकर उसे पाया। फिर काशी होते हुए जबलपुर पहुँचे।

यहाँ बलदेव-बागमें श्रीशङ्कराचार्यजी ठहरे हुए थे। मुझे १०५ डिग्री ज्वर था। श्रीस्वामीजीने भगवान् शङ्कराचार्यजीको श्रीमहाराजजीकी आज्ञा सुनायी। आचार्यचरणने सहर्ष दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। दीक्षा होनेपर श्रीशङ्करलालजी, स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती, श्रीनिर्मल-दासजी, स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती और मैं नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको दीक्षा लेकर शिवानन्द ब्रह्मचारी हुआ। इस समय तीव्र ज्वर होनेके कारण मुझे तो चेत नहीं था। इसी स्थितिमें दीक्षा हुई। श्रीस्वामीजीने कहा, "श्रीमहाराजजी साक्षात् शिव हैं, उनकी भक्ति करो, बड़ी प्रसन्नताकी बात है—

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥'

हम वर्षाके दो मास बीतनेपर श्रीस्वामीजीके जन्मस्थान तथा काशी होते हुए बाँधपर श्रीचरणोंकी सन्निधिमें पहुँच गये। मैं तो बराबर बीमार ही चल रहा था। कोई ठीक चिकित्सा नहीं हो सकी। श्रीमहाराजजीने पूछा, "दीक्षामें क्या हुआ?" मैंने कहा, "मुझे १०५ डिग्री ज्वर था। घण्टे-घड़ियाल बजे और यह गेरुआ वस्त्र मिला। मैं अभीतक बीमार हूँ। बस, यही दीक्षा हुई।" आप सुनकर हँसे और स्वयं ही इष्टमन्त्र और स्वाध्याय दिया। बोले—

पञ्चाक्षरं पावनमुच्चरन्तः पतिं पशूनां हृदि भावयन्तः ।
भिक्षाशिनो दिक्षु परिभ्रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥[1]

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीने कहा, "बस, अब कोई प्रोग्राम मत बनाना। तुम्हारी सच्ची दीक्षा और जीवनका कार्यक्रम आज श्रीमहाराजजी ने निश्चय कर दिया है। इसीको जीवन अर्पण कर दो।" इस प्रकार श्रीमहाराजजीने ठीक समयपर निष्ठाकी नींव डाली, जो आनन्दप्रदायिनी है। फिर आपने शङ्करलालजीकी ओर संकेत करके पूछा, "इसका क्या नाम रखा है?" श्रीस्वामीजीने कहा, "प्रबोधानन्द सरस्वती।" कुछ देर सत्सङ्ग होता रहा। फिर आपने पुकारा, "शंकरलाल!" झट कहा, "अरे! भूल गये, भूल गये, क्या नाम है?—प्रबोधानन्द।" इसी विनोदमें कुछ देर आनन्द लेते रहे। परन्तु मुझे सर्वदा "आञ्जनेय" ही कहते रहे। अतः श्रीमुखाङ्कित होनेसे सब सन्त और भक्तपरिकर आज तक मेरा यही नाम लेते हैं। किसीने पूछा, "प्रबोधानन्द, प्रकाशानन्द—ये नाम क्यों रखे गये हैं?" आप बोले, "घरमें जैसे माता-पिता नन्ना-मुन्ना आदि नाम लेते हैं वैसे ही ये भी रख लिये गये हैं।"

फिर श्रीमहाराजजीके साथ हम लोग कर्णवास चले आये। यह श्रीमहाराजजीकी प्रधान लीलास्थली है। मैंने दण्डिस्वामी सियारामजीसे पूछा, "मैं यह कैसे जानूँ कि श्रीमहाराजजी कृपा कर रहे हैं।" वे बोले, "जिसे रूखी-सूखी रोटी दें और टाँट-फटकार सुनाते रहें, समझो, उसपर

---

१. पवित्र पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) मन्त्रका निरन्तर जप करनेवाले, हृदयमें पशुपति भगवान् शिवका स्मरण करनेवाले और भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करते हुए दिशा-विदिशाओंमें विचरनेवाले कौपीनधारी निश्चय ही भगवान् हैं।

कृपा कर रहे हैं।" श्रीमहाराजजी स्वयं कहा करते थे कि गुरुजन निजजन-निष्ठुर होते हैं। मैं यदि कभी कोई प्रश्न करनेका प्रयत्न करता तो झट कहते, "उल्लू ! चुप रह।" उनकी इस डाँटमें बड़ी मिठास थी। परन्तु चित्तमें प्रश्न उठते ही अन्तर्यामी गुरुदेव स्वयं श्रीमुखसे उसका उत्तर दे देते थे। इसमें बड़ा रस मिलता था।

मेरा शरीर रुग्ण चल रहा था। दण्डिस्वामी सियारामने सलाह दी कि तुम्हें यहाँका जलवायु अनुकूल नहीं है। तुम अपने देश चले जाओ। मैंने कहा, "मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। श्रीमहाराजजीके अधीन हूँ। उनसे प्रार्थना करें।" श्रीमहाराजजी गङ्गास्नान कर पक्के घाटपर श्रीशंकरजीके दर्शनार्थ गये। रास्तेमें सियारामजीने उनसे चर्चा कर दी थी। मैं जब प्रणाम करनेके लिए झुका तो आप बोले, "दक्षिण जानेका विचार मत करना। यदि मर जाओगे तो मैं इन हाथोंसे ही गङ्गाजीमें फेंकूँगा।" श्रीमुखके ये वचन सुनकर मेरा मुर्दा दिल सजीव हो गया। अहा ! कितनी कृपा है ? कहाँ यह तुच्छ शरीर और कहाँ इन महान् करकमलोंसे श्रीगङ्गाजीमें जलसमाधि ! बस, एक साथ नया जीवन, नयी स्फूर्ति, नयी उमंग संचरित हो गयी। ज्वर तथा आँवके दस्त चल रहे थे। आप कभी चावल कभी रोटी देते। जिस दिन चावल न मिलता मैं रोने लगता। आप समझाते, "बेटा ! चावलकी आदत छोड़ो। यह तुम्हें किसी बड़े आदमीका गुलाम बना देगी। साधु-जीवनमें स्वतन्त्रताके लिए रोटी खानेकी आदत डालो।" इस प्रकार साधुजीवनको स्वतन्त्र बनानेके लिए आप सर्वदा सावधान करते रहते थे। आपका जोर था कि साधुको माधूकरी वृत्ति और यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। कहते थे—

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्॥

अर्थात् क्षुधारूप रोगकी चिकित्सा करते रहो, इसके लिए नित्य प्रति भिक्षान्नरूप औषधका सेवन करो। स्वादिष्ट अन्नकी याचना मत करो। दैववश प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तुष्ट रहो। शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करो। व्यर्थ वचन मत बोलो। उदासीन वृत्तिमें रहनेकी रुचि रखो। लोगोंपर किसी प्रकारकी कृपा या निष्ठुरता भी मत करो।

एक बार मौनी बाबा अद्वैतानन्दजी और मैं रामघाटमें नमक और मीठा छोड़कर व्रत करने लगे। उस व्रतकालमें ही आपके दर्शनोंके लिए हम दोनों कर्णवास आये। आपने प्रसाद देते हुए कहा, "ले प्रसाद।" अद्वैतानन्दजी बोले, "मैं मीठा नहीं खाता हूँ।" आपने कहा, "अरे! साधुको कौन मीठा खिलाता है? माधूकरीमें चन्दनकी तरह दाल या शाक लगाकर रोटी देते हैं। साधु क्या घरका जमाई है। माधूकरीमें जो कुछ मिले सब खाओ। हाँ स्वास्थ्यके लिए जो अनुकूल न पड़े उसे त्याग दो। साधुको दूध आदि माँगनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थमें दूध, घी, नमक आदि सब चीजें हैं। देखो, पशु-पक्षी घास-फूस खाकर कैसे बलवान् और स्वस्थ रहते हैं।"

आपके यहाँ रोज भण्डारे चलते रहते थे। हम लोग नित्य पूड़ी-पक्वान्न खाते-खाते ऊब गये। तब आप बोले, "बेटा! मोहनपुरमें मेरी भिक्षामें रोज पूड़ी आती थीं। छः महीने हो गये। मैंने भिक्षा बदलनी चाही। तब बच्चोंने कहा, "महाराजजी! आप पूड़ी बन्द मत करना। आप खायेंगे तो हमें भी मिलती रहेंगी।" अतः भिक्षा बदलनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार खाओ कि मीठी-मीठी भूख बनी रहे। फिर रोज पूड़ी खाओ, तब भी कुछ नहीं होगा। मैं तो सबको खिलानेकी दृष्टिसे यह देखनेके लिए चखता हूँ कि कैसा बना है, स्वाद नहीं लेता।"

पदार्थ बनानेमें, मसाला पीसनेमें, छौंक लगानेमें भी आप शिक्षा देते थे। एक बार सुखरामने कच्चे घीमें जीरा छोड़ दिया। आपने झट कहा, "अरे! यह क्या किया। जब घी खूब तप जाय तब जीरा छोड़ना चाहिए।" कहते थे, "जो ठीक झाड़ू लगायेगा वही ठीक साधन भी कर सकेगा। ये सब छोटी बातें नहीं हैं। सावधानीके लिए पद-पदपर योग है।" आप कहा करते थे, "साधुको गर्मजलके अनुपानसे दवा नहीं बतानी चाहिए। ताजे जलसे बतावे। वह कहाँ जल गर्म करता फिरेगा।" एक बार मुझे ज्वर आया। ज्वर उतरनेपर वैद्यने गर्म-गर्म मूँगकी दाल और रोटीका फुलका खानेको बताया। मैंने भिक्षाके समय यह बात श्रीमहाराजजीको बतायी। झट आपने कहा, "यदि गर्म-गर्म रोटी खानी थी तो घरकी लुगाई क्यों छोड़ आया। तुम बेवकूफ और तुम्हारा वैद्य बेवकूफ। ले उड़दकी दाल और रोटी। डाक्टर-वैद्य तो वही है जो एक रोगीका एक पुड़ियामें रोग ठीक कर दे।" आप कहते

थे, "संसार घास खिलाकर गायका दूध निकालता है। इसी प्रकार तुम्हें कुछ खिला-पिलाकर तुम्हारा नप दुह लेगा। बेटा ! तेल-साबुन मत लगाना। मैंने चौदह सालतक एक गुदड़ी रखी थी। यदि कपड़ेको ठीक धोते रहें और ठीक जगहपर बैठें तो मैला क्यों होगा।" कुछ गुरुभाई बारीक-बारीक वस्त्र झकाझक धुलवाकर पहनते थे और खूब तेल मलकर स्नान करते थे। आप यह देखकर कहते थे, "इन लोगोंका पाप उदय हुआ है। आपको सफाईके नामपर विशेष चमक-दमक पसन्द नहीं थी। सादगी पसन्द थी। एक गुरुभाई कपड़ोंमें साबुन लगा रहे थे। आपने पूछा, "कौन है ?" वे सङ्कोचवश नीचा सिर किये खड़े रहे और बोले, "मुझे ऐसे ही बिना मूल्य मिल गया था, इसलिए लगा रहा हूँ।" आपने कहा, "आसाम, भूटान चला जा, वहाँ तो स्त्रियाँ भी बिना मूल्य मिल जाती हैं। दो तू भी ले आना। प्रारब्धसे प्राप्त प्रत्येक वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिए।" जिसकी स्त्री मर जाती उससे कहते, "बस, अब भजन करना, विवाह मत करना।" इस प्रकार अनेकोंको भजन-सत्सङ्गमें लगाया। कहा करते थे—

'पुनरालिङ्ग्यते कान्ता पुनरेव च भुज्यते।
इयं बालजनक्रीड़ा लज्जायै महतां जने॥'

'बार-बार स्त्रीको आलिंगन करना और बार-बार उसीको भोगना— यह मूर्ख लोगोंकी क्रीड़ा महापुरुषोंकी दृष्टिमें लज्जाकी बात ही है।'

गुरु और गोविन्द एक हैं

अब मेरा जीवन उनके चरणोंकी छत्रच्छाया में व्यतीत होने लगा। नित्य ही उनकी अन्तर्यामिताके विषयमें अनुभव होते थे। जो भोजन करनेसे रह जाते थे उनके नाम लेकर पुकारते थे और बिना प्रश्न किये ही उत्तर दे देते थे। कोई आनेवाला होता तो 'अमुक आ रहा है' ऐसा कहकर उसके लिए रोटी रख लेते। एक बार उनसे बिना पूछे मैंने अपने घरवालोंको अपनी वियोग-व्यथाके लिए सान्त्वना देनेके उद्देश्यसे पत्र लिख दिया। परन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि मैं स्वयं एक प्रकारकी मानसिक उलझन में पड़ गया।

एक दिन कर्णवासमें प्रसाद पाकर मैं अपनी गुफामें गया तो वहाँ बैठे-बैठे मुझे एक दिव्य प्रकाश दिखायी दिया। उस प्रकाशमें मुरलीहीन

भगवान् मुरलीधरकी भुवनमोहिनि मूर्त्तिके दर्शन हुए। वे द्वारमें से भीतरकी ओर झाँक रहे थे। उनके साथ श्रीमहाराजजीके भी दर्शन हुए। उनका शरीर भी श्रीश्यामसुन्दरकी तरह नीलोज्ज्वल कान्तियुक्त था। वे ध्यानमुद्रामें विराजमान थे। श्रीश्यामसुन्दरने श्रीमहाराजजीकी ओर संकेत किया और अन्तर्हित हो गये। उसके पश्चात् श्रीमहाराजजी भी अन्तर्धान हो गये। इस घटनासे उरःप्रेरक श्रीमहाराजजीकी कृपासे मैंने यह समझा कि जिन भगवान् श्यामसुन्दरने मुझे गृहान्धकूपसे निकाला था वे ही अब संकेत करके बता रहे हैं कि श्रीमहाराजजी मेरे ही वर्तमान श्रीविग्रह हैं। उनके रूपमें स्वयं मैं ही तुम्हारा गुरु, पथप्रदर्शक और संरक्षक हूँ। नीलोज्ज्वल कान्ति इस बातका निदर्शन है कि गुरु, भगवान् श्याम जगज्जननी श्यामा—ये तीनों ही अनन्त हैं। ये सीमित नहीं, विश्वेश्वर और विश्वरूप हैं। कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥
यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥[1]

इस प्रकार मानो उन्होंने गोविन्दके साथ वर्ण, स्वभाव, उपदेश और आदेशसे गुरुदेवकी एकता सूचित कर दी। इससे मेरी मानसिक उलझन निवृत्त हो गयी और श्रीचरणोंमें सर्वसामर्थ्य एवं अन्तर्यामिताका विश्वास सुप्रतिष्ठित हो गया।

---

१. आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, उनका कभी अपमान न करे और न मनुष्य-बुद्धिसे उसकी निन्दा ही करे, क्योंकि गुरुदेव सर्वदेवमय ही होते हैं।

साक्षात् ज्ञानदीप प्रदान करनेवाले भगवान् गुरुदेवमें जिसकी 'यह मनुष्य है' ऐसी असद् बुद्धि है उसका श्रवण किया हुआ सम्पूर्ण ज्ञान हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है।

जिसकी श्रीभगवान्में पूर्ण भक्ति है और जैसी भगवान्में है वैसी ही गुरुदेवमें भी है, उस महापुरुषको ही इन कही हुई बातोंका साक्षात्कार हो सकेगा।

गुरूपासना और गुरुनिष्ठा

श्रीमहाराजजी स्वयं कहा करते थे कि पहले केवल. गुरूपासना ही थी। किन्तु फिर उपासकोंमें मर्त्यबुद्धि और अतिपरिचयके कारण अवज्ञा का भाव देखकर उनके कल्याणार्थ अवतार, अर्चाविग्रह और अन्य प्रकारके शास्त्रीय माध्यमोंसे पूजनकी विधिका प्रचलन हुआ और इस प्रकार उन्हें कल्याणका भाजन बनाया गया। गुरुदेव वास्तवमें सर्वदेवमय हैं—

'सर्वदेवमयो गुरुः।'

आपने पूछा, "गुरु कौन है ?" फिर स्वयं ही उत्तर दिया, "गुरु वही है जो संसारके मोहसे छुड़ा दे और अपनेमें मोह न कराये। अर्थात् सर्वत्यागकी सुशिक्षा देकर अनन्त चिदाकाशस्वरूप एवं कालसे अनवच्छिन्न अपने आत्मस्वरूपमें ज्ञान-विज्ञानका भाजन बना दे। इसलिए स्पष्ट कहते थे कि मेरे शरीरसे प्रेम करनेसे मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ, मेरी आज्ञा मानो।

शास्त्रने तो गुरुदेवके विग्रहको भी सच्चिदानन्दस्वरूप कहा है। वे वीतराग होते हैं। अतः उनके ध्यानसे भ्रमर-कीटन्यायवत् साधक स्वयं वीतराग हो जायगा। उस विग्रहके ध्यानसे वह स्वस्थ, मस्त और उन्मत्त हो जायगा। उनके शास्त्रोक्त पूजनसे वैधी भक्ति, गुणगानसे गौणी भक्ति और अनुरागसे अनुरागात्मिका भक्ति प्राप्त होगी। श्रीमद्भागवतमें स्वयं उद्धवजी श्रीमुखसे कहते हैं—

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥

अर्थात् हे सर्वेश्वर ! आप बाहर आचार्यरूपसे और भीतर अन्तर्यामि-रूपसे स्थित होकर प्राणियोंकी अशुभ वासनाओंको नष्ट करते हुए उन्हें अपने स्वरूपका अनुभव कराते हैं। ऐसे आपके उपकारोंको बड़े-बड़े विद्वान् भी यदि परमानन्द-परिप्लुत होकर ब्रह्माकी आयु-पर्यन्त स्मरण करते रहें तो भी आपसे उऋण नहीं हो सकते।

श्रीमहाराजजीने शिष्यके कल्याणके लिए गुरुनिष्ठाका होना नितान्त आवश्यक है—इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें एक घटना सुनायी थी। वह इस प्रकार है—उड़ीसा प्रान्तमें एक कायस्थ सज्जन थे। उन्होंने माँ कालीकी उपासनाके लिए एक ब्राह्मणसे मन्त्रदीक्षा ली। ब्राह्मणदेवता मदिरापान

किया करते थे। दैववश मदिराके नशेमें उन्होंने मन्त्रका अशुद्ध उच्चारण किया। किन्तु शिष्यने उसे ही ग्रहण कर लिया। वे एक वर्ष तक अशुद्ध मन्त्र ही जपते रहे तब माँ कालीने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर कहा, 'वत्स ! तुम्हारा मन्त्र अशुद्ध है, इसे शुद्ध करके जपा करो।' शिष्य बोला, 'माँ ! मेरा मन्त्र तो गुरुजीसे मिला हुआ है, वह अशुद्ध कैसे हो सकता है ?'

काली—तेरे गुरुने मदिराके नशेमें अशुद्ध उच्चारण किया था।

शिष्य—माँ ! गुरुजीके दिये हुए जिस मन्त्रका केवल एक वर्ष जप करनेसे आपने साक्षात् दर्शन दिये वह अशुद्ध कैसे हो सकता है ? वह जैसा भी है, मैं तो उसे ही जपूँगा।

काली—तेरी गुरुनिष्ठा से मैं बहुत प्रसन्न हूँ; वर माँग।

शिष्य—माँ ! गुरुजीने मुझे जो मन्त्र दिया है उसीका जप करनेसे आप दर्शन दिया करें।

काली—एवमस्तु।

आज भी उड़ीसा प्रान्तमें उस अशुद्ध मन्त्र से जितनी जल्दी सिद्धि मिलती है उतनी शीघ्र शुद्ध मन्त्रका जप करनेसे नहीं मिलती।

सतत कृपा और समाधान करना

मेरी बीमारी अभी चल ही रही थी। इसका एक विशेष कारण था। घर छोड़नेसे पहले मैंने एक झूठे डाक्टरी प्रमाणपत्र पर हस्ताक्षर किये थे। उस समय मन ही मन प्रार्थना की थी कि भगवन् ! इस पापका फल आप मुझे ही भोग कराना, किसी अन्यको नहीं। उसीका परिणाम यह रोग था। श्रीमहाराजजीने वृन्दावन जाकर श्रीरामकृष्ण सेवाश्रममें चिकित्सा करानेका आदेश दिया। चलते समय आपने कहा, 'स्वतन्त्र होकर घर मत भाग जाना।' यदि कोई लेने के लिए आये तब भी मत जाना।' वृन्दावन पहुँचते ही श्रीदासशेष स्वामी आ गये। उन्होने कहा, 'यहाँ वर्षा, गर्मी, सर्दी सभी अधिक हैं। उधर अपने आन्ध्र प्रान्त में ऐसी बात नहीं है।' परन्तु अब तक मुझे श्रीमहाराजजीके करुणावरुणालय स्वरूप ने इतना मुग्ध कर लिया था कि मुझे स्वयं ही उनकी आज्ञा उल्लंघन करने का साहस नहीं हुआ। श्रीदासशेष स्वामी के साथ जाने की बिलकुल रुचि नहीं रही। ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीने भी ले जाना चाहा; परन्तु मेरा मन नहीं हुआ।

श्रीरामकृष्ण-सेवाश्रमने कुछ दिन मुझे रखकर छुट्टी दे दी। अन्य किसी आश्रमवालेने मुझे अपने यहाँ रहने नहीं दिया। अपने श्रीकृष्णाश्रममें उन दिनों श्रीहरिबाबाजी ठहरे हुए थे। परन्तु उनके रसोइया भगवान-दासने मुझे वहाँ ठहरने नहीं दिया। तब श्रीप्रेमबाबूने छबिकृष्णके साथ मुझे अलीगढ़ भेज दिया। वहाँ मैं वैद्य साहबसिंहके गाँव लोसरामें रहा। दो-तीन महीने पश्चात् श्रीमहाराजजी अलीगढ़ पधारे। तब मैं और साहबसिंह उनके दर्शनार्थ पन्नालाल बौहरेके बागमें गये। वैद्यजीने शिकायत की कि ये परहेज नहीं करते। श्रीमहाराजजीने मीठी डाँट लगायी। मैं एकान्तमें जाकर रोने लगा। तब आपने मुझे पुचकारा और समझाया, "मैं तुम्हारे हितके लिए डाँटता हूँ। ले, प्रसाद पा।" सायंकालमें गाँव जानेको कहा। मैंने मना कर दिया और साथ चलनेका आग्रह किया। आप हाथरस तक एक-एक मीलपर स्वयं बैटते और हमें बैठाते हुए चले। बार-बार पूछते, "बेटा ! थका तो नहीं है ?" इस प्रकार थकावट मिटाते और कुछ खिलाते-पिलाते ले चले। वहाँ सबसे कहा, "इस लड़केका ख्याल रखना।" और मुझसे कानमें कह दिया, "किसी एकके घरमें मत खाना—'एकान्नं नैव भुञ्जीत वृहस्पतिसमादपि।' फिर मैं वृन्दावन पहुँच गया और मेरा स्वास्थ्य भी ठीक हो गया। वहाँ गुरुपूजनका अपूर्व पर्व देखा।

एक बार माँ आनन्दमयी आयी हुई थीं। उनकी कैसी व्यवस्था हुई है—यह देखनेके लिए जयपुर-मन्दिर में जाने लगे तो मैंने पहननेके लिए चरणपादुकाएँ सामने रखीं। न जाने किस मौजमें थे, बोले, "हटो, ठौर मार दूँगा।" माँके अनन्य भक्त एक ब्रह्मचारी विह्वल होकर भावमें झूमते हुए बोले, "अहो भाग्य ! अहो भाग्य ! ब्रह्मचारी, कितनी कृपा !" आपकी अपनत्वसूचिका मीठी डाँटसे मुझे आगेके लिए सावधान रहनेका संकेत मिलता था तथा आपकी सतत कृपा और पग-पग में दयालुताकी अनुभूति होती थी।

श्रीहरिबाबाजी और उनके भक्तोंके प्रति अपनत्व

पूज्य श्रीहरिबाबाजी और उनके भक्तोंके प्रति आपकी गहरी आत्मीयता थी। प्रेमबाबू नामके एक सज्जन बाबाकी निजी सेवामें रहते थे। वे एक सैनिक थे और युद्धके समय छिपकर सेनासे भाग आये

थे। श्रीबाबाके रसोइया भगवानदासने बातों-बातोंमें उनका नम्बर मालूम करके स्थानीय सरकारी अधिकारियोंको सूचना दे दी। श्रीमहाराजजीको तुरन्त इसका पता लग गया। तब आपने श्रीहरिबाबाजीसे यह बात कहला दी। श्रीहरिबाबाजीने प्रेमबाबूसे कहा, "निरन्तर नामजप करते हुए हाजिर हो जाओ।" वे तुरन्त चले गये और आत्म-समर्पण कर दिया। उन पर केस चला और उन्हें जेल में रखा गया। तब श्रीमहाराजजीने कहा, "यदि प्रेमबाबूको कुछ हुआ तो सन्त और वेद-शास्त्र सब झूठे हो जायेंगे। उसका बाल बाँका नहीं हो सकता।" इसके दूसरे दिन ही वे जेलसे मुक्त होकर आये और आपके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया।

श्रीहरिबाबाजीके प्रति आपकी कैसी आत्मीयता थी और कितनी कृपा थी उनके भक्तोंपर। पण्डित सुन्दरलालजी श्रीहरिबाबाजी से कहा करते थे, "महाराज ! आपके कुत्ते से भी वे प्रेम करते थे।" श्रीमहाराजजी कहते थे, 'बेटा मैं तो पेड़ोंके नीचे रहनेवाला हूँ। यह आश्रम तो हरिबाबाजीके लिए बना है।' बाँधके भक्तोंने अलग आश्रम बनाना चाहा तो श्रीहरिबाबाजीने कहा, "बाबाने मेरे लिए ही यह आश्रम बनाया है। मैं यहीं रहूँगा। तुम लोग बनाओगे तो मैं वहाँ नहीं रहूँगा।" जब सत्सङ्ग भवन तोड़कर नये सिरेसे बनाया गया.तब कई आश्रमवालोंने श्रीहरिबाबाजी से अपने यहाँ ठहरनेको अहा। किन्तु उन्होंने कहा, "मेरा भाव उस स्थान को छोड़कर दूसरी जगह नहीं बनता।" अतः जब नया सत्सङ्गभवन तैयार हो गया तब आप वृन्दावन आये। फर्श तैयार नहीं हुआ था, तो भी यमुनाकी बालुका बिछाकर आपने उसीमें कीर्तन किया। श्रीमहाराजजी और उनके आश्रमके प्रति आपका इतना प्रेम था।

श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी की बीमारी

मैं वृन्दावनसे कर्णवास आया। इस समय पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी बहुत बीमार पड़ गये। श्रीमहाराजजी स्वयं उनके पास खड़े होकर उन्हें अपनी अमृतमयी दृष्टि से देख रहे थे तथा उनके आस-पास ही चक्कर लगाते रहते थे। इस प्रकार मानों उन्हें उस उत्कट भोग से मुक्त कर रहे थे। स्वामीजी भयंकर प्यास, पसीना और ज्वरकी पीड़ासे तड़प रहे थे। हम सभी उनकी सेवामें संलग्न थे। इसी स्थिति में रामघाटवाले बाबू रामसहायजी उनसे प्रश्न करते थे, 'प्यासा कौन है ?'

स्वामीजी कहते थे, 'मैं प्यासा थोड़े ही हूँ। मैं तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आनन्दस्वरूप हूँ। जो प्यासा हो उसे जल पिलाओ।' बाबूजीका बार-बार यही प्रश्न होता था और आपका भी यही सुदृढ़ निष्ठापूर्ण उत्तर था। उनके बार-बारके प्रश्नसे किसी प्रकारकी चिढ़ भी नहीं थी। उस भयंकर रुग्णावस्थामें भी आपके उत्तरमें बड़ी मस्ती थी। श्रीमद्भागवतमें भागवतप्रधानका जो लक्षण किया गया है वह उस समय आपमें स्पष्ट दीख रहा था—

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥

अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिमें प्रतीत होनेवाले जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, भय, तृणा और कष्ट आदि सांसारिक धर्मोंसे जो भगवत्स्मृतिके कारण अभिभूत नहीं होता वह भागवतों (भगवद्भक्तों) में प्रधान है।

इस समय आपके शरीरकी बड़ी भयानक स्थिति थी। रोग विकराल रूप से आक्रमण किये हुए था। फिर भी आप उससे अधीर नहीं हुए। मृत्युके भयका नाम-निशान भी नहीं था। बाबूजीके प्रश्नोंका ताँता मानो उनकी निष्ठाकी गहराई नापनेका मापदण्ड बना हुआ था। आप कहते थे कि एक पिण्ड और उसके भीतर रहनेवाले अन्तःकरणका क्या विचार करना है। क्या जीवन्मुक्ति और क्या विदेहमुक्ति। अपने अखण्ड अद्वितीय आत्माकी ओर देखो। यही आपकी ब्रह्ममयी दृष्टि थी। यही उनकी वृत्तिनिरपेक्ष अनन्यता थी, जिसका कभी विपरिलोप नहीं होता। मनुष्य जैसे हर समय यह चिन्तन नहीं करता कि मैं मनुष्य हूँ, परन्तु जब मनुष्यता पर आघात होता है तो वह उसके सिर पर चढ़कर बोलने लगती है, उसी प्रकार यद्यपि आपकी अध्यात्मदृष्टिपर संसारका भयंकर प्रहार था तथापि आपकी ब्रह्मदृष्टि अक्षुण्ण थी। ज्यों-ज्यों रोग बढ़ा वैसे-वैसे ही आपकी आन्तरिक असंगता और अनन्त अधिष्ठान-निष्ठा स्पष्ट भासती थी। इधर श्रीमहाराजजी उन्हें अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टि से निहार रहे थे।

इतने ही में पं० किशोरीलालने श्रीमहाराजजीसे कहा, 'मुझे स्वप्नमें श्रीठाकुरजीके दर्शन हुए हैं। वे कह रहे हैं, 'चिन्ता मत करो,

अखण्डानन्दजी ठीक हो जायेंगे ।' 'बस, प्रातःकाल होते-होते आप सङ्कटपूर्ण स्थितिसे मुक्त हो गये । यह सङ्कट मानो आपकी निष्ठाकी कसौटी ही थी । इसमें श्रीमहाराजजीकी अनुकम्पा भी प्रत्यक्ष ही थी ।

आदर्श अर्चना

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी ने अनेकों बार कहा है—'लोग समझते हैं। ये गुरु हैं, अपनी पूजा कराते हैं, परन्तु तनिक पास रहकर देखो । वास्तवमें तो ये ही एक-एककी पूजा करते हैं, रूँठेको मनाते हैं ।' हमारे गुरुभाई श्रीनाहरसिंहजी कहते थे, 'वे सबको ईश्वररूपसे पूजते थे । हम लोग तो उनका भगवद्भावसे पूजन नहीं कर सके । उनके पूजनके पुष्प क्या थे—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया पुष्पं क्षमा पुष्पं विशेषतः ॥
ध्यानं पुष्पं तपः पुष्पं ज्ञानं पुष्पं तथैव च ।
सत्यमष्टविधं पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं भवेत् ॥[1]

आपका जीवन वास्तवमें इन पुष्पोंकी वाटिका ही थी । ऐसा जान पड़ता था मानो निरन्तर ऋतुराज कुसुमाकर लहरा रहा है । अतः आप निरन्तर मानो बसन्तके समान लोकहितका आचरण करते हैं—'बसन्त-वल्लोकहितं चरन्तः ।

अहिंसापुष्प—त्याज्य और ग्राह्यका अभाव होनेके कारण आपमें हिंसाका तो कोई प्रश्न ही नहीं था । सर्वात्मदृष्टि ऐसी कूट-कूटकर भरी थी कि सर्पादि भी हिंसा छोड़कर विचरते थे । सिंह आया तो आप बोले, 'डरो मत, यह महात्मा है ।' फिर उससे कहा 'अब दर्शन हो गये, चले जाओ ।' यहाँ 'अहिंसा प्रतिष्ठायां बैरत्यागः' का सिद्धान्त सर्वथा चरितार्थ देखा गया । वास्तवमें समरस सरस माधुरीकी मधुधारा बह रही थी ।

इन्द्रियनिग्रह-पुष्प—आपकी इन्द्रियाँ आत्म-प्रेममें छकी रहती थीं । उनसे महान् उज्ज्वल ज्योति प्रकट होती थी ।

सर्वभूतदया-पुष्प—आपके जीवनरूप कल्पवृक्षसे मानो सर्वभूत-दयामय मधु क्षरित होता था । आप स्वयं कहते थे, मैं सबपर दया करता हूँ ।'

---

१. पहला पुष्प अहिंसा है, फिर इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया, और क्षमारूप पुष्प हैं । तदनन्तर ध्यान, तप, ज्ञान और सत्यरूप पुष्प हैं । ये आठ प्रकार के पुष्प भगवान् विष्णुको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाले हैं ।

क्षमापुष्प—इसकी सहज अभिव्यक्ति आपकी क्षमावृत्तिसे होती थी। क्षमाके बिना दया अपूर्ण है। दया और क्षमा ये करुणावरुणालयके दायें-बायें हाथ हैं। जिस प्रकार वृक्ष पत्थर मारने पर पुष्प और फल देता है उसी प्रकार आप अपने अपकारियोंको भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप फल प्रदान करते थे। आप न्यस्तदण्ड थे, क्षमाके आगार थे। कहा करते थे, 'जो हो गया, सो हो गया, उसकी चिन्ता मत करो, आगेके लिए सावधान रहो।' क्षमा और उदारता मानो आपके स्वभावरूप सिक्केके दो पक्ष ही थे। ये दोनों आपमें अनन्तरूपसे भरपूर थे।

ध्यानपुष्प—आप सहज समाधिमें निमग्न रहते थे। इसका मूल आपकी ध्याननिष्ठा ही थी। आप कीर्तन में जाते समय कहा करते थे—"यह समय ध्यान करनेका है या कीर्तन करनेका ? तो भी सोने की अपेक्षा तो कीर्तन करना ही अच्छा है। आपका कथन था कि सच्चा भजन तो ज्ञानके बाद होता है। किसीने प्रश्न किया कि क्या ज्ञानके बाद ध्यानाभ्यास करना चाहिए ? आप बोले, 'ज्ञानके बाद प्रश्नोत्तर ही कहाँ है, ध्यान तो मेरा शौक है। ध्यान है क्या ? किसीका ध्यान न करना ही सच्चा ध्यान है।' इसी ध्यानके द्वारा आपको जीवनमें निरालम्ब स्थिति और निवृत्ति की पराकाष्ठाका अनुभव हुआ। इसका उल्लेख आप इस श्लोक द्वारा करते थे—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्याद्वायुः स्थिरो यस्य विनावरोधात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात् स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥[1]

आप कहा करते थे कि आज-कल लोग क्रमशः साधनाकी पूर्ति नहीं करते, इसलिए उनका विचार बिना ध्यानाभ्यास किये स्थिर नहीं रह सकता। एक बार स्वामी प्रबोधानन्दजीने पूछा, "जीवन्मुक्ति क्या है ?" आप बोले, जिस प्रकार फ्रेंच, जर्मन आदि अज्ञात भाषाओंमें यदि तुम्हारी निन्दा या स्तुति की जाय तो तुम्हारा चित्त तनिक भी डावाँ-डोल नहीं होगा, उसी प्रकार यदि तुम्हारी परिचित भाषामें निन्दा या स्तुति की जाय और तब भी तुम्हें क्षोभ न हो, तो जानना चाहिए कि तुम जीवन्मुक्त

---

१. जिसकी दृष्टि बिना दृश्यके स्थिर है, जिसका प्राण बिना रोके स्थिर है, और चित्त बिना आश्रयके स्थिर है, वही योगी है, वही गुरु है और उसीकी सेवा करनी चाहिए।

हो। सर्वभूतहितपर आपकी निरन्तर दृष्टि रहती थी। जिस प्रकार श्रीकृष्णशरशय्यापर पड़े हुए भीष्मका ध्यान करते थे उसी प्रकार आप लोगोंकी दुःखनिवृत्तिका ध्यान रखते थे।

तपःपुष्प—अपने प्रति कठोरता और दूसरोंके प्रति मृदुलता—यही आपका तप था। अपने शरीरको आप अन्यशरीरवत् देखते थे। उनका ज्ञानमय तप था। जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती थी वहीं समाधि थी। आपका कथन था कि मनकी एकाग्रता ही परम तप है।

ज्ञानपुष्प—आप ज्ञाननिष्ठामें परिनिष्ठित थे। कहा करते थे—

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मेव च।
चित्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय॥

यहाँ चेतन ही है, अतः यह चिन्मात्र और चिन्मय ही है। तुम चेतन ही हो—ऐसी भावना करो।

सत्यपुष्प—आप सर्वदा सत्य और प्रिय भाषण करते थे। अप्रिय सत्य कभी नहीं कहते थे। हित, मित और मधुर ही बोलते थे। यही आपकी आराधना थी। आपकी दृष्टि में सब कुछ भगवद्रूप था—

वासुदेवमिदं सर्वम्।

उपसंहार

आपकी अहैतुकी कृपामयी दृष्टि पाकर, आपका खान-पान और पहिराव देखकर, आपके सर्वाश्चर्यमय देव रूपको देखकर और आत्मा-दृष्टिसे आपकी अनन्त आराधना देखकर मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। बचपनसे नित्य प्रार्थना करता था—'असतो मा सद्गमय। तपसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।' परन्तु अँधेरेमें ही गीत गा रहा था। वास्तविकताका पता नहीं था। तो भी वह सच्ची पुकार व्यर्थ नहीं हुई। बिना कान ही सुननेवाले परमात्माके कानमें मेरी प्रार्थना पहुँच गयी। उस कृपालुने रासेश्वर रसिकबिहारी के रूप से परम-रसस्वरूप श्रीसद्गुरुदेवके चरणोंमें मुझे समर्पित कर दिया कि यहाँ देख, समझ और पानकर। यही वास्तविक जीवन है। यही अमृतरसपान है। यही ज्योतिर्मय जीवनमें विहार है। देख, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' रूपसे विराजमान जाज्वल्य प्रकाशमान श्रीपूर्णानन्द स्वयं मूर्त्तब्रह्म ही हैं। मूर्त्त और अमूर्त्तमें इनकी अव्याहत गति है। ये स्वयं ही गति और

स्थितिशील हैं। ऐसी बात नहीं, अपितु आत्मस्वरूपमें स्थिति और गति प्रदान करनेवाले भी हैं। करुणारसवर्षिणी श्रुति माता ही यह रूप धारण कर अपने बालकोंको असङ्गता, निर्विकारिता, निश्चिन्तता और निर्द्वन्द्वता रूप दुग्ध पान करा रही है। ऐसा अनुभव हुआ— 'धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं प्राप्तप्राप्योऽहमधुना' (मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे जो कुछ पाना था, वह अब प्राप्त हो गया है)।

इस प्रकार अपने भाग्यकी सराहना करते हुए नाच उठा। ईश्वरीय अनुकम्पाका स्मरण कर गद्‌गद हो गया। सदा हाजरा हुजूर करुणा-वरुणालय सरकार श्रीमहाराजजीके श्रीचरणोंकी पावनी रजके प्रति प्रपन्न होकर माँकी गोदमें गये हुए बालककी भाँति निश्चित हो गया। उनके पादाम्बुज सविलास महामोहरूप ग्राहको ग्रसनेके लिए अवतीर्ण हुए साक्षात् श्रीहरि ही हैं। इस ज्ञान-विज्ञानपूर्वक विवेकने उनके कृपाप्रसाद रूप रज्जुसे मेरे मनको बाँध दिया। आइये, उस करुणारस-मूर्त्तिका अब अनवरत पान करें और निरन्तर उनके चरण कमलोंका ध्यान करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ करें।

शरणं न भवति जननी न पिता न सोदरा नान्ये।
परमं शरणमिदं मे चरणं मम शिरसि देशिकन्यस्तम् ।।[१]



१. मेरे शरण (आश्रय) माता, पिता, सहोदर भाई या कोई अन्य नहीं हैं। श्रीगुरुदेवने मेरे मस्तक पर जो अपना चरण स्थापित किया है, वही मेरी परम शरण है।

: २ :

आविर्भाव और अध्ययन

परम्परागत धाराएँ



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

नन्दितानि दिगन्तानि यस्यैवानन्दविन्दुना ।
पूर्णानन्दं प्रभुं वन्दे स्वानन्दैकस्वरूपिणम् ।।

ब्रह्मद्रवा श्रीभागीरथी पर्वतोंको चीरकर अपने सान्निध्यसे तटस्थ स्थलोंको पवित्र करती उन्हें अपने सहज रससे रसान्वित करती अपने गन्तव्य गंगासागरमें विलीन हो रही है। उसे इस ओर कोई ध्यान नहीं है कि यह श्मशान है, नगर है, वन है, व्यापारक्षेत्र है, नद है, नदी है, गन्दा नाला है, पापी है या पुण्यात्मा है। पूज्यपाद श्रीमहाराजजीकी जीवनधारा भी साक्षात् श्रुतिसारभूता ब्रह्मद्रवा ही है। वह भी अपनी शानमें प्रवाहमान है। वह समान रूपसे सदा-सर्वदा सभीको आत्मसात् कर रही है। स्नेहरससे अपनेमें निमग्न कर रही है। वह प्रवहमान अनन्त प्रकृत धाराओंको अपनेमें समेटती जारही है। ब्रह्मद्रवा भागीरथी मकरवाहिनी है। उसे देखकर अनेकोंको भय और क्षोभ होना सम्भव है। परन्तु उनकी यह जीवनधारा तो आनन्दवाहिनी है। इसका सभी निर्भय होकर दर्शन, मज्जन और पान कर सकते हैं। वह चातुर्मास्यमें उमड़-घुमड़कर प्रलयकालके समान बड़ी विकराल क्रीड़ा करती है, भयंकर रूप धारण कर लेती है। परन्तु यह सर्वदा आनन्दमयो और आह्लादिनी है। यह किसी भी प्रकारके घटाव-बढ़ाव अथवा प्रहर्ष या उद्वेगके बिना ही मधुर मन्थर गतिसे असंगता, अद्वितीयता, निर्विकारता, निश्चिन्तता और शम-दमादि विकसित नेत्रोंके द्वारा प्रेमरसका सञ्चार करती निरन्तर अग्रसर होती ब्रह्मानन्दमहोदधिमें विलीन हो रही है।

श्रीमहाराजजी साक्षात् ब्रह्मण्यरसमूर्ति थे। उन्हें देखकर स्वभावसे ही यह उत्कट अभिलाषा होती थी कि इनकी अभूतपूर्व जीवनझाँकी

प्रस्तुत की जाय। इनका जन्मतः प्राप्त स्वभाव क्या है, देशगत, कालगत और जातिगत परम्पराएँ क्या हैं, जिनसे प्रभावित होकर इन्होंने अपने जीवन-निर्माणमें प्रेरणाएँ प्राप्त कीं तथा इनके गुरुजनोंने किस रूपमें इनके जीवनको विकसित, पुष्पित और फलित होते देखना चाहा। आइये अब इनकी देश, काल, जाति और वंशगत परम्पराओंपर विचार करें।

पुण्यभूमि भारत भोगस्थली नहीं है, यह तप, योग और कर्मकी क्रीडास्थली है। 'भा' अर्थात् प्रकाश या ब्रह्मविद्यामें जो रत है वही 'भारत' है। अर्थात् यह ब्रह्मविद्याकी प्रवाहस्थली है। ब्रह्मविद्या ही यहाँकी संस्कृतिका प्राण है और जो ब्रह्मविद्यामें रत है वही है 'ब्राह्मण'। यहाँके ब्राह्मणोंकी सम्पत्ति है एकता, समता, शील, स्थिरता, क्षमा, सरलता और उपरति। कहा भी है—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥

ऐसे प्रकाशमय जीवनके प्रदाता भारतमें आपने जन्म लिया। कहाँ? जगन्नाथपुरीमें, जो साक्षात् कलियुगका वैकुण्ठ है। किस कुलमें? राजगुरुओंके कुलमें। धन्य है वह पुण्यभूमि जहाँ इस बालकका आविर्भाव हुआ और जिसे इसकी दिव्य लीलाओंका रंगमञ्च बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। धन्य है उस परम कृतार्थ भाग्यशालिनी जननीको जिसने इस अद्भुत बालकको अपने उदरमें धारण किया। उन महान् श्रीधामको, परमपवित्र कुलको और सौभाग्यशालिनी जननीको बारंबार प्रणामकर अब उनसे प्राप्त परम्परागत धर्म एवं संस्कृतिकी धाराओंका विश्लेषण किया जाता है।

श्रीजगन्नाथधाम भारतके प्रधान तीर्थस्थलोंमें है। प्रत्येक भारतीय इस नाम और धामके स्मरणमात्रसे कृतकृत्यताका अनुभव करता है। जिस समय जगन्नाथधामके अधिष्ठातृदेव श्रीनीलाचलनाथके दर्शन होते हैं, वैष्णवगण प्रभुका परम प्रसाद अनुभव करते हैं। उस परम पावनी पुरीकी यात्रा करनेपर प्रत्येक यात्री अपने भाग्योंकी सराहना करता है। वह प्राप्त-प्राप्तव्यकी प्रसन्नतामें झूमता और नृत्य करने लगता है। एक ओर सुविशाल सागर करवटें बदलता अपनी उत्ताल तरंगोंसे नृत्य-सा करता मानो प्रणवका उद्घोष करता है। वह मानो भगवान्‌के श्रीचरणोंके प्रक्षालनके आनन्दोल्लासमें उन्मत्त-सा हो रहा है। उनके रंगमें रँगकर वह मानो गा रहा है कि उनके रंगमें रँग जाना ही सच्ची

उपासना है। तथा वे अपना रंग प्रदान करें—यही उनकी महती कृपा है। श्रीचरणोंकी सन्निधि प्राप्त होनेसे पूर्व ही समुद्रकी अनवरत नाम-गर्जना यात्रियोंके पापोंको विदीर्णकर उन्हें धाम-प्रवेशका अधिकार प्रदान करती है तथा **देवा भूत्वा देवान् यजेत्'** इस रहस्यरसके साथ उनके जीवन-रसका संगम कराती है। नीलाचलमें व्रजमाधुरी उछल रही है। उस पवित्र धामकी रजको सिरपर धारण करके प्रत्येक भारतीय अपने भाग्यको सराहता है। वह वैष्णवोंका तो हृदयसर्वस्व ही है।

उस पुण्यस्थलीमें राजगुरुओंके वंशमें इस बालकका आविर्भाव हुआ। यों तो इस क्षेत्रमें भी ऐसो अलौकिक विभूतियोंका प्राकट्य होता है वही महिमान्वित होजाता है। फिर यह वंश तो स्वयं भी बहुत महत्वशाली था। राजगुरुओंका परिवार यहाँके राजा-प्रजा सभीके लिए धर्म-मार्गका प्रकाशस्तम्भ होता है। यह सांगोपांग अभ्युदय और निःश्रेयसका पथ-प्रदर्शक है, स्वयं मूर्त्तिमान् त्याग है तथा स्वयं आकाँक्षा-शून्य रहकर सभीके श्रेय और प्रेयको सम्पन्न करता है। ये राजगुरु कर्मकाण्ड करानेवाले पुरोहितोंके समान नहीं होते। ये तो धर्मसम्राट होते हैं। उन्हें देवाराधन, कर्म, धर्म, अनुष्ठान, ध्यान और भगवत्प्रार्थना आदिकी शिक्षा देनेवाले होते हैं, जिससे उन्हें जीवनमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और प्रेमकी प्राप्ति होती है। राजा-प्रजा सभीकी दृष्टिमें यह वंश अत्यन्त सम्मानित होता है। ये लोग प्रातःकाल अंग्रेजी पढ़े लोगोंका मुख देखना भी अच्छा नहीं समझते थे। ये शुद्ध ब्राह्मणोचित पद्धतिके ही पक्षपाती थे। चमड़ेका जूता पहनना, बैलगाड़ीमें बैठना तथा किसी दूसरे ब्राह्मणके घरमें भोजन करना भी इन्हें रुचिकर नहीं था। कहीं अन्यत्र जाना होता तो पालकीमें बैठकर जाते थे। यदि कोई निन्दित कर्म करता तो उसे तुरन्त जातिसे बहिष्कृत कर देते थे। दूसरोंके आसनपर नहीं बैठते थे और न दूसरोंको अपने आसनपर बैठने देते थे। ऐसे अत्यन्त धर्मनिष्ठ सर्वसम्मानित वंशमें आपने जन्म लिया।

श्रीमहाराजजीके एक पूर्वज थे परम भागवत श्रीकाशी मिश्र। ये कलिपावनावतार प्रेममूर्त्ति श्रीगौरांग महाप्रभुके एक प्रमुख पार्षद थे। इन्होंने श्रीमहाप्रभुजीके कृपाप्रसादसे व्रजमाधुरीका आस्वादन किया और इनका हृदय वैष्णवी भक्तिरससे परिप्लुत हो गया। इन्हींके द्वारा महाराज प्रतापरुद्रको श्रीमन्महाप्रभुका कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ था। तबसे इनके वंशमें श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण-चैतन्यके प्रेमरसकी मधुरधारा प्रवाहित

होती रही। किन्तु पीछे इस विप्रवंशपर जगन्माता श्रीकालीकी कृपादृष्टि हुई। उसने स्वयं ही इसे वरण किया। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भरत सरस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥

प्रायः सारा संसार श्रीभगवान्‌का ही भजन करता है, कोई विरले ही ऐसे भाग्यशाली होते हैं जिनके स्नेहसे आकृष्ट होकर स्वयं भगवान् उनके आराधक बन जाते हैं। ऐसी ही बात इस वंशके लिए हुई।

हमारे श्रीमहाराजजीके प्रपितामह कलकत्ता गये थे। वहाँ माँ कालीने उनसे स्वयं कहा कि मैं तुम्हारे साथ चलूँगी। उन्होंने पूछा, "माँ मैं कैसे जानूँगा कि आप मेरे साथ चल रही हैं।" माँ ने कहा, "तुम्हें चलते हुए मेरे नूपुरोंकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ेगी। किन्तु तुम पीछे फिरकर मत देखना। जहाँ देखोगे मैं वहीं रुक जाऊँगी।" बस, आगे-आगे पण्डितजी और पीछे-पीछे माँ— इस प्रकार यह यात्रा आरम्भ हुई। जहाँ माँकी इच्छा रुकनेकी थी वहीं उनकी प्रेरणासे पण्डितजीने पीछे घूमकर देखा। बस, वहीं वे ठहर गयीं और वहीं उनका मन्दिर बना। तबसे सदा-सर्वदाके लिए इस वंशकी अधिष्ठात्री माँ श्रीकाली हो गयीं। इस वैष्णववंशपर शक्ति महारानीका आधिपत्य होगया।

माँ काली इन पण्डितप्रवरके लिए प्रत्यक्ष थीं। वे अनेकों बार इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करती रहीं। इनका नियम कि ये यवनोंसे नहीं मिलते थे। एक बार एक मुसलमान जमीदारने इनसे बहुत आग्रह किया। उसके अत्यधिक आग्रहके कारण इन्हें अपने नियमके विरुद्ध उससे मिलनेके लिए जाना पड़ा। ये माँ कालीको प्रणामकर और ऐसी भावना-कर कि माँ! मेरी लज्जा आपके हाथ है, आप जैसा उचित समझें करें, पालकीमें बैठकर चले। तव जैसे ही ये गाँवमें पहुँचे उसमें आग लग गयी। यह देखकर जमीदारने इनसे प्रार्थनाकी कि आप क्षमा करें, मेरी भूल हुई, इस आगको बुझायें। इनके माँसे प्रार्थना करनेपर आग बुझ गयी। इसमें इनका उस जमीदारके प्रति कोई दुःसंकल्प नहीं था। किन्तु आचार्य और महापुरुषोंके प्रति दुराग्रह करना अनुचित है—यह सूचित करनेके लिए भगवदिच्छासे ही ऐसा काण्ड हुआ। इसी प्रकार एक और घटना भी हुई। एक बार ये एक सकाम अनुष्ठान कर रहे थे। उस समय असावधानीके कारण ये कालीमन्त्र 'क्रीं' के स्थानमें श्रीकृष्णचन्द्रका बीजमन्त्र 'क्लीं' जपने लगे। तब माँने प्रकट होकर इनके मुँहपर ऐसा तमाचा लगाया कि वह टेढ़ा हो गया और फिर आजीवन वैसा ही रहा।

इस वंशपरम्परागत प्रभावके कारण हमारे श्रीमहाराजजीको श्रीकृष्णप्रेम और माँ कालीका कृपाप्रसादरूप अनुपम ऐश्वर्य दायभाग-रूपमें प्राप्त हुए थे। यों तो ब्राह्मण जन्ममात्रसे ही सब वर्णोंका गुरु होता है, फिर यह तो राजगुरुओंका वंश था। अतः आपको स्वभावसे ही शम, दम, शौच, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यके संस्कार प्राप्त हुए थे। आपके जीवनमें किस प्रकार क्रमशः इन दिव्यगुणोंका पोषण हुआ—यह आगेके विवरण से पुष्ट होगा—

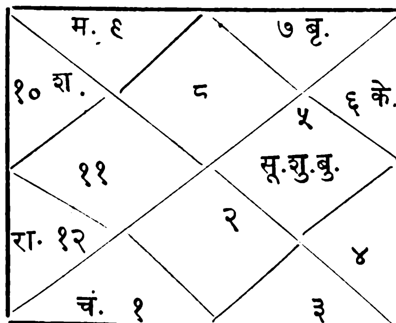
जन्म, पोषण और संस्कार

श्रीमहाराजजीके पूज्यपितामह थे राजगुरु पं० श्रीवासुदेव मिश्र। इनके तीन पुत्र और तीन कन्याएँ थीं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार थे—चक्रधर मिश्र, रूपादेवी, प्रभाकर मिश्र, रमादेवी, वैद्यनाथ मिश्र और कमला देवी। इनमें कनिष्ठ श्रीवैद्यनाथ मिश्र ही आपके पूज्य पिता थे। आपकी परम भाग्यशालिनी माता थीं श्रीलक्ष्मीदेवी। स्मार्त्त कृष्णजन्माष्टमीके दिन, जिसमें सप्तमी और अष्टमी दोनोंका योग था, ठीक मध्याह्नके समय आपका आविर्भाव हुआ। यह संवत् १९३२ विक्रमीकी बात है[1]। घरमें ज्येष्ठ पुत्रका जन्म होनेसे सभीको बड़ा आनन्द

---

१. नीचे आपकी जन्मकुण्डली दी जाती है—

अथ शुभसंवत्सर १९३२ विक्रमी तत्र भाद्रपदकृष्ण-सप्तम्यां चन्द्र-वासरेष्टम् १६।०६।०३० लग्न सूर्य ०४।०७ कृत्तिकाभे प्रथमचरणे श्रीमान् महाराजमिश्र वासदेवजी तस्यात्मजे भारद्वाजगोत्रोत्पन्न श्रीवैद्यनाथमिश्रगृहे पुत्र जन्म। नाम आर्त्तत्राणः। जन्मराशिः मेष। स्वामी भौमः।



हुआ और श्रीकृष्णजन्मके साथ आपका भी जन्मोत्सव मनाया गया। प्रथम पुत्रका मनोहर मुखारविन्द देखकर माँके आनन्दका पारावार न रहा। किन्तु यह सुख उन्हें अधिक दिन देखनेको न मिला। तीसरे ही दिन प्रसूति रोगसे उनका देहावसान हो गया। ये डोलंगनिवासी श्रीराम-नन्दन त्रिपाठीकी पुत्री थीं।

अब आपके पालन-पोषणका भार आपकी छोटी ताईजी श्रीप्रभाकर-मिश्रकी पत्नीने सँभाला। उनके अपनी कोई सन्तान नहीं थी। अत: वे बड़े स्नेह और आत्मीयतासे आपका लालन-पालन करने लगीं। विधाताका विचित्र विधान है। श्रीकृष्णचन्द्रकी जन्मतिथिमें ही आपका जन्म हुआ। जिस प्रकार उनके लालन-पालन और बालक्रीडाओंका सुख उनके माता-पिता देवकी और वसुदेवको नहीं मिला उसी प्रकार आपकी बाललीलाओंका मधुमय रस भी आपकी जननी श्रीलक्ष्मीदेवीके भाग्यमें नहीं बदा। जिस प्रकार श्रीकृष्ण परम भाग्यशालिनी यशोदाके वात्सल्यसे पोषित हुए उसी प्रकार आप भी अपनी ताईके वात्सल्यभाजन बने। प्रभाकरदम्पति ही हमारे चरितनायकके नन्द-यशोदा हैं।

क्रमशः आपके नामकरणादि सभी संस्कार हुए। नामकरणके समय ज्योतिषियोंने गणित करके आपका नाम रखा 'आर्त्तत्राण मिश्र' यह नाम एक प्रकारसे आपके जीवनक्रमका दिग्दर्शक ही हुआ। जीवनमें आर्त्त या दीन-दुखियोंके प्रति ऐसी करुणा किञ्चित् ही देखी गयी है। इनकी ताईजीका जन्म वैष्णव वंशमें हुआ था। वे स्वभावसे ही श्रीकृष्णकी परम भक्ता थीं। अत: मदालसाने जैसे स्तनपानके साथ अपने पुत्रोंमें ब्रह्मविद्याके संस्कारोंका सञ्चार किया था वैसे ही ये भी लोरियों तथा तरह-तरहकी कथा-कहानियोंके द्वारा आपको श्रीकृष्णप्रेमके संस्कारोंसे संस्कृत करने लगीं। पालना झुलाने और गोदमें लेकर लालन करते समय वे गाती थीं—

हरे मुरारे मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥
हे कृष्ण विष्णो मधुकैटभारे भक्तानुकम्पिन् भगवन् मुरारे।
त्रायस्व मां केशव लोकनाथ गोविन्द दामोदर माधवेति॥
श्रीराम नारायण वासुदेव गोविन्द वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण।
श्रीकेशवानन्त नृसिंह विष्णो मां त्राहि संसारभुजङ्गदष्टम्॥

परन्तु परिवारमें तो श्यामारस लबालब भरा हुआ था—

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तुते॥

इस प्रकार शिशुको कर्णरन्ध्रद्वारा श्याम और श्यामाके प्रेमामृत-रस का पान कराया जाता था तथा नेत्रकमलोंद्वारा श्रीमदनमोहन और माँकी रूपमाधुरीका आस्वादन होता था। धीरे-धीरे इन दोनों ही भक्ति-रसोंके संस्कार उनके सुकुमार हृदयपर अंकित होने लगे।

यज्ञोपवीत संस्कार और विद्याध्ययन

आपका पितृवंश आचार्योंका कुल था वे संस्कारोंकी महत्ता भली प्रकार जानते थे कि—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पहले आचार ही माना गया है। आचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके अधिष्ठाता श्रीहरि ही हैं। अतः भगवद्भक्तिका भी मूल आधार शास्त्रोक्त आचार ही है। इस आचारका आरम्भ होता है उपनयन संस्कारसे। सो अपनो कुलपरम्पराके अनुसार आपका उपनयन संस्कार चार वर्ष चार मास और चार दिनकी आयु होनेपर कराया गया। विद्याचक्र लौकिक और पारलौकिक कर्मकाण्ड, उपासना एवं भक्तिकी धाराओंसे युक्त है। क्रमशः इन सभीका इसमें आविर्भाव होता है। अतः उसकी प्रवृत्तिके लिए आपको गायत्री मन्त्रका उपदेश दिया गया, जिससे कर्म, उपासना आदिका क्रमिक विकास होकर शुद्ध सच्चिादानन्द तत्त्वको ग्रहण करनेवाली सूक्ष्म, विशुद्ध एवं तीव्र बुद्धिकी प्राप्ति हो। इसके साथ आपको शक्तिकवच और शक्तिमन्त्रकी भी दीक्षा दी गयी।

इस प्रकार यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर आपका उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य आश्रममें प्रवेश हुआ। विद्याध्ययन आरम्भ होनेपर पहले मातृभाषासे परिचय कराया गया फिर आपके ज्येष्ठ पितृव्य पं० चक्रधरमिश्रने आपको नित्यकर्म, पूजापद्धति और अमरकोशकी शिक्षा देकर लघुकौमुदीका अभ्यास कराया। सन्ध्या आदि नित्यकर्मोंका आपके स्वभावसे सहज ही में सामञ्जस्य हो गया। आगे चलकर श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत-

एकादश स्कन्धका पाठ करने लगे। उस वंशकी ऐसी मान्यता थी कि एकादशस्कन्ध श्रीमद्भगवद्गीताकी व्याख्या है।

आप प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठ जाते थे। शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर गायत्री-जप और ध्यानाभ्यास करते थे। बाल्यकालसे ही आपको आसन-प्राणायामादिमें रुचि थी। आपके स्वभावमें बाल्यकालसे ही मुनिवृत्ति देखी गयी। आपमें बालसुलभ चापल्यका सर्वथा अभाव था। जहाँ डाल दिये वहीं पड़े रहे। जहाँ बैठे हैं घण्टों वहीं बैठे रहे। खेल-कूदसे आपको कोई मतलब नहीं था। नेत्र प्रायः मुदे रहते थे। मानो स्वभावसे ही ध्यानस्थ हों। खेलमें यदि कोई बालक पीटता तो पिट लेते। उसके प्रतीकारका कोई प्रयत्न नहीं करते थे। आपकी इस मुनिवृत्तिसे सभी बड़े चकित थे। आप कहा करते थे कि यदि बचपनमें घरवाले पैसा देते थे तो मैं उनसे कागज-पेंसिल आदि खरीद लेता था, खाने पीनेका मुझे कोई व्यसन नहीं था और न खेल-कूदमें ही कोई रुचि थी।

आपको उपासनादिमें भी आरम्भसे ही बड़ी आस्था थी। घरके संस्कार भी ऐसे ही थे। एक बार एक बालक काशीसे तर्कशास्त्र पढ़कर आया। घरके वयोवृद्धोंने, यह देखनेके लिए कि देखें यह क्या पढ़ा है, एक सभा जोड़ी और उससे पूछा कि तुम क्या पढ़कर आये हो। उसने एक तर्क सुनाते हुए कहा—**'कथं चैतन्यं शालग्रामशिलायाम्'** (शालग्रामशिलामें चेतनता कैसे हो सकती है ?) तब वयोवृद्धोंने कहा, "अरे ! इसे डंडा लगाओ। बस, यही सीखकर आये हो ? भगवद्बुद्धि मिटानेवाले तर्ककी क्या आवश्यकता थी। उपासनासे चित्तको हटानेवाला तर्क मत सुनाओ। उपासना तो अत्यन्त सरल है और यह निर्बलको भी बलवान् बनाती है। जमकर भजन करना सीखो।" बालक आर्त्तत्राणको उनका यह निश्चय बहुत पसंद आया। इससे उनकी लगनकी पुष्टि हुई।

आपकी मेधाशक्ति भी बहुत अच्छी थी। जो पाठ एक बार सुन लेते थे वह दूसरी बार सुननेकी आवश्यकता नहीं होती थी। एक बार अनूपशहरमें मास्टर श्रीराम भारतीके यहाँ गये थे। वहाँ आलमारीमें बहुत-सी पुस्तकें रखी देखकर पूछा, "इतनी पुस्तकें क्यों रख छोड़ी हैं ?" उन्होंने कहा, "बालकोंको पढ़ानेके लिए इन्हें देखना पड़ता है।" झट आप बोले, "मैं तो बचपनसे ही जो बात एक बार सुन लेता हूँ वही कण्ठस्थ हो जाती है, फिर दूसरी बार पढ़ने या सुननेकी आवश्यकता नहीं होती। इसीसे मुझे अब तक हजारों श्लोक कण्ठस्थ हैं।"

गुणग्राहकता

बालक आर्त्तत्राणकी बुद्धि नयी-नयी बातें सीखनेके लिए बड़ी सतर्क और लालायित रहती थी। आपके परिवारका राजपरिवारके साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। आपसमें किसी प्रकारका संकोच नहीं था। प्रेमका यह स्वभाव ही है कि आपसमें लेना-देना, गुह्य बातोंका भी कहना-सुनना और खाना-खिलाना चलता रहता है। कहा भी है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षण॥

राजगुरु किसी दूसरेके घरमें नहीं खाते थे, क्योंकि उन्हें आचार-विचारका बहुत आग्रह था। राजा साहब भी आचार-विचारका बहुत आदर करते थे। यह परिवार उनके गुरुओंका परिवार था। श्रीआर्त्त-त्राण की बुआ रसोई बनानेमें बहुत कुशल थीं। विशेषतः करेलाका शाक बहुत अच्छा बनाती थीं। राजा साहब कभी-कभी प्रसादरूपमें करेलाका शाक मँगाते थे। बड़े प्रेमसे दिया जाता था। आपकी ताईके पास एक बहुत सुन्दर जरीदार रेशमी साड़ी थी। रानी साहबको वह बहुत पसन्द आयी। उनकी रुचि देखकर वह तुरन्त प्रसादरूपमें उन्हें दे दी गयी। आपसमें ऐसा घनिष्ठ प्रेम था।

आर्त्तत्राणजी बिना रोक-टोक राजमहलमें खेला करते थे। उन्हें राजाका रहन-सहन देखनेका भी शौक था। आपने देखा कि राजा साहब हर समय स्वाध्याय, ध्यान और जप आदिमें लगे रहते हैं। वे ब्राह्ममुहूर्तमें उठते हैं, तभी शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो ध्यानमें बैठते हैं, सूर्योदय होने-पर अर्घ्य देकर गायत्री-जप करते हैं, मध्याह्नमें तीन बजेतक विष्णु-सहस्रनाम तथा अनेकों धार्मिक ग्रन्थोंका पाठ एवं स्वाध्याय करते हैं और फिर भगवान्‌को भोग लगाकर थोड़ा-सा केलेका शाक खाते हैं। इसके पश्चात् कचहरी करते हैं। उस समय भी टहलते-टहलते जप करते हुए वादियोंके अभियोग सुनते हैं। इस अनुष्ठानमूर्तिका रहन-सहन आपको बहुत प्रिय लगा और उसे अनुकरण करनेकी रुचि हुई। इसके अतिरिक्त उनकी उदारता और अतिथि-सेवाका भी आपके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

उड़ीसामें आषाढ़संक्रान्तिके अवसरपर जूआ खेलनेकी प्रथा है।

आपके घरमें भी जूआ हुआ। आपसमें पासे बँट गये। तब आपको सुबुद्धिमें प्रेरणा हुई कि क्यों अमूल्य समयका दुरुपयोग किया जाय। खोया हुआ समय फिर हाथ नहीं आता। बस, आपने पैसा, प्रतिष्ठा और समयको व्यर्थ खोनेवाले पासे फेंक दिये और फिर भविष्यमें कभी जूआ नहीं खेला।

आपमें आरम्भसे ही बहुत सहनशीलता रही है। बाल्यावस्थामें एक बार आपको बड़ा भीषण ज्वर हुआ। उसमें प्यासके कारण आप बेचैन थे। ऐसी तृषा थी मानो महर्षि अगस्तके समान समुद्रपान कर जायँ। किन्तु चिकित्सकोंने जल पीनेके लिए मना किया था। यद्यपि प्यासकी तीव्रता बहुत अधिक थी, तथापि उस भीषण स्थितिका आपने बड़ी शान्तिसे सामना किया। किसी प्रकारकी बेचैनी या अधीरता व्यक्त नहीं की। उस समय आपके धैर्यकी परीक्षा करनेके लिए ही मानो विधाताने भीषण पिपासाके रूपमें अपना दूत भेजा था। परन्तु आप उस परीक्षामें पूर्णतया उत्तीर्ण हुए। आप तटस्थरूपसे प्यासके साक्षी बने हुए थे, उसके कारण आपके चित्तमें कोई क्षोभ नहीं हुआ। परन्तु घरवालोंको बड़ी चिन्ता हुई। पारिवारिक वैद्यको बुलाया गया। उन्होंने एक गोली दी और कहा, इसे एक घड़ा जलमें डालकर जितनी इच्छा हो उतना जल पिलाओ। किन्तु आश्चर्यकी बात कि उस जलके दो-चार घूँट पीनेपर ही इनकी तृषा शान्त हो गयी। सब चिन्तामुक्त हो गये और आपके स्वभावसे सभी प्रभावित हुए।

एक बार आपके पिता श्रीवैद्यनाथ मिश्र और प्रभाकर मिश्रमें कुछ कलह होने लगा। उसमें क्रोध बढ़ जानेसे आपसमें लाठी चल जानेकी सम्भावना होगयी। एक ओर जन्मदाता पिता हैं और दूसरी ओर परिपोषक। यह भीषण प्रसंग देखकर आर्त्तत्राणजी को मूर्च्छा आगयी। इन दोनों ही को अपने अविवेकके लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। और दोनों इन्हें सचेत करनेके प्रयत्नमें लग गये। इस समय मूर्छित होकर मानो आपने अपने इस स्वभावका परिचय दिया कि मैं क्रोधरूप शैतानका मुँह नहीं देखना चाहता। आपके भावी जीवनमें भी देखा गया कि दूसरोंका भी क्रोध आप देख नहीं सकते थे। जब कोई ऐसा प्रसंग आता था तब आप प्रायः अचेत हो जाते थे। स्वयं आपमें तो कभी क्रोधकी रेखा भी नहीं देखी गयी।

विद्याध्ययन के लिए गृहत्याग

जोवनमें ऐसा समय या घड़ियाँ आती हैं जब अपने महान् अन्तरात्माका आदेश होनेपर उसे चुपचाप स्वीकार करना ही पड़ता है। ऐसा होनेपर यद्यपि अनेकोंको आँसू बहाने पड़ते हैं, और अपनेको भी अपने प्रिय स्वजन, मित्र एवं मातृभूमिका विछोह सहन करना पड़ता है, तथापि उस समय आँखें मूँदकर अपने परम प्रियतम अन्तरात्माका आदेश मानना ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य जान पड़ता है।

बालक आर्त्तत्राणकी बारह वर्षकी अवस्थामें ही जन्मजात निवृत्ति, चिन्ता-विलापरहित तथा प्रतीकारशून्य तितिक्षा एवं क्षमाकी वृत्तियाँ देखी जाती थीं। आपको विद्याध्ययनका भी बड़ा चाव था। आपमें पारिवारिक मोह तो मानो जन्मसे ही नहीं था। अपने हितका स्वयं निर्णय करनेकी भी अच्छी सूझ-बूझ थी तथा उस निर्णयको कार्यान्वित करनेका साहस भी था। आवश्यक होनेपर आप बड़े से बड़ा त्याग भी कर सकते थे।

अब आपकी प्रारम्भिक शिक्षा तो घरपर ही समाप्त होगयी। एक कायस्थ मित्रने आपके पिताजीको अंग्रेजी पढ़ानेकी सलाह दी। सुनकर ही उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्हें यह सहन नहीं हो सकता था कि उनके वंशमें उत्पन्न हुआ बालक आंग्लसंस्कृति या आचार-विचारके प्रभावसे स्पर्श भी प्राप्त करे। वे उसे स्वदेश, स्ववेश, स्वधर्म और स्ववर्णके आचार-विचारोंमें ही पक्का करना चाहते थे। पुरीमें संस्कृत विद्याके विशेष अध्ययनकी कोई व्यवस्था नहीं थी। कहीं बाहर भेजनेका उन्हें साहस नहीं होता था। अपने लाड़िले लालको आँखोंसे ओझल करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। अतः उन्होंने यही निर्णय किया कि आपको अपने पैतृक कर्मकलापकी शिक्षा देकर कर्मकाण्ड और देवाराधनमें ही नियुक्त किया जाय।

परन्तु आपको उच्चकोटिका शास्त्रीय और साहित्यिक अध्ययन करनेकी बड़ी लगन थी। इसलिए अपने गुरुजनोंकी विचारधारा आपको रुचिकर नहीं हुई। आप तो संस्कृत साहित्यका उच्चकोटिका अध्ययन करना चाहते थे। सचमुच विद्या ही गुप्त धन है। इसे जितना बाँटा जाय उतना ही बढ़ता जाता है, घटता नहीं। विद्या ही व्यक्तिकी सच्ची सुन्दरता, आभूषण और जीवनका गौरव है तथा यही सच्ची प्रतिष्ठा

है। विद्या ही सच्चा भोग है, सच्चा गुरु है और यही देश-विदेशोंमें सच्चा बन्धु है। यही सच्चा शृङ्गार है और यही प्रगतिकी एकमात्र कुञ्जी है। सर्वत्र विद्वानका ही आदर होता है।

इस प्रकार आपके अन्तःकरणमें विद्यादेवीका महत्त्व स्पष्ट भासने लगा। तब आपने अच्छी तरह विचार-विमर्श कर भावी जीवनमें अपना विद्याध्ययन चालू रखनेका निश्चय कर लिया। इस निश्चयने आपके मोह-बन्धनको काट दिया। हृदयमें वीरता और स्वाधीनताका सञ्चार हुआ, सुदृढ़ संकल्प किया कि मैं विद्याध्ययन अवश्य करूँगा। हृदयमें ऐसा विश्वास हुआ कि यदि गृहत्याग करना पड़ा तो अवश्य ही भगवान् मेरी सहायता करेंगे। वे परम कृपालु हृदय खोलकर अपने अनन्त हाथोंको फैलाये हुए मुझे गोदमें लेकर सदा-सर्वदा मेरा लालन-पालन करनेको तैयार खड़े हैं। माँ अन्नपूर्णेश्वरी क्षण-क्षणमें मेरा पालन-पोषण करनेके लिए तत्पर हैं। इस आत्मविश्वास और भगवान् तथा भगवतीकी सुदृढ़ शरणागतिके साथ आपने त्यागका आलिंगन किया।

अभी यद्यपि बारह वर्षकी ही आयु थी। राजगुरुओंके अत्यन्त लाड़-प्यारसे पले सुकुमार ज्येष्ठ पुत्र थे, सबकी आँखोंके तारे थे और अकेले कभी घरसे बाहर नहीं गये थे; परन्तु विद्यानुरागने सब कुछ भुला दिया। आप घर छोड़कर निकल पड़े। कितना आत्मविश्वास, कितनी असंगता और कैसी निर्भयता! अपने निश्चित ध्येयके लिए आपने सभी सुखोंको स्वाहा कर दिया। आगेकी कोई चिन्ता नहीं थी। ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने इन्हें असाधारण धातुसे बनाया था। सच है—'**त्यागो हि महतां धनम्**'— महापुरुषोंका धन त्याग ही है।

विद्यालयमें

एक भड्डरी (भाट) के लड़केके साथ आप घरसे चल दिये। वह स्वयं तो भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह कर लेता था। किन्तु आपकी भिक्षामें रुचि नहीं थी, क्योंकि आपको वंशपरम्परागत आहारशुद्धि एवं आचार-विचारका बहुत आग्रह था। अतः भुने हुए चिउड़े खाकर क्षुधा-निवृत्ति करते थे। किन्तु इस प्रकार कब तक निर्वाह हो सकता था। इसलिए कभी-कभी आपका साथी दाल-चावल माँग लाता और आप उन्हें स्वयं सिद्ध करके क्षुधानिवृत्ति करते। कभी-कभी चावल और बेंगन

मिलाकर पका लेते थे। इस प्रकार मीठे-सीठे स्वादका कोई विचार न करके क्षुद्व्याधिकी निवृत्तिके लिए औषधवत् कुछ खा लेते थे।

इसी तरह भूख-प्यास सहन करते, यात्राकी कठिनाइयोंका साहस-पूर्वक सामना करते तथा थकावटसे न घबराते हुए आप बालेश्वर होकर मयूरभंज पहुँचे। यह एक अच्छी आयवाला राज्य था। यहाँ आपके पिताजीके परिचित पद्मनाभाचार्य नामके एक विद्वान् रहते थे। उनकी एक अपनी पाठशाला थी। साथी बालकने आचार्यजीको अपना परिचय दिया। उन्होंने दोनों ही बालकोंका वात्सल्यभावसे स्वागत किया। आपका विद्यानुराग देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और अपनी पाठशालामें भर्ती कर लिया। परन्तु आपको सन्देह था कि ये कहीं पिताजीको सूचित न कर दें। यदि ऐसा हुआ तो सम्भव है, पिताजी आकर ले जायँ और यह सारा परिश्रम व्यर्थ होजाय। अतः आपने वह स्थान छोड़ देनेका निश्चय कर लिया और उस भडुरीके लड़केको भी छोड़कर अकेले वहाँसे चल दिये। मार्गमें भयानक जीव-जन्तुओंसे आकीर्ण सघन वन था। परन्तु आप निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर अकेले ही उसे पार कर गये और बाल्यावेड़ा पहुँचे। वहाँ राजा कृष्णचन्द्रकी एक पाठशाला थी। उसमें भर्ती हो गये।

राजा कृष्णचन्द्र परम वैष्णव थे। वहाँ श्रीगोपीनाथजीका मन्दिर था। वे स्वयं उनकी सेवा करते थे। स्वयं ही पुष्प और तुलसीदल चयन करते तथा अपने हाथोंसे फुलवारी और तुलसीवनको सींचते थे। उनका भक्तिभाव ठीक भागवताग्रगण्य महाराज अम्बरीषका अनुसरण करता था। भक्ति ही आपका जीवन थी। आप उनसे बड़े प्रभावित हुए और पाठशालामें भर्ती होकर विद्याध्ययनके साथ भगवद्भक्तिकी सरस माधुरीका भी आस्वादन करने लगे। राजा साहब जब कुछ वृद्ध हुए तो अपने पुत्रको राज्यका भार सौंपकर स्वयं कुटीचक-संन्यासी—जैसा जीवन व्यतीत करने लगे। उन्हीं दिनोंमें एक वृद्ध ब्राह्मण उनके पास कुछ धन पानेकी लालसासे आया। उस समय आपके पास लिखनेके लिए कोई लेखनी और स्याही आदि नहीं थीं। किन्तु आप ऐसे उदार-शिरोमणि थे कि किसी प्रकार अर्थी ब्राह्मणको निराश लौटाना नहीं चाहते थे। अतः आपने अपने रक्तसे लिखकर अपने पुत्रको आज्ञापत्र भेजा। राजा साहबकी ऐसी अनुपम उदारताका आपके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। आप कहा करते थे कि राजा हो तो ऐसा हो।

उधर जगन्नाथपुरीमें आर्त्तत्राणजीके घर छोड़नेपर सबको बड़ा धक्का लगा। विशेषतः उनकी पालिका ताईजी तो बहुत ही व्याकुल हुई। वे कटे हुए वृक्षके समान भूमिपर गिर पड़ीं और विरहवेदना में पागल होकर रो-रोकर पूछने लगीं, कि मेरा आर्त्ता कहाँ चला गया? वे तो साक्षात् यशोदाजी ही थीं। विरहवेदनामें व्याकुल होकर उन्होंने खान-पान भी छोड़ दिया। हर समय उनके मानसनेत्रोंके सामने अपने लाड़िले लालकी मधुर मूर्त्ति अटपटी लीलाएँ करती दिखायी देतीं। वे रो-रोकर कहतीं, "मेरे आर्त्ताका चित्त तो ऐसा निष्ठुर नहीं था। वह तो बड़ा सुकोमल चित्त था। अब वह वज्रमूर्त्ति कैसे बन गया?"

इधर आपके मानसनेत्रोंको ताईकी यह रुदन करती मूर्त्ति स्पष्ट भासती थी। अतः उनकी विरहाग्निको कुछ शान्त करनेके लिए कुछ समय के पश्चात् आपने अपना कुशल समाचार भेज दिया। आपके पत्रने उनके विरहाग्निसन्तप्त चित्तको कुछ सान्त्वना प्रदान की। उसे हृदयसे लगाकर उन्होंने मानो आपको ही पा लिया हो ऐसा सुख प्राप्त किया। फिर घरवालों ने भी पढ़नेकी स्वीकृति दे दी, और कभी-कभी कुशलपत्र देते रहनेका आग्रह किया।

आप मन लगाकर पढ़ने लगे। डेढ़ वर्षमें सारस्वत-चन्द्रिका समाप्त कर ली। फिर व्याकरणके अन्य ग्रन्थोंका अध्ययन कर काव्यशास्त्र पढ़ने लगे। काव्यमें आपकी अच्छी रुचि थी। थोड़ी कविता भी करने लगे थे। इस प्रकार पाँच वर्षतक अध्ययन कर आप काव्यतीर्थ परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। इसी बीचमें एकबार आप अपने घर भी गये थे। जननी जन्मभूमिका आकर्षण स्वाभाविक ही है—**'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'**। स्वामी श्रीविवेकानन्दजीसे जब किसीने पूछा कि पूर्व और पश्चिममें आप किसे अच्छा मानते हैं, तो उन्होंने कहा था—'Of the east and the west the Home is the best.' (पूर्व और पश्चिममें जो अपनी जन्मभूमि हो वही सबसे अच्छी)।

अध्ययनकालमें आप अपने अध्यापकजीकी भी बड़ी सेवा करते थे, वे भी बड़े संयमी, शान्त और सौम्य प्रकृतिके थे। खाने-पीनेमें उनकी स्वादपर कोई दृष्टि नहीं थी। बिना नमकका भोजन भी बड़ी रुचिसे कर लेते थे। विद्यार्थियोंपर कभी खीझते नहीं थे। यदि किसीसे कोई त्रुटि हो जाती तो दूसरे समय बड़ी शान्तिसे समझा देते थे। महाराजजी कहा करते थे कि मैंने तो सेवा करते-करते ही सब कुछ प्राप्त किया है।

क्षमामूर्त्ति—विद्यार्थी जीवनमें आप सभीके साथ हिल-मिलकर रहते थे। किसीसे किसी प्रकारकी त्रुटि होनेपर भी क्रोध नहीं करते थे। एक बार गणेशपूजनके समय ऐसी घटना हुई जिससे आपकी क्षमावृत्ति सभीपर प्रकट हो गयी। पाठशालामें गणेशचतुर्थीपर गणेशपूजनकी प्रथा थी। उस दिन विद्यार्थी लोग पूजनके लिए स्वयं पुष्प चयन करके लाते थे। उस समय प्रायः कोई रोक-टोक नहीं करता था। एक बार आप कई साथियोंके सहित एक ईसाईके बँगलेमें पुष्पचयनके लिए गये। तब बगीचेके रखवालोंने डाँटते हुए सबका पीछा किया। उनके पहुँचनेतक और सब विद्यार्थी तो भाग गये, किन्तु आप वहीं रह गये। उन रखवालोंने गाली-गलौंच करते हुए आपको पकड़ लिया और पीटने लगे। बगीचेके मालिकने भी आकर अपमानित किया। परन्तु आपको तनिक भी दुःख या पश्चात्ताप नहीं हुआ। अपितु इस बातसे प्रसन्नता हुई कि और सब विद्यार्थी तो ताड़ना से बच गये और पुष्प भी सुरक्षित पहुँच गये।

मित्रविछोह और वैराग्य—जब आप काव्यतीर्थ परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे आपका एक कटकनिवासी छात्र गंगाधर मिश्रसे प्रेम होगया। गंगाधरजी बड़े प्रतिभाशाली और सौम्य प्रकृतिके विद्यार्थी थे। वे कक्षामें प्रायः सर्वप्रथम रहते थे। आयुमें आपसे बड़े थे। अतः उनका आपपर अपने अनुजके समान स्नेह था और आप भी उनका अग्रजकी भाँति आदर करते थे। वे कार्यवश मेदनीपुर गये और वहाँ हैजेसे चार-पाँच घण्टेमें ही उनका देहावसान होगया। उनकी इस आकस्मिक मृत्युका आपके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस पर मृत्यु, रोग और प्रियजनके विछोहकी भीषणता अंकित होगयी। अनुभव हुआ कि इस संसारमें जहाँ स्नेहका बन्धन होगा वहाँ रोना ही पड़ेगा— '**प्रियं त्वां रोत्स्यति**।' आपको सारा संसार नाशवान् और नीरस प्रतीत होने लगा। आप कहा करते थे कि जैसे बुद्धदेवको एक वृद्ध देखकर सारा संसार दुःखद और असार दिखायी दिया, एक रोगीको देखकर जैसे सारा संसार रोगी जान पड़ा तथा एक मुर्देको देखकर सभी जीव कालके गालमें प्रतीत होने लगे उसी प्रकार दीखना ही सच्चा वैराग्य है। उस समय यही वैराग्य आपके जीवनमें जाग्रत् हो गया। बस, तबसे आप सभीके संसर्गसे दूर रहकर उदासीन वृत्तिसे रहने लगे।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः—राजा श्रीकृष्णचन्द्रजीके शिवबाबू और नटवरबाबू नामके दो मन्त्री थे। दोनों सहोदर भाई थे और बड़े ही विचारवान्

और विद्वान् थे। वेदान्तमें उनकी अच्छी निष्ठा थी। विद्यार्थियोंके प्रति दोनों हीकी बड़ी सहानुभूति और प्रीति थी। विद्यार्थी भी कभी-कभी उनके सत्संगमें सम्मिलित होते थे। एक बार नटवरबाबूने तीर्थयात्राके लिए जाते हुए सब विद्यार्थियोंसे कहा, "मैं लौट आया तब भी तुम्हें मिठाई मिलेगी और न लौटा तब भी मिठाई मिलेगी।" इस गूढोक्तिका तात्पर्य कोई न समझ सका। तीर्थयात्रा करते-करते उनका देहावसान होगया। जब तारसे सूचना मिली तो शिवबाबूकी मुखाकृति तनिक भी विकृत नहीं हुई और न उन्हें कोई शोक ही दिखाई दिया। उन्होंने सब कार्यालय बन्द करा दिये। राज्यमें शोकदिवस घोषित कराया और घर जाकर सबको यह समाचार सुनाया। सब शोकातुर होकर रुदन करने लगे तो उन्होंने बड़े धैर्य और शान्तिसे समझाया। विद्यार्थियोंने उनसे उनके इस अद्भुत धैर्यका कारण पूछा तो बोले—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** ('हे अर्जुन! अमरता और मृत्यु तथा सत् और असत् सब मैं ही हूँ।') आर्त्तत्राणजी उनके चित्तकी ऐसी समतोलता देखकर बड़े चकित हुए और निश्चय किया कि जन्म और मृत्युको सम-सत्तामें देखना ही सच्चा वेदान्तदर्शन है। नहीं तो जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधिरूप ज्वार-भाटा दे मारेंगे। समता ही सत्य है। यही प्रत्येक अवस्थामें मिठाई खाना है।

समाधि की स्फूर्ति—श्रीआर्त्तत्राणजी काव्यतीर्थके अन्तिम खण्डमें थे। राजा कृष्णचन्द्र परम वैष्णव थे। वे भगवान् गोपीनाथके उपलक्षमें कार्त्तिक शु० ६ से पूर्णिमातक एकवार्षिक उत्सव किया करते थे। उस वर्ष कलकत्तेकी सुप्रसिद्ध बालसंगीत-मण्डली आयी। उसने अनेकों सुन्दर-सुन्दर नाटक किये। उनमें प्रसंगवश कैलाश-मानसरोवरका एक दृश्य आया। उसमें शान्तरसमूर्त्ति भगवान् शंकर बिना हिले-डुले निःस्पन्द चित्रलिखितसे सिद्धासनसे विराजमान थे। उनके पलक भी नहीं हिलते थे। उन नाटकीय शंकरकी ऐसी शान्त और स्थिर मुद्रा देखकर आप दंग रह गये। सोचने लगे—एक बालकने शिवका स्वांग रचते हुए ऐसा सुन्दर स्वरूप प्रकाशित किया और ऐसा प्रभाव डाला मानो सचमुच शंकर ही है, तो सच्चे साधक होकर यदि शंकरजीके समान ही सिद्धासनसे निर्निमेष और निःस्पन्द होकर बैठनेका अभ्यास किया जाय तो कितना प्रभावशाली होगा। मैं अवश्य ही शंकरजीका यह आदर्श अपने जीवनमें उतारूँगा। यहींसे आपको पहले-पहले समाधिनिष्ठाकी स्फूर्त्ति हुई।

प्रेमावेश—इसी बालसंगीत-मण्डलीने एक बार ब्रह्माजीके वत्सहरण की लीला की। सुरम्य वनस्थली है, तरह-तरहके फूल खिले हुए हैं, उन पर भौंरे गुञ्जार रहे हैं। आस-पास गाय और बछड़े स्वच्छन्द विहार करते हुए हरी-हरी दूब चर रहे हैं। सब ग्वालबालोंके साथ भगवान् बालकृष्ण वन-भोजनके लिए विराजमान हुए। उनके चारों ओर ग्वालबालोंने अनेकों मण्डलाकार पंक्तियाँ बना ली हैं और एक-से-एक सटकर बैठ गये हैं। सबके मुख श्रीकृष्णकी ओर हैं और सबके नेत्र आनन्दसे खिले हुए हैं। वे ऐसे शोभायमान हैं मानो कमलकोशके चारों ओर कमलकी छोटी-बड़ी पंखुड़ियाँ सुशोभित हों। उनमेंसे कोई पत्र, कोई पुष्प, कोई छींके और कोई भूमिको पात्र बनाकर भोजन करने लगे। सभी अपनी-अपनी विभिन्न रुचियोंको प्रदर्शित कर रहे हैं। कोई किसीको हँसता तो कोई स्वयं हो हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। इसी प्रकार वे सब भोजनका आनन्द ले रहे हैं। उस समय श्रीकृष्णकी छटा सबसे निराली थी। इस अद्भुत लीलाको लोकपितामह ब्रह्माजी एक वृक्षकी ओटमें छिपकर निहार रहे हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस अद्भुत छवि और मधुरलीलाका आपके चित्तपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। श्रीकृष्ण तो आपके मानस-मन्दिरमें सर्वदा विराजमान ही थे। इस समय उनका इन लीलाविग्रहसे तादात्म्य हो गया। मानो यशोदानन्दनके साथ श्रीवसुदेवनन्दनका अभेद हो गया हो।

इस दृश्यको देखकर आपको भावसमाधि हो गयी। तीन दिन तक वैसी ही स्थिति रही। कमरेमें आनेपर भी वह प्रेमावेश उतरा नहीं। आपके अन्तःस्थ प्रेमरसका आपके जीवनमें यह प्रथम आविर्भाव हुआ। वास्तवमें प्रेम ही भावुक भक्तका जीवन है। वही उसका सच्चा बल है। यद्यपि आरम्भसे आपको ऐश्वर्यभक्ति ही इष्ट थी। परन्तु इस समय प्रेम-देवने अपनी अपूर्व सामर्थ्य प्रकट की। रसावेशमें सब बुद्धिविलास विलुप्त हो गया और चित्त रसालुप्त होकर एक अपूर्व मस्तीमें डूब गया। भगवान् नारद कहते हैं–"**यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। यं प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमति न उत्साही भवति।**' अर्थात् जिस प्रेमकी प्राप्ति होनेपर पुरुष आप्तकाम हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। तथा जिसे पा लेनेपर वह कुछ भी पाना नहीं चाहता, शोक नहीं करता, द्वेष नहीं करता, किसीमें नहीं रमता और न किसी प्रवृत्ति के लिए उत्साह ही करता है।



: ३ :

सार्थनामा आर्त्तत्राण

समावर्त्तन और आचार्यत्व

श्रीआर्त्तत्राणजी काव्यतीर्थ होकर अपने घर लौट आये। उनका नियमित, संयमित और आराधनात्मक जीवन, रूप-लावण्य और शील तथा मुखमण्डलपर मँडराता हुआ ब्रह्मवर्चस्व देखकर सभीको बड़ा हर्ष हुआ। उनके विशुद्ध और निष्कपट जीवन, विनय और निरभिमानिताकी मिठासभरी रहनी, मधुररसपूर्ण वाणी और सहज स्वभावसे सर्वहितकारी प्रवृत्तियोंपर दृष्टि डालकर सभीने अपने अहोभाग्यकी सराहनाकी कि हमारे घरमें सच्चा कुलदीप और वंशतिलक उत्पन्न हुआ है। उन्होंने देखा कि वे केवल काव्यतीर्थ ही नहीं हैं, धर्मतीर्थ और प्रेमतीर्थ भी हैं। उन्हें मालूम हुआ कि ये केवल काव्यशास्त्रविनोदमें ही कालयापन करते हैं, स्वाध्याय और प्रवचनमें कभी प्रमाद नहीं करते और जप-ध्यानमें ही संलग्न रहते हैं। सहनशीलता, क्षमा और दीनोंपर दया—ये तीन रसात्मक धाराएँ आपके जीवनोद्यानको सींच रही हैं। इस प्रकार आपके चरित्र और साङ्गोपाङ्ग जीवनसे सन्तुष्ट होकर उन्होंने इन्हें अपने वंश-परम्परागत आचार्यतत्वके कार्यकलापमें नियुक्त कर दिया। सोचा कि इसमें संलग्न रहनेसे अपनी आँखोंके सामने रहेंगे। सभीको सन्देह था कि स्वतन्त्र रहनेसे कहीं ये फिर गृहत्याग करके न चले जायँ। अतः इनका मन गृह-कार्यमें लग जाय और ये यहीं बने रहें—इस निगूढ अभिसन्धिसे उन्होंने इन्हें आचार्यत्वका कार्य सौंप दिया।

इधर आप वैराग्य, योग और प्रेमका रस आस्वादनकर यह अटल निश्चय कर चुके थे कि इस जीवनमें योगश्रीकी उपलब्धि करनी है। इसके लिए क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण और ध्यानका अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। आपने सुना था कि—

> प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषान्।
> प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥[1]

---

१. प्राणायाम द्वारा शरीरिक दोषोंको भस्म करे, धारणासे पापोंको नष्ट करे, प्रत्याहारसे विषयोंका संसर्ग त्यागे और ध्यानसे अनीश्वर (असमर्थता जनित) स्वभावोंकी निवृत्ति करे।

प्रिय मित्रके वियोगने वैराग्यकी आग लगाकर धारणा और ध्यान सरल कर दिये थे, क्योंकि इससे आपकी यह धारणा सुदृढ़ हो गयी थी कि संग सब प्रकार त्यागने योग्य है। आपके अन्तःकरणमें स्वभावसे ही उदासीनता छायी हुई थी। अब देखें क्या होनेवाला है। ईश्वरका विधान मंगलकारी होता है। कृपामहारानी क्या कर बैठेंगी—पता नहीं। ये जिनपर ढरती हैं उनका सर्वस्व छीनकर नंगा कर देती हैं और फिर अच्युत प्रभुको प्रदान करती हैं।

उड़ीसामें अकाल

अकस्मात् उड़ीसामें अवर्षणके कारण भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। क्षुधाकी आग सभीको दावानलकी तरह सन्तप्त करने लगी। असह्य क्षुधाग्निकी शान्तिके लिए लोग दही या पानीमें चिकनी मिट्टी घोलकर पीने लगे। फिर ऐसी स्थिति भी आयी कि लोग स्वयं विष खाकर और बच्चोंको विष खिलाकर कालके गालमें जाने लगे। अनेकों परिवार समाप्त हो गये और पशु, पक्षी भी अन्धाधुन्ध मरने लगे। मृत्युका ऐसा ताण्डव नृत्य देखकर आर्त्तत्राणजीका हृदय तड़प उठा। उनकी नाड़ियोंमें **'सर्वभूत-हिते रताः'** का भाव जागृत हो उठा। वे प्राणियोंकी प्राणरक्षाके महत्कार्यमें जुट गये। शक्तिसे अधिक जी-जानसे उनकी सेवाकी। अथाह प्रयत्न करते रहे। परन्तु यह सब करनेपर भी आपको सन्तोष न हुआ। सोचा, हाय ! मैं कुछ भी न कर सका। वे प्राणियोंकी पीड़ासे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया। मृत्युका ताण्डव नृत्य और प्राणियोंकी छटपटाहट अहर्निश आपके नेत्रोंको पीड़ित करती रहती थी। अब क्या करना चाहिए—ऐसा विचार करते-करते यह निश्चय किया कि ऐसी शक्ति प्राप्त करूँ जिससे सारे संसारकी सेवा कर सकूँ। द्रौपदीकी[1] तरह ऐसा पात्र प्राप्त करूँ जिससे सबको निरन्तर भोजन कराते रहनेपर भी अन्नका घाटा न पड़े। या कोई ऐसा रसायन ढूँढ़ निकालूँ जिससे सबका दुःख-दर्द मिट जाय।

---

१. जिस समय पाण्डवलोग वनवास कर रहे थे, भगवान् सूर्यने उन्हें एक ऐसा पात्र दिया था जिससे असंख्य अतिथियोंको भोजन करानेपर भी भोज्य सामग्री तब तक समाप्त नहीं होती थी जबतक द्रौपदी स्वयं भोजन न करे। अतः जब सभी अतिथि भोजन कर चुकते थे तब द्रौपदी भोजन करती थी और उस पात्रको धोकर रख देती थी। इस प्रकार नित्यप्रति उस स्थालीके कारण असंख्य अतिथियोंका सत्कार पाण्डवलोग करते थे।

यह तो स्पष्ट है कि यह कार्य स्थूल उपायोंसे तो सिद्ध हो नहीं सकता। किसी प्रकारकी देवाराधनासे ही ऐसा होना सम्भव है। द्रोपदीको भी सूर्यदेवने ही अक्षय पात्र दिया था।

तब सोचते-सोचते स्वभावसे ही मनमें स्फुरण हुआ कि इस कायके लिए अपनी माँ कालीकी ही आराधना क्यों न की जाय। आपके हृदयमें माँके प्रति सहज श्रद्धा और सुदृढ़ विश्वास तो था ही। नाड़ियोंमें रक्त-प्रवाहके समान आपके हृदयमें श्रीजगज्जननीके चरणकमलोंमें स्वाभाविकी भक्ति थी। विश्वास तो पहाड़ोंको भी उठाकर फेंक देता है और समुद्रोंको भी सुखा सकता है। असम्भवको सम्भव कर देना उसके लिए कठिन नहीं है। अतः निश्चय किया कि माँको ही जगाऊँ। वे ही इस कार्यको निष्पन्न करेंगी। वनदुर्गाका मन्त्र सर्वशक्तिस्वरूप है। जगी हुई वनदुर्गा इन्द्रका सिंहासन भी दे सकती है। वह वाञ्छाकल्पतरु है। वह ब्रह्माण्डको चीरकर सब कुछ करने और अन्यथा करनेमें समर्थ है अतः आर्त्तत्राणपरायण आर्त्ति-हर आर्त्तत्राणजी पूर्ण आत्मविश्वासके साथ जगज्जननी दुर्गाको जगानेकी लालसासे चैत्र कृ० ५ सं० १९५१ वि० को केवल एक लोटा और ग्यारह रुपये लेकर घरसे चल दिये।

कामाक्षामें अनुष्ठान

आपको यह निश्चय हो चुका था कि त्याग ही अभ्युदयका मूल है। त्यागके द्वारा ही सच्ची लगन, जिसमें तन-मन-धन भी निछावर हो जाता है, प्राप्त हो सकती है। त्यागका सारभूत रहस्य यही है कि इधरसे हट जाय और उधर जुड़ जाय। इच्छित फलप्राप्तिकी वास्तविक वैज्ञानिक पद्धति यही है। जीवनकी प्रयोगशालामें पुनः-पुनः अनुसन्धान करनेपर यही दुःख-दर्दोंके निवारणके लिए अनुभूत प्रयोग निश्चित हुआ है। स्वामी श्रीविवेकानन्दजी कहते हैं—The way to heaven is through hell अर्थात् स्वर्गका मार्ग नरक होकर ही है। नरकमें जितना कष्ट होता है उससे भी सहस्रगुण कष्ट सांसारिक सम्बन्धोंको त्यागनेमें, संयत जीवनमें, सर्व प्रकार तपानेवाले तपमें और मानापमानकी मारमें होता है। त्यागमार्गीको पग-पगपर छुरेकी धारपर चलना होता है। परन्तु लक्ष्यानुसन्धानकी सच्ची लगन, माँगपूर्त्तिकी उत्कट तड़प, प्राणिमात्रके प्रति सेवा-भाव और कार्य-सिद्धिके लिए शरीरोत्सर्गकी उत्सुकता इस दुर्गम पथको सुगम कर देती है।

इस तीव्र लगनके साथ आप बिना साथी और सामानके अकेले ही कामाक्षाकी ओर चल दिये। आप कहा करते थे कि साधुको इतना सामान रखना चाहिये कि यदि लघुशंकाके लिए भी जाय तो यह न सोचे कि फिर लौटकर ठहरनेके स्थानपर आना है, दायें-बायें देखनेकी आवश्यकता न पड़े और आगे पीछेकी चिन्ता न हो। बस, जिस प्रकार खूँटेसे छूटा हुआ बछड़ा माँके स्तनपानके लिए दौड़ता है उसी प्रकार वीरतापूर्वक उछलता चला जाय!

जगन्नाथपुरीसे चलकर आप कलकत्ता आये। वहाँसे गोआलन्द पहुँचे। वहाँ एक कायस्थके घरमें रहकर चैत्रके नवरात्रमें व्रत रखकर कालीकी आराधना की। आप बिना टिकट कभी नहीं चलते थे। अतः उस कायस्थ सज्जनने आपको गोहाटीका टिकट दिला दिया। इस प्रकार आप देवी कामाक्षाके क्षेत्र गोहाटी पहुँचे गये। उस रमणीक भूमिको देखकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। एक ब्राह्मणने आपको सब देवस्थान और दर्शनीय स्थानोंके दर्शन कराये। वहाँ आपने देखा कि अनेकों सकाम पुरुष धर्म, अर्थ और भोगोंकी कामनासे माँ जगदम्बाकी आराधनामें लगे हुए हैं। सर्वत्र **'रूपं देहि धनं देहि देहि देहि पुनः पुनः'** की ध्वनि वहाँके वातावरणमें प्रतिध्वनित हो रही है।

यह सब देखकर आपका मन अति प्रफुल्लित हुआ और निश्चय किया कि जगदम्बाकी आराधनाका यही ठीक स्थान है। तब माँके परम-भक्त सिलहटनिवासी श्रीजितेन्द्रनाथ भट्टाचार्यने सांगोपांग अनुष्ठानकी पूर्त्ति के लिए जितने द्रव्यकी आवश्यकता होगी वह सब देनेका वचन दिया।

आप नित्यकर्मादिसे निवृत्त हो भूतशुद्धि और शापमोचनके साथ दर्भासन और व्याघ्रचर्मके आसनपर बैठकर गायत्रीजप करते और फिर अपना नैमित्तिक अनुष्ठान करते। आपको बचपनसे ही जपकालके इन नियमोंका अभ्यास था—

जपकाले न भाषेत नान्यानि प्रेक्षयेद्बुधः।
न कम्पेत शिरोग्रीवां दन्तान्नैव प्रकाशयेत्॥[1]

जपके साथ जगदम्बाका ध्यान भी चलता था। ध्यानहीन जपका आपकी दृष्टिमें विशेष महत्त्व नहीं था। देवीजीके भोगके लिए प्रसाद हर समय

१. बुद्धिमान् पुरुष जपके समय बोले नहीं, दूसरी वस्तुओंकी ओर देखे नहीं, शिर और ग्रीवाको हिलावे नहीं और न दाँतोंको दीखने दे।

तैयार रहता था, क्योंकि ऐसा नियम है कि अनुष्ठानके समय जब देवीजी प्रकट होकर भोग माँगें उस समय उन्हें तुरन्त भोग लगाना चाहिए, विलम्ब होनेसे अनुष्ठानमें विघ्न हो जाता है। जपके पश्चात् कन्याओंको प्रसाद वितरण किया जाता था तथा उन्हें दक्षिणा भी दी जाती थी, क्योंकि कन्याएँ और सभी स्त्रियाँ देवीकी ही स्वरूप हैं। जो अनुष्ठानी इनपर कुदृष्टि करता है वह अनिष्टसे नहीं बच सकता। यद्यपि स्त्रियोंके प्रति आपकी मातृदृष्टि जन्मसिद्ध थी, तथापि इन दिनों आप बहुत सतर्क रहते थे।

इस अनुष्ठानमें आपका दैनिक व्यय प्रायः ढाई रुपया था। स्वयं भी केवल दूध और केलोंका ही आहार करते थे। सप्ताहमें एक बार दूध-भात का भोग भी लगाते थे। इस प्रकार बड़ी निष्ठा और तत्परतासे आपका अनुष्ठान चल रहा था। माँके श्रीचरणोंमें आपका वंशपरम्परागत सहज स्नेह था। अनुष्ठानके पश्चात् प्रीतिनिर्भर हृदयसे माँके नामोंका संकीर्तन होता था। माँके वात्सल्यका स्मरणकर आपका हृदय द्रवीभूत होकर उनके श्रीचरणोंके प्रति बहने लगता था। माँकी प्रार्थना करते समय नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी, तभी कण्ठ गद्गद होजाता था। स्वप्नमें प्रायः नित्य ही आपको माँके दर्शन होते थे। जपकालमें भी उनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति अनुभवमें आती थी। उनके सिवा दत्तात्रेय, वसिष्ठ, वामदेव आदि ऋषि, मुनि, अवधूत और सिद्धोंके दर्शन होते थे। उन अनुभवोंके कारण आपको दिन दुगना रात चौगुना उत्साह बढ़ रहा था। आपका चित्त ध्यानमें ऐसा डूब जाता था कि जप छूट जाता। उस समय नित्यानन्दकरी सौन्दर्यरत्नाकरी माँके कृपाकटाक्षोंको निहारकर आपके आनन्दका पारावार नहीं रहता था।

इसी प्रकार छः महीने व्यतीत होगये। माँकी ऐसी अहैतुकी कृपा देखकर आपके चित्तमें स्फुरण हुआ कि सब प्राणियोंको अन्न देनेकी कामनासे माँका भजन क्यों किया जाय। क्यों न उस सर्वशक्तिनिधि जगज्जननी माँको-ही सर्वतोभावेन अपनाऊँ। इस प्रकार माँका दर्शन पाकर सकामता हृदयसे लुप्त होगयी और माँका अहैतुक प्रेम प्राप्त हुआ। भक्तिके लिए भक्ति होने लगी। आराध्यकी सेवाके लिए ही सेवा रह गयी। चित्त अनुरागात्मिका भक्तिसे रँग गया। सोचने लगे क्या मैं सर्वदा जीवित रहूँगा, मुझसे कितने लोग अन्न ग्रहण कर सकेंगे। अच्छा यही है कि माँको ही चाहूँ, माँको ही भजूँ, माँको ही ध्याऊँ और माँका नाम माँके लिए ही गाऊँ। बस, अब सब प्रकारकी कामनाएँ त्यागकर

अनन्यचेता हो निरन्तर ध्याननिष्ठापूर्वक श्रीमातृचरणाम्बुजोंके प्रेममें ही डूबे रहनेका निश्चय कर लिया।

इस प्रकार कामना छूटकर निष्कामतामें बदलना ही सच्चे ध्यान-भजनका फल है। यही हृदयकी पवित्रताका प्रतीक है। वास्तवमें सकाम कर्म और उपासनाका परिणाम यही है कि इच्छित फल प्राप्त होनेपर इष्टदेवमें यह दृढ़ विश्वास होजाय कि यह वाञ्छाकल्पतरु तो निश्चय ही नित्य विद्यमान है। फिर मैं कामनाओंके पीछे क्यों भटकूँ, क्यों न इन्हींको अपनाऊँ। इष्टदेवके प्रति इस पूर्ण शरणागतिका नाम ही विशुद्ध भक्ति है।

निष्कामता आते ही देशादिका निर्बन्ध छूट गया। परन्तु आराधनात्मक जीवन, ध्यानात्मिका शरणागति और अनन्यचेतात्मिका अखण्ड-स्मृति अविच्छिन्न गंगाधारावत् चलती रहीं। अतः आप माता अन्नपूर्णेश्वरीकी नगरी श्रीकाशीपुरी जानेके लिए गोहाटीसे मयूरभञ्ज चले आये।

मातृकृपा

निष्कामताकी प्रधानता होनेपर भी आपकी लगनमें ढील नहीं आयी, क्योंकि ध्यानादिमें आपको माँके कृपाकटाक्षरसका आस्वादन होने लगा था। इसलिए उसकी अधिकाधिक अनुभूति और उपलब्धिकी पिपासा जाग्रत् होगयी थी। मयूरभञ्ज आते समय आप बालेश्वर उतर गये। वहाँसे मयूरभञ्जका मार्ग बड़े सघन और भयानक जंगलमें होकर है। परन्तु आप निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर चल दिये। आश्रितप्रतिपालिनी माँकी गोदमें अपना जीवन डालकर निश्चिन्त बालकके समान मस्तीसे चल रहे थे। रास्तेमें रीछोंकी टोली आयी। मानो साक्षात् मृत्युका आवाहन था। परन्तु बालकके लिए तो माँकी गोद सर्वदा अभयप्रदायिनी होती है। अतः आपने भी हृदयकमलस्थिता, भवभयहारिणी, शरणागतवत्सला माँकी गोदका ही आश्रय लिया। कछुआ जैसे अपने अंगोंको सिमेटकर अपनेमें ही सिकुड़ जाता है वैसे ही आपने ध्यानके द्वारा अपनी सारी मनोवृत्तियोंको आकुञ्चित कर अनन्य चित्तसे माँके चरणकमलोंमें लगा दिया। आर्त्तहृदयसे पुकारा— **'दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः।'**[1]

इतने हीमें बड़ा आश्चर्य हुआ। तत्काल दो बैलगाड़ियाँ और बन्दूकें

---

१. माँ दुर्गे! स्मरण करते ही तुम सम्पूर्ण जीवोंका भय हर लेती हो।

हाथमें लिए दो घुड़सवार वहाँ उपस्थित होगये। आपकी सच्ची पुकारकी सच्चे दरबारसे तुरन्त सुनवाई हुई। फिर बैलगाड़ी वालोंने आपसे गाड़ीमें बैठनेको कहा। परन्तु आपको आचार विचारकी दृष्टिसे बैलोंकी गाड़ीमें बैठना उचित नहीं जान पड़ा। इसलिए नम्रतापूर्वक उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। तब उन्होंने आपको गाड़ियों और घुड़सवारोंके बीचमें कर लिया। और इस प्रकार जंगलसे बाहर करके चले गये।

काशीजी और वैद्यनाथधाम में

कुछ दिन मयूरभञ्जमें रहकर आप माता अन्नपूर्णेश्वरीकी नगरी काशीमें पहुँच गये। इस ज्योतिर्धाममें पहली ही बार पदार्पण हुआ था। यहाँकी भाषासे भी परिचय नहीं था, जिसके द्वारा किसीसे जान-पहचान हो सकती। पासमें विशेष पैसा भी नहीं था। इसलिए पण्डे आदिके द्वारा सुचारु रूपसे देवदर्शनादि होना भी कठिन था। आपका एकमात्र सम्बल थीं माता अन्नपूर्णेश्वरी। वहाँ पहुँचते ही आपने सर्वसाधारणकी प्राण रक्षाके लिए माँसे पुष्कल अन्न प्रदान करनेकी प्रार्थना की। आप तो जन्मसे ही करुणाकी मूर्त्ति थे। अभी भी आपके कानोंमें उड़ीसाके क्षुधार्त्तों का आर्त्तनाद गूँज रहा था। उनका भीषण हाहाकार अब भी आपके हृदयको पीड़ित कर रहा था। इसीसे फिर उनके लिए अन्नकी माँग जाग उठी।

काशी पहुँचकर आपने श्रीविश्वनाथजी और अन्नपूर्णाजीके दर्शन किये। परन्तु ऐसा लगा मानो दोनोंने मौन धारण कर रखा है। अतः आपने अपनी माँगकी पूर्त्तिके लिए अनशन प्रारम्भ कर दिया। परन्तु जब माँकी वात्सल्यमयी मधुरमूर्त्ति ध्यानमें आयी तो हृदयका हठ शिथिल पड़ गया और अन्नप्राप्तिकी कामना निवृत्त होगयी। माँकी सुमधुर सौम्य मूर्त्तिका ऐसा जादू था कि जब-जब वह हृदयमें आविर्भूत होती थी तब-तब सकामता लुप्त होजाती थी और हृदयमें **'कदा करिष्यसीह मां कृपाकटाक्ष-भाजनम्'** ऐसा भाव जाग्रत् होजाता था। बस, एक माताजीने माँका चरणामृत पिलाकर आपके उपवासका पारण कराया और आपने जाकर श्रीविश्वनाथजी और अन्नपूर्णाजीके दर्शन किये। वहाँ एक ब्राह्मणने आपको प्रसादमें एक अनार दिया।

अबतक आप मणिकर्णिका घाटपर एक गुफामें रहते थे। उसमें स्थान बहुत संकुचित था। पैर फैलाकर लेटना भी कठिन था। इसलिए

उसे छोड़कर खुले स्थानमें रहने लगे। एक बंगली बाबू मिले। वे आपकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगे। आपके दर्शनोंसे मन्त्रमुग्ध हो उन्होंने प्रार्थना की कि हमारे यहाँ प्रसाद ग्रहण करें। आपने इस शर्तपर स्वीकार कर लिया कि मैं स्वयं पाक करूँगा। बंगाली बाबू राजी होगये। आपने पवित्रतापूर्वक रसोई सिद्ध करके जगदम्बाको भोग लगाया। विशेष प्रार्थना करनेपर कुछ प्रसाद बंगाली बाबूको भी दिया। रात्रिमें स्वप्नमें एक महापुरुषने दर्शन देकर आपको वैद्यनाथधाम जानेका आदेश दिया। बंगाली बाबूने किरायेकी व्यवस्था कर दी, अतः आप काशीसे वैद्यनाथधाम चले आये।

वैद्यनाथधाममें कामनापूर्त्तिके लिए लोग श्रीशंकरजीके मन्दिरमें धरना दिया करते हैं। वे उपवासपूर्वक रहकर केवल जल या पञ्चामृत ही पीते हैं। आपके चित्तमें भी सरस्वतीसिद्धिकी रुचि हुई। अतः पञ्चामृतकी व्यवस्था एक पुजारीको सौंपकर आप भी धरना देने लगे। आपके साथ एक बंगाली मित्र था। उसे उदरशूलका रोग था। उसकी निवृत्तिके लिए वह भी धरना देने लगा। ग्यारह दिन बीतनेपर उसे स्वप्नमें श्रीभैरवजीके दशन हुए। उनसे उसने अपना दुःख निवेदन किया। तब वे बोले, "तुम पूर्वजन्ममें शिवोपासक थे। उस समय तुम्हें भगवान् शंकरकी उपासनाके लिए जो द्रव्य दिया जाता था उसमें-से बहुत-सा तुम ग्रहण कर लेते थे। उस पापके कारण ही तुम्हें यह रोग हुआ है। यह तुम्हारे इस जन्ममें दूर नहीं हो सकता। किन्तु अब तुमने शंकरजीकी शरण ली है, इसलिए यह और अधिक नहीं बढ़ेगा। तदनन्तर उसने धरना छोड़ दिया और उसका रोग जो अबतक निरन्तर बढ़ रहा था और अधिक नहीं बढ़ा।

आपने भी धरना तो आरम्भ किया, परन्तु यहाँ भी वैराग्यने आपके इस संकल्पको स्थिर नहीं रहने दिया। चित्तमें सोचने लगे—'मैं बड़ा भारी कवि हो भी गया तो क्या होगा। श्रीहर्ष, कालिदास आदि जगत्प्रसिद्ध कवि भी अन्तमें कालके गालमें ही चले गये। इस नश्वर कामनाके पीछे पड़नेसे कोई लाभ नहीं।' अतः आपने व्रत छोड़ दिया। इससे आपने यह स्पष्ट दिखा दिया कि साधकको वैराग्यरसरसिक और भक्तिनिष्ठ होना चाहिये।

'वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठ'



: ४ :

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

दीक्षा

इस प्रकार श्रीआर्त्तत्राणजी मूर्तिमान् संयम और तपोमूर्ति होकर हृदयमें वैराग्य और भक्तिके रससे सराबोर हो घर लौट आये। जीवनमें अनुभव की हुई सकाम और निष्काम भक्तिने उनके त्याग-वैराग्यकी पुष्टि की। उनके जीवनमें आवश्यकतानुसार एक ओर ममता एवं स्नेह तथा दूसरी ओर निर्ममता एवं निःस्नेह स्वभाव बन गये। आपका यह जन्म-सिद्ध स्वभाव ही उत्तरोत्तर पुष्पित होने लगा। आप जैसे-जैसे ध्यान, अनुष्ठान और भजनमें संलग्न होते गये वैसे-वैसे ही त्याग, वैराग्य और प्रेममें भी अग्रसर होते गये। किसी वेगको आपने अपने जीवनमें कभी स्थान नहीं दिया। आपने देखा कि वाणीकी उच्छृङ्खलतासे दूसरोंको दुःख होता है और स्वयं अपनेको भी क्षोभ होता है; अतः आप प्रत्येक शब्द परहितको दृष्टिसे हृदयकी तराजूमें तौलकर अत्यन्त मधुर ही बोलते थे। स्वादहृष्टिसे कभी कुछ खाते नहीं थे। आपका कथन था कि स्वाददृष्टिसे खानेपर तमोगुणकी वृद्धि होती है। अस्वाद आपका जीवनव्रत रहा। आप कहते थे कि शरीर, वीर्य, प्राण और मनका परस्पर सम्बन्ध है। इनमेंसे यदि एकमें भी क्षोभ होगा तो सभी क्षुभित हो जायँगे और यदि एक शान्त एवं निःस्पन्द रहेगा तो सभी शान्त रहेंगे। इसलिए मनको माँ जगदम्बाके ध्यानमें लगा दिया। मनके एकनिष्ठ होनेसे संयम और जितेन्द्रियता भी स्वाभाविक होगयी।

एक बार मैंने पूछा था कि आप निरन्तर एक आसनसे क्यों बैठते हैं। तब आप बोले कि मैंने शास्त्रोंमें पढ़ा है कि निरन्तर एक आसनसे बैठनेपर वीर्यकी ऊर्ध्वगति होजाती है और प्राण निःस्पन्द हो जाते हैं। इसलिए बहुत वर्षोंतक मेरा ऐसा नियम रहा कि मैं लेटता नहीं था। बैठे-बैठे ही सो लेता था। शरीर स्थिर रहनेसे प्राण निःस्पन्द होता है। प्राण और शरीर अन्योन्याश्रित हैं। शरीर प्राणोंका ही कार्य है। प्राणोंको ही भूख लगती है, प्राण ही भोजन खाते और पचाते हैं, प्राणोंके क्षोभसे

ही कामादि विकार होते हैं और प्राणोंके शान्त होनेसे सब विकार शान्त होजाते हैं, कफ शुद्ध होजाता है तथा स्वयं ही ब्रह्मचर्यका पालन भी होने लगता है। देखो बच्चेमें प्राणकी वृद्धि नहीं होती, इसीसे वह निर्विकार भावसे माँकी गोदमें पड़ा रहता है। मुझे भी ऐसा संकल्प था कि मैं ऐसी स्थिति प्राप्त करूँ कि युवती स्त्रियोंकी गोदमें भी निर्दोष बालककी भाँति खेल सकूँ। स्त्रियोंका अधिकसे अधिक सम्पर्क होनेपर भी मेरे चित्तमें किसी प्रकारका विकार न हो। इसके सिवा मेरी दूसरी इच्छा यह थी कि मेरी सर्वत्र अव्याहत गति हो। लोक-लोकान्तर और राजमहलोंमें भी मैं सनकादि के समान बिना रोक-टोक जा सकूँ। मनुष्यके हृदयमें कोई विकार होनेपर ही रोक-टोक होती है। बालकको कोई नहीं रोकता। इस प्रकार आपका निरन्तर बालवत् रहनेका संकल्प था।

आपका हृदय और मस्तिष्क इन महत्त्वाकाँक्षाओंसे भरा हुआ था, अतः संसारी जीवनसे आपको स्वभावसे ही अरुचि थी। गार्हस्थ्य आपको अपने लक्ष्य और मार्ग दोनों हीके अनुरूप नहीं जान पड़ता था। स्त्रियोंके सम्पर्कसे अत्यन्त अरुचि थी। सोचते थे—

पुनरालिङ्ग्यते कान्ता पुनरेव च भुज्यते।
इयं बालजनक्रीडा लज्जायै महतां जने ॥[१]

अतः आपने निश्चय किया कि इस बालक्रीड़ामें कदापि नहीं पड़ूँगा। ये सन्तवाक्य आपके हृदयमें घर कर गये—

द्विधा वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेषु विरक्तो यः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः ॥

'विधाताने स्त्री और सुवर्ण—दो रूपोंमें भ्रमकी रचना की है, जो पुरुष स्त्रियों और सुवर्णमें राग नहीं रखता वह तो मनुष्यरूपमें साक्षात् सूर्य ही है।'

इस सुनिश्चित विचारसे आप घर लौटे। घरवालोंने देखा कि यह बार-बार घर छोड़कर चला जाता है, इसका यदि विवाह कर दिया जाय तो यह बन्धनमें पड़ जायगा और इसका घर छोड़ना असम्भव हो जायगा। हमारे यहाँ तो छोटी आयुमें ही विवाह हो जाता है, इसलिए अब देरी नहीं करनी चाहिए। जब आप घर पहुँचे तो लोगोंने आपकी

---

१. स्त्रीको बार-बार आलिंगन करना और बार-बार भोगना—यह मूर्ख लोगोंका खिलवाड़ महापुरुषोंकी दृष्टिमें तो लज्जाकी बात है।

पोषिका ताईजीका मृत्युका समाचार सुनाया और यह भी कहा कि तुम्हारी विरहवेदना और चिन्तनमें ही उनका शरीर छूटा है। सुनते ही आपके मानस नेत्रोंके सामने ताईकी वात्सल्यमयी मूर्ति आगयी। उनका लाड़-प्यार और भक्तिभाव याद आ-आकर दुःख देने लगा। परन्तु दुःखका बादल हटते ही चित्तमें विचार हुआ कि अब तो स्नेहमयी ताई भी नहीं रहीं। उनके कारण ही घर लौटना होता था। विधाताने उन्हें छीनकर हमें स्वतन्त्र कर दिया है।

इधर घरवाले आपकी जन्मपत्री लेकर सुप्रसिद्ध ज्योतिषी माधव सामन्तरायके पास गये। उनसे पूछा कि अब आर्तत्राण विवाहके योग्य होगया है, इसके विवाहका योग बताइये। ज्योतिषीजीने जन्मपत्री और हस्तरेखा देखकर कहा कि इनका जीवन थोड़ा है, आयु अधिकसे अधिक बत्तीस वर्षकी है। इसलिए विवाह मत करो। यह सुनकर उन लोगोंको बहुत दुःख हुआ और उन्होंने इनका विवाह न करनेका ही निश्चय किया। किन्तु आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। सोचा, अच्छा हुआ, बला टली। अब निर्द्वन्द्व होकर अपनी महत्त्वाकाँक्षाओंको पूर्ण करूँ; जी-जानसे उन्हें सफल करनेका प्रयत्न करूँ। स्त्रीका तो दर्शन ही ब्रह्मचर्य और जीवनका विघातक है। वास्तवमें स्त्रीका त्याग ही जगत्का त्याग है। अतः जबतक पूर्ण निर्विकार स्थिति प्राप्त न हो तबतक स्त्री और स्त्रीसंगियोंके संसर्गसे सर्वथा दूर रहूँगा।

आपके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी। आप तो जन्मसे ही सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त थे। संयत-नियमित और आराधनात्मक जीवनसे आपकी भोगत्यागकी वृत्ति पुष्ट हुई थी। गायत्रीजप और माँके ध्यानसे वह लौकिक रसमें रमने लगी थी। **'भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः'** यह आपके जीवनका रस बनता जा रहा था। अबतक निरालम्ब और निर्भय रहकर जो जीवन बीता और जो रसानुभूति हुई उसने आपकी अधिकाधिक अनुभव बढ़ानेकी पिपासाको और भी बढ़ा दिया तथा उससे आपके सतत प्रयत्न और उत्साहकी और भी वृद्धि हुई। इधर घरमें भी पीछे खींचनेवाला कोई आकर्षण शेष नहीं रहा, मोहकी तो बात ही क्या ?

अतः अपनी महत्त्वाकाँक्षाओंको जीवनमें साकार करनेके लिए स्वयं कामारि शिवरूप धारणकर आप चुपकेसे घरसे निकल गये और गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीमधुसूदन तीर्थके पास चले आये। उनसे अनुनय-विनयपूर्वक आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षाके लिए

प्रार्थना की। श्रीशंकराचार्यजी आपके घरवालोंसे परिचित थे और उनके साथ उनका प्रेमसम्बन्ध भी था। इसलिए उन्होंने समझाया कि बेटा ! घरमें रहकर ही भजन करो। तुम तो राजगुरुओंके घरमें उत्पन्न हुए हो, वहाँ तो स्वभावसे ही भजन और उपासनाका वातावरण है। सुन्दर ब्राह्मण-वंश है। वहाँ रहकर भी तो तुम भजन कर सकते हो। तुम्हें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-दीक्षाकी क्या आवश्यकता है ? तुम तो स्वभावसे ही ब्रह्मचारी हो। तुम घर लौट जाओ, कभी-कभी हमसे भी मिलते-जुलते रहना। तुम तो हमारे ही हो।

परन्तु आपपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं हुआ। आप कहा करते थे कि सच्चे विरक्तको त्यागके उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती, उसे यदि गुरु भी प्रवृत्तिकी आज्ञा देता है तो वह उसे नहीं मानता। अतः गुरुजीके बहुत फुसलाने और समझानेपर भी आप अपने निश्चयसे टस-से-मस न हुए, क्योंकि यह निश्चय तो आपका स्वयं किया हुआ स्वयंवर था।

आपका अडिग निश्चय देखकर श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने आपको नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा दे दी और आपका योगपट्ट रखा ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप।[1] इतने होमें पूज्य पिता और ताऊजी वहाँ पहुँच गये। उन्हें सन्देह था कि कहीं संन्यास न ले लिया हो। अतः नैष्ठिक ब्रह्मचर्यमें दीक्षित देखकर कुछ सन्तोष हुआ। फिर भी चित्तमें दुःख तो हुआ ही। वे जगद्गुरु भगवान्‌से बोले, "भगवन् ! हम सब आपके ही हैं; आप हमारे हितैषी हैं। हमारा आपका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। आप यह जानते ही हैं कि हमारा घर कितना प्रतिष्ठित और राज-सम्मानित है। भजन-आराधना तो घरमें भी हो ही सकती थी। हमारी तो वृत्ति भी धर्म और आराधनाप्रधान ही है। घरमें क्या कमी थी, भगवान्‌ने सब कुछ दिया हुआ है। फिर भला भिक्षुक होनेकी क्या आवश्यकता थी। आप तो अपने ही हैं। जब आपने ही हमारे घरको फोड़ दिया तो औरोंका क्या विश्वास किया जाय।" श्रीशुकदेवजीके वनगमनके

---

१. 'श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश' नामकी पुस्तकमें श्रीमहाराजजीका जो जीवन परिचय छपा है उसमें आपका ब्रह्मचर्यका नाम 'चेतनानन्द ब्रह्मचारी' दिया है। परन्तु गोवर्धन मठके ब्रह्मचारियोंके नामोंके पीछे 'स्वरूप' रहा करता है। अतः यही नाम ठीक जान पड़ता है।—सम्पादक

समय साक्षात् भगवान् व्यास भी मोहमुग्ध होकर विरहाकुल हो गये थे। ऐसी अवस्थामें इन्हें इतना विरहदग्ध होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

तब जगद्गुरुने कहा, 'मैंने तो इसे बहुत समझाया कि तुम घरमें रहकर ही भजन करो, परन्तु इसने माना ही नहीं, बहुत हठ किया। तब मैंने यह देखकर कि यदि मैंने दीक्षा न दी तो यह अन्यत्र जाकर ले लेगा, दीक्षा दे दी। हमारे पास रहनेसे तो आप लोगोंसे मिलना-जुलना और घर जाना हो सकता है। इसके लिये मेरी ओरसे छूट है। इसके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मैंने तो आपलोगोंके लिए ही इसे अपने पास रखा है।" यह सुनकर उन सबको कुछ सन्तोष हो गया। फिर वासुदेव-स्वरूप घर जाकर सबसे मिल-जुलकर और उनका आशीर्वाद लेकर मठमें लौट आये।

दीक्षागुरुका परिचय

पूज्य श्रीमहाराजजी अपने दीक्षागुरु भगवान् श्रीशंकराचार्यके उदार चरित्र तथा त्याग-वैराग्यकी स्वयं अपने श्रीमुखसे प्रशंसा किया करते थे। उनके दिव्य गुणोंको याद करके आप भावविभोर हो जाते थे। उनका जन्म उत्तरप्रदेशके जिला बुलन्दशहरमें डिवाई स्टेशनके समीप बेलौन नामक ग्राममें हुआ था। बेलौनमें श्रीदेवीजीका एक प्राचीन मन्दिर है। उनका आविर्भाव इस मन्दिरके पुजारियोंके कुलमें हुआ था। इन्हें धार्मिक भावना वंशगत स्वभावके रूपमें प्राप्त हुई थी। जन्मसे ही इनमें अन्त-र्मुखता देखी जाती थी।

एक बार आप बालकोंके साथ खेल रहे थे। उन्हीं दिनों अँग्रेज जिलाधीश बेलौन आये। उन्हें इस आठ-दस वर्षके सुन्दर बालकको अन्य बच्चोंके साथ खेलते देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इन्हें अपने पास बुलाकर पूछा कि यहाँ रखी हुई वस्तुओंमें तुम्हें क्या पसन्द है। जो पसन्द हो ले लो। सब लोग देखने लगे कि देखें, क्या लेता है। वहाँ एक हाथी था। इन्होंने उसीको लेना पसन्द किया और उस पर चढ़कर कहा, "मैं सबसे ऊँचा होऊँगा, सबसे बड़ा बनूँगा।" कलक्टर सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। इससे बालक मधुसूदनकी महत्त्वाकाँक्षा स्पष्ट प्रकट हो जाती है। आठ वर्षकी आयुमें ही इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और तभीसे आप श्रीजगदम्बाका पूजन और गायत्रीजप करने लगे।

घरवाले इन्हें लौकिक कार्योंमें ही लगाना चाहते थे। भाइयोंने काम लेनेकी दृष्टिसे इन्हें कुछ भला-बुरा भी कहा। इससे मानो बारूदमें आग लग गयी। इन्होंने अल्पवयस्क होनेपर भी निर्भय होकर कहा, "अब मैं घरमें नहीं रहूँगा, विरक्त होकर भजन करूँगा।" भक्तवर प्रह्लादका यह वाक्य इनके चरित्रमें चरितार्थ हो गया—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥[1]

बस, आपने घरसे चलकर एक आसनसे स्थित हो गायत्रीजप और विष्णुसहस्रनाम-पाठ करना आरम्भ कर दिया। आप नित्य-प्रति एक सहस्र गायत्री और १०८ विष्णुसहस्रनाम पाठ करके स्वयंपाकपूर्वक प्रसाद बनाते थे। इनका ऐसा तमोमय और साधननिष्ठ जीवन देखकर ही इन्हें गोवर्धन-पीठके जगद्गुरु शंकराचार्यकी गद्दीपर अभिषिक्त किया गया था। आपसे राजा और प्रजा सभी अत्यन्त प्रभावित थे। राजा भी आपका रथ खींचने लगते थे। जब प्रिंस ऑफ वेल्स एडवर्डने आपके दर्शन किये तो वे बहुत प्रभावित हुए और अपना टोप उतारकर इन्हें प्रणाम किया। आप बचपनमें सबसे बड़े होना चाहते थे, सो वैसे ही बनकर दिखा दिया।

श्रीमहाराजजी आपकी उदारताके विषयमें कहा करते थे कि मठमें दर्शनार्थी लोग बहुत धन-धान्य और तरह-तरहकी वस्तुएँ चढ़ाते थे। तब कुछ ब्रह्मचारी गुप-चुप चोरी कर लेते थे। यदि मठस्थ अधिकारी आपसे उनकी शिकायत करते तो आप कह देते, "अरे! नारायणने दिया और नारायणने ही ले लिया, इसकी क्या चिन्ता करनी है?" गुरुदेवकी यह उदारता और समदृष्टि आपमें भी पूर्णतया अवतरित हुई थी। आश्रममें यदि कोई व्यक्ति आपकी भेंटमें-से कुछ चुरा लेता तो आप कुछ नहीं कहते थे। एक बार रसोइयाने घी चुरा लिया और डब्बेमें ढककर एक नालेमें रख दिया। भण्डारीने लाकर आपको दिखाया तो

---

१. [जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि तुम क्या अच्छा मानते हो, तो प्रह्लादजीने कहा—] "हे असुरश्रेष्ठ! असत् आग्रहके कारण जिनकी बुद्धि सर्वदा उद्विग्न रहती है उन देहधारियोंके लिए मैं यही अच्छा समझता हूँ कि अपना पतन करनेवाले अन्धकूपके समान घरको त्यागकर वनमें चला जाय और श्रीहरिकी शरण ग्रहण कर ले।

आपने कहा, "अरे ! चुपचाप वहीं रख आओ, उसे मालूम न हो, वह दुखी होगा।" इसी प्रकार यज्ञादिके समय यदि ब्राह्मण लोटेमें भरकर घी ले जाते और सेवक लोग शिकायत करते तो आप कह देते, "बेटा ! चुप रहो, ऐसा नहीं कहते। इन्हें खिलानेके लिए ही तो आया था और वही काम तो हो रहा है। चुप, किसीका चित्त मत दुखाना।" अहा ! 'ऐसो को उदार जग माहीं।'

सिद्ध योगियोंकी खोजमें

जब आप बालसूर्य आर्त्तत्राण-जीवनसे मध्याह्न-मार्त्तण्डरूप नैष्ठिक ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप होकर देदीप्यमान हुए। अध्ययन, आराधना और सेवामय जीवनसे निकलकर सिद्धयोगियोंकी खोज और योगानुसन्धानकी साधना आरम्भ हुई। आपने काशीसे लेकर रामेश्वरधाम तक सारा भारत छान डाला। राजगुरुओंकी पीताम्बरी पोशाक छोड़कर विरक्तोंके बल्कलादि वस्त्र धारण किये। कर्मोपासना-भूमिसे उठकर दर्शन और योगरूप समुद्रका अवगाहन करनेका संकल्प किया। अपने जीवनको असीम त्याग, असीम वैराग्य और असीम खोजमें झोंक दिया। यही है प्रचण्ड नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-मार्त्तण्डका मध्याह्न ताप। अब आप मानव-भूमिकासे उठकर देव-मानव-भूमिकामें आरूढ़ हुए।

श्रीवासुदेवस्वरूपजी अपनी महत्त्वाकाँक्षाओंको मूर्त्तरूप देनेके लिए सचेष्ट रहते थे। मठमें जो-जो साधु-सन्त या महापुरुष पधारते थे उनसे, ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी होनेके लिए कैसा रहन-सहन और खान-पान होना चाहिए— यही प्रश्न पूछते थे। एक महात्माने घी-बूरेके साथ शोधित संखिया सेवन करनेकी सलाह दी। आपने उन्हींकी देख-रेखमें इसका सेवन आरम्भ कर दिया। श्रीगणेश करते ही उल्टियाँ होने लगीं। तथापि धीरे-धीरे सेवन करते रहनेसे अभ्यास हो गया। उन्हीं महात्माने यह भी बताया कि सिद्ध योगी आसाममें रहते हैं। वे पेड़ोंपर चढ़कर उन्हें उड़नेका आदेश देते हैं तो वे उड़ने लगते हैं और जब ठहरनेको कहते हैं तब वे ठहर जाते हैं। ऐसी बातें सुनकर आपको उन सिद्धोंकी खोज करनेका संकल्प हुआ और उनके दर्शनोंके लिए चित्त उतावला हो गया। अतः गुरुदेवसे आज्ञा लेकर आप सिद्धोंकी खोजमें बंगाल-आसामकी ओर चल दिये।

गुरुदेवके एक सेवकने रेलका टिकट दिला दिया और आप चौबीस परगनाकी ओर चल दिये। वहाँ एक गाँवमें पहुँचे और एक बंगाली बाबूके प्रार्थना करनेपर उसके घर ठहरे। अकस्मात् आपको हैजा हो गया। आपने सोचा कि इस गृहस्थको मेरे कारण कोई कष्ट नहीं होना चाहिए और न इससे कुछ माँगना ही चाहिए, अपना शारीरिक कष्ट स्वयं ही भोगना चाहिए। अत: चलनेकी शक्ति न होनेपर भी आपने बड़े साहससे जैसे-तैसे चलकर अपनेको एक नहरके किनारे डाल दिया। दस्तोंकी भरमार थी। मल ही शरीरका बल है। अत: अत्यधिक मल जानेसे शरीर अत्यन्त शिथिल पड़ गया। खड़े होनेकी शक्ति भी न रही। धीरे-धीरे चेतना भी लुप्त हो गयी और आप अचेत अवस्थामें नहरके किनारे पड़ गये। शरीरके सब वस्त्र मलाक्त हो रहे थे। इस दुर्दशामें सारा दिन और आधी रात भी बीत गयी। अर्धरात्रिके पश्चात् कुछ लोग उधरसे निकले। आपकी ऐसी दुर्दशा देखकर उन्हें दया आयी। अन्तर्यामी प्रभुकी प्रेरणासे उन्होंने सेवा सँभाली। मलसे भरे हुए वस्त्रोंको नहरमें धोकर सुखा दिया और आपको नंगे करके स्नान कराया। फिर यह देखकर कि अब दस्त बन्द हो गये हैं वे वहाँसे चले गये, जिससे कि चेत होनेपर वे हमारा आभार मानकर अपनेको ऋणी न मानें।

इस घटनासे आपने यह दिखला दिया कि सच्चे स्वावलम्बी तपस्वी का हृदय कैसा होता है, उसका धर्म और आचरण क्या होता है। सच्चे स्वधर्मनिष्ठ शूरवीरका वर्ताव कैसा होना चाहिए। वास्तवमें स्वधर्मके लिए प्रसन्नतासे कष्ट सहन करना ही तप है। आध्यात्मिकादि तीनों प्रकार के दु:खोंको चिन्ता-विलापरहित होकर सहन करना ही सच्ची तितिक्षा है। यह बात आपने अपने आचरण द्वारा स्पष्ट कर दी। आपने जिस प्रकार किसीको भी कष्ट न देकर स्वयं सहर्ष दु:ख सहन किया और अपने को ऐसी विषम परिस्थितिमें डाल दिया, उसी प्रकार सर्वात्मा श्रीभगवान्ने भी सब प्रकारकी सेवा करायी और फिर परिचय होनेसे पहलेही प्रस्थान करनेकी प्रेरणा कर दी। यह भक्त और भगवान्की लीला है। प्रभु ही दोनों रूप धारण करके यह लीला कर रहे थे।

दूसरे दिन सूखे वस्त्र पहनकर आप दुर्बलताकी परवाह न करके धीरे-धीरे बस्तीमें चले आये और कुछ दही खाया। उससे कुछ स्फूर्त्ति और बलका संचार हुआ। इससे आपमें अथाह आत्म-विश्वास, उत्कट आत्म-

निर्भरता और अकाट्य निश्चय प्रकट होते हैं। आपने समझ लिया कि यह शरीर तो पानीके बुलबुलेके समान है। हर समय ढाई सेर मल-मूत्र भरा रहता है। वह छूटा और यह मरा। ऐसे धोखेबाजपर विश्वास करना बड़ी भारी भूल ही है। एक-एक श्वासका मोल तीनों लोक हैं। ढील नहीं करनी चाहिए। वर्तमानमें वर्तना ही वास्तविक वीरता है, क्योंकि वर्तमान ही जीवन है।

इसके पश्चात् आप जिला मैमनसिंह पहुँचे। आपसे जो भी मिलता उससे यही पूछते कि क्या यहाँ कोई सिद्ध योगी है। भले ही वह संन्यासी, ब्रह्मचारी या सद्गृहस्थ ही हो। गोहाटी पहुँचनेपर एक तेजस्वी ब्राह्मण मिले। आप देखते ही समझ गये कि ये नित्यनियमनिष्ठ और भजनानन्दी हैं। उनका तेजस्वी मुखमण्डल उनकी इस साधनसम्पत्तिका प्रतीक था। उनसे सत्संग किया और बातों-बातोंमें ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी होनेके लिए अपनी संखिया सेवन करनेकी बात कर दी। पण्डितजी सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले, मैं ऐसी जड़ी-बूटी जानता हूँ, जिन्हें सेवन करनेपर आप तीन-तीन तोले शोधित संखिया प्रतिदिन खा सकते हैं। आप चाहें तो मैं बता सकता हूँ।' सुनकर आपको बड़ा कौतूहल हुआ। सोचने लगे कि मैं इन ब्राह्मणदेवतासे वे जड़ी-बूटी लूँ या न लूँ। एकान्तमें विचार करनेपर सोचा कि यदि मैं ऐसी जड़ी-बूटीका सेवन करूँगा तो मेरी इच्छा लोगोंमें यह चमत्कार दिखानेकी होगी। प्रदर्शनसे अपनी शक्तिपर गर्व होगा। इससे प्रजारंजन और प्रतिष्ठाकी वृद्धि होगी। फिर ये प्रतिष्ठा और गर्व हमें लक्ष्यच्युत करके अवनतिके गर्त्तमें ले जायँगे। कीर्त्ति और प्रतिष्ठा आध्यात्मिक जीवनमें रुकावट हैं। जीवनकी सफलतामें रोड़े हैं। ये भवाटवीमें ही अटकाते और भटकाते रहते हैं।

इस प्रकार आपके अन्तःकरणमें स्थित विरक्तिने आपको ठीक समय-पर सतर्क कर दिया। आप बन्धनकारी प्रलोभनोंको भगवद्दत्त स्वातन्त्र्य-रूप त्रिशूलसे काटते हुए आध्यात्मिक क्षेत्रमें स्वतन्त्र विचरने लगे, और अनुभवगम्य आध्यात्मिक रसके अनुसन्धानमें लग गये।

मातृभावका चमत्कार

आप सर्वदा नीचेकी ओर दृष्टि रखते थे। सर्वदा लक्ष्यपर ही दृष्टि रहती थी। सिरकी जटायें बढ़कर घुटनेके नीचे पहुँच गयी थीं। आयुकी वृद्धिके साथ साधनकी लगन, वैराग्य, तितिक्षा, उपरति, क्षान्ति और

अनुसन्धान एवं अनुभवकी गम्भीरता भी बढ़ रही थी। यह बात आपके तेजोमय शरीरसे सूचित होती थी। आपके तेजोमय मुखमण्डलपर लगी सिन्दूरकी बिन्दु और कमरमें लाल कन्दके वस्त्रसे स्पष्ट प्रकट होता था कि ये शाक्त ब्रह्मचारी साक्षात् शंकरस्वरूप ही हैं। आप **'देवो भूत्वा देवान् यजेत'** के साक्षात् प्रतीक ही जान पड़ते थे। मुखमण्डलपर अलंकृत सिन्दूरका तिलक भगवान् शंकरके तृतीय नेत्रके समान सुशोभित था। इसके द्वारा मानो आप साक्षात् मन्मथको चुनौती दे रहे थे। दृष्टिकी स्थिरता और भ्रकुटियोंकी वक्रता आपके इस दृढ़ निश्चयको सूचित करती थी कि जीवन का लक्ष्य सिद्ध करके रहूँगा, नहीं तो देहको उसके अनुसन्धानमें गला दूँगा। बढ़ती हुई कलाओंके कारण देदीप्यमान चन्द्रमाके समान आपका मुखमण्डल दिव्य ज्योतिसे जगमगाता था। सारा शरीर ही मानो विश्वप्रेम, दया, शान्ति, क्षान्ति और तितिक्षाको तरंगोंसे मण्डित हो रहा था। दायें हाथमें चमचमाता हुआ त्रिशूल रहता था। वह दर्शकोंकी आँखोंको चमत्कृत कर देता था, जिससे उनकी नजर न लग जाय। यह त्रिशूल तो था हाथमें, परन्तु वास्तविक आन्तरिक त्रिशूल तो था आपका वाग्दण्ड, काय-दण्ड और मनोदण्ड।[1] हाथमें केवल एक जलपात्र ही रहता था। वह यह सूचित करता था कि ये अपरिग्रही हैं, अकिञ्चन हैं और अकिञ्चनकी धन श्रीभगवती ही इनकी एकमात्र आश्रय हैं। आपको इस दिव्यमूर्ति और अलौकिक गुणसम्पत्तिके कारण लोग आपको 'देवमानुष' मानते थे और इसी रूपमें आपकी चर्चा करते थे।

एक बार रात्रिके समय आप गोआलन्दके बाजारसे जारहे थे। चलते-चलते रास्ता भूलकर एक गलीमें घुस गये। नयी जगह थी और रात्रिका समय। किससे पूछें? इसी समय तीन-चार युवती स्त्रियोंने आपको चारों ओरसे घेर लिया। वे हँस-हँसकर कहने लगीं, 'लो, मीठा पान खाओ।' आपने दृष्टि बिना ऊपर उठाये ही कहा, 'मैं पान नहीं खाता, कृपया मुझे बाजारका रास्ता बता दो।' उन्होंने हाथ बढ़ाकर कहा, 'कुछ देर विश्राम करके जाना।' आप बोले, 'खबरदार, मुझे छूना मत, मैं तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा।' इतनेमें वहाँ कुछ और युवतियाँ

---

१. वाणीका मौन आपका वाग्दण्ड था, बिना लेटे सिद्धासनसे बैठे रहना 'कायदण्ड' था और कामिनी-काञ्चनपर दृष्टि न देकर निरन्तर मातृचरणोंकी उपासना करना 'मनोदण्ड' था।

आगयीं। उनकी पारस्परिक चर्चासे आपको मालूम हुआ कि इनकी दृष्टि दूषित है और विचार गन्दा है। यह समझते ही आपने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और कहा, 'अरी माताओ! मुझे बाजारका मार्ग बता दो और जाने दो।' इनके 'माता' शब्दने उनकी कुदृष्टिको सुदृष्टि कर दिया, हृदय बदल दिया, उसमें पवित्रताकी धारा प्रवाहित होने लगी। उन्होंने घेरा तोड़ दिया और आदरपूर्वक प्रणाम करके मार्ग बता दिया।

आपके रोम-रोममें मातृभाव भरा हुआ था। इसीसे एकबार 'माता' सम्बोधन करनेमें उन पतिता युवतियोंकी दृष्टि बदल गयी। उनमें मातृ-रसका सञ्चार हो गया और पवित्रताका प्रसाद प्राप्त हुआ। इस प्रकार आपकी मातृभावनाने जब दूसरोंकी भोगवासनाको शान्त कर दिया तो स्वयं आपका मन:स्थितिके विषयमें क्या कहा जाय। वह तो मानो माता का निवासस्थान ही था। आपका जीवन मातृमहिमामृतको प्रवाहित करने वाला था तथा दृष्टि, इस अमूल्य अमृतको कोई छीन न ले जाय, इसके लिए सतत सतर्क रहती थी। आपने यह दिखा दिया कि सती और यतिका जीवन एक होता है।

एक जपनिष्ठ ब्राह्मणसे भेंट

आपका जप और ध्यानपर निरन्तर जोर रहता था। ध्यानसहित जप ही आपको अभीष्ट था, क्योंकि वह बुद्धिको पवित्र करनेवाला और उसे निवृत्तिकी ओर ले जानेवाला होता है। ढाकाकी बात है। वहाँ एक जप-निष्ठ ब्राह्मण रहते थे। घरमें केवल उनकी पत्नी ही थी। आपने उनके द्वारपर जाकर **'भवति भिक्षां देहि'** बोलकर भिक्षा माँगी। पण्डितानीने कहा, "हाथ खाली नहीं हैं।" इतनेमें पण्डितजीकी आपपर दृष्टि पड़ी। आपको देखते ही वे यह श्लोक बोले—

अतिथिर्बालकश्चैव राजा भार्या तथैव च।
अस्ति नास्ति न जानाति देहि देहि पुनः पुनः॥[1]

पण्डितानी विदुषी थी। सुनते ही समझ लिया कि भिक्षुकको खाली हाथ नहीं लौटाना चाहिए। अत: भिक्षा देकर अपना धर्मपालन किया।

फिर पण्डितजी आपसे मिले। उनके मुखारविन्दपर तेज झलक रहा था। जो नित्य नियमसे जप करते हैं उनका मुखमण्डल स्वभावसे ही तेजोमय होता है। वे शान्त, संयत और चञ्चलताशून्य थे। जपमें वे इस प्रकार संलग्न रहते थे जैसे व्यापारी धनार्जनमें। उनमें क्रोध

१. अतिथि, बालक, राजा और पत्नी—यह नहीं जानते कि [जो वे चाहते हैं वह] है या नहीं। इन्हें बार-बार देते रहो।

नाममात्रको भी नहीं था। वे कहते थे कि एक दिनके क्रोधसे एक महीनेका भजन नष्ट हो जाता है। इससे श्वासका भी सबसे अधिक क्षय होता है, जो कि वास्तवमें जीवन ही है। अतः इस आयु और भजन नष्ट करनेवाले क्रोधसे वे बहुत सतर्क रहते थे।

पण्डितजी आपके तेज, जपनिष्ठा और सरलतासे बहुत प्रभावित हुए और आपको आग्रहपूर्वक अपने यहाँ ठहरा लिया। उनका प्रेमाग्रह स्वीकार कर आप उनके पास एक महीना ठहरे रहे।

गायत्री जपका चमत्कार

जबसे यज्ञोपवीत संस्कार हुआ आप कमसे कम एक हजार गायत्री का नित्यप्रति जप करते रहे। आप ब्राह्ममूहूर्त्तमें उठ जाते और नित्यकर्म तथा सन्ध्योपासनसे निवृत्त हो एक आसनसे बैठकर गायत्रीजप करते थे। आपका जप बुद्धिके विकासके लिए होता था, दर्शनकी विशेष लालसा नहीं थी। जपमें निरन्तर रसानुभूति होती थी और उसे बढ़ाते रहनेका प्रलोभन रहता था। वर्षोंतक सत्कारपूर्वक लगातार जप चलता रहा। कभी एक दिनके लिए भी साधन नहीं छूटा। आपका विचार था कि एक दिनका नियमित जप छूटनेसे आठ दिनका भजन नष्ट हो जाता है। अतः नियमनिष्ठामें कभी प्रमाद नहीं करते थे। प्रमादको ही मृत्यु मानते थे।

इस प्रकार दीर्घकालतक नियमित जप करनेसे आपको अनेकों अद्भुत चमत्कार हुए। आप कहते थे कि मैं बन्द कमरेमें जप करता था। परन्तु आश्चर्यकी बात कि मुझे ऐसा अनुभव होता था कि कमरेकी दीवारें नहीं रहीं। बाहरका दृश्य दिखायी देने लगता और दूर देशके दृश्य भी सामने आजाते। इसी प्रकार दूरके शब्द भी सुनायी देने लगते। दृष्टि इतनी सूक्ष्म हो गयी कि सूक्ष्म सृष्टियाँ भासने लगीं। तथा सूक्ष्म आतिवाहिक देहमें स्थिति हो गयी। इस प्रकारकी अनुभूतियाँ होनेसे आपकी जपमें लगन एवं सतर्कता और भी बढ़ गयी।

एक सिद्धसे भेंट

भगवान् हिला-हिलाकर साधककी परीक्षा करते हैं। आप अनुभूति-रसमें छके चलते-चलते गारो पर्वतपर पहुँचे। वहाँ आपने सुना कि यहाँ ऐसे लोग हैं जिन्होंने सावर मन्त्र सिद्ध किये हुए हैं। वे अपने संकल्पसे

वृक्षोंको उड़ाकर अन्यत्र ले जाते हैं। आपने ऐसे सिद्धोंकी खोज की। एक ऐसा व्यक्ति मिला जिसकी सिद्धिमें आपको विश्वास हुआ। आपने उससे कहा कि मुझे वह मन्त्र और उनकी जपविधि बताइये, जिससे मैं भी ऐसी सिद्धि प्राप्त कर लूँ। उसने कहा, "जो व्यक्ति मेरी पुत्रीसे विवाह करेगा उसे ही दहेजमें यह विद्या दूँगा। आप यदि इसके लिए तैयार हों तो मैं आपको यह विद्या दे सकता हूँ।"

आपने ठण्डे हृदयसे विचार किया, 'हाय! सिद्धिके लिए विवाह बाबा! ऐसी सिद्धि हमें नहीं चाहिए। यह तो धोखा है, प्रलोभनमें फँसना है। विवाहका अर्थ है सर्वनाश। मैं भूलकर भी इस चक्करमें नहीं पड़ सकता। शास्त्रीय पद्धतिसे अपनी जो साधना चल रही है वही ठीक है। मैं शास्त्रीय विधिको छोड़कर मनमाने रूपसे प्रलोभनमें नहीं पड़ूँगा। मैंने गुरुदेवके सामने आजन्म ब्रह्मचर्यका भीष्मव्रत लिया है। उसे कदापि खण्डित नहीं करूँगा। मुझे ऐसी सिद्धि नहीं चाहिए।'

इस प्रकार उसने पुत्री और सिद्धि दोनों देनेको कहा था, परन्तु आपने दोनों हीको त्याग दिया। भगवान् विष्णुने जैसे राहुका सिर काटा, था उसी प्रकार आपने प्रलोभनरूप शैतानका सिर काट दिया।

परशुरामकुण्डकी यात्रा

श्रीब्रह्मचारीजी स्टीमरसे ब्रह्मपुत्र पार करके ग्वालपाड़ा पहुँचे। आप जहाँ भी जाते थे घोर एकान्तमें निवास करते थे। धूनी लगाकर बैठते, पासमें त्रिशूल गड़ा रहता। सूर्य और अग्निकी किरणें पड़नेसे त्रिशूल दुगुना चमकने लगता था। इस प्रकाशपुञ्जमें अग्निस्वरूप श्रीब्रह्मचारीजी अपने दिव्य तेजोमय मुखमण्डलसे दसों दिशाओंको जगमगा देते थे। रात-दिन एक आसनसे बैठनेका अभ्यास करते थे। आपको विश्वास था कि निरन्तर एक आसनसे बैठनेसे अवश्य ऊर्ध्वरेता हो जाऊँगा। हर प्रकार से वीर्यरक्षापर दृष्टि रखते थे। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य तंग न करें, इस दृष्टि से स्वल्प भोजन करते थे। दाल, शाक, चावल मिलाकर एक लोटेमें पकने के लिए धूनीमें रख देते थे। कभी-कभी उसमें आटेके गोले-से बनाकर डाल देते थे।

रात्रिमें जागते हुए वनदुर्गाको जगा रहे थे। अग्नि प्रज्वलित हो रहा था। मानो कामारि शंकर अपनी जटाएँ बिखेर तेजोमय नेत्रोंसे निर्भय होकर अपने गन्तव्य लक्ष्यको निहार रहे हैं इतने हीमें शेर और शेरनी

गर्जती हुई आयीं । दोनोंके नेत्रोंको तेजोमय नेत्रोंने चकाचौंध कर दिया । क्रूरता उनके स्वभावसे लुप्त हो गयी । दोनों ही सूँघते और मानो जुहारते हुए चले गये । यह थी पुरुषसिंहकी महिमा ।

इससे आगे आपने परशुरामकुण्डतक यात्रा की । वहाँ क्षत्रियोंपर विजय पाकर परशुरामजीने तप किया था । इसी प्रकार आपने भी नरमांसभोजी मनुष्यों और मदोन्मादिनी कामिनियोंपर विजय पाकर अपनी ध्वजा फहरायी थी । इस प्रान्तमें भयानक जंगल था । हिंस्र पशु तो रहते ही थे । नरमांसलोलुप मनुष्य भी रहते थे । यदि वहाँ कोई साधु जाता तो कहते थे कि काशीलामा आया है । इसने सब तीर्थोंकी यात्रा की है । इसके मांस और रुधिर अति पवित्र हैं । इसे खानेसे जीवन पवित्र हो जायगा । और पितरोंका उद्धार हो जायगा । चल, बड़े भाग्यसे ऐसा अवसर मिलता है । इन नरभक्षियोंके भयसे लोग प्रायः इधर नहीं जाते थे । परन्तु आप, लोगोंके मना करनेपर भी वहाँ पहुँच गये । वे लोग इनपर झपटे, परन्तु आपने त्रिशूलसे उन्हें धमकाया और तीव्र दृष्टिसे उसकी ओर देखा वह दृष्टि जगज्जननीकी दृष्टिसे मिली हुई थी, वह त्रिशूल महिषासुरमर्दिनीके त्रिशूलसे सटा हुआ था तथा आप देवीकवच धारण किये हुए थे । अतः उनका साहस न हुआ । सबके हाथ जहाँके तहाँ रुक गये, कोई भी बालबाँका न कर सका ।

आगे बढ़नेपर एक और संकट उपस्थित हुआ । वहाँकी युवतियाँ बहुत रूपवती होती हैं । उनका रूप-लावण्य युवकोंको पागल बना देता है । जब ये युवतियाँ किसी साधुको फँसा लेती हैं तो उनके माता-पिता उन्हें प्रोत्साहित करते हैं और कहते हैं कि शाबास ! तुमने बड़ा बहादुरीका काम किया । वे अपनी कन्या की विजय सूचित करनेके लिए साधुकी एक जटा काटकर ध्वजारूपसे एक खम्भेमें बाँधकर अपने मकानपर लगा देते हैं । अपनी लड़कीकी विजयसे प्रसन्न होकर प्यारसे उसे चूमते हैं और उसके चंगुलमें फँसे हुए साधुसे कहते हैं कि आनन्द से रहो, चिन्ता मत करो । लो, भेड़ और आनन्दसे विहारमय जीवन बिताओ । इस प्रकार धीरे-धीरे उसे अपनेमें मिला लेते हैं । हमारे देवमानुष ब्रह्मचारीजीको अनेकों सुन्दरियोंने घेर लिया । परन्तु आपने अपना त्रिशूल उठाकर कहा, 'हटो, दे मारूँगा ।'' उनकी वीरता, धीरता, तेज और ब्रह्मचर्य निष्ठासे ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे देवाङ्गना जैसी सुन्दरियाँ स्तम्भित और वञ्चित हो हार मानकर चलीं गयीं । कहने लगीं, "अरे ! यह तो कोई

अद्भुत देवमानुष है।" इनके दर्शनसे उनकी विकृत दृष्टि लुप्त हो गयी और इनके प्रति गौरवदृष्टि जाग्रत् हो गयी। फिर पास आनेका साहस नहीं हुआ।

इस प्रकार काम और क्रोधपर विजय पाकर आप कामाक्षा लौट आये। वहाँ माँका दर्शन किया और उनकी कृपादृष्टिके स्मरणसे गद्गद होकर बड़ापेटा चले आये। वहाँ भगवान् कालियकान्तका दर्शन किया।

स्वप्नमें भी कामारि

घूमते-घूमते आप रानीगंज पहुँचे। वहाँ आपने एक स्वप्न देखा। एक सुन्दर पुष्पवाटिकासे सुशोभित राजमहल है। उसके द्वारपर एक पहरेदार है। आप उसमें बिना रोक-टोक प्रवेश कर गये। अन्तःपुरमें पहुँचनेपर हजारों देवांगनाएँ दिखायी दीं। उनकी अलौकिक सुन्दरतासे वह सारा स्थान मानो जगमगा रहा था। आप देखते ही, यह कहते हुए कि हमें इनपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए, इनसे बचना चाहिए, वहाँसे भाग छूटे। इतने हीमें कोई शब्द हुआ। उससे आपकी निद्रा भंग हो गयी।

आप कहा करते थे कि यह सारा संसार जगदम्बाकी फुलवाड़ी है। इसमें स्त्रियाँ भी उस फुलवाड़ीको अलङ्कृत करनेवाले पुष्पोंके समान हैं। जो इन पुष्पोंपर दृष्टि नहीं डालते, केवल जगदम्बापर ही दृष्टि रखते हैं वे ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

जन्मजात योगीसे भेंट

आप रानीगंजसे गोहाटी आये। वहाँ कामाक्षा-मन्दिरमें श्रीजगदम्बा के दर्शन किये। फिर भगवान् कालियकान्तके दर्शनार्थ बड़पेटा पहुँचे, क्योंकि आप वासुदेवस्वरूप होकर वासुदेव भगवान्‌की आराधनामें संलग्न थे। भक्त और भगवान् दोनों ही वासुदेवस्वरूप होते हैं। शास्त्र कहता है—

द्वे रूपे वासुदेवस्य चलं चाचलमेव च।
चलं संन्यासिनो रूपमचलं प्रतिमादिकम्॥

अर्थात् भगवान् वासुदेवके चल और अचल दो रूप हैं। इनमें संन्यासी भगवान्‌का चल रूप है और प्रतिमा आदि उनके अचल रूप हैं।

ये कालियकान्त भगवान् श्रीकृष्णके अभिन्न सखा अर्जुनके पुत्र बभ्रुवाहनके स्थापित किये हुए हैं। इस प्रकार बभ्रुवाहनने स्वयं श्रीकृष्ण-

भक्तिरसका पान करते हुए प्रजाको भी उस रसामृतका आस्वादन कराया था। जबसे यह नगर बसा तभीसे भगवान्‌की सन्निधिमें एक अखण्ड ज्योति जलती है। लोगोंकी मान्यता है कि जिस समय यह ज्योति लुप्त होगी उसी समय यह नगर भी नष्ट हो जायगा। अतः राजा और प्रजा दोनों ही इस अखण्ड ज्योतिमें घृत डालते रहते हैं, जिससे भगवान् कालियकान्त का आशीर्वाद पाकर हमारी वंशपरम्परा भी इस ज्योतिके समान ही अविच्छिन्न चलती रहे।

भगवान् कालियकान्तका दर्शनकर आपके हृदयमें निहित भावरस-सागर उमड़ आया। अतः आपने उस श्रीकृष्णभक्तिरस-भूमिमें कुछ दिन ठहरनेका निश्चय किया। वहाँ केलेका जंगल है। उसमें जंगली हाथी स्वच्छन्दरूपसे केलोंको खाते और उखाड़ते विचरते रहते हैं। वे ऐसे उन्मत्त होते हैं कि जो उनके सामने आता है उसे ही मार डालते हैं। लोग उनसे भयभीत और सतर्क रहते हैं। परन्तु इन पुरुषसिंहने तो निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर उसी जंगलमें अपना त्रिशूल गाड़ दिया और धूनी चेता दी।

वहाँ आप बहुत गुप्त रूपसे रहते थे, तो भी वहाँकी प्रजाने आपको देख ही लिया। आपकी तेजोमयी मूर्तिसे प्रभावित होकर उन्होंने मणिपुर की राजमाताको अपनी सूचना दे दी कि एक देवमानुष आये हैं। वे अद्वितीय नैष्ठिक ब्रह्मज्योति हैं। आप दर्शन करें, उनके दर्शनोंसे वञ्चित न रहें। राजमाताने गुप्तचरोंद्वारा आपके विषयमें पता लगवाया। उन्होंने कहा, "माताजी! महात्मा बड़े चमत्कारी जान पड़ते हैं। उनके मुखमण्डलपर ज्योति जगमगाती है। आप उन्हें आग्रह करके महलोंमें ले आइये।" तब राजमाताने जाकर आपको प्रणाम किया और गृह पवित्र करनेका आग्रह किया। आपके दर्शनोंसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और चित्तमें संकल्प किया कि मैं अपने एकमात्र योगी पुत्रको इनसे अवश्य मिलाऊँगी। इधर आपने देखा कि यह राजमाता श्रीकृष्णकी परम भक्ता है, सत्त्वगुण इसके चहरेपर लहरा रहा है। अतः आपने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

राजामाताके साथ आपने महलमें प्रवेश किया। वहाँ आपको एक ऊँचे सिंहासनपर विराजमान कराया गया। किन्तु इधर-उधर दृष्टिपात करनेपर आपके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। जो कभी आँखें नहीं खोलते थे वे नेत्र और हृदय खोलकर देखने लगे। क्या देखा—समस्त श्रीकृष्ण-

लीला चन्दनकी लकड़ीमें खुदी हुई है। मानो चन्दन कह रहा है कि महाराज ! आपको केवल चर्चित करनेसे ही मैं सन्तुष्ट नहीं होता। आप मुझमें ओतप्रोत हो जायँ और मैं आपमें ओतप्रोत हो जाऊँ—यही प्रेमसगाई की माँग है। इस प्रकार आपको भी लीलापुरुषोत्तमने अपनी समग्र लीलाओं में ओतप्रोत कर दिया। थोड़ी-सी चन्दनकी सेवाने मानो श्याम और श्यामाको उनके लीलापरिकरसहित मोल ले लिया। इस लीलाचित्रणको देखकर आपके हृदयपर अंकित वृन्दावनविहारी, वृन्दावनवनस्थली और वृन्दावनमाधुरीने आपको भावविभोर कर दिया। आपका रोम-रोम नाच उठा और कण्ठ गद्गद हो गया।

आपने अपने भावको बहुत छिपाया, तथापि राजमाताने ताड़ लिया। वे बोलीं, "महाराज ब्रह्मचारीजी ! इस लीलाचित्रणका उद्देश्य यह है कि नेत्र अन्यत्र न जायँ, श्यामब्रह्ममें दृष्टि गड़ जाय तथा श्याम-लीलामृतसिन्धुमें घुल-मिलकर चित्त लहराता रहे। इसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि जैसे बने वैसे बुद्धि श्रीकृष्णरससे भावित रहे। आपसे एक प्रार्थना और है। मेरा एक मात्र पुत्र इस राज्यका अधिकारी है। उसके पिता बाल्यावस्थामें ही परलोक प्रयाण कर गये हैं। किन्तु इस बालकने जैसे-जैसे होश सँभाला वैसे-वैसे इसकी एकान्तवास और भगवद्भजनकी ओर ही रुचि बढ़ती गयी है। मैंने भी खुशी मनायी, अच्छा है, बचपनसे ही इसे भगवद्भक्तिमें अनुराग है। इस बालभक्तपर भगवान् अवश्य कृपा करेंगे। हम दोनों प्रातःकाल तीन बजेसे मध्याह्नोत्तर तीन बजेतक भगवद्भजनमें तत्पर रहते हैं। फिर भात, केला, शाक और मूँगकी दाल भगवान्‌को भोग लगाकर पाते हैं। उसके पश्चात् स्वाध्याय आदि करते हैं और रात्रिमें ६ बजेसे ११ बजेतक मैं कचहरी करती हूँ। बालक अब वयस्क हो गया है। उसका शील-स्वभाव अच्छा है। उसने आजतक मेरे सिवा किसी अन्य स्त्रीका मुख नहीं देखा। मैं अब वृद्ध हो गयी हूँ। आप उसे समझा दें। वह कुछ राजकाज सँभाले और मैं अपना अन्तिम जीवन सँभालूँ।"

आपने कहा, "अपने पुत्रसे मिलाइये।" माँ आपको राजकुमारकी पूजास्थलीमें ले गयी। युवराजने साष्टांग प्रणाम किया। आपका दर्शन-कर वह भावविभोर हो गया। आपने उससे माँकी इच्छा प्रकट की और राज्य सँभालनेका अनुरोध किया। राजकुमारने कहा, "महाराजजी ! क्या कहूँ ? मेरा बालचापल्य क्षमा करें। यह संसार अजगर है, मुँह

फाड़े बैठा है। राग-द्वेष इसके दाँत हैं। इन्हींसे सबको चबा जाता है। मैं तो इस राग-द्वेषमय व्यवहारमें पड़ना नहीं चाहता।" आपने सोचा, यह कोई पूर्वजन्मका योगी है। इसका ऐसा संयम है, ऐसी तत्परता है। सचमुच अत्यन्त शुभ संस्कार होनेपर ही ऐसी मनोवृत्ति प्राप्त होती है।

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा।
यस्य भूतैः सह मुनेः स श्रेयो विन्दते परम्॥

अर्थात् जिस मननशील साधकका अन्य प्राणियोंके साथ दर्शन, स्पर्श और सम्भाषण नहीं होता वह परम निःश्रेयसको प्राप्त कर लेता है।

फिर आपने राजमाताको आश्वासन दिया और जंगलमें अपने स्थान पर चले आये। जिस समय जापानने मणिपुरपर आक्रमण किया था उस समय आप भरे हृदयसे कहा करते थे, "अरे! उस बालयोगी और लीला-चित्रणको जापानियोंने नष्ट तो नहीं कर दिया।"

सेवा, त्याग और मातृदर्शन

उस बालयोगीसे मिलकर, सर्वेन्द्रिय-संयम और योगमिश्रित भक्ति-योगसे जीवनमें क्या-क्या विकास हो सकता है—यह देखकर आपका चित्त प्रसन्न हुआ। आपके भीतर जो **'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ततः पदं तत्परि-मार्गितव्यम्'**[1] रूप शस्त्र था वह उन्हें देखकर शानपर चढ़ाये हुए खण्डके समान और भी तीक्ष्ण हो गया। ऐसे राजवैभवमें रहकर भी इसका रहते हुए भी न रहना और देखते हुए भी न देखना कैसा अद्भुत है। राजमाता भी निरन्तर युगलचरणमकरन्दके आस्वादन और लीलारसपानमें मधुकरी की भाँति उन्मत्त है। इस प्रकार योगरसमधुप ब्रह्मचारीजी योगरसके साथ भक्तिरस और ज्ञानरस रूप मधुकी भी माधूकरी करते कालियकान्त भगवान्‌के दर्शनार्थ बड़पेटा पहुँचे।

वहाँ भगवान् शिवका एक मन्दिर था। उसके अध्यक्ष एक ब्रह्मचारी जी थे। आप जब दर्शनार्थ गये तो आपने देखा कि ब्रह्मचारीजी अत्यन्त रुग्ण हैं और उनकी सेवा करनेवाला कोई नहीं है। आपको उनपर बड़ी दया आयी। दया तो आपका स्वभाव ही था। उनके शिष्य उस समय श्रीरामेश्वरजीकी यात्राको गये हुए थे। अतः उन्हें असहाय देखकर

---

१. असंगतारूप सुदृढ़ शस्त्रसे संसारबन्धनको काटकर फिर उस परमपदकी खोज करनी चाहिए।

आप उनकी सेवामें जुट गये। परन्तु उनकी स्थिति दिनपर दिन बिगड़ती गयी। उन्होंने देखा कि अब शरीर रहेगा नहीं। अतः आपकी प्रेमपूर्ण सेवासे सन्तुष्ट हो उन्होंने मन्दिरके ट्रस्टियोंको आज्ञा दी कि मेरे उत्तराधिकारी ये ब्रह्मचारीजी ही होंगे। इन्हें महन्त बना देना। सुनकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। आपके सौम्य स्वरूप, संयत और मधुर स्वभाव तथा निर्लोभ एवं निरभिमान मिठासने सभीपर अपनी मोहिनी डाली हुई थी। दस दिन पश्चात् महन्तजीका देहावसान हो गया। अतः उनकी आज्ञानुसार आपको विधिवत् महन्तपदपर अभिषिक्त कर दिया गया। उस समय आपकी आयु प्रायः बाईस वर्षकी थी। यह सं० १९५४ विक्रमी की बात है।

परमपदप्राप्त महन्तजीके उपलक्षमें साधु और ब्राह्मणोंका भोजन हुआ तथा दीनदुखियोंको अन्नदान दिया गया। आप फलिष ज्योतिषके अच्छे विद्वान् थे। तथा हस्तरेखा देखनेमें भी अत्यन्त प्रवीण थे। आपका विचार था कि ज्योतिषीको इष्टदेवकी उपासनामें तत्पर रहना अनिवार्य है। इससे उसकी विद्याकी वास्तविक पुष्टि होती है। सो आप तो उपासनाके निधि ही थे। महन्त होते ही आप जन्मपत्री-परीक्षण तथा हस्तरेखानुशीलनमें लग गये। आपकी भविष्यवाणी प्रत्यक्ष फलित होती थी। इससे आपका सुयश सर्वत्र फैलने लगा। लोगोंकी दृष्टि आपपर लग गयी।

किन्तु इस प्रतिष्ठासे आपके जप, अनुष्ठान और उपासना आदिमें कोई अन्तर नहीं आया। नवरात्र आनेपर आपने शतचण्डी अनुष्ठानका व्रत लिया। अनुष्ठान समाप्त होनेपर महामाया महाकालीने स्वयं प्रकट होकर आपकी आराधना अंगीकार की। माँका दर्शन करके आपका अंग-अंग पुलकित हो गया तथा आनन्दाश्रुओंसे आपने माँके श्रीचरणोंका प्रक्षालन किया। मातृकृपाके अनुरोधसे आपका कण्ठ गद्गद हो गया। आपने अनुभव किया कि माँ अपना वरद करकमल मेरे मस्तकपर रखे हुए कह रही हैं कि हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध सूर्य और चन्द्रमाकी स्थिति पर्यन्त रहेगा।

आपने गद्गद कण्ठसे स्तुति करते हुए कहा—"अहो करुणावरुणालय माँ! आपने बड़ा अनुग्रह किया। हे अखिलात्मिके! संसारमें जो भी वस्तुएँ हैं उन सबकी मूलभूता शक्ति तो आप ही हैं। फिर आपकी स्तुति किस प्रकार करूँ? आप क्या नहीं हैं—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ।
महामोहा च भवती महादेवि महासुरे ।।
शरणागतदीनार्त्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वदार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बिके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ।।

अपनी हृदयधन और जीवनसर्वस्व माँके प्रत्यक्ष दर्शन, प्रत्यक्ष कृपा और प्रत्यक्ष स्तुति-पूजनका आलौकिक आनन्द पाकर आपके हर्षका ठिकाना न रहा। अब अन्धाधुन्ध भण्डारा चलने लगा। हर समय कड़ाही चढ़ी रहती। जो लोग पक्का भोजन नहीं करते थे उन्हें बादाम-मिश्री और कच्चा सामान दिया जाता था। कोई भी दर्शनार्थी सामने आता तो उसका आन्तरिक दृश्य आपके मानस-नेत्रोंके सामने आ जाता। उसका भूत-भविष्यत् प्रत्यक्ष भासने लगता। एक वकील आया। उसके शरीरमें कुष्ट था। उसने पूछा, 'यह कैसे छूटे।' आप बोले, "यह तुम्हारे दुश्चरित्रपर भगवान्का कोप है। तुम्हारा अपनी पुत्रीके साथ अवैध सम्बन्ध है।"

जनसमुद्र उमड़-उमड़कर आने लगा। रुपयोंका ढेर लग गया। तब आपने माँसे प्रार्थना की, "माँ ! यह तो बड़ा विक्षेप है।" माँने संकेत किया कि तुमने जो आर्त्तजनोंकी दुःखनिवृत्तिका संकल्प किया था उसीकी पूर्ति हो रही है। ध्रुवकी तरह तुमने भी भक्ति चाही, सो ठीक है, परन्तु जिस उद्देश्यसे तुम्हारी आराधना आरम्भ हुई थी वह तो अवश्य पूर्ण होगा। हमारे प्रति तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी। परन्तु जो जनहितकी कामना थी वह भी तो पूरी होनी चाहिए। तब आपने प्रार्थना की, "माँ ! मैं जब प्रार्थना करूँ तब आप कृपा करना।"

इस प्रकार आपने वाक्सिद्धि, अन्तर्यामिता और अन्नवितरणादिकी शक्ति अपने अधीन कर ली। माँ जब हृदयसिंहासनपर विराजमान हों तब कमी क्या रह सकती थी। अब आप भीतर-बाहरसे सर्वशक्तिमती माँ ही हो गये, देखनेमें अवश्य ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप थे। आपने, किसीका चित्त दुखे, इस दृष्टिसे भविष्यवाणी करना त्याग दिया। केवल अनिष्ट-निवृत्तिके लिए कोमल शब्दोंमें किसीसे कुछ कह देते थे। अब आपका जीवन मातृभक्तिसे ओतप्रोत रहने लगा। जैसे माँ यशोदा और

रोहिणी ये दोनों श्रीकृष्णको लाड़ लड़ाती थीं वैसे ही आपको श्री गायत्री देवी और माता अन्नपूर्णेश्वरी अपना वात्सल्य प्रदान करके लाड़-लड़ाती थी।

कुछ काल पश्चात् स्वर्गीय ब्रह्मचारीजीका शिष्य रामेश्वर यात्रा करके लौट आया। वह स्थानपर अपने उत्तराधिकारका दावा करने लगा। तब आपने उसीका पक्ष लिया और ट्रस्टियोंसे अनुरोध किया कि अवश्य इन्हें ही महन्त बनाओ, मैं अधिकार बिलकुल नहीं चाहता। आपका तो यह दृढ़ विश्वास था कि—

माया मन्दिर इस्तरी, धरती अरु व्यवहार।
ये सन्तनको तब मिलें, जब कोपै करतार॥

आपने इसका स्वयं अनुभव भी कर ही लिया। माँने स्वयं दर्शन देकर और वर प्रदान करके यह दिखा दिया कि पैसा, प्रतिष्ठा, जनसंसर्ग और अन्तर्यामिताके प्रयोगमें कितनी आपत्ति एवं विक्षेप है। बस, केवल कृपामयी वरप्रदायिनी माँके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए।

सुने न काहूकी कही, कहै न अपनी बात।
नारायन वा रूप में, मगन रहै दिन रात॥

अतः आपने महन्तजीके उत्तराधिकारी ब्रह्मचारीको ही महन्त बनानेका आग्रह किया। परन्तु ट्रस्टीलोग आपसे बहुत प्रभावित हो चुके थे। आपकी आज्ञा होनेपर भी वे आपको छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी ऐसी चेष्टा देखकर आपने स्वयं ही वह स्थान छोड़ देनेका निश्चय कर लिया। अतः किसीसे भी बिना कुछ कहे अपनी माला, स्वाध्यायकी पुस्तकें, माँकी छवि और लोटा लेकर वहाँसे चुपचाप चल दिये। लोगोंने जब दूसरे दिन आपको न देखा तो हाथ मलकर रह गये।

कुछ चमत्कारियोंसे भेंट

वहाँसे चलकर आप पुनः सिद्ध योगियोंकी खोजमें लग गये। मार्ग में आपको एक प्रेतोपासक मिला। उसका रहन-सहन बहुत घृणास्पद था। परन्तु प्रेत उसे सिद्ध था और उसमें प्रत्यक्ष चमत्कार भी दिखायी दिये। तथापि उसकी रहनीसे आपको घृणा हुई और यह सोचकर कि 'भूतानि यान्ति भूतेज्याः' इस गीतोक्तिके अनुसार इसका परिणाम तो निकृष्ट योनिकी प्राप्ति ही है, आप वहाँसे आगे चल दिये।

फिर एक सुनहले बालोंवाले महात्मा मिले। वे आकाश मार्गद्वारा वर्मासे आये थे। आपने इसका रहस्य जानना चाहा। तब उन्होंने बताया कि मैं रसायन विद्या जानता हूँ। अत: मैंने पारदकी गुटिकाद्वारा आकाश-गमनकी शक्ति प्राप्त की है। योगदर्शनके **'जन्मौषधमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः'**[1] इस सूत्रके अनुसार औषधसे भी सिद्धिकी प्राप्ति होती है। आपको दीनजनों की सेवाका संकल्प तो था ही। अत: आपने उनसे यह विद्या प्राप्त करनी चाही। कुछ दिन उनकी सेवा भी की। तब उन्होंने आपको पारदभस्म बनाना सिखाया। परन्तु वैराग्यने आपको इस सिद्धिसे भी उपराम कर दिया। आपने सोचा कि गुटिका बनाना आ भी गया तो उससे वास्तवमें क्या लाभ होगा? परमार्थ-प्राप्तिमें तो इससे कोई लाभ है नहीं। यदि गुटिका कहीं गिर गयी तो सारी सिद्धि वहीं समाप्त हो जायगी। अत: आप उससे भी उपराम होकर वहाँसे चल दिये।

फिर विचरते-विचरते आप भूटान पहुँचे। वहाँ आपका तेजोमय स्वरूप देखकर लोगोंमें बड़ी हलचल मच गयी कि एक देवमानुष आया है। उन लोगोंका रहन-सहन बहुत ही गन्दा था। वे बौद्धधर्मावलम्बी लामा थे, अच्छे जपनिष्ठ थे और अपने उपास्यदेवमें उनकी अटूट श्रद्धा थी। उनके ये गुण तो आपको बहुत प्रिय लगे, परन्तु उनकी गन्दगीसे बहुत घृणा हुई। अत: उस देशमें और आगे न बढ़कर आप लौट आये।

इनके सिवा आपको और भी अनेकों हठयोगी और चमत्कारी पुरुष मिले। परन्तु उनसे आपको कोई सन्तोष न हुआ। आप स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा करते थे—"पहले मैंने आसाम और भूटानमें हठयोगियोंकी बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगीका पता लगता उसीके पास जाता और उसकी सेवा करके उसके अनुभवका पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हें तीन-तीन चार-चार घण्टेकी समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थितिका पता लगानेपर यही अनुभव हुआ कि उनमेंसे किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधिमें उनकी स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा मैंने प्राय: सभी हठयोगियोंको रोगी भी पाया। हठ-योगका मुख्य लक्ष्य तो वीर्यकी पुष्टि ही है। परन्तु मैंने अधिकांश हठ-

---

१. जन्म, औषध, मन्त्र, तप और समाधि—इन पाँच उपायोंसे सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

योगियोंको वीर्यसम्बन्धी रोगोंसे ही ग्रस्त पाया। किसीको मूत्रकृच्छ्र, किसी को स्वप्नदोष और किसीको किसी अन्य रोगके चंगुलमें फँसा देखा। इसीसे मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि वर्तमानकाल हठयोगके अनुकूल नहीं है। इस समय हठयोगद्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः असम्भव है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोगका मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसके जो विपरीत परिणाम होते हैं उनके मुख्य कारण ये हैं—

१. हठयोगीका वीर्य शुद्ध होना चाहिए और इसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है।

२. हठयोगके अभ्यासको सहन करने योग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता।

३. सिद्ध हठयोगी गुरुका मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

"इनके सिवा ध्यान और वैराग्यकी कमी होनेके कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थलोलुप और चंचल प्रकृतिके देखे जाते हैं। उनके जालमें फँसकर मैंने बहुत-से साधुओंके जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिए मेरा विचार है कि कल्याणकी इच्छावालोंको इधर प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।"

इसके पश्चात् भी योगियोंकी खोज चलती ही रही। आप प्रधानतया निर्विकल्प समाधिस्थ योगीकी खोजमें लगे थे। हाँ, प्रसंगतः मिलते सभी से थे। इस प्रकार खोजते-खोजते आप कूचविहार पहुँचे। वहाँ एक अभ्यासी वैष्णव योगी मिले। आपको वे महात्मा बहुत अच्छे लगे। आपमें ब्रह्मचर्य, तेज और तप आदि योगके लक्षण देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वे त्राटकमें निपुण थे। उनका आसन भी उठ जाता था। उन्होंने आपको अपनी योगपद्धतिके अनुसार आसन, त्राटक और ध्यान-धारणा आदिका रहस्य बताया और आपसे उनका अभ्यास भी कराया। आप सम्यक् रूपसे अभ्यास करते रहे। आपका आसन भी उठने लगा तथा त्राटक सिद्ध हुआ। क्रमशः समाधि भी प्राप्त हुई। परन्तु अन्तमें आपको यही निर्णय हुआ कि उनकी स्थिति भी निर्विकल्प समाधिपर्यन्त नहीं है। अतः कुछ दिन उनके पास रहकर आप वहाँसे चल दिये।

यहाँसे आप ढाका पहुँचे। वहाँ एक सम्पन्न कायस्थके द्वारपर **'भवति भिक्षां देहि'** कहकर भिक्षा माँगी। आपकी आवाज सुनकर गृह-स्वामी बाहर आया और आपको तरह-तरहके दुर्वाक्य कहने लगा।

किन्तु आप उन्हें पुष्पवृष्टिके समान प्रसन्नतासे सुनते रहे। भिक्षुके लिए नीच अपमान सुधाके समान है—यह आपका निश्चित स्वभाव था। वह गाली-गलौच बककर अन्तमें चुप हो गया और फिर अनुनय-विनय करके स्वागत सत्कारके साथ भीतर ले गया। वहाँ पाद-प्रक्षालनादि करके एक सुसज्जित एवं परिष्कृत स्थानमें भोजनके लिए बैठाया। उस समय कहता जाता था—'आप इतने दिनोंतक कहाँ थे! क्यों नहीं आये? इतना विलम्ब क्यों किया? हाय! विलम्ब करके बहुत कष्ट दिया। चलो, अन्ततः कृपा की ही।' इत्यादि।

आप चुप-चाप सब सुनते और देखते रहे। भीतर-भीतरसे उसका विलक्षण व्यवहार देखकर आश्चर्य-चकित होते थे कि यह क्या हो रहा है। फिर भोजन बनानेवाली ब्राह्मणीको आज्ञा दी कि थाल परोसकर लाओ। तब तरह-तरहके व्यञ्जनोंसे परिपूर्ण थाल आपके पास लाया गया। गृहस्वामी बार-बार 'बड़ी कृपा! बड़ी कृपा!' कहकर विह्वल हो रहे थे। स्वयं पंखा झल रहे थे और बार-बार 'और लीजिए, और लीजिए' कहकर आग्रहपूर्वक भोजन करा रहे थे। आप प्रसाद पाकर हाथ-मुँह धो स्वस्थचित्तसे बैठे। तथा गृहस्वामीको भी स्वस्थचित्त देखकर पूछा, "भैया! तुमने यह सब क्यों किया।" वे बोले, "महाराजजी! मेरा दुर्भाग्य है, तीन दिनसे मेरे द्वारपर कोई अतिथि भगवान् नहीं आये। मैं टकटकी लगाकर बाट देख रहा था। मेरा धैर्य टूट गया, चित्त घबराने लगा, तब चौथे दिन आपके दर्शन हुए। इसीसे मेरा धैर्यका बाँध टूट गया और न जाने मैं आपसे क्या-क्या कह गया। आप मेरी धृष्टता क्षमा करें।" ऐसा कहकर वे रोने लगे और फिर बोले, "महाराजजी! मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे न तो स्वर्ग चाहिए, न सार्वभौम-पद और न कोई ऋद्धि-सिद्धि। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि नित्यप्रति अतिथि भगवान् पधारकर मेरी पूजा अंगीकार करते रहें। यह अतिथिसेवा ही मुझे जन्म-जन्ममें प्राप्त हो।"

श्रीमहाराजजीने प्रसन्न होकर कहा, "धन्य है तुम्हारी अतिथि-सेवा, निश्चय ऐसा ही होगा।" उनकी अतिथिसेवाकी निष्ठा देखकर आप दंग रह गये। आपका रोम-रोम खिल गया। आपके जीवनमें भी इस गुणकी प्रधानता देखी गयी। आपके यहाँ भण्डारे प्रायः होते रहते थे। उनमें निमन्त्रित व्यक्तियोंका सत्कार तो होता ही था। अनिमन्त्रित दीन-हीन

कंगालोंको भी भर पेट भोजन कराया जाता था। एक दिन मुझसे कहने लगे, "प्राणिमात्रको अन्न देनेकी प्रवृत्ति तो कर सकते हो ?"

फिर आपको एक अत्यन्त तेजस्वी वृद्ध भट्टाचार्य मिले। उनकी आयु प्रायः साठ सालकी थी। तथापि उनका शारीरिक स्वास्थ्य युवा पुरुषोंका-सा था। उससे आकृष्ट होकर आपने उससे पूछा कि आपके ऐसे स्वास्थ्यका क्या कारण है ? उन्होंने कहा, "मैं नियमानुसार त्रिकाल सन्ध्योपासन और प्राणायामपूर्वक गायत्रीजप करता हूँ, शुद्ध अन्न ग्रहण करता हूँ तथा नियमसे ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर ध्यान करता हूँ। इसीसे मेरा स्वास्थ्य बना हुआ है।" आपको भी नियमित जीवन प्रिय था। आप तो नियमको ही भगवान् कहते थे। कभी-कभी अकुलाकर कहा करते थे, "क्या हो गया ? भारतवासियोंके नित्य-नियम भी छूट रहे हैं।"

एकबार आप एक धनी कायस्थकी पुष्पवाटिकामें ठहरे। वहाँ एक सुन्दर कुटिया थी। आपके शील-स्वभाव तथा तेजोमय विग्रहसे आकृष्ट होकर सभी परिवार आपकी सेवामें संलग्न रहता था। तथापि कायस्थ दम्पतिकी तो आपके प्रति आन्तरिक श्रद्धा थी, किन्तु उनके लड़के केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ऊपरी श्रद्धा प्रदर्शित करते थे। आप प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होनेके लिए बाहर जंगलमें चले जाते थे। उस समय गृहस्वामिनी आपके कमरे और आसनको झाड़-बुहार देती थी। एक दिन सबसे छोटे लड़केने आपकी परीक्षाके लिए आपके आसनके नीचे कुछ नोट रख दिये। आपको आसनादि देखनेका स्वभाव कभी नहीं रहा। आप आये और सिद्धासनसे बैठकर ध्यानमग्न हो गये। सारा दिन व्यतीत हो गया। रात्रिमें भी विश्रामके पश्चात् आप ध्यानस्थ रहे और फिर प्रातःकाल होनेपर नित्यनियमसे निवृत्त होनेके लिए चले गये। उस समय जब गृहस्वामिनीने आसन झाड़ा तो उसे नोट दिखायी दिये। उन्होंने लड़कोंसे पूछा कि यहाँ नोट किसने रखे हैं ? तब सबसे छोटे लड़केने कहा, "मैंने इन ब्रह्मचारीजीकी परीक्षाके लिए नोट रखे थे। मैं देखना चाहता था कि सचमुच सन्त हैं या कोई ठग हैं।" इनने हीमें आप आ गये। तब माँ और बेटोंने साष्टांग प्रणाम करके आपसे क्षमा प्रार्थना की। आप बोले, "बच्चे हैं, मैं इसका कोई ख्याल नहीं करता, मैंने तो नोट देखे भी नहीं हैं।"

आपद्धर्म

आप बालेश्वर जा रहे थे। मार्गमें एक गाँव मिला। उसके एक घरमें आग लग गयी थी। सब लोग घर से बाहर निकल आये थे। केवल एक नववधू भीतर रह गयी थी। आगकी लपटोंने घरको सब ओरसे घेर लिया था। भीतर जाने का कोई ठीक मार्ग नहीं था। सब लोग बड़े व्याकुल थे। किन्तु किसीका ऐसा साहस नहीं था जो अपनेको इस संकटमें डालकर उसे मृत्युके मुखसे बचावे। यह करुणक्रन्दन आपके कानोंमें पड़ा। आप यह सब न देख सके। दयाने आपकी धर्ममर्यादाके सेतुको भी तोड़ दिया। आप आग में छलांग मारकर भीतर घुस गये। वह नववधू इस घोर संकटके समय भी आपसे संकोच कर रही थी। तथापि आप उसे पकड़कर जबरदस्ती बाहर खींच लाये। सच है—

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुखःदुखी सन्त सुपुनीता॥

यद्यपि इस घोर विपत्तिसे आर्त्तरक्षाके लिए आपको आपद्धर्मने विवश कर दिया तथापि इसके पीछे स्वधर्म प्रबल हुआ। स्त्रीको स्पर्श किया— यह बात ब्रह्मचर्य धर्मके प्रतिकूल थी; भले ही ऐसा आपत्तिके समय किया, तथापि इसका प्रायश्चित्त तो करना ही चाहिए। अतः इसका प्रायश्चित्त करनेके लिए आपने तीन दिन और तीन रातका उपवास किया।

दक्षिण भारतकी ओर

यहाँसे आप कटक होते हुए गंजाम और उज्जैन गये। वहाँ आपको एक तैलंग स्वामी मिले। उनके तेज, सौम्य स्वभाव और योगियोंके-से लक्षण देखकर आप उनसे आकृष्ट हुए। उन्हें आसन और त्राटक सिद्ध थे। उनका आसन ऊपर उठ जाता था और नेत्रोंके पलक आधे-आधे घंटे तक नहीं झपते थे। उनके साथ आपका देववाणीमें सत्संग हुआ। श्रीतैलंग स्वामीने स्वीकार किया कि अभी मुझे निर्विकल्प स्थिति प्राप्त नहीं है। उनकी सचाई और निष्कपट सरल स्वीकृति आपको बहुत प्रिय लगी। तथा उनमें आपने साधनके लिए त्याग भी अच्छा देखा।

वहाँसे कई स्थानोंमें होते हुए आप श्रीबालाजी पहुँचे। यह दक्षिण भारतका सबसे धनी देवस्थान है। श्रीबालाजी दाक्षिणात्योंके प्राणप्रिय आराध्य देव हैं। उनका दर्शन करके फिर कई स्थानोंमें योगियोंकी खोज करते आप रामेश्वरजी पहुँच गये। ये भगवान् श्रीरामद्वारा

स्थापित ज्योतिर्लिङ्ग हैं। इनका गंगोत्तरीके जलसे अभिषेक करके प्रत्येक भारतीय अपनेको कृतकृत्य मानता है। उनके दर्शनमात्रसे भगवान् रामकी नीति-प्रीति, स्वार्थ-परमार्थ और रसभरी लीला हृदयपटलपर अंकित हो जाती है। तथा **शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः'** इस ध्रुव सत्यका साक्षात्कार होता है।

श्रीरामेश्वरजीके दर्शन करके आपको बड़ा आनन्द हुआ। भगवान् राम और सतीशिरोमणि सीताजीका स्मरण करके आप गद्‌गद हो गये। उनकी लीला और चरित्रका आप जीवनभर स्मरण-चिन्तन करते रहे। आपके यहाँ नित्य नियमसे श्रीरामचरितमानसका गान होता है। यह उनके हृदयको अत्यन्त प्रिय था। इस रामचरितमानसके गानके समय **'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्' 'वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनम्'** ऐसा श्रीहनुमानजीका स्वरूप किन्हीं-किन्हींको दृष्टिगोचर होता था। श्रीसीताजीके हरणका प्रसंग सुनकर आपके नेत्रोंमें जल भर आता था। श्रीभरतजीका प्रसंग आनेपर आप मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। भरतजीकी वह रहनी कि भोगोंमें रहते हुए भी उनसे अलिप्त रहना आपको अत्यन्त प्रिय थी।

रामेश्वर धाममें भी दस दिन ठहरकर आप सिद्धोंकी खोज करते रहे। मन्दिरका धन-वैभव और पुजारियोंका लालची स्वभाव आपको पसंद नहीं आया। आशुतोष औढरदानी भगवान् रामेश्वर इन देवमानुष बालशंकरको देखकर प्रसन्न हुए। मानो उन्होंने सोचा कि ये हमारे धाममें आये हैं, इन्हें निराश नहीं लौटाना चाहिए। अतः उन्होंने आपको स्वप्नमें अपने भूतिभूषित दिव्य विग्रहका दर्शन कराया। सुविशाल त्रिनयन, गलेमें नागोंका हार, चन्द्रज्योत्स्नाके समान सुशीतल शुभ्र कान्तिमय गौरवर्ण तथा मस्तकपर श्रीगंगाजीकी शोभा निहारकर आप आनन्दविभोर हो गये। यह स्वप्नदर्शन मानों इसलिए हुआ कि तुम्हारे हृदयमें जो सौन्दर्यरत्नाकरी, नित्यानन्दकरी, काशीपुराधीश्वरी माता अन्नपूर्णेश्वरी गौरी विराज रही हैं वे अकेली नहीं हैं। जहाँ वे हैं वहाँ मैं भी हूँ। हम दोनों अर्धनारीश्वर हैं। अतः तुम्हारा हृदय अर्धनारीश्वर भगवान् गौरी-शंकरका निलय है।

इसके पश्चात् आप पण्ढरपुर और पूना आदि कई स्थानोंमें होकर बम्बई गये। सभी जगह आप सिद्ध योगी की खोज करते रहे। फिर विरक्त संन्यासियोंकी राजधानी हरिद्वार एवं ऋषिकेश पहुँचे। वहाँ आपने गुफा

और कुटियामें सर्वत्र समाधिस्थ सिद्धकी खोज की। परन्तु इस क्षेत्रमें तो पूर्णतया अद्वैत वेदान्तका साम्राज्य था। अभीतक वेदान्तविचारकी ओर आपकी कोई रुचि नहीं थी। स्थितिनिरपेक्ष वेदान्ती आपको सर्वसाधारण से ही जान पड़ते थे। उनकी ओर कोई आकर्षण नहीं हुआ।

यहाँ आपको विपिनचन्द्र नामके एक बंगाली सज्जन मिले। आपकी सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य और ब्रह्मचर्यमयी रसमाधुरीको देखकर वे मुग्ध हो गये। आपके मुखमण्डलपर ज्योतिर्मण्डलको जगमगाते देखकर और एक निष्ठावान् शाक्त ब्रह्मचारी जानकर उनका चित्त आर्कषित हुआ और मस्तक श्रीचरणोंमें झुक गया। आपके सान्निध्यका सौभाग्य प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने प्रार्थना की कि आप हमारे साथ कलकत्ता पधारें और कुछ दिन हमारा आतिथ्य स्वीकार करके हमारे घरको पवित्र करें। उनके भावसे प्रसन्न होकर आप उनके साथ रेलद्वारा माँ कालीकी पुरी कलकत्ता चले आये।

एक जर्मन महात्मा

कलकत्ता आनेपर माँ कालीकी असीम कृपासे एक विचित्र मौनी संत मिले। वे अपनी जर्मन पोशाकमें ही थे, परन्तु रहते थे भिक्षावृत्ति से। एक तख्तपर निश्चेष्ट बैठे रहते और निरन्तर ध्यानमग्न रहते थे। बाजारका कितना ही कोलाहल हो, आने-जानेवाले व्यक्तियोंकी तथा यातायातकी कितनी ही घड़घड़ाहट हो, किसी भी प्रकारके गाने-बजाने या नाचनेकी खटपट हो, तथापि वे ध्यान में ऐसे डूबे रहते थे कि इन सबका उनके चित्तपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। सारा संसार भले ही अपनी चालसे चलता रहे वे अपने लक्ष्य और साधनसे तनिक भी विचलित नहीं होते थे। संसारके राग-रंग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। उनकी मानो यह स्थिति थी—**'नयना रूँठ गये नहिं कछु ध्यान।'** इनकी यह स्थिति हमारे ब्रह्मचारीजीको बहुत अच्छी लगी। आप सोचने लगे—'वाह! ध्यान तो यह है, मौन भी ऐसा ही होना चाहिए। ये हैं सच्चे बेख्वाहिश, बेपरवाह।' वे केवल क्षुधा-निवृत्तिके लिए ही अन्न ग्रहण करते थे। स्वादकी ओर उनका कोई ध्यान नहीं था। आपकी दृष्टि सर्वदा ध्यान और त्यागपर ही रहती थी। सो, उनका सब प्रकारके विक्षेपोंमें इस प्रकार मस्त और स्वस्थ रहना और किसी प्रकारके आकर्षणसे प्रभावित न होना देखकर आप चकित रह गये।

उनके पूर्वचरित्रके विषयमें खोज करनेपर मालूम हुआ कि वे जर्मन नागरिक थे। यहाँ सैशन जज होकर आये थे। न्यायाधीश होनेके नाते इन्हें अधिकतर कतलके मुकदमे करने पड़ते थे। इसी निमित्तसे इन्होंने एक हत्यारेको फाँसीका दण्ड दिया था। दण्ड तो दिया किन्तु उसके कारण इनके अन्त:करणमें बड़ी हलचल मच गयी। ये सोचने लगे कि इस पदके कारण मुझे कैसा क्रूर कर्म करना पड़ता है। अब मैं यह काम नहीं करूँगा। संसारके सभी काम सदोष हैं। यह बात ध्यानमें आते ही इन्होंने त्यागपत्र दिया और संसारसे उपराम होकर मौन हो गये।

उनके दर्शन करके और उनका ऐसा उदात्त चरित्र सुनकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। सचमुच त्याग ऐसा ही होना चाहिए। शुभ कार्य करना हो तो तुरन्त करे और अशुभका अवसर आवे तो उसे टालता रहे। यह है जीवनमें अभ्युदयकी कुञ्जी।

इष्ट-प्राप्ति

इस प्रकार आपने एक भ्रमके मधुसंचयकी भाँति अनेकों सन्तोंसे मिलकर स्वानुभवद्वारा ज्ञान-विज्ञानका सञ्चय किया। उसे स्वयं आस्वादन कर फिर मुक्त हस्तसे सभी अधिकारी पुरुषोंको वितरण किया, जिससे वे इधर-उधर भटककर अपने अमूल्य समयको व्यर्थ न खोयें, तुरन्त अपने इष्ट साधनमें लग जायँ। अत: आपने अपनी सारी खोजका रहस्य अपने कृपापात्र साधकोंको खोलकर दे दिया। आपने बताया कि अपनी जाति-पाँति और कुलका अभिमान छोड़नेवाला साधक सन्तोंसे कभी उनकी जाति-पाँति या कुलके विषयमें प्रश्न न करे। यथाशक्ति सभीका सत्कार करके उनसे अपने कामकी वस्तु प्राप्त करनेका प्रयत्न करे।

आपने अपने ध्येयकी सिद्धिके लिए सारे भारतवर्षको छान डाला। इस खोजमें आपको पद-पदकर अनेकों प्रलोभनों और विडम्बनाओंका सामना करना पड़ा। माया ठगिनीने अपना आकर्षक जाल फैलाकर तथा अनेकों विषम परिस्थितियोंमें डालकार आपकी परीक्षा की। परन्तु अपनी अटूट ब्रह्मचर्यनिष्ठा और मातृचरणोंका आश्रय रहनेके कारण आप उन अवसरोंपर तनिक भी अपनी निष्ठासे विचलित नहीं हुए। आपके रहन-सहन और भोजनादिका सर्वदा वैसा ही क्रम रहा जैसा कि एक आध्यात्मिक शूरवीरका लक्ष्यसिद्धिके लिए आवश्यक है। आपकी ऐसी अटूट लगन और अटल श्रद्धा देखकर अन्तमें मातृहृदयमें करुणाका उद्रेक

हुआ और उन्होंने आपको परम अधिकारी समझकर एक ऐसे सन्तका दर्शन कराया जो निर्विकल्प शान्तिसाम्राज्यपर अभिषिक्त और निर्विकल्प समाधि में परिनिष्ठत थे। उन्होंने आपको सच्चा अधिकारी जानकर और आपकी उत्कट लगन देखकर आपको परम शान्ति-साम्राज्यके द्वार को खोलने की कुञ्जी दी। इसे पाकर आपके हर्ष का ठिकाना न रहा। उनसे आपको यह निश्चय हुआ कि सिद्धान्त और शाम्भवी मुद्राद्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। शाम्भवी मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

जिसमें लक्ष्य अन्तर्मुख ध्येयाकार रहे और दृष्टि बाहरकी ओर हो। अर्थात् आँखें खुली रहनेपर भी कोई बाह्य पदार्थ दिखाई न दे तथा पलकों का खुलना और झपना भी बन्द हो जाय, वही सम्पूर्ण शास्त्रोंमें छिपी शाम्भवी मुद्रा है।

इसका अभ्यास करनेके लिए उन योगिराज ने आपको यह श्लोक बताया—

तिर्यग्दृष्टिमधोर्दृष्टिं विहाय च महामतिः ।
स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत् ॥

अर्थात् मतिमान् साधकको इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़-कर निश्चल भावसे स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योग (निःसंकल्पता) का ही अभ्यास करना चाहिए।

क्रान्तिकारी ब्रह्मचारीजी

जिस समय आप कलकत्ता आये उस समय वहाँ बंगभंगके आन्दो-लन का जोर था। प्रत्येक क्रान्तिकारी के हृदयमें यह आग सुलग रही थी कि हाय ! हाय ! यह बंगभंग नहीं भारतमाताका ही अंगभंग है। मातृभूमिका यह हृदयविदारक अंगभंग हम जीते-जी नहीं होने देंगे। प्राणोंको बलिवेदी पर चढ़ा देंगे, परन्तु यह अति दारुण मातृवध नहीं होने देंगे। आततायी को मार भगायेंगे। प्रत्येक क्रान्तिकारी शूरवीर **"नैनं छिदन्ति शस्त्राणि'** की गर्जना करते हुए मातृवेदीपर बलिदान होने को तैयार था। उन्हें विश्वास था कि इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें अवश्य

गंगावतरणके समान अखण्डभारतमें स्वातन्त्र्यका अवतरण होगा। इस प्रकार जब सब ओर क्रान्तिकी आग फैल रही थी हमारे ब्रह्मचारीजी कलकत्ता पहुँचे। उस क्रान्तिने इस जन्मसिद्ध क्रान्तिकारीको—अनवरत स्वातन्त्र्यसंग्रामीको एकदम जगा दिया। माताका अंगभंग—यह सुनकर इन्हें सहन न हुआ, असह्य वेदना जाग उठी। उस जागमें मोह-महिषासुरमर्दिनी, आततायिमुण्डखण्डमहिमण्डिनी श्रीगीता-कालिका **'मामनुस्मर युद्धच च'** यह चमचमाता हुआ सूर्यसंकाश कवच धारणकर **'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप'** की गर्जना करते हुए **'गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'** सिंहपर आरूढ़ होकर आपके हृदयप्रांगणमें अवतीर्ण हुई। उसने **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः'** यह त्रिशूल धारणकर गर्जते हुए घोषणा की कि डरो मत, भागो मत, पीठ मत दिखाओ, हे भारतवीरो! आततायियोके शस्त्रास्त्र तुम्हारा बालबाँका भी नहीं कर सकते।

गीतामाताकी इस गर्जनासे प्रेरित होकर आप मातृभूमिके उद्धारके लिए इस क्रान्तिकारी स्वातन्त्र्य-संग्राममें कूद पड़े। प्राणोंका मोह छोड़कर उस संग्राममें जुट गये। क्रान्तिकारी वीर आगसे खेल रहे थे। उन्हें मृत्युका कोई भय नहीं था, क्योंकि उनकी धारणा थी कि **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'** वे फलासक्तिसे मुक्त थे। सोचते थे कि इस जन्ममें ही नहीं आगामी सहस्रों जन्मोंतक भी हम स्वातन्त्र्य-संग्राममें जूझते रहेंगे और अंग्रेजोंको भारतसे भगाकर ही चैन लेंगे। इसके लिए वे तरह-तरहकी योजनाएँ बनाते थे और प्राणोंको हथेलीपर रखकर भी अंग्रेजोंको मारनेका अवसर हाथसे नहीं जाने देते थे। इस संग्राममें अनेकों अल्पवयस्क बालकोंको तरह-तरहकी वेदनाएँ झेलनी पड़ीं और बहुतोंको फाँसीपर भी लटकाया गया। इन्हींमें एक बालक था खुदीराम बोस। श्रीमहाराजजी इस वीर बालकका स्मरणकर मस्त हो जाते थे। कहा करते थे कि अंग्रेजोंपर बम छोड़नेके अपराधमें इसे कारागारमें रखा गया। इसके मर्मस्थानोंका छेदन करते हुए तरह-तरहकी ताड़नाएँ और त्रास देकर पूछा गया कि बताओ तुम्हारी बम-फैक्टरी कहाँ है? किन्तु वाहरे निर्भय बालक! वह कह देता, "अरे! ऐसे मूर्ख तुम्हारे इंग्लैण्डमें होंगे।" अन्तमें तरह-तरहकी पीड़ाएँ देकर उसे फाँसी दे दी गयी। परन्तु उसके मुखमण्डलपर कभी तनिक भी मलिनता नहीं देखी गयी। ऐसी थी उन आर्यवीरोंकी सिंहगर्जना! यह

थी उनके जीवन-स्वर्गकी अमर निसैनी तथा उनकी तेजोमयी कीर्तिकी फहराती ध्वजा।

ऐसे सैकड़ों वीर हाथमें गीताकी पोथी लिए फाँसीपर झूल गये। गीता ही उनका सर्वस्व थी श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि उस समय गीतारस व्यष्टिहृदयकी धड़कन नहीं, अपितु समष्टि जीवनकी उछाल थी। यह वास्तवमें महान् भारतीय प्रतिभाकी पराकाष्ठा है, भारतमाताका प्रशंसनीय सौन्दर्य है तथा जीवनके प्रत्येक पक्षमें समरसका प्रवाह करनेवाली और अलिप्तता प्रदान करनेवाली है। भूमण्डलके इतिहासमें इसके समान जीवकाका आदर्श और वास्तविकता प्रदान करनेवाला कोई और ग्रन्थ नहीं है। यह अनन्त शक्तिका भण्डार तथा उसका अनादि अनन्त स्रोत रहा है और उसी शक्तिने पुनः-पुनः जाग्रत् होकर 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्धि अधिकार है' इस लक्ष्यके लिए अगणित वीरोंको बलिवेदी पर चढ़ाया है। हमारे मन्त्रद्रष्टा और गीताद्रष्टाओंने देशके सर्वांगीण अभ्युदय, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विकास, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक उत्थान तथा दिन-प्रतिदिन सुखद जीवनयात्राके लिए गीतादर्शनको ही जीवनदर्शन रूपसे अपनाया है। गीताने अलेपरसका पानकर अनेकों प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें भी अलमस्त रहनेका रहस्य मुक्त-कण्ठसे उद्घोषित किया है। भारतदर्शनके प्रति जो यह कालिमा लगायी जाती है कि ये परलोकरूप स्वप्नमें ही उलझे रहते हैं, इस लोकका ख्याल ही नहीं करते उसका गीतादर्शनने अत्यन्त घोर युद्धादि प्रवृत्तियोंमें भी **'हत्वापि स इमान् लोकान्न हन्ति न निवध्यते'** एवं **'कृत्वापि न निवध्यते'** रूप सार्वभौम स्वधर्म, स्वकर्म और दर्शनका उपदेश देकर तथा **'मामनुस्मर युध्य च'** का महामन्त्र देकर मार्जन कर दिया है। अन्तमें भी उसने यही भाव पुष्ट किया है कि क्रियायोग या कर्मयोगका आश्रय लेकर फलाभिसन्धिसे रहित हो दत्तचित्तसे धर्मार्थ कर्म करो, भक्तियोगकी दृष्टिसे स्वकर्मद्वारा भगवान्का अर्चन करो, फल भगवान्के अधीन है तथा ज्ञान दृष्टिसे गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं—ऐसा देखते हुए अनासक्त रहो। यही पृथक्-पृथक् दृष्टिसे गीतोक्त अलेपवाद है। इसका अनुसरण करनेवाला विवेकी पुरुष सर्वदा मुक्त होता है। सब कुछ करनेपर भी उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती, क्योंकि उसकी बुद्धिमें श्रीकृष्ण और जनकादिके समान आत्माकी अलिप्तताका सिद्धान्त सुदृढ़ होता है—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ।।

गीता वास्तवमें किसी देशविशेष, कालविशेष या व्यक्तिविशेषके लिए नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंके लिए सार्वभौम सनातनधर्मका विश्वकोश है।

अस्तु ? इस क्रान्तिके सर्वप्रिय सेनानी तथा इसके प्राण और जीवन थे श्रीअरविन्द घोष। अँग्रेजी शासकोंने उन्हें जेलमें बन्द कर दिया। परन्तु वे कहते थे कि यह कारागार नहीं, श्रीकृष्ण की जन्मभूमि है। मैं वीरवर श्रीकृष्णकी झाँकी कर रहा हूँ। उनके मुखसे यह गीताका उपदेश हो रहा है—**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।**' कैसी विचित्रता है उस मुखाम्बुजकी, जिसके कारण वे वीररसमें भी समरस हैं तथा प्रलय-कालीन विस्फोट-जैसी युद्धकी ज्वालामें भी दावानलविहारी जान पड़ते हैं। अहो ! जब श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णहृदय हमारे साथ हैं तब चिन्ता किस बात की ? क्योंकि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

क्रान्तिसंग्रामसे निवृत्ति

भारतीय इतिहाससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि समय-समयपर यहाँ ऐसे पूर्ण सन्त हुए हैं जिन्होंने राज्यादि लौकिक व्यवहार के सञ्चालनमें हाथ बँटाया है। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने राज्य-स्थापन, राज्य-सञ्चालन तथा राजा-प्रजाका परिपालन भी किया है। वे समष्टिरूपसे दैनिक, दैविक और भौतिक तापोंका निराकरण करते थे, फिर व्यष्टि रूपसे तो कहना ही क्या है ? जब महान् विपत्ति पड़ती थी तो प्रजा उन त्रिकालदर्शी सन्तोंकी शरण अवश्य लेती थी। युद्धकालमें ऐसी भी परिस्थिति आ जाती है जब युद्धरत वीर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। उस रुकावटको हटाने और समस्याका समाधान पानेके लिए सन्तशरण ही एकमात्र अमृत सञ्जीवनी सिद्ध होती है। इस परम्परा और हृदय-निहित श्रद्धा-विश्वासके साथ क्रान्तिकारी देशसेवकोंने त्रिकालदर्शी सर्वसमर्थ सिद्धयोगीको खोजनेका प्रयत्न आरम्भ किया। तुरन्त खोजने की आवश्यकता इसलिये पड़ी क्योंकि क्रान्तिकारी युवकोंको सामूहिक-

रूपसे फाँसी दी जा रही थी इन निर्मम हत्याओंको देखकर आप और अन्य तीन नेताओंको यह कार्य सोंपा गया कि किन्हीं सिद्ध सन्तको खोजो और इस विषयमें उनकी सम्मति मालूम करो।

आप लोगोंको खोजनेपर मालूम हुआ कि जिला धुवड़ीमें ब्रह्मपुत्रके तटपर एक त्रिकालज्ञ सिद्ध सन्त रहते हैं। वे बीस वर्षसे एक गुफामें ही रहते हैं, उससे बाहर कभी नहीं निकलते। इतने दिनोंसे उन्होंने कभी सूर्यका दर्शन भी नहीं किया। वे धूनीकी भस्म में लेटते हैं, केवल दुग्धपान करते हैं और मौन रहते हैं। इन चारोंने वहाँ जाकर उनके पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा, जिसमें अपने आनेका मुख्य कारण और समस्याके समाधानके लिये प्रार्थना करते हुए मिलनेके समयकी स्वीकृति माँगी थी। उन दयालु योगिराजने इन्हें मिलनेके लिये रात्रिका समय दिया। निश्चित समयपर मिलन और दर्शन हुआ। उन्होंने कहा, 'बंगभंग तो जल्दी ही समाप्त हो जायगा, परन्तु अंग्रेजोंको भारतसे जानेमें अभी कुछ देरी है। इस कार्यके लिए अभी बहुत वीरोंका बलिदान होगा। इसलिये बहुत सावधानी और सतर्कतासे काम करना और लेना। मेरी अपनी निजी सम्मति यह है कि रक्तमयी क्रान्ति बन्द करके अनन्त-शक्तिभण्डार कालीकी उपासना करो और उन्हींको जगाओ। सशक्त होकर बलवान् शत्रुसे लड़ोगे तभी काम बनेगा, बिना शक्तिके कुछ नहीं होगा।''

आपको उन योगिराजकी सम्मति बहुत ठीक लगी। आपको तो स्वानुभवसे भी श्रीजगदम्बाकी शरणागति और प्रार्थना प्रिय थी। आपने सबसे कहा कि श्रीदुर्गासप्तशतीका प्रत्येक मन्त्र ब्रह्मास्त्रके समान है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको भेदकर राज्य दे सकती है, और ले सकती है, जीवन दे सकती है और ले सकती है। जो दुर्गा की आराधना करते हैं उनके शत्रुओंका संहार होता है और सारा समाज हाथ जोड़े जुहार करता रहता है। श्रीदुर्गाकी महिमाका बखान करने में भला कौन समर्थ है ?

आपके इसप्रकार कहनेपर सबने निश्चय किया कि **'श्वेतवर्ण अंग्रेज स्वाहा'** इस संकल्पके साथ अनुष्ठान किया जाय और आहुतियाँ दी जायँ। आपको भारतकी मुक्तिके साथ सदा ही सहानुभूति रही है। किस-किस प्रकार सहयोग दिया—यह बात आगे स्पष्ट होगी। शाक्तसमाजसे ही नहीं, वैष्णवोंसे भी आप यही कहते रहे हैं कि आप लोग सशक्त क्रान्तिके लिए प्रार्थना करो। देखो, एक वैष्णव सन्तने द्वारकाधीशजीके पट बन्द रहनेपर किस प्रकार सशक्त शब्दोंमें कहा था—

**ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे ।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥**[1]

शक्तिमें यह सामर्थ्य है कि वह अखिलब्रह्माण्डनायकको भी नचा सकती है । सख्य, वात्सल्य और मधुर भावोंमें भी शक्ति छिपी रहती है । परन्तु पहलेसे ही इन भावोंमें जाना ठीक नहीं । जो स्वयं अशक्त है वह लालाकी क्या रक्षा करेगा ?



१. तुम ऐश्वर्यके मदमें मतवाले हो रहे हो, इसीसे मेरा तिरस्कार करके पदकी ओटमें छिपे बैठे हो । जब बौद्धोंकी प्रबलता होगी तब तो मेरे ही अधीन तुम्हारी स्थिति होगी । [अर्थात् मैं शास्त्रार्थमें उन्हें परास्त करूँगा तभी तुम्हारी उपासना चालू रह सकेगी ।]

: ५ :

परमार्थकी खोजमें

संन्यासदीक्षा

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ।।[१]

आपके जीवनपर दृष्टिपात करनेसे अबतक यह स्पष्ट विदित हो रहा है कि यह एक विहंगममार्गीका जीवन है, पिपीलिकामार्गीका नहीं। तीव्रसंवेगीकी चाल है, रस्म-रिवाजीकी अर्चना नहीं। आप प्रत्येक लक्ष्यको दृष्टिमें रखकर तन, मन और चित्त लगाकर, साधन ही लक्ष्य है—ऐसे अभिनिवेशपूर्वक पूरा ध्यान लगाकर उसमें लगे; जैसा कि आचार्य शंकरने कहा है कि जल और चन्दन अलग-अलग रहनेपर जलकी क्लेदादिजनित औपाधिक दुर्गन्ध नहीं जाती, किन्तु जब दोनोंका निघर्षण होता है तब जलकी दुर्गन्ध मिटकर चन्दन और उसकी सुगन्ध रग-रगमें मिलकर एक हो जाती है। जल अपनी द्रवताको पूर्णतया समर्पित कर देता है और चन्दन अपनी सुगन्धसहित अपनेको उसके साथ आत्मसात् कर देता है।

आपका जो विद्याध्ययन था वह काव्यतीर्थ रूपसे पुष्पित और फलित हुआ। और उसके पश्चात् आपका जो त्याग, वैराग्य एवं योगमें अभिनिवेश था उसकी पूर्त्ति इन साधनोंमें तत्पर रहते हुए सिद्ध योगीकी खोजमें तथा अन्तमें उसकी प्राप्तिमें हुई। अबतकका जीवन अधिकतर माँ श्रीवनदुर्गाके जगानेमें व्यतीत हुआ। जगानेमें क्या व्यतीत हुआ, सर्वथा तन्मय होकर रह गया—वही होकर जग गया। अतः आर्त्तत्राण-रूप बालसूर्य काव्यतीर्थरूप विद्यारश्मियोंको बिखेरते अपने जीवनाकाश-की त्याग-वैराग्यमयी वीथियोंमें विचरते तथा धर्म, कर्म और आराधना-

---

१. जिन्होंने अपने आकाशतुल्य (निर्विशेष) ज्ञानद्वारा आकाशतुल्य विषयोंको ज्ञेय ब्रह्मके साथ अभिन्नरूपसे जाना है उन नरश्रेष्ठ गुरुदेवकी मैं वन्दना करता हूँ।

रूप प्रकाशमें जगमागते श्रीवासुदेवस्वरूप नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर यौवन-मध्याह्नमें प्राप्त हुए। उन्होंने अपने जप-तप-ध्यानरूप प्रचण्ड तापसे तपाते हुए तथा अपनी ब्रह्मचर्य-महिमासे जगमगाते हुए अपने प्रकाशसे संसारको चकाचौंध कर दिया। केवल इतना ही नहीं, आपकी पुकारसे अमृतवर्षिणी सर्वशक्तिमयी माँ जग गयीं और बुद्धिप्रदायिनी गायत्री जीवनमें खिल उठी। आपने यह दिखला दिया कि यह सूर्य केवल भूताकाशस्थानीय जीवनमें ही नहीं, अपितु अव्याहतगतिप्रधान चित्ताकाशमें भी देदीप्यमान हो रहा है। जैसे सूर्य मध्याह्नकी यात्रा करके अस्ताचलमें अरुणिम होकर उपशय होता है वैसे ही यह प्रचण्ड सूर्य भी पुराणपुरुष परमशिवको खोजते और अपने व्यक्तित्वको उनमें उपशय करते हुए अस्ताचलकी ओर जा रहे हैं। अब वे इस अरुणिम वर्णप्रधान संन्यासाश्रमको ग्रहणकर पूर्णतया संन्यास-धर्मको अपनायेंगे और पूर्णनिवृत्तिप्रधान पूर्णानन्दतीर्थ होकर निर्विकल्प समाधिमें उपशमित होंगे।

इसके पश्चात् वे अपनी आनन्ददायिनी किरणोंको समस्त जगत्पर प्रसारित करते हुए सर्वानन्दप्रदायी होकर आनन्दयात्रा करेंगे। जैसे गंगाजीमें जो धारा मिलती है वह अपने नाम-रूपको खोकर मिल ही जाती है, फिर उसका गंगासे अलगाव नहीं होता वैसे ही जन्मसे अबतक धर्म, कर्म, साधन, साध्य, भक्ति और योग सभी इनमें समर्पित हुए हैं। जैसे सर्वतोर्थमयी गंगा हैं, सर्वशास्त्रमयी गीता हैं और सर्वदेवमय हरि हैं वैसे ही आप सर्वतीर्थमय, सर्वदेवमय और सर्वसाधनसाध्यमय श्रीपूर्णानन्दतीर्थ हैं। आपका यह निश्चय था कि **'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'**—जिनका चित्त विकारके कारणोंके रहते हुए भी विकृत नहीं होता वे ही धीर हैं। यह धीर-वीररस आपमें पूरा-पूरा उतरकर पूर्णानन्दतीर्थ होनेतक पूर्णतया विद्यमान था। पूर्णशक्तिमयी माँ स्वयं अनन्त-शक्ति लेकर आपके हृदयमें विद्यमान थीं। तथापि आपने जनकल्याणार्थ अपनी शक्तिका प्रयोग नहीं किया। इस प्रकार प्रयोगमें न लानेके कारण आपकी प्रेमसम्पत्ति शशिकलाकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। अबतक आपने श्रद्धा-विश्वासरूप अर्धनारीश्वरको स्वयं अर्धनारीश्वर होकर आत्मसमर्पण किया और इस प्रकार अर्धनारीश्वररूपसे जगमगाये। अब आपको पूर्ण परमशिवकी खोज करनी है, उनको जीवनमें जाग्रत् करना है और उन्हींके प्रेममें तन्मय होना है। पूर्णत्वके दो पक्ष हैं—प्रकृति और पुरुष। आपका जीवन

वास्तवमें इन दोनों पक्षोंका अर्थात् अर्धनारीश्वरतत्त्वका मूर्तिमान् स्वरूप है। आप पूर्णतया अपनी महिमामें स्थित हैं, अनन्त सौन्दर्य वैभवके आगार हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें आर्त्तत्राण मानवजीवन श्रीवासुदेवस्वरूप देव-मानुषरूपमें पुष्पित हुआ। अब श्रीपूर्णानन्दतीर्थरूप परमशिव रूपमें फलित होगा।

श्रीमहाराजजी अब दीक्षागुरुके स्थान श्रीगोवर्धनमठमें लौट आये। ज्योतिषियोंने उन्हें अल्पायु बताया था। अतः सन्देह था कि न जाने कब शरीर छूट जाय। इसका कोई भरोसा नहीं। शास्त्रने ब्राह्मणके लिए संन्यासग्रहण दूसरा जन्म बताया है। अतः अब उन्होंने संन्यास लेनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। यह अन्तिम आश्रम है और साधकको उसकी चरम-अवस्था एवं चरमस्वरूपतक ले जानेवाला है। इस सुनिश्चित विचारसे आप गुरुदेवके समीप आये और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजी आपको अपने चरणोंकी सन्निधिमें देकर प्रसन्न हुए। उनकी पैनी दृष्टि अपने उत्तराधिकारीकी खोजमें संलग्न थी। आपपर दृष्टि पड़ते ही आपके समग्रजीवन और रहन-सहन-पर विचार करके आपका अपने उत्तराधिकारीकी दृष्टिसे निरीक्षण करने लगे। उन्होंने सोचा नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो ऐसा ही आदर्श पुरुष होना चाहिए। ये तो केवल नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही नहीं ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी होते जा रहे हैं। ये सौन्दर्य-रत्नाकर होकर देदीप्यमान हो रहे हैं, रसराज होकर लहरा रहे हैं। तपोलक्ष्मी इनके सर्वांग में व्याप्त होकर जाज्वल्यमान हो रही है। तथा सौभाग्यलक्ष्मी ललाटपर ब्रह्मज्योति होकर जगमगा रही है। इनके जीवनमें जप, ध्यान, शील, स्वाध्याय आदि सभी सद्गुण पूर्णतया विकसित हुए हैं। इनका कुल भी अत्यन्त उत्कृष्ट और सम्मानित है। इनपर माँ श्रीजगदम्बाकी पूर्णकृपा है। उनकी अहैतुकी भक्ति इनके हृदयमें उल्लसित हो रही है। ये सब प्रकार आचार्यपीठका भार वहन करनेमें समर्थ हैं।

आपको आये देखकर आचार्यचरण बड़े ही प्रफुल्लित हुए। उन्हें प्रसन्न मुद्रामें देखकर आपने अपना संन्यासका संकल्प श्रीचरणोंमें निवेदन किया। कहने लगे, "महाराजजी ! ज्योतिषने कहा था कि तुम्हारी आयु अल्प है। पता नहीं, मृत्यु कब दबा ले। यह ब्राह्मणशरीर क्षुद्र कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए नहीं मिला है। यह मोक्षका द्वार है। इसकी

शोभा संन्यासग्रहणमें ही जान पड़ती है। यति आश्रम द्वितीय जन्मके समान माना गया है। यही मोक्षका प्रधान साधन भी है। कमसे-कम ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाला तो है ही। जैसे आपके करकमलोंसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर आपकी महती अनुकम्पासे जप, तप ध्यान आदि आश्रमकर्म ठीक-ठीक सम्पन्न हुए वैसे ही अब आपके ही करकमलोंसे संन्यासदीक्षा भी सम्पन्न हो जाय—ऐसी अभिलाषा है। इससे बढ़कर कोई और प्रसन्नताकी बात क्या होगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके आशीर्वादसे इस चरम आश्रममें मुझे चरम अवस्था और चरम स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होगी। आनुषङ्गिक रूपसे यह ज्योतिषीकी भविष्यवाणीकी बला भी टल जायगी। बस, आपकी कृपासे मेरा चित्त हल्का हो जायगा। कृपया यह प्रार्थना स्वीकार करें।"

श्रीजगद्गुरुजी तो तैयार ही बैठे थे। उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। आपके आनन्दका ठिकाना न रहा। इस समय आपकी बत्तीस वर्षकी आयु थी। त्याग और ग्रहणकी एक शास्त्रीय विधि होती है। कार्त्तिकी पूर्णिमाको संन्यास होना निश्चित हुआ। अतः देवोत्थानी एकादशीसे विधि-विधान आरम्भ हो गया। मुण्डन कर्म या तो यज्ञोपवीतके समय हुआ था या आज हुआ। आपकी जटाएँ बढ़कर घुटनोंको पार कर चुकी थीं। वे अबतक आपके धर्म, आचार-विचार एवं आराधनाकी अनवरत संगिनी थीं, भक्तिभावकी साक्षिणी थीं और पवित्र तीर्थोंसे अभिषिक्त थीं। आज उन्हें विदा दी जा रही थी। उनके साथ उस जीवनकी आराध्यदेवी गायत्री भी विदा हो रही थी। यही नहीं, समस्त कर्मकाण्ड ही विदा हो रहा है, क्योंकि आपका यह सुनिश्चित विचार था कि निष्काम कर्म नामसे कर्म-विधियोंमें विहार करना कर्मवासनाओंको पालना ही है। इनके अशेष त्यागसे ही कर्मका बीज नाश होगा और नैष्कर्म्यसिद्धिकी भूमि तैयार होगी। अतः इस मुण्डन रूपसे मानो ज्ञान-कर्मसमुच्चयका खण्डन ही हो रहा था। अब धूनीकी जगह ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होगी और वह परम त्याग-वैराग्यरूप घृताहुतियोंसे जाज्वल्यमान होगी। आप वास्तवमें निर्बलके बल राम हैं। दीनोंके लिए दीनवत्सल हैं और सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान करनेवाले हैं। इस प्रच्छन्न अनन्त शक्तिभण्डारको प्रकट करनेके लिए और इस अनन्त औदार्य मूर्त्तिको निरावरण करनेके लिये हृदयस्था श्रीजगदम्बाने आपको संन्यासव्रतमें स्वीकार कर लिया। त्रिशूल छिन गया, धूनी हट गयी, महाशक्ति महामायाका प्रतीक लाल टीका और

कन्द वस्त्र उतर गया, क्योंकि आलम्बनाश्रित शरणागतिसे निरालम्ब निराश्रित अभय पदकी महिमाको प्रत्यक्ष प्रमाणित करनेके लिए संन्यास होता है। सर्वको सर्वत्यागाग्निमें होमकर सच्ची भस्म धारणकर कर्मी और उपासकोंकी दृष्टिमें अशिव वेश होनेपर भी जो महान् शिवस्वरूप कृपामय महादेव हैं उन्हींका प्रतीक यह संन्यास है।

आपका संन्यास बत्तीस वर्षकी आयुमें सं० १९६४ वि० में हुआ। आपका योगपट्ट हुआ दण्डिस्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। संन्यास लेकर आप बहुत प्रसन्न हुए। आज यह सुदिन—यह सुघड़ी जीवनमें आगयी। मानो आपके धर्म, कर्म, आचार और उपासना सभी सफल हो गये। आपके संन्यासका समाचार बिजलीकी तरह फैल गया। घरवाले सुनते ही कुठारसे कटे हुए वृक्षके समान विह्वल हो गये। फिर कुछ सावधान होनेपर श्रीजगद्गुरु भगवान्के पास आये और अपने आँखोंके तारे प्यारे आर्त्तत्राणको मूर्त्तिमान् अग्निके समान काषाय वस्त्रोंमें देखा। देखकर दुःखका पारावार न रहा। फिर सावधान होकर जगद्गुरुसे कहा, "महाराज ! यह तो बालक है, इससे क्या कहें। आप तो हमारे सब प्रकार शुभचिन्तक हैं। आप संन्यास न लेने देते।" पिताजी बोले, "यह हमारा ज्येष्ठ पुत्र है, हमें ब्रह्मचर्यदीक्षासे यह सन्तोष था कि इसके द्वारा हमारा और्ध्वदैहिक कर्म होगा, जिससे हमारी सद्गति होगी। इस आशापर अब पानी फिर गया। हमारे वंशमें यह ताम्रपत्रोंपर लिखा हुआ है कि इस कुलमें कोई पुरुष संन्यास न ले। यह सब हमारी वंशपरम्पराके विपरीत ही हुआ है।"

जगद्गुरुजी गम्भीरतासे सुनते रहे, क्योंकि वे जानते थे कि इन्हें दुःख होना स्वाभाविक है। फिर उनसे कहा, "आप लोग विचार करें। अब आपका पुत्र समर्थ है और वह अपने विषयमें स्वयं निर्णय कर सकता है। अब यह अपक्वबुद्धि नहीं है, अपितु विशुद्धबुद्धि है और निर्मल स्वभाववाला है। जब संन्यासके लिए इसकी प्रबल उत्कण्ठा देखी तब आप लोगोंके हितके लिए ही मैंने स्वीकार कर लिया। यदि मैं संन्यास न देता तो यह अन्यत्र लेता। फिर मेरे पास आता भी नहीं। मैंने संन्यास दिया है तो अब अवश्य यहीं रहेगा। इससे आप लोगोंके नेत्र और हृदय भी शीतल होते रहेंगे। यही नहीं, आप लोग सुनकर प्रसन्न होंगे कि मैंने इसे अपने उत्तराधिकारी रूपसे निश्चय किया है। यति आश्रमकी स्वीकृति तो ब्राह्मणके लिए दूसरा जन्म मानी गयी है। अतः इसकी अल्पायुके

विषयमें जो भविष्यवाणी थी उसकी भी संन्यासग्रहणसे निवृत्ति हो जाती है। मूल बना रहना चाहिए, ब्याज भले ही चला जाय। कर्मकाण्डका सम्बन्ध भले ही छूट गया तथापि आपका पुत्र तो सकुशल और चिरञ्जीवी रहेगा। इस प्रकार आप लोगोंसे इसका विछोह भी नहीं होगा। रही आपकी सद्‌गतिकी बात, सो और्ध्वदैहिक कर्म भले ही न करे इसके तो संन्यास लेनेसे ही इनकी आगे-पीछेकी इक्कीस-इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार हो गया। अतः आपलोग निश्चित रहें, मोहवश अधीर न हो।"

इस प्रकार समझानेपर उनका दुःख कुछ शान्त हुआ। फिर हृदयपर पत्थर रखकर तथा भविष्यके लिए आशा और आश्वासन लेकर वे घर लौट आये।

स्वदेश-त्याग

उन सबके चले जानेपर आचार्यचरणने आपसे कहा, "तुम भगवान् शंकराचार्यकृत प्रस्थानत्रय और प्रकरणग्रन्थोंका अध्ययन करो। दर्शन-शास्त्रोंमें पारंगत हो जाओ। इस आचार्यपीठको पूर्णयता तुम्हें ही सँभालना होगा।" भावी शंकराचार्य समझकर मठमें भी आपके प्रति लोगोंका व्यवहार बहुत आदर-सत्कारके साथ होने लगा। तब आप गुरुदेवको प्रणामकर एकान्तमें जा स्वस्थ चित्तसे विचार करने लगे। चित्त असमञ्जसमें पड़ गया। एक ओर तो वैभव प्रतिष्ठा और विषयादिसे आपका उत्कट वैराग्य था और दूसरी ओर श्रीगुरुदेवकी आज्ञा। अन्ततोगत्वा आपने यह निश्चय किया कि जो त्यागका धनी, सच्चा सत्यान्वेषी और सत्य-समुद्रमें छलाँग मारनेवाला साहसी वैराग्य-वीर होगा वह प्रवृत्तिसम्बन्धी आज्ञाका पालन करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, प्रलोभनोंका शिकार नहीं हो सकता। यह आचार्य-सिंहासन और गद्दी तो चक्रवर्तियोंके चक्रवर्ती सार्वभौम आचार्यकी गद्दी है। यहाँ पूजा-प्रतिष्ठाकी पराकाष्ठा है। यह अनन्त श्री और कीर्त्तिका मानसरोवर है। देखनेमें तो धर्मसम्राट्‌का जीवन है, किन्तु वास्तवमें यह काँटोंका ताज है। झूठे अभिमानका जनक और पोषक है। यही नहीं, यहाँ संन्यास लेनेपर भी घरका सम्बन्ध नहीं छूटता। यहाँ रहनेसे अहन्ता-ममता भी सिर उठायेंगी, चिन्ता-सर्पिणी घर बना लेगी, इस नवजात सुकोमल संन्यास-जीवनको मोह-ममतारूपी बकरियाँ चर जायेंगी और आगेकी आशा-लता भी यहीं मर जायगी। अतः इस माया-मोहको तथा इस मीठे आपात रमणीय प्रलोभनको मटियामेट करनेका एकमात्र उपाय

है स्वदेशत्याग। अरी माया-ठगिनी ! मैं जानता हूँ तेरे कुटिल कटाक्ष, तेरी आँखोंमें विष है, तेरी दृष्टि पड़ी कि जन्म-जन्मान्तरके लिए मृत्युपाश तैयार हुआ। तू दृष्टिपात करने योग्य नहीं, तीसरे नेत्रसे भस्म कर देनेयोग्य है। **'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।'** (अरी कामना ! मैं तेरी जड़को जानता हूँ, तू संकल्प ही से तो उत्पन्न होती है।)

इस प्रकार आपने वैराग्य-चक्रसे कामका मूलच्छेदन कर दिया। पाशुपतास्त्रसे इन मनोमोहक प्रलोभनोंका सिर काट दिया और मोह पाशको छिन्न-भिन्न कर दिया। घर और गोवर्धन मठके वैभवको सर्वदाके लिए त्यागनेका निश्चय कर लिया और वास्तविक संन्यासकी सरस माधुरीका पानकर संन्यास-सौन्दर्यलहरीकी सारभूता आनन्दलहरी हो जानेका संकल्प कर लिया। अब आपके चित्ताकाशमें ज्ञान-विज्ञानकी रसधारा उमड़ने लगी। और यह सोचकर कि **'ज्ञातचरदेशं चाण्डाल-वाटिकावत्त्यजेत्'**—परिचित देशको चाण्डालकी वाटिकाके समान त्याग दे, मठमें दो मास ठहरकर गुरुदेवसे काशी जानेकी आज्ञा ले उन्हें प्रणाम करके चल दिये। जिस प्रकार बालसूर्य उदयाचलसे गेरुआ परिधान धारण करके निकलते हैं उसी प्रकार ये नवीन संन्यासी स्वतन्त्रताके चमचमाते हुए प्रकाशमें जाज्वल्यमान हो त्यागाग्निकी उष्ण रश्मियोंको दशों दिशाओंमें बिखेरते वहाँसे चल दिये।

वहाँसे चलनेपर सबसे पहले अपने दण्ड-कमण्डलुको, जो धर्मध्वजा होकर जन्म, कर्म और संन्यासके अभिमानको पुष्ट करते हैं, समुद्रकी भेंट कर दिया। संन्यास तो **'येन त्यजसि तत्त्यज'**[1] रूप सर्वत्यागकी शैली, शील और जीवन है। उसका श्रीगणेश आपने दण्ड-कमण्डलुके त्यागद्वारा किया। 'जब सभी त्याग दिया तो इन्हें भी क्या रखना'—इस दृष्टिसे जो शेष कर्मचिह्न थे उन्हें भी समाप्त कर दिया। बस, आपने अपने जीवन-मन्दिरमें अपने हृदयको प्रिय यह सिद्धान्त और शैली स्थापित की—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तोऽनपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।।[2]

इस प्रकार आप वास्तव में करपात्री और उदरपात्री हो गये।

---

१. जिस त्यागाभिमानके द्वारा सब कुछ त्यागा है उसे भी त्याग दो।

२. जो ज्ञाननिष्ठ विरक्त हो अथवा मेरा निष्काम भक्त हो वह चिन्होंके सहित सब आश्रमोंको त्यागकर शास्त्रविधिके अधीन न रहकर स्वतन्त्र विचरे।

पुरीसे आप रानीगंज आये। वहाँ आपने अपने साधनक्रमका निश्चय किया। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो आप स्वयं ही अपने गुरु और जीवननिर्माता रहे हैं। आपका महान् जीवन तो आत्मकृपा का ही जीवन है। जबसे श्रीरामेश्वरधाममें आपको भगवान् शंकरका दर्शन हुआ तबसे आपको उस रूपमें ऐसा आकर्षण हुआ कि आपने उसीका ध्यान करनेका निश्चय कर लिया। पञ्चाक्षर मन्त्र जप करते हुए पशुपति भगवान् शंकरका निरन्तर चिन्तन करना—यही आपका कार्यक्रम बना। परन्तु शंकरजीमें आपका सीमित भाव नहीं था। आपके शिव सर्वाननशिरोग्रीव सर्वभूतगुहाशय और सर्वव्यापी थे। अतः आपके शिवार्चनकी पद्धति थी—

'सर्वेष्टानिष्टभावनामिष्टत्वेनैव भावनम्।
नीरागद्वेषता चित्ते या सैव शिवपूजनम्॥'[1]

भगवान् शिवकी भक्ति मोक्ष और विद्या प्रदान करनेवाली है। इससे शीघ्र ही लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। माँ शक्ति तो पहले ही आपके जीवनमें अवतरित हो चुकी थीं। शिवोपासनासे मानो सोनेमें सुगन्ध हो गयी। ये अर्धनारीश्वर इस जीवन-नैयाका कैसे सञ्चालन करेंगे—यह आगे देखना है।

रानीगंज तथा वैद्यनाथधाम में

रानीगंजमें आपको एक सौम्य, शान्त और विवेकी ब्रह्मचारी मिले। उन दिनों आपका विचार था कि सबकी सुनना और अपनी किसीसे न कहना, क्योंकि भगवान्‌ने कान दो दिये हैं और मुख एक। इससे सूचित होता है कि सुने बहुत, बोले कम।

ब्रह्मचारीजीने आपसे पूछा कि तुमने संन्यास क्यों ले लिया, संन्यास-धर्म निभाना तो बहुत कठिन है। तुम्हारी आयु देखते हुए तो चित्तमें शंका होती है कि तुम किस प्रकार इस कठोर धर्मका पालन कर सकोगे। संन्यासीको तो वेदान्तके अध्ययन और अनुशीलनमें ही अपना समय बिताना चाहिए। विना वेदान्तविचार किये संन्यास लेना और संन्यासाश्रममें रहना व्यर्थ है। इसमें सर्वदा धर्मच्युत होनेकी आशंका रहती है।

---

१. जितने इष्ट अथवा अनिष्ट विषय हैं उस सबकी अपने इष्ट परमात्मस्वरूपसे ही भावना करना और चित्तमें रागद्वेष न होना—यही शिवजीका पूजन है।

उन्होंने संन्यासजीवनमें शान्तिपूर्ण, सुखद और निरापद यात्राके लिए आपको चार नियम पालन करनेके लिए कहा—

(१) किसीसे भी पैसा स्वीकार नहीं करना।

(२) किसीको भी दान-पुण्य करनेकी सलाह मत देना और न इसके लिए प्रोत्साहित करना।

(३) बृहस्पतिके समान कुलीन हो तो भी कभी एकान्न भोजन मत करना, क्योंकि अन्नसे ही मन बनता है। ऐसा न करनेसे ममताके फन्देसे बँध सकते हो। उससे छूटनेका यही उपाय है।

(४) गीता और उपनिषदोंका नित्य नियमसे स्वाध्याय करना।

इन शिक्षाप्रद उपदेशोंको स्वीकारकर आप रानीगंजसे वैद्यनाथधाम चले आये। वहाँ उन दिनों सुप्रसिद्ध सन्त श्रीबालकराम ब्रह्मचारी रहते थे। उनका शाही रहन-सहन आपके वैराग्यप्रधान चित्तको रुचिकर नहीं हुआ। आप तो सर्वदा अपने और दूसरोंके जीवनमें सरलता एवं सादगीके ही पुजारी रहे हैं। अतः वहाँ विशेष न रुककर पैदल काशी पहुँचनेके विचारसे चल पड़े। पैदल चलना तो आपका स्वभाव था और इसके लिए चित्तमें उत्साह भी बहुत था। कुछ दूर जानेपर आपको एक एकान्तवासी, भजननिष्ठ और विद्वान् सन्त मिले। वे श्रुति-स्मृतियोंमें पारंगत थे। आपके त्याग-वैराग्य और तत्परतासे वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने आपको दो बातें स्मरण रखनेकेलिए कहा—

(१) संसारी आदमीसे कभी प्रेम मत करना, क्योंकि उससे प्रेम करोगे तो उसके गुण-दोषोंका प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

(२) संसारकी मान-प्रतिष्ठा या वाह-वाहके लिए कोई काम मत करना। अर्थात् बहुमान और सम्मानसे सदा बचना। जो कुछ साधन-भजन करो उसे अत्यन्त गुप्त रखो। किसीको पता न लगे कि क्या करते हो।

आपने उनकी शिक्षा सुनकर उसे हृदयंगम किया और यथाशक्ति पालन करनेका वचन दिया। उनसे आपने काशीका मार्ग पूछा। उन्होंने कहा, "तुम रास्तेसे भटक गये हो। यहाँसे काशी बहुत दूर पड़ेगी। यदि रेलसे यात्रा करो तो अच्छा रहेगा।"

आजीवन पदयात्राकी प्रतिज्ञा

तब आप स्टेशनकी ओर चल दिये। मार्गमें एक ब्रह्मचारीजी मिल गये। उन्होंने आपको भाँग मिली हुई ठंडाई पिला दी। आपको मादक

पदार्थोंके सेवनका स्वभाव बिलकुल नहीं था, अपितु उनका विरोध करते थे। आपने काशीजीका टिकट लिया और भंगका प्रभाव पड़नेसे रेलगाड़ीमें सो गये। काशी जानेके लिए आपको एक स्थानपर गाड़ी बदलनी चाहिए थी। परन्तु नशेमें सो जानेके कारण वह स्टेशन निकल गया और छपरा पहुँच गये। वहाँ टिकटनिरीक्षकने टिकटकी जाँचकी तो काशीका टिकट देखकर वह एकदम आग-बबूला हो गया। बोला, "क्या तुम्हें इतना भी पता नहीं है कि यह काशीका मार्ग नहीं है। चले आये, साधु कहीं के !" इसी प्रकार अनाप-शनाप बहुत कुछ कहा। पता नहीं, हृदयस्थ शंकर आपके जीवनको क्या मोड़ देना चाहते थे जो यह भंगकी लीला कर बैठे। उस टिकट निरीक्षककी डाँट-डपटका परिणाम यह हुआ है कि आपने आजीवन पदयात्राका संकल्प कर लिया। आप छपरामें उतरकर गंगातटपर आये और हाथमें जल लेकर प्रतिज्ञा की कि अब आजीवन किसी प्रकारकी सवारीमें नहीं बैठूँगा।

भगवान् शंकरने अपने इस लीलाक्षेत्रमें महती लीला करनेके लिए इस प्रकार इन पूर्णेश्वर महादेवको जगा दिया। यह घटना आपको एक नवीन जीवन देनेवाली हो गयी। टिकट-निरीक्षककी डाँट-फटकार क्या थी मानो वह इस नवीन जीवनकी प्रसव-वेदना थी। इसने आपके जीवनको परम स्वतन्त्रतापूर्वक परम त्याग, परम वैराग्य और परम अनुसन्धानकी दिशामें मोड़ दिया। पता नहीं, कौन निमित्त ज्वालामुखीके विस्फोटका कारण होता है, कौन भूकम्प पैदा कर देता है और सम्पूर्ण भूमण्डलको कम्पायमान कर देता है तथा समुद्रकी मर्यादाको भंग कर देता है। इन सब क्रान्तियोंके मूलमें किसी भी निमित्तकी कल्पना की जाय तो उसमें वास्तविक कारण तो विश्वसंचालक श्रीभगवान्की इच्छा ही है। उसीके कारण कभी-कभी छोटी-से-छोटी घटना भी महती क्रान्तिका कारण बन जाती है। एक मुर्देके दर्शनमात्रने सुकुमार राजकुमार सिद्धार्थके जीवन में क्रान्ति करके उन्हें सत्यकी खोज, तप और अविनाशी जीवनकी प्राप्तिके लिए बेचैन करके अन्तमें भगवान् बुद्ध ही बना दिया। भोजन मिलनेमें कुछ विलम्ब हुआ—केवल इतनी ही घटनाने युवक सदाशिवेन्द्रको परम सिद्ध एवं योगी सदाशिवेन्द्र सरस्वती बना दिया। विवाहकी वेदीपर पुरोहितके 'सावधान' शब्दने ही बालक गंगाधरको समर्थ गुरु रामदास बना दिया। और पत्नीकी सामान्य कटूक्तिकी कृपासे ही कामी रामबोला जगद्वन्द्य गोस्वामी तुलसीदास हो गये।

सच्ची बात तो यह है कि महापुरुषोंका स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। कोई छोटी-सी घटना ही उनकी सुप्त शक्तिको जाग्रत् कर देती है। एक दृष्टि या हलचल पैदा करनेवाला एक शब्द ही उनके भूले हुए स्वरूपको हनुमान्‌जीकी भाँति स्मरण कराकर अपने वास्तविक गौरवपर प्रतिष्ठत कर देता है। और फिर उनकी अमर जीवनगाथा स्वर्णाक्षरोंमें लिखी जाती है।

इसी प्रकार यहाँ रेलकर्मचारीके कुछ शब्दोंने आपके सुदृढ़ संकल्प और शक्तिको जाग्रत् कर दिया। आपने दृढ़व्रती होकर आजीवन पैदल यात्रा करनेके लिए कमर कस ली। **'सन्त सुखी विचरन्त मही'** यही सन्तोंकी शैली है। यही अब आपके जीवनमें अवतीर्ण हुई। आप वैराग्य-रसिकशेखर होकर, करपात्री और उदरपात्री होकर तीर्थोंका जलपान करते, वृक्षच्छायामें विश्राम करते, यथाप्राप्त कन्द-मूल-फलका आहार करते और भूमाताकी गोदमें शयन करते साक्षात् शंकरके समान ध्यानमें अलमस्त कभी बैठते और कभी चलते जारहे हैं। इस पदयात्रासे आपको घोर एकान्तसेवनका सुअवसर मिला। एकान्तके शून्यमें ही अलौकिक देववाणियोंका श्रवण होता है और एकान्त ही अन्तरंगमें साक्षीरूपसे स्थित अपने अन्तरात्माका दर्शन कराता है। अब देखो, जगदम्बा माँ और जगत्पिता शंकर क्या लीला करेंगे इन्हें जीवनमें पूर्ण रसिकशेखर बनानेमें।

परमशिवकी खोज

श्रीमहाराजजीके जीवनमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्तःस्थित अन्तरात्मा ही आपके गुरु हैं। उस अन्तरात्माकी अन्तःप्रेरणा ही आपके जीवनको सञ्चालित कर रही है। वही त्रिपुरासुन्दरी है। वह अपना रहस्य अपने प्रिय पुत्र श्रीपूर्णानन्दको माध्यम बनाकर प्रकट करना चाहती है। अपने सीमित नाम-रूपमें ही इनका प्रेम सर्मपित होना उसे अभीष्ट नहीं है। अपितु अपने अद्वितीय, अखण्ड, एकरस, पूर्ण स्वरूपमें ही श्रीपूर्णानन्दको पूर्ण प्रेम प्रदान करना चाहती है। उसीके लिए उनके हृदयमें वह जिज्ञासाकी ज्वाला जगाती है। उस ज्वालामुखीने स्वयं इनके हृदयमें परम शिवके तत्त्वकी खोजरूप अग्नितण्डवकी लीला आरम्भ कर दी। यही गीताप्रतिपादित बुद्धियोग है। यही विशुद्ध बुद्धि अन्तर्निहित वास्तविक उद्गार हैं। यही विशुद्ध धर्म-कर्म एवं भक्तिका परिपाक तथा अवसान है।

आपने अपने हृदय एवं मस्तिष्कके प्रवाह तथा जीवनयात्राकी दिशाका वर्णन करते हुए कहा था कि इन्द्रियोंसे वैराग्य होने पर भाव होता है और भावसे वैराग्य होनेपर ज्ञान होता है। जबतक संसारसे, इन्द्रियोंसे और भावसे वैराग्य नहीं होता तब तक कोई जिज्ञासु नहीं हो सकता। इन्द्रियों से वैराग्य की बात तो आपके विषयमें कहनी ही क्या है, भाव-साम्राज्यमें स्वयं भावरसमूर्त्ति होकर विचरते हुए भी आपके चित्त में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या सारा सत्य यही है ? ऐसा तो नहीं जचता। यह सारा जगदाडम्बर क्या है ? तथा इसका रचयिता कौन है ? आपने निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर सारी सृष्टिको खोज-खोज कर उसे जिज्ञासाग्निसे तपा-तपाकर निरीक्षण किया कि असली निर्भयपद क्या है। जैसे गङ्गाजीकी तीव्र धारा अपने तटों को काटती जाती है उसी प्रकार आपकी वास्तविकता की खोजकी धारा श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और नाम-रूपके तटोंको काटती जा रही थी और सगुण-साकार सार्वभौम सत्ताका शरणागतिप्रधान जीवन टूटता जा रहा था। अबतक आपके जीवनमें जो **'शरणागतदीनार्त आर्त्तत्राण परायणे। नमस्ते त्वम्बिके देवि'**[1] रूप जीवन संगीत था वह बदलकर अब परमपुरुषके अनुसंधानप्रधान घन-घोर रौद्र गीतमें परिणत हो गया था। यह जान-बूझकर प्रमादजनित त्याग नहीं था, अपितु परमशिवकी खोजका आनुषङ्गित लक्षण था। सर्वतोभावेन टूट पड़ना, छलाँग मारना और स्वयं मरकर वही होकर जीना —यह आपका जन्मसिद्ध स्वभाव रहा है। जबतक लक्ष्य प्राप्त न हो, रुकने का नाम न लो—यही आपका जीवनसङ्गीत था।

इस बेचैनी और व्याकुलताको लिये आप छपरासे काशीकी ओर चल दिये तथा गाजीपुर पहुँचे। यहाँसे आप गङ्गातट पर विचरने लगे, जो सदासे परमहंस विरक्त महात्माओंका विचरणक्षेत्र और निवासस्थान रहा है। सर्वतीर्थमयी श्रीगङ्गाजी वैराग्यरसमय लावण्यमें झिलमिलाते हुए मानो अपने प्रियतमकी खोजमें बेचैन हैं। उन्हें विश्राम नहीं है। वह मानो घनघोर शब्दके साथ पूछताछ करते हुए, न मिलने की बेचैनी में इधर-उधर भटकते हुए और मार्गमें आनेवाली प्रत्येक वस्तु को डुबाते हुए सारी सृष्टिको मानो उछाल-उछालकर तोड़-फोड़कर ढूँढ़ रही हैं कि कहीं

---

१. हे शरणागत दीनजनोंके प्रति सकरुण और दीनरक्षामें तत्पर अम्बिके देवि ! तुम्हें नमस्कार है।

इसमें तो छिपा हुआ नहीं है। न मिलनेपर वे उसे डुबाकर तथा इधर-उधर फेंककर बहती जारही हैं अपनी खोजमें। मधुररसमें भी मानो उनके मुखपर अपनी खोजकी उद्विग्नता छायी हुई है। बेचैनीकी तड़पसे उनका सर्वाङ्ग कम्पायमान होरहा है। उनका हृदय मानो धक्-धक् धड़क रहा है। श्रीमहाराजजी ने देखा कि जैसी दीवानी हमारी खोजकी दशा है वैसी ही गङ्गाकी भी है; चलो सजातीय सङ्गिनी मिल गयी, अब मिलकर ढूंढ़ेंगे।

आपकी इच्छा थी कि किसीसे कुछ भी माँगना नहीं है। वे कहा करते थे कि प्राण चले जायँ तब भी माँगो मत। माँगनेकी इच्छा करते ही मुखमें मलिनता आजाती है और शरीरमें नित्य निवास करनेवाले श्री, ह्री, धी, ज्ञान और गौरव ये पाँच देवता उसे छोड़कर चले जाते हैं। संसारका स्वभाव है कि वह गाय को घास खिलाकर उसका दूध दुह लेता है, इसी प्रकार वह साधुको माल खिलाकर उसका तप दुह लेगा। अतः आपने निश्चय किया कि किसीसे कुछ नहीं माँगेंगे, अयाचित वृत्तिसे रहेंगे।

एक दिन यदृच्छासे प्राप्त एक फल मुँहमें रखा। वह खानेमें कड़वा और विषैला जान पड़ा। इसलिए थूक दिया। परन्तु उसका ऐसा प्रभाव हुआ कि आपको तत्काल हैजा हो गया। बड़े वेगसे दस्त और वमन होने लगे। शरीर इतना शिथिल पड़ गया कि मूर्च्छा हो गयी। ऐसा लगता था मानो स्वार्थी देवगण पग-पगपर इस परमार्थपथिकके मार्गमें विघ्न उपस्थित कर रहे थे। तथापि उनके विघ्नसे आपका उत्साह शिथिल नहीं पड़ता था, उत्तरोत्तर चमकता ही जाता था। उन दिनों वहाँ हैजेका जोर था। अनेकों शव बिना संस्कार किये ही गङ्गाजीमें डाल दिये जाते थे। वे बह-बहकर एक स्थानपर एकत्रित हो गये थे। उन्हीमें आप भी पड़ गये। इतने हीमें सायङ्कालमें कुछ लोग एक मुर्दा लेकर आये। वे वहाँ बैठकर आपसमें बातचीत करने लगे। इसी समय आपके मुखसे पीड़ाके कारण आह निकली। उन लोगोंने तुरन्त आपके पास आकर देखा कि ये तो मुर्दा नहीं, जीवित हैं। इससे उन्हें प्रसन्नता हुई। उन्होंने आपको गङ्गाजीमें स्थान कराया और नङ्गा करके सब वस्त्रोंको धोया। फिर गङ्गातटपर ही एक वटवृक्षके नीचे बालुकापर आपको लेटा दिया तथा थोड़ा दही लाकर खिलाया। परन्तु शरीरमें ऐसी क्रान्ति मची हुई थी कि दही खाते ही उल्टी हो गयी। सारी रात अर्द्धमूर्च्छाकी स्थितिमें

ही व्यतीत हुई। आप तो मृत्युञ्जय भगवान् शंकरके आश्रित थे। आपको जीने-मरनेकी कोई चिन्ता नहीं थी। सूर्योदय होनेपर मानो आपका जीवनोदय भी हुआ। आपकी पीड़ा निवृत्त हो गयी और मुख-कमल खिल गया। वहाँ समीपमें ही एक उदासीन बाबा रहते थे। आप उठकर उनके दर्शनार्थ गये। उन्होंने खिचड़ी बनवाकर आपको आग्रह पूर्वक दहीके साथ खिलायी।

इस घटनाने आपके सुदृढ़ संकल्प और धैर्यका खुला चित्र उपस्थित कर दिया। नया देश, नयी जनता और नवीन भाषा थी, स्वयं अकिञ्चन थे। जड़वत् जीवनयापन कर रहे थे। स्वयं घोर एकान्त वरण किया हुआ था। इतनी विषम परिस्थिति सामने आयी। तो भी आपके धैर्य और निष्ठा तनिक भी विचलित नहीं हुए। आप तो इस संसार-सागरके जीवन-भरके कुशल तैराक थे। इसीसे कोई दु:स्थिति या दुर्घटना आपका दुर्भाग्य सिद्ध नहीं हुई। अपितु सौभाग्यरूप ही हुई। अग्निमें तपाये हुए शुद्ध सुवर्णके समान आप उससे तपकर और भी देदीप्यमान होकर चमक। आपके चित्तमें आया कि यह जीवन सुकोमल पल्लवपर पड़ी हुई ओसकी बूँदके समान क्षणभंगुर है। इस शरीर और जीवनका कोई भी भरोसा नहीं है। अत: अपने प्रयत्नमें ढील नहीं करनी चाहिए। जो करना है कर डालो, जो खोजना है खोज डालो, चैनसे सोना नहीं है। बस, अब खोजकी चिनगारी धधक उठी, सुलगती ज्वाला भड़क उठी।

इस दर्द और जलनमें झूरते हुए आप आगे बढ़े और एक विद्वान् परमहंसके आश्रमपर पहुँचे। उनके आगे अपने हृदयकी उलझन रखते हुए पूछा, 'कौन है वह भगवान् ? वह क्या करता है ? उसने ऐसा दु:खमय जगत् क्यों उत्पन्न किया ?' परमहंसजीने कहा, 'आप शास्त्राध्ययन कीजिये, इससे आपकी यह ग्रन्थि सुलझ जायगी।' उनके इस उत्तरसे आपको सन्तोष नहीं हुआ। आपका यह प्रश्न केवल अपनी व्यक्तिगत पीड़ा नहीं थी। यह जिज्ञासा तो प्राणिमात्रके त्रिविध तापकी पीड़ासे प्रेरित थी। आपका हृदय प्राणियोंके दु:खसे व्यथित था और आप इस खोजमें थे कि किस प्रकार उनके पाप-तापकी निवृत्ति होकर उन्हीं परमानन्दकी प्राप्ति हो।

आप किसीसे कुछ माँगना चाहते नहीं थे, इसलिए आप हाट, घाट और बाटोंपर नहीं बैठते थे और न धर्मशाला आदिमें ठहरते थे। आपके विचारमें धर्मशाला, गौशाला, पाकशाला और पाठशाला आदि सभी

शालाएँ विक्षेपकी स्थान थीं। अत: आप गंगातटपर एकान्तमें बालुकापर ही एकासनसे बैठे रहते थे। आपकी रहनी दिगम्बर परमहंसोंकी-सी थी। अपनेको गुप्त रखनेकी दृष्टिसे केवल कौपीन और कटिवस्त्र नहीं त्यागे थे। ऐसी एकान्त स्थितिमें ही कभी कोई भिक्षा ले आता तो आप उसे पा लेते थे। परमहंसजीको आपकी इस रहनीका पता लग गया। तब उन्होंने कहा, "स्वामीजी, आप यहाँकी भाषा तथा खान-पानसे अनभिज्ञ हैं, लोगोंके स्वभावसे भी परिचित नहीं हैं। अत: इस प्रकारकी रहनीसे आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा। गंगातटपर बैठकर भोजकी प्रतीक्षा करना ठीक नहीं। प्रतीक्षा तो बहुत बड़ा विक्षेप है। यदि आप सच्चे साधु होना चाहें तो किसी साधुके साथ रहिये और माधूकरी भिक्षासे निर्वाह कीजिये। यह धर्मशास्त्र और अनुभवसे सम्मत है।"

आपको उनकी बात जँच गयी। माधूकरी वृत्तिसे रहना ठीक लगा। आपने देखा कि इस प्रकारकी वृत्तिसे तितिक्षा और तपकी वृद्धि होती है। इससे मान-अपमान, सुवचन-दुर्वचन और भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेका अभ्यास होता है, आत्मबल और आत्मविश्वासकी पुष्टि होती है तथा भगवान् विश्वम्भरका विधान अनुभवमें आता रहता है परन्तु किसी साधुके साथ रहनेकी सलाह आपको पसन्द नहीं आयी, क्योंकि जब दो साथ रहेंगे तो उनमें परस्पर व्यर्थ वार्तालाप होगा तथा संसार और भिक्षाकी चर्चा होगी। आपका वास्तविक स्वभाव तो असंग रहने हीका था। सभी प्रकारका संग आपको हेय जान पड़ता था।

भगवत्प्रेरित संत

विचरते-विचरते आप सैदपुर पहुँचे। आपका हृदय वैराग्यरसके आस्वादनसे छका हुआ था। सैदपुरके स्टेशनमास्टरको संत-महात्माओंकी सेवा-शुश्रूषा करनेका चाव था। आपकी त्याग-वैराग्यमयी मूर्त्ति देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ और अनुनय-विनय करके अपने घर ले आया। उसकी श्रद्धा-भक्तिसे सन्तुष्ट होकर आप कई दिनतक वहीं रहे। वहाँसे चलकर एकादशीके दिन आप एक गंगातीरनिवासी ब्राह्मणीकी कुटीपर पहुँचे। ब्राह्मणदेवता आपके दर्शन करते ही भावविभोर हो गये और प्रसन्नतासे भर गये। बड़े प्रेम और श्रद्धाके साथ उन्होंने आपको आसन-पर विराजमान कराया और विधि-विधानपूर्वक वेदमन्त्रोंसे आपका षोडशोपचार पूजन किया। पुरुषसूक्तका पाठ किया और पुष्पाञ्जलि

समर्पित की। थोड़ी ही देरमें वहाँ अनेकों भक्त एकत्रित हो गये। आपके आनेकी वार्ता बिजलीकी तरह फैल गयी। भक्तोंका ताँता लग गया। सब लोग आनन्दविभोर होकर कीर्तन करने लगे और भावावेशमें नाचने लगे। एक आनन्दोत्सव ही हो गया। सभीने 'महत्कृपा! महत्कृपा! अहोभाग्य! अहोभाग्य!' कहते हुए साष्टांग प्रणाम की और चरणरज मस्तकपर चढ़ायी। मनों मिठाई और फल एकत्रित हो गये।

आप प्रसाद बाँटते जाते थे और आश्चर्यमें डूबकर सोचते जाते थे कि यह सब क्या होरहा है। यह पूजा—यह आनन्दोत्सव क्यों हो रहे हैं। यहाँ किसीसे कोई जान-पहचान भी नहीं थी। फिर ये सङ्कीर्तन और दण्डवत् प्रणामादि क्यों होरहे हैं। मैं तो अभी पहलीबार ही यहाँ आया हूँ। फिर ब्राह्मणसे पूछा, "पण्डितजी! इतने समारोह और आनन्दोत्सवका क्या कारण है?" पण्डितजीने सुमधुर वाणीमें विनयपूर्वक कहा, "महाराजजी! हमारे आराध्यदेवने रात स्वप्नमें दर्शन दिया और आपको दिखाकर कहा कि ये भागवतोत्तम महापुरुष कल तुम्हारी कुटीपर पधारकर उसे पवित्र करेंगे। तुम इन्हें मेरी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझकर इनको सेवा-पूजा करना।" ऐसा कहते हुए पण्डितजी भावविभोर हो रहे थे। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी। कण्ठ गद्गद हो रहा था और शरीर पुलकित। सारे भक्त समाजकी ऐसीही स्थिति थी। सब कह रहे थे, "आज भगवान्‌ने बड़ी कृपा की, हमारा बड़ा सौभाग्य है। ये ही हैं भगवत्प्रेरित सन्त!"

उस ब्राह्मणकी कुटीसे एक धनी पुरुष प्रार्थना करके आपको अपने घर ले आया और घरकी सबसे ऊपरकी मञ्जिलमें ठहरा दिया। उस दिन एक मौनी बाबाका निर्वाण दिवस था। उसमें सम्मिलित होनेके लिए सारा परिवार घर बन्द करके चला गया। आपको इस प्रकार घरमें बन्द होना कारागारके समान जान पड़ा। बन्धन तनिक भी सह्य नहीं था। अतः हल्ला मचाया, 'खोलो, खोलो!' तब पहरेदारने दरवाजा खोल दिया। आप तुरन्त वहाँसे निकलकर चल दिये।

संसारकी कैसी रीति है। यह सन्तोंको भी बन्धनमें डालना चाहता है। भगवान् और सन्त भला किसीकी मुट्ठीमें रहते हैं। जो सदा अलमस्त होकर विचरते रहे, वनस्थलीमें निवास करते रहे, वैराग्यरसके पानसे जिनमें सभी प्रकार स्वतन्त्रता ही पोषित हुई, जिन्होंने संसार-कारागारको तोड़कर अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखी तथा निरन्तर अध्यात्म-आकाश-

मण्डल में स्वच्छन्द विहार किया, ऐसे वे वैराग्यरसिकशेखर क्या इस प्रकार बंधन में रखे जा सकते थे !

अब आपके चित्तकी ऐसी स्थिति थी। वास्तविक तत्त्वके अनुसन्धानकी अग्नि उसे दग्ध कर रही थी। बत्तीस वर्षतक परमपुरुषार्थ पूर्वक जो जीवनक्रम बना था उसमें एक अद्भुत क्रान्ति आ रही थी। धर्म, अर्थ, काम, भक्ति अब सभी स्वाहा होते जारहे थे। किसके लिए और क्यों ? कुछ पता नहीं। बस, जलते जाओ, जलते जाओ, देखा जाय क्या होता है। अबतक अपनी व्यक्तिगत दृष्टिसे भगवान्‌के स्वरूपका, अनुमान किया था। अब इसे स्वाहाकर यह स्पष्ट अनुभव करना है कि भगवान्‌की अपनी दृष्टि क्या है। यही नहीं, जिसकी दृष्टि है वह भगवान् क्या है ? इस जलनमें आप नारायणी और गङ्गाजीके संगमपर पहुँच गये, जो स्वयं ब्रह्मद्रवा श्रीगंगाजीमें लीन होनेके कारण इस बातकी प्रतीक हैं कि कर्म और उपासनाकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती है।

महन्तपदपर

यहाँसे नारायणी नदीके दायीं ओर चलने लगे, जिससे गङ्गातटपर विचरते हुए गङ्गोत्तरीतक आ सकें। जाते-जाते आपको राजभार स्टेशनके समीप एक दक्षिणी स्वामीका स्थान मिला। वहाँका रमणीक दृश्य, भूतेश्वर भगवान् शङ्करका मन्दिर और गङ्गातट देखकर मनमें आया कि कुछ दिन ठहरें। आश्रम के भीतर जाकर देखा तो महन्तजी चारपाईपर बीमार पड़े थे। उनकी सेवाका कोई प्रबन्ध नहीं था। आप तो दयाकी मूर्त्ति ही थे। उन्हें असहाय देखकर आपमें दया जग गयी। अन्तःकरणमें तत्त्वसाक्षात्कारके लिये तीव्र जलन हो रही थी। तथापि उसकी कोई परवाह न करके उन असहाय दीन महन्तजीकी सेवा सँभाल ली। एक ग्वालेने भी सेवा कार्यमें आपसे सहयोग किया। उसका तो आपसे आन्तरिक स्नेह ही हो गया। उस आश्रमकी प्रति वर्ष खेती द्वारा प्रायः दो सहस्र रुपये की आय थी। कुछ भगवान् शङ्कर का चढ़ावा आ जाता था। इससे आश्रम का काम चहल-पहलसे चल जाता था।

दक्षिणी स्वामीजीका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया। एक सप्ताह पश्चात् वहाँ की प्रबन्ध-समितिने दूसरा महन्त चुननेका निश्चय किया। आपके सद्व्यवहार और साधुस्वभावसे सभी लोग मुग्ध थे। अतः उन्होंने आपको ही महन्त बनाना निश्चित कर लिया। फिर दक्षिणी स्वामीजीकी

स्वीकृति लेकर विधिवत् आपका अभिषेक किया। बस, आप महन्तपदपर विराजकर वहाँकी व्यवस्था करने लगे। वहाँ प्रत्येक एकादशीको भगवान् शंकरका शृङ्गार, रुद्रीपाठ, रुद्राभिषेक और संकीर्तन करके उत्सव मनाया जाता था। आपके महन्त बननेके पश्चात् जब पहली एकादशी आयी तो यह आयोजन दुगुने उत्साह और समारोहसे मनाया गया। उपस्थिति भी पहलेकी अपेक्षा चौगुनी हुई। सबका मुँह मीठा हुआ। इससे सभी लोगोंकी आपके प्रति दुगुनी श्रद्धा हो गयी। संकीर्तन भी ऐसा जमा मानो रसकी वर्षा ही होने लगी। दो बालकोंने ऐसा मधुर रामायणगान किया कि पीछे भी आप उन्हें याद करके कहा करते थे कि ऐसी रामायण तो फिर कभी नहीं सुनी। शंकरजीकी पूजा दो गोसाईं किया करते थे। उन्हें आश्रमसे बहुत कम आजीविका मिलती थी। आपने नियम कर दिया कि जो कुछ ताँबेके सिक्के चढ़ावेमें आयेंगे वे सब उन्हें ही मिलेंगे, सोना-चाँदी भगवान्‌के भण्डारमें जमा होगा। चढ़ावेमें अधिकतर पैसे ही आते थे। अतः उन गोसाइयोंकी आय भी अच्छी बढ़ गयी। इस प्रकार नौकर-चाकर तथा भक्त और भगवान् सभी प्रसन्न थे। इससे आपकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। सभी आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें रहने लगे। सेवा करो—ऐसा कहनेकी अपेक्षा नहीं थी, सेवक स्वयं ही सेवामें संलग्न रहते थे। तथा एकादशी उत्सवके लिए तो सभी लालायित रहते थे।

इधर दक्षिणी स्वामीकी दशा भी सुधरने लगी। वे रोगमुक्त होकर धीरे-धीरे सशक्त भी हो गये। फिर शय्यासे उठकर इधर-उधर डोलना-फिरना भी आरम्भ हो गया। अब आपकी महन्तीकी दूसरे एकादशी आयी। धूमधामसे फलाहार और प्रसाद बनने लगा। भगवान् शंकरका शृङ्गार और पूजन भी बड़ी तैयारीसे हुआ। सब लोग दौड़-दौड़कर सेवामें संलग्न थे। साथ ही **'ॐ नमः शिवाय'** मन्त्रका संकीर्तन करते जाते थे। ऐसी धूमधाम और चहल-पहल पुराने महन्तजीको नहीं रुची। उन्होंने पूछा, "यह सब क्या हो रहा है ?" उन्हें बताया गया कि यह एकादशी-का रस्म-रिवाजी पूजन नहीं है, शिवविवाहोत्सव मनाया जा रहा है। महन्तजी कुछ कृपण स्वभावके थे। उन्हें ऐसी उदारता सहन नहीं हुई। उन्हें जब मालूम हुआ कि पुजारियोंको भी चढ़ावेके पैसे दे दिये जाते हैं तो ऐसा सुनते ही उन्हें बड़ा आघात लगा और मुखसे निकल पड़ा, 'हाय ! सभी लुटा रहे हैं !' उन्होंने बहुत चाहा कि यह सब होना बन्द हो जाय

और पूर्ववत् काम होने लगे, परन्तु सभीके चित्तपर श्रीमहाराजजी छा गये थे। उन्होंने उनकी कोई बात नहीं सुनी। उधर महन्तजी आपके प्रभावसे बहुत दब चुके थे, इसलिए उन्हें यह साहस भी नहीं होता था कि आपसे कुछ कहा जाय, अतः उन्होंने लोगोंसे कह दिया कि तुम उनसे कुछ मत कहना, समय पाकर मैं ही देख लूँगा।

परन्तु उत्सवकी धूम-धाम उन्हें सहन न हुई; अतः वे आपको पदच्युत करनेका षड्यन्त्र रचते हुए आपके काममें तरह-तरहसे छिद्रान्वेषण करने लगे। कैसी दुर्मति है! दूसरोंकी प्रतिष्ठा नहीं सुहाती! कितना अन्तर है उदारता और कृपणतामें। आश्रमके पास ही कुछ विरक्त महात्मा आये थे। आपके हृदयमें तो जिज्ञासाग्नि प्रज्वलित हो रही थी। बड़ी बेचैनी थी—'हाय! मेरा दर्द न जाने कोय।' इस रोगकी भी कोई दवा है? आपकी इच्छा हुई कि चलकर सन्तोंसे मिलें। सम्भव है, उनसे इसका कोई उपचार मिल जाय; क्योंकि—

गंगा पापं शशिस्तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च हन्ति सज्जनदर्शनम्॥[1]

आपका चित्त अत्यन्त लालायित हो रहा था; जैसे रोगी वैद्यके आगमनके लिए, क्षुधार्त्त भोजनके लिए, प्यासा जलके लिए और अन्धा नेत्रवैद्यके लिए। अतः आप उनके पास जानेको तैयार हुए और शिष्टाचारकी दृष्टिसे महन्तजीसे कहलाया कि मैं सन्तोंके दर्शनार्थ जा रहा हूँ। सुनते ही उन्हें मानो अवसर मिल गया, बोले, "महन्त होकर हर किसीके पास नहीं जा सकते। उसकी भी एक मर्यादा है। जिन्हें आना हो आपके पास आ सकते हैं, आपको दूसरोंके पास जाना उचित नहीं।" आपको तो यह नजरबन्दी-सी जान पड़ी। आपके हृदयमें तो आग लगी हुई थी। सोचने लगे, "मैंने तो दया की थी, फँसा थोड़े ही हूँ।" बस, वैराग्य-शस्त्रसे उस बन्धनको काटकर आप उसी रात वहाँसे चल दिये।

आपने यह स्पष्ट दिखला दिया कि विद्या विनयसे चमकती है, ज्ञान-विज्ञानसे चमकता है, जीवन वैराग्यसे विकसित होता है, चित्त उदारतासे उत्कृष्ट होता है, महिमा त्यागसे बढ़ती है और चरित्र तपसे

---

१. गंगाजी पापको, चन्द्रमा तापको, कल्पवृक्ष दीनताको नष्ट कर देते हैं। किन्तु सत्पुरुषोंका दर्शन तो पाप, ताप और दीनता तीनोंको नष्ट कर देता है।

उज्ज्वल होता है, किसी गद्दी या महन्तीसे नहीं। अपने हिताहितका निश्चय विवेकपूर्वक स्वयं ही करना चाहिए। प्रवाही सृष्टिका अनुसरण करनेसे कभी अपने लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्यानुसन्धान ही महान् तप है। वह जिज्ञासाग्निमें होकर निकलनेपर ही मिलेगा। पग-पगपर विघ्न उपस्थित होते हैं। परन्तु उनकी कोई चिन्ता न करके आप जा रहे हैं काशीको।

काशीमें

अब आपने 'इस संसाराडम्बरका वास्तविक स्वरूप क्या है' इस ज्वलन्त प्रश्नको लेकर विश्वनाथपुरी श्रीकाशीमें प्रवेश किया। पहले आप श्रीआर्त्तत्राण ब्रह्मचारी रूपसे श्रद्धा-विश्वासरूप अर्धनारीश्वरस्वरूप होकर माता अन्नपूर्णेश्वरीकी नगरीमें आये थे, क्योंकि आप जानते थे कि माँ जितनी कृपामयी होती है पिता उतने नहीं होते—'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**।' माँके हृदयमें वात्सल्य ही वात्सल्य होता है, और कुछ नहीं। यद्यपि भोले बाबा भगवान् शंकर औढरदानी हैं, तथापि माँ तो माँ ही है। वह करुणारसमय दृगोंसे अपने पुत्रको निहारती है और उसकी माँगको पूरा करनेके लिए हर समय तैयार रहती है। अतः माँने अपने ढङ्गसे आपको अपनी अनपायिनी भक्ति और आर्त्तरक्षणकी शक्ति प्रदान की। अब आपने मूर्त्तिमान् तप होकर ही विश्वनाथपुरीमें प्रवेश किया। यति आश्रम ग्रहण करके माताको प्रणाम करना चाहिए—इस आर्य-धर्मको लेकर आपने माता अन्नपूर्णेश्वरी और पिता श्रीविश्वनाथके दर्शन किये।

हृदयमें तत्त्वजिज्ञासा प्रज्वलित हो रही थी। अर्धनारीश्वर तत्त्वका रहस्य क्या है—यही शोध थी। बुद्धि ही मानो भवानी है। वह स्वयं अर्धाङ्गिनी होनेपर भी अपने प्रियतमको न जाननेके कारण बेचैन है। नामरूपमयी उपाधियोंसे सर्वथा उपराम है। अपने परम इष्टसे ही, जिससे कि यह ऐश्वर्य प्राप्त किया था, चित्त हट गया, फिर जीव और जगत्की तो बात ही क्या थी। बुद्धि-भवानी अकुला रही थी। सोचती थी—यह सब क्या है? कोई भी मन देने योग्य दिखाई नहीं देता; किसीमें कोई सार नहीं दीखता। अर्धाङ्गमें बैठे शङ्कर भी इस अर्धनारीश्वरकी खोज-लीला हक्के-बक्के होकर देख रहे थे। गुणवैतृष्ण्यरूप परवैराग्यकी अग्नि जोरोंपर थी। सारी सृष्टिको छान-छानकर देख रहे थे कि क्या

इसमें कोई सार है। क्या इस ज्वालामें भस्म हो जायेंगे अथवा सीताकी तरह ये अग्निदेव हाथोंमें उठाकर उन प्रियतमका जाज्वल्यमान रूप दिखायेंगे और उनके साथ मधुर मिलन होगा। यही तो देखना है। इस भयंकर दाहमें न खानेकी सुधि थी, न पीने की।

'खान-पान नहिं भावै है, रैन नींद नहिं आवै है, नहिं कोमल वसन सुहावै है। विषय लगत सब खारा है, यह खोज-बीन पथ न्यारा है।'

यही अन्तर्ज्वाला है। हर कोई इसे नहीं देख सकता। यह प्रलय-कालीन अग्नि धारणकर मानो चिताभस्म रमाये विश्वनाथपुरीमें प्रवेश किया। आपका अलिंग बाह्यस्वरूप किसीको नहीं भाया, क्योंकि यहाँ साम्प्रदायिक भावनाका प्राधान्य था। दण्ड-कमण्डलु न होनेके कारण दण्डिस्वामी आपसे बचने लगे। आप तो स्वयं हर किसीसे मिलना नहीं चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि एकान्त ही एकान्त रह गया। यह एकान्त आपके जलनेवाले चित्तको और भी जलाने लगा। चित्त अत्यन्त व्याकुल रहने लगा। किससे अपने चित्तकी व्यथा कहकर उसे हल्का करें। घोर एकान्त और घोर प्यास। क्या कहें ? नया प्रान्त, नयी भाषा। कोई सुनने-समझनेवाला नहीं। भिक्षाकी भी समस्या थी। ऐसी स्थितिमें एक ब्रह्मचारीने स्वयं आकर भिक्षाके क्षेत्र दिखा दिये। परन्तु रोटी खानेका अभ्यास नहीं था और न रोटी पचती ही थी। अतः शरीर सूख-सूखकर दुर्बल हो गया। आसाममें रहनेके समय चाय पीनेकी आदत पड़ गयी थी। वह भी यहाँ मिलती नहीं थी। माँगना स्वभावमें नहीं था। शौचालयमें कभी शौच नहीं गये, जंगलमें निवृत्त होनेका स्वभाव था। अतः इसके लिए नित्य तीन-चार मील चलना पड़ता था। इतना ही नहीं, रहनेके लिए कोई स्थान भी नहीं था तथा बैठने के लिए कोई कुटी नहीं थी। कहना-सुनना किसीसे नहीं चाहते—कितना संकोची स्वभाव ! बस जहाँ-तहाँ गंगातटपर दिन काट रहे थे। इधर चातुर्मास्य आनेवाला था—यह भी एक समस्या थी। इतने हीमें एक महात्माने आकर कहा, "स्वामीजी, तनिक शरीरका भी ध्यान रखो, यह तो मोक्षका द्वार है। इस प्रकार बेपरवाह होकर रहना ठीक नहीं—**'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'** इतनी कठोरता मत करो। आपके स्वभावकी दृष्टिसे तो आपको काशीमें बहुत कष्ट भोगना पड़ेगा। यहाँसे सात मील दूर एक गाँव है। वहाँ महात्माओंके रहने-सहने और भिक्षा आदिकी सत्कारपूर्वक व्यवस्था है। अतः वर्षाऋतुमें आप वहीं ठीक रहेंगे।"

श्रीमहाराजजीने पूछा, "यदि आपकी जानकारीमें कोई पूर्ण सिद्ध हों तो बताइये।" उन्होंने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। फिर आप काशी-जीसे उस भागीरथी तटस्थ गाँवमें पहुँच गये। वहाँकी वनस्थली और गंगातट बहुत रमणीक थे। चारों ओर श्रीविष्णु और शंकरजीके अनेकों मन्दिर थे। तथा वहाँके निवासी भी वर्णाश्रमानुसार आचार-विचारवाले थे। अतः आपने संन्यासके पश्चात् अपना यह प्रथम चातुर्मास्य वहीं करने का निर्णय किया। वहाँ और भी कई महात्मा चातुर्मास्य कर रहे थे। वे सब आपसमें मिलकर वेदान्तविचार किया करते थे। उन्होंने आपसे पूछा, "आपने किन-किन ग्रन्थोंका स्वाध्याय किया है ?" आपने स्पष्ट कह दिया, "मैंने तो कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा।" उन्होंने कहा, "वेदान्तग्रन्थोंका स्वाध्याय किये बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता।" आपको उनकी यह बात नहीं जँची। सोचा कि यदि ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे साक्षात्कार होता है तब तो सभी पण्डितोंको ज्ञान हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसी बात तो है नहीं। उनमें तो बहुतोंमें अत्यन्त भोगलिप्सा और तृष्णा देखी जाती है। आत्म-दर्शीके जीवनमें ये दोष तो रह नहीं सकते। आत्मरति और भोगरति—ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं। फिर ग्रन्थाध्ययनसे क्या होगा ?

वहाँ श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् आदिका शाङ्कर-भाष्यके सहित विचारविमर्ष होता था। परन्तु इस ओर आपकी अभिरुचि नहीं हुई। महात्माओंने आपको हिन्दी अनुवादसहित योगवासिष्ठ दिया। उसका आपने अनुसन्धानपूर्वक आद्योपान्त दो बार अध्ययन किया और यह देखनेका प्रयत्न कि क्या इसमें हमारी समस्याका कोई समाधान है। योगवासिष्ठमें एक ओर तो साधन-साध्य और संसारको मिथ्या बताया गया है और दूसरी ओर लिखा है कि सायंकालमें सूर्यास्त होनेपर सारी सभा सन्ध्योपासनके लिए विसर्जित हो गयी। आपको उसका यह विरोधी प्रतिपादन विचित्र-सा लगा। अतः आपने उसका स्वाध्याय छोड़ दिया। प्रस्थानत्रयमें तो पहले ही रुचि नहीं थी। भगवान् शंकरका सगुण-साकार ध्यान थोड़ा-बहुत चल रहा था। वह भी छूट गया। महात्मा भी, आपको ऐसा जान पड़ा कि, सब भिक्षा-भोजनादिमें ही मस्त हैं। उनका यह जीवन आपको अच्छा नहीं लगा। बस, चातुर्मास्यका सारा समय यों ही निकल गया। आपकी तृषा शान्त करनेवाली स्वाति-विन्दु नहीं मिली। वही प्यास, वही भूख, वही जलन; घटा कुछ भी नहीं। ज्वालामुखीकी तीव्र ज्वाला बढ़ती चली गयी।

प्रयाग की ओर

चातुर्मास्य बीतनेपर आप प्रयागकी ओर चल दिये। रात भयानक बेचैनीमें कटती थी। अभीतक यह प्रश्न ही हल नहीं हुआ कि वास्तविक सार क्या है ? हाय ! अभीतक कुछ कर नहीं पाया। हमारा जीवन क्या यों ही व्यर्थ जायगा ? आपका जीवन खोज और जिज्ञासाकी ज्वाला उगलने वाला महान् ज्वालामुखी बना हुआ था। रात्रिमें नींद विदा हो गयी थी। हर समय गहरी श्वास-निःश्वास और आकुल दृष्टि ! भिक्षा माँगना भी छोड़ दिया। जो स्वयं मिल जाता उसीसे निर्वाह कर लेते। घोर जंगलोंमें रुक-रुककर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। सोचते थे कि कहीं कोई सिद्धगीता ही सुनाई पड़ जाय और उससे यह समस्या हल हो जाय। मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? इस प्रपञ्चका कर्ता कौन है ? कुछ जान नहीं पड़ता। वास्तविकता क्या है ? इसी उलझनमें रात-दिन बीते जा रहे थे। अभीतक निर्णय कुछ भी नहीं हुआ।

इस प्रकार महान् कष्टसे चलते-चलते विन्ध्याचल पहुँच गये। वहाँ एक लकड़ीकी कुटी दिखाई दी। सोचा यहाँ कोई सन्त होंगे। अतः अपना दुःख निवेदन करनेके लिए वहाँ पहुँचे। उस कुटीके द्वारपर लिखा था—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥[1]

(अष्टा० गीता० १/२)

कुटिया घोर एकान्तमें थी। आपने दरवाजा खोला तो उसे खाली पाया। सोचा, 'यहाँ कोई अच्छे महात्मा रहते होंगे।' 'उनके लिए कुछ देर प्रतीक्षा कर लें।' दूसरे दिन वहाँ हँड़ियाबाबा आगये। उनसे पूछा, 'इस संसारको किसने रचा, इसका कोई कर्ता तो दिखायी नहीं देता। वास्तविक बात क्या है ?' हँड़ियाबाबाने कहा, "आप तो साधनचतुष्टयसम्पन्न और अच्छे साधक जान पड़ते हैं। यहाँ रहकर प्रस्थानत्रयका स्वाध्याय करो।" आपने सोचा कि कहीं भी जाओ, भूखेको वही लोहेके चने और प्यासेको वही पञ्चाङ्गकी वर्षा !

---

१. भाई ! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो विषयोंको विषके समान त्याग दो और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्य इन गुणोंको अमृतके समान सेवन करो।

फिर आप निराश होकर वही खोजकी बेचैनी लिए प्रयागराजसे एक मील पूर्व एक आश्रममें पहुँचे। वहाँ महापुरुषोंके दर्शन और अपनी समस्याके समाधानकी आशा लेकर आपने आश्रममें प्रवेश किया। आपने बतलाया कि उस आश्रममें एक अग्निहोत्री नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते थे। विवाह होनेके पश्चात् ही उन्होंने एक दण्डी स्वामीसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले ली थी। जब वधूके माता-पिताको पता चला तो वे तुरन्त उनके गुरुके पास आये, उनके चरणोंमें उस नवविवाहिता वधूको डाल दिया और पूछा कि इसके लिए क्या आज्ञा है? स्वामीजीने कहा कि इसमें पूछना ही क्या है, यह भी इसके साथ ही रहेगी। उस लड़कीने तुरन्त सब आभूषण उतार दिये और एक परम तपस्विनीकी तरह रहने लगी। उसने तुलसीके ही सब आभूषण धारण किये हुए थे तथा बल्कल-जैसे मोटे वस्त्र पहने हुए थे। उन दोनोंका बड़ा ही तपोमय जीवन था। आहार परम सात्त्विक था। ब्रह्मचारीजीने अपने गुरुदेवकी आज्ञाका पूर्णतया पालन किया। वे नित्यप्रति अग्निहोत्र और गायत्रीजप करते थे। अध्ययन और अध्यापनमें ही उनका कालयापन होता था। एक कुटीमें वे रहते थे और दूसरीमें ब्रह्मचारिणीजी सच्ची सहचरी होकर निवास करती थीं। उन्होंने 'स्त्रियोंके लिए पतिदेव ही गुरुदेव हैं' इस आदर्शका सच्चाईसे निर्वाह किया तथा मूर्त्तिमान् तप होकर 'भारतका आदर्श तप है, भोग नहीं' इस उज्ज्वल जीवनकी स्थापना की। दोनों बासठ वर्षसे ऐसा तपोमय पवित्र जीवन व्यतीत कर रहे थे। दोनों ही पति और सती रूपसे पवित्र प्रेमकी मूर्ति थे। उनका कैसा कठोर और दिव्य तप था? उनके मुखमण्डलपर दिव्य तेज चमकता था। उनमें चञ्चलताका नाम-निशान भी नहीं था। वह एक आदर्श ब्रह्मचर्याश्रम था। अनेकों ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे। ब्रह्मचारिणीजी उन्हें रसोई बनाकर खिलाती थीं। उस प्रान्तमें लोग उन्हें आदर-सत्कारपूर्वक 'महारानीजी' कहकर सम्बोधन करते थे। धन्य है, ये सती और पति ही भारतके गौरव हैं। ऐसी सती करोड़ोंमें कोई एक ही मिलेंगी।

ब्रह्मचारीजीको प्रसन्न देखकर आपने उनके आगे अपनी समस्या रखी। उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि मैं आपकी जिज्ञासाका समाधान नहीं कर सकता। उनकी सरलता आपको बहुत अच्छी लगी। वहाँसे आप प्रयागराज पहुँच गये। यहाँ तक पहुँचनेमें आपको छः मास लग गये थे। चित्त भारी रहनेके कारण मार्ग कटना कठिन हो रहा था। दिन-प्रतिदिन

भार ही भार जान पड़ता था। हृदयमें हर समय जलन बनी रहती थी और बड़ी ही बेचैनी थी।

प्रयागमें दारागंजके पास एक मन्दिरके पीछे घोर एकान्तमें एक कमरा था। वहाँ पहुँचनेपर सब ओरसे निराश होनेके कारण उसीमें पड़ गये। अपने पास तूम्बेमें जल रख लिया। घोर ग्रीष्मकाल था। कमरेमें कोई झरोखा भी नहीं था। भीतरसे किवाड़ बन्द कर लिये। बस, भीतर-भीतर ज्वाला ही ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी। एकान्तमें अकस्मात् कोई समाधान निकल आवे—यही प्रतीक्षा लगी हुई थी। इस प्रकार तीन दिन तीन रात उस कमरेमें बन्द रहे। न टट्टी, न पेशाब, न खाना, न पीना और न सोना। समाधानकी प्रतीक्षामें चित्त छटपटा रहा था। आखिर कितने दिन इस प्रकार बिताते। जिस जीवनमें इस जिज्ञासाकी शान्ति देखना चाहते थे वही अस्त-व्यस्त हो रहा था। जिस शरीरसे उस आनन्द-का अनुभव करना चाहते थे वही बाहर-भीतर मानो ज्वालामालाओंसे कवलित हो रहा था। अतः सोचा, चलो सम्भव है आगे कोई ढङ्ग बन जाय।' किन्तु जब चलनेको हुए तो पैर उठ न सके। घुटनों और टाँगोंमें पीड़ा जान पड़ी।

इस प्रकार पेटमें भूखकी ज्वाला, चित्तमें जिज्ञासाकी ज्वाला और जोड़ोंमें पीड़ाकी ज्वाला जल रही थी। इतने हीमें एक आदमी उस कमरेके आगे होकर निकला। उसे बुलाकर क्षुधानिवृत्तिकी इच्छा प्रकट की। वह कुछ आम ले आया इन्हें खानेसे क्षुधानिवृत्ति तो हुई, किन्तु तीन दिन उपवास करते व्यतीत हुए थे, इसलिए वे पच न सके। अतः मन्दाग्निके कारण दस्त लग गये और पेटमें दर्द होने लगा। टाँगोंमें दर्द था ही। तभी उधरसे होकर एक आदमी निकला। उससे अपनी स्थिति कही तो वह एक मालिश करने वालेको ले आया। वह तेल लगाकर मालिश करना चाहता था। परन्तु संन्यासीके लिए तेल लगाना वर्जित है, इसलिए आपने स्वीकार नहीं किया। तब उसने सूखी मालिश की और अँगूठे पकड़कर झटके दिये। इससे दर्द कम हो गया, जोड़ भी खुल गये और आप चलने योग्य हो गये।

वीर-विजय

किन्तु आपका तूफानी समुद्र जैसा उद्वेलित और व्यथित चित्त 'यह सब है क्या ? मैं क्या हूँ ? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है ?' इत्यादि जिज्ञासाके

तूफानमें इधरसे उधर और उधरसे इधर झकझोर रहा था। यह विरहीकी तड़प तो कही जा सकती थी। परन्तु अभी तो मिलन ही नहीं हुआ, फिर विरह कैसा ? मैंने स्वयं श्रीमहाराजजीसे पूछा था कि वह जिज्ञासाकी स्थिति कैसी थी ? तब आपने बताया, "अरे बेटा ! वह तो एक पागल कुत्तेकी-सी अवस्था थी। उस समय किसीको कोई गिनती नहीं थी; बस, काटते आजो ! बेचैनी ही बेचैनी ! सभी आस्थाएँ समाप्त हो गयी थीं।"

इस आन्तरिक तूफानको लिए आप आगे बढ़े। आगे चलकर आपने एक वटवृक्ष देखा। उसकी शाखाएँ चारों ओर फैली हुई थीं। वहाँ एक गुफ़ा थी। आपने गुफामें अपना कम्बल, कटिवस्त्र और कौपीन रख दीं तथा स्वयं गुफाके बाहर आकर बैठ गये। बैठे ही थे कि भीषण वर्षा होने लगी। उसके साथ बड़ा भारी बवण्डर भी था। वायु बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ रहा था। रेतसे मिले हुए पानीकी बौछारें वायव्यास्त्रके प्रहार ही जान पड़ते थे। बौछारोंके मारे सारा शरीर अस्त-व्यस्त हो गया। चारों ओर पानी ही पानी भर गया। आप वटवृक्षकी एक जड़ पकड़कर लटक गये। इसीसे सिर डूबनेसे बचा रहा। ऐसी ही स्थितिमें रात्रिका अन्धकार फैल गया। सब ओर बड़ी वीभत्सता छा गयी। बाहर यह प्रलयकाण्ड हो रहा था और भीतर अनन्त सृष्टि, उसके अधिष्ठातृदेवता तथा अपने इष्ट और जीवनको आपका जिज्ञासारूपी तूफान झकझोर रहा था। इन आन्तर और बाह्य दोनों उत्पातोंमें ही सारी रात बीती। ठण्डके कारण शरीर सुन्न हो गया। ऐसा जान पड़ता था मानो हड्डियाँ गल रही हैं। बस, आप मूर्च्छित हो गये। जब कुछ चेत हुआ तो अपने समीप एक ब्रह्मचारीजीको बैठे देखा। उन्होंने कहा, "इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेसे कुछ मिलेगा नहीं, बस शरीर नष्ट हो जायगा।" फिर वे आपको एक महात्माके पास ले गये और अग्निके पास डालकर तपाया। उससे सारी सर्दी दूर हो गयी। महात्माजीने आग्रहपूर्वक कहा, "यह शरीर तो धर्मक्षेत्र, भक्तिक्षेत्र और मोक्षका द्वार है। इसकी अवश्य रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार इसे दुःख देनेसे तो हानि ही होगी, कोई लाभ नहीं होगा।"

परन्तु आपको तो दूसरी ही ज्वाला जला रही थी। किसीके कहने-सुननेसे चित्तमें चैन कैसे पड़ सकता था। अभी तक अपने और संसारके रहस्यकी गुत्थी नहीं सुलझी। असली स्वर्गकी झलक नहीं मिली। इसी

तापमें आस्थाकी सारी भूमि पैरोंके नीचेसे खिसक गयी। कहाँ जायँ, क्या करें, कुछ समझमें नहीं आता था। सारे ही आलम्बन समाप्त हो गये थे। चित्त सर्वथा निरालम्ब हो गया। अब तक जो कुछ प्राप्त हुआ था अनास्थाके कारण वह सब तो मटियामेट हो गया, अभी कुछ मिला नहीं। तैर रहे हैं, थाह कहीं नहीं मिल रही है। सब ओर आध्यात्मिक आधिभौतिक तूफान दिखायी देता है।

परन्तु इस सृष्टिका राग-रंग सर्वदा एक-सा नहीं रहता। यह करवट बदलती रहती है। यदि विचार करके देखा जाय तो सारा जीवन एक विकासकी पद्धति है। महत्पात्र बनाकर ही महती वस्तु दी जाती है। आप तो ईश्वरकोटिके पात्र थे। ये सारी घटनाएँ आपकी महती शक्तिको नंगा करके दिखा रही थीं। यह ऐसी बात थी जैसे भगवान् विष्णुने अमृत-मन्थनके समय स्वयं ही कूर्म होकर मन्दराचलको थामा और दूसरे रूपसे उसकी मथानी मन्दराचलकी रई पकड़कर मन्थन किया। इसी प्रकार यहाँ भी जगज्जननी जगदम्बा भीतरसे आपके चित्तको थामे हुए थीं और बाहर से हृदयमन्थनकी ज्वालामयी लीला कर रही थीं। भीतर भगवान् नीलकण्ठ निराशारूप कालकूटको स्वयं पीते जा रहे थे। इसीसे इस महती क्रान्तिमें भी जीवन धारण किये चल रहे थे। इस प्रकार श्रीअर्धनारीश्वर स्वयं ही यह क्रान्तिलीला कर रहे थे।

देखो, गोपियोंको कितनी विरहवेदनाके पश्चात् श्रीश्यामसुन्दर मिले। परन्तु विरहमें तो प्रभुमिलनकी ओरसे निराशा नहीं होती, पूर्णतया आशा रहती है। यहाँ तो आस्था ही नहीं, फिर मिलन कैसे होगा ? आस्था तो सब स्वाहा हो चुकी थी। श्रीमहाराजजी कहा करते थे, 'यह प्रसववेदनाकी-सी हालत थी। न बैठ सके, न उठ सके, न लेट सके, न करवट ले सके। बस बेचैनी ही बेचैनी।' इस घोर व्यथामें तड़पते आप आगे बढ़े।

सायंकालका प्रशान्त वातावरण था। भगवान् भास्कर अपनी किरणोंको समेटकर अस्ताचलकी ओर जा रहे थे। श्रीगंगाजी अत्यन्त शान्त, प्रसन्न और प्रफुल्लित जान पड़ती थीं। दिनकरकी किरणें उन्हें रागरञ्जित कर रही थीं। उन्होंने देखा कि हमारी बहन यमुनाने गंगाको अपनेमें मिलाकर एकमेक कर लिया है। कैसा अद्भुत है उसका प्रेम। अतः हम भी उसकी प्रेमिका गंगाका श्रृङ्गार करके इनके इस मधुर मिलनमें सहयोग प्रदान करें। इस मिलनकी होलीमें हमें भी

सम्मिलित होना चाहिए। अतः अपने पितासे दिव्य कुंकुम लेकर उन्होंने उससे गङ्गाजीको सराबोर कर दिया है। उस अनुराग-रङ्गसे रञ्जित होकर गङ्गा प्रियमिलनकी उमङ्गमें फूलकर कुप्पा हो रही है। जान पड़ता है कि उसके प्राङ्गणमें दिव्य होली हो रही है। रङ्ग बरस रहा है और आनन्दकी वर्षा हो रही है। यह मधुर माङ्गलिक दर्शन हमारे श्रीमहाराजजीके भावी जीवनकी सर्वमङ्गलताका द्योतक है। परन्तु ये दिव्य शकुन भी आपकी आन्तरिक वेदनाको शान्त न कर सके। तथापि ये माङ्गलिक शकुन कभी वृथा नहीं होंगे।

इधर आपकी बेचैनी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। अब जीवन भार मालूम होने लगा था। सोचा, सत्यका अनुसन्धान तो हो नहीं सका। ऐसा जीवन किस कामका। हाय! सारा समय यों ही गया। अब जीकर क्या लेना है। इससे तो मरना ही अच्छा। ऐसा निश्चयकर अपना एकमात्र साथी तूँबा गङ्गाजीमें फेंक दिया और स्वयं छलांग मारकर श्रीगङ्गाजीकी गोदमें चिर-विश्राम लेनेका निश्चय किया। इतने हीमें भीतरसे गुरुओंके गुरु पुराणपुरुष भगवान् शङ्करकी आवाज सुनायी पड़ी—'ठहरो, देखो, मरनेसे क्या होगा। सम्भव है विचार-चन्द्रका उदय हो जाय। इस व्यथित जीवनपर भी अमृतवृष्टि हो सकती है।'

इस प्रकार श्रीगङ्गाजीके माङ्गलिग दर्शनका फल तुरन्त मिला। अन्तःस्थ अन्तर्यामी गुरुने आपको मरनेसे बचा लिया—'बस-बस बहुत हो गया, अब आगे नहीं।' फिर गङ्गाजीके समीप एक पुराने शिवमन्दिरमें चले गये। हृदयमें अनास्थाका वेग तो था ही। अब उसकी पराकाष्ठा हो गयी। साकार संस्कार समाप्त हो गये, श्रद्धा-विश्वास स्वाहा हो गये। भक्तिभावका साम्राज्य न जाने कहाँ लुप्त हो गया। परन्तु ऐसी अनास्था कम सौभाग्यसे प्राप्त नहीं होती। अत्यन्त उच्च कोटिके साधकोंमें ही ऐसा प्रणयरोष प्रकट होता है। मन्दिरमें जाकर आप शिवलिंगपर पैर रखकर लेट गये। भगवान् शङ्कर तो सच्ची लगन देखते हैं। कभी-कभी बड़ी अटपटी पूजासे भी वे प्रसन्न हो जाते हैं। अतः इस समय भी बड़ी अद्भुत घटना घटी, जिसने आपका परम शिवसे परिचय और मधुर मिलन करा दिया।

आपके ध्यान-मण्डलमें दो परमहंस प्रादुर्भूत हुए; मानो स्वयं भगवान् शिव और वशिष्ठ ही पधारे हों। उनके दिव्य प्रकाशसे उनका क्षुब्ध

समुद्र-जैसा मानसमण्डल शान्त हो गया। दोनोंका गौर वर्ण था। अवधूतों की भाँति हृष्ट-पुष्ट शरीर थे तथा दोनों ही भस्म, त्रिपुण्ड् और रुद्राक्षकी मालाओंसे विभूषित थे। उनके दर्शन करते ही, आपने उन्हें प्रणाम किया और जो प्रश्न चित्तको मथित कर रहे थे, उनके आगे रखे। बोले, "यह जगदाडम्बर कहाँ से उत्पन्न हुआ ? इसका कर्ता कौन है ? मैं कौन हूँ ? और सचाई क्या है ?"

बहुत देरतक प्रश्नोत्तर होता रहा। इससे आपके हृदयमें स्थित सभी सन्देह एक-एक करके निवृत्त हो गये। सारी समस्याएँ सुलझ गयीं और वास्तविकताकी खोज समाप्त हो गयी। पुराणपुरुष परमशिवका परिचय पाकर उनसे आपका अभेद हो गया। इस प्रकार मरने चले थे, परन्तु अमरता प्राप्त हुई। अमृतघंट हाथ लगा। **'स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते'** का सारभूत परम सत्य प्राप्त हुआ।

उन महापुरुषोंने आपसे ये दो श्लोक याद रखनेको कहा—

'नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम् ।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव ॥१॥
जडतां वर्जयित्वैतां शिलाया हृदयं च यत् ।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा ॥२॥'[1]

इन श्लोकों द्वारा आपको अपने इष्ट परमपदका अनुसन्धान प्राप्त हुआ इन्होंने आपको अपने परमलक्ष्यका अनुसन्धान इस प्रकार कराया जैसे भगवान् श्रीकृष्णका सुदर्शन-चक्र वीरवर अर्जुनके मार्गका अन्धकार चीरते हुए उन्हें महान् आदिनारायणतक ले गया था। भगवान् शिवकी यह महद्वाणी पाशुपतास्त्र होकर संशय-विपर्ययरूप भ्रमजनित अन्धकारको चीरते हुए सत्यं शिवं सुन्दरंमें समर्पित हुई। वह स्वयं ही समर्पित नहीं हुई उसने यह भी प्रकाशित कर दिया कि **'शेषितं यत्परं पदं तदस्मीति सुखी भव'** (अर्थात् सबका निषेध करनेपर जो परमपद बच रहता है

१. यह नहीं है, यह नहीं है, यह नहीं है—इस प्रकार (स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपञ्चका निषेध करनेपर) जो निषेध करनेके अयोग्य परमपद शेष रहता है वही मैं हूँ—ऐसा जानकर सुखी हो जा ॥ १ ॥ इस अज्ञानरूप जड़ताको त्याग कर जो शिलाके हृदयके समान घनीभूता अमनस्कता है सर्वदा तद्रूप अर्थात् शुद्ध चिन्मात्र होकर स्थित रहो ॥ २ ॥

वही मैं हूँ—ऐसा जानकर सुखी हो जा।) बस, 'दशवाँ तू है' ऐसा संकेत करके आश्चर्यचकित कर दिया। अब आपके आनन्दका ठिकाना न रहा। आप चमत्कृत हो गये। चमत्कृत क्या हुए स्वयं वही हो गये। बड़ा आश्चर्य। जिसे देखनेको तरसते थे वह स्वयं ही निकला। जिसके विषयमें सुननेको बेचैन थे, बस यही सुननेमें आया कि वह स्वयं तुम ही हो। जिसके लिए सारी शक्ति लगाकर मन्थन किया और निराश होकर मरनेके लिए तत्पर हुए वह तो कहीं दूर नहीं, समीपसे भी समीप निकला। इतना समीप कि उसके और अपने बीचमें कोई अन्य है ही नहीं। स्वयंसे बढ़कर स्वयंके समीप और कौन होगा। जब वह साक्षात् स्वयं ही है तो क्या परोक्ष और क्या अपरोक्ष ? बस, जो देखना था सो देख लिया, जो जानना था सो जान लिया, जो पाना था सो पा लिया। इस परम शिवने भी बड़ा कौतुक किया ! अजी ! यह इस पुरीमें ही शयन करता है स्वयं पूर्ण है, बिना आँखोंके देखता है और कान न होनेपर भी सब कुछ सुनता है। फिर भी झका-झकाकर मारा। मालूम होता है, प्रियाकी बेचैनीमें भी कोई अद्भुत रस है। एकदम मौन, किन्तु जब मरनेको तैयार हुई तो तुरन्त कौली भर ली। गजबका मिलन हुआ। नृत्यारूढ़ होकर बीचका पर्दा फाड़ दिया और बोले, "देख ! अपना आप कोई दूसरा नहीं, स्वयं ही है।"

अब आपने अपनेको स्वयं जान लिया कि मैं चक्षुका चक्षु हूँ; श्रोत्रका श्रोत्र हूँ; प्राणका प्राण हूँ; मनका मन हूँ और बुद्धिकी बुद्धि हूँ। केवल व्यष्टि-का ही नहीं; सम्पूर्ण समष्टिका भी यही सत्य है। यह भी स्पष्ट जान लिया और देख लिया कि बेचारे सर्वप्रकाशक वाक्की वहाँ गति नहीं है। सबका मनन करनेवाला बेचारा मन भी हार मानकर रह गया। बोल उठा **'न विद्मो न विजानीमो'**—हम न तो जानते हैं न पहचानते हैं। सब मूक होकर धरे रह गये। अब दृश्यमात्रपर दृष्टि डालनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मन जिसका मनन करता है और इदं रूपसे उपासना करता है वह परमशिब नहीं है। परन्तु जिससे मनन किया जाता है वह मैं स्वयं परमशिवस्वरूप हूँ। परन्तु कैसी विडम्बनाकी बात है; सुनकर भी कोई हँसेगा कि देखते तो सब हैं; किन्तु देखनेवालेकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं है; स्वाद तो लेते हैं; परन्तु स्वाद लेनेवालेपर किसीकी दृष्टि नहीं है। इससे भी अधिक आश्चर्यमयी अनुभूति है यह कि **"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'**—जो सबको जाननेवाला है उसे किसके द्वारा जाने। अतः अन्तिम अनुभव

यही हुआ कि सबका जाननेवाला मैं ही शेषित परमपद रूपसे परिपूर्ण परम-पुरुष शिव हूँ। **'सा काष्ठा सा परा गतिः'**—और वही सबकी पराकाष्ठा और परम गति है। अतः मैं ही सत्यका सत्य हूँ, रसका रस हूँ, ज्ञानका ज्ञान हूँ, सुन्दरताकी सुन्दरता हूँ और शिवका भी परमशिव हूँ। मैं ऐसा रस हूँ जिसे पाकर उसे पानेवाला रसरूप, आनन्दरूप, तृप्त और अमृत हो जाता है।

'तदस्मि' (मैं वह हूँ)—ऐसा कहते ही दृष्टि एकदम उलट गयी। एक बार मिलनेमें यह रस, यह शान्ति, यह आनन्द। एक बार वृत्त्यारूढ होनेपर यह चमत्कार, यह मधुर मिलन उस सर्वलोकैकजीवन मधुमय परमपुरुषसे। वह कैसे मिला— लौटा अपनेसे मिलनेके लिए और पाया स्वयं परमेश्वर शिव। बस, ज्ञाननेत्र खुल गये। अब मैं बुद्धिरूपा भवानी होकर केवल उनके अर्धाङ्गमें नहीं रहूँगा। मैं सुन्दरताकी सीमा भवानी हूँ अवश्य, इसीसे अपनी सुन्दरतामें—ऐश्वर्यमें मस्त होकर मैं परम-शिवको भूल गया था। इस सुन्दरताने सुन्दरताको भी सुन्दर करनेवाले अनन्त सौन्दर्यराशि परम शिवको ढँक दिया था। किन्तु अब उस परम-प्रेमास्पद परमशिवस्वरूप स्वयंमें समर्पित हो जाऊँगा। अब प्रेमसगाई हुई। इस प्रेमगलीमें जो आते हैं वे शीश हथेलीपर रख लेते हैं। अब तो उस प्रेममें एकदम गल जाऊँगा, नाम-निशान नहीं रहने दूँगा। अब **'स्वयं मत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते'** की सच्ची कहानी बन जाऊँगा। इस अमर गाथासे अनुप्राणित हो जाऊँगा। सिन्धुमें बिन्दु जैसा मिल जाऊँगा। वही होकर उस अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य एवं लावण्य रूपसे ही जगमगाऊँगा। समागम और विरहकी दुःखद ज्वालाओंको जीवनमें नहीं आने दूँगा। अब सत्ता हो तो उनकी, भान हो तो उनका और आनन्द हो तो उनका। तथा प्रियता हो तो उनकी प्रियता, उनका रस। बस, अपने व्यक्तित्वकी सत्ताको सर्वथा समाप्त कर दूँगा। हम रसिकोंकी राज-धानी अवश्य हैं, परन्तु अब रससमुद्रकी लहरी होकर नहीं रहूँगा। इतना मर मिटूँगा कि रससमुद्रमें ही रम जाऊँगा। जब ऐसी बात है तो यह अन्तर और बाह्य इन्द्रियोंकी ओढ़नी बेकार है। ओढ़नी तो सुन्दरताके लिए होती है, इसने तो मुख ही ढक लिया। यह प्यारेकी ओर दृष्टिपात करनेमें सहायक नहीं है। इसलिए इन्द्रियोंकी ओढ़नीको साधुकी गुदड़ीके समान ज्योंकी त्यों एक ओर रख दूँगा। वास्तवमें यह तो एक दिन छूट ही जाती है, इसलिए इसे पहले ही छोड़ दूँगा। सीमाको विदारकर

मैंने अब प्रियतमको पहचाना है, अतः अब इस सीमाका नाम-निशान नहीं रहने दूँगा।

श्रीमहाराजजीसे एक बार पूछा था कि वह मिलनेका सुख कैसा होता है? तब आपने कहा, "जैसे नवविवाहिता वधूसे सहेलियाँ पूछें कि प्रियतमके मिलनेका सुख कैसा होता है? तो वह मुसकराकर चुप हो जाती है, वैसे ही इस मधुर मिलनके आनन्द चेष्टा और रस जब ऊपर उमड़ते हैं तो उसीसे चतुर दर्शकवृन्द उसका कुछ आस्वादन कर लेते हैं, कहा कुछ नहीं जाता। यह तो गूँगेका गुड़ है।"



: ६ :

आत्मप्रेमका उल्लास

उपरतिकी ओर

इस प्रकार अनुभूतिका उन्मेष हुआ। जिज्ञासाग्नि शान्त हुई। परन्तु यह तो बड़ा अद्‌भुत रस है। एक बार आस्वादन होनेपर उत्तरोत्तर इसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। अगस्त्यजीने एक बार समुद्रका पान किया। उससे सम्भव है, उनकी पिपासा शान्त हो गयी हो। परन्तु हमारे श्रीमहाराजजीकी रसपानकी पिपासा शांत ही नहीं हुई। जैसी तीव्र जिज्ञासा थी वैसी ही अब मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा जाग्रत् हुई। प्रथम मिलनमें दृष्टिसे दृष्टि मिली, हृदयसे हृदय मिला। दाह सब शान्त हो गया। दोनों मिलकर गले लिपट गये और बिल्कुल एकमेक हो गये। किन्तु इस एक बारकी तन्मयताने अतृप्त ही छोड़ दिये। उल्टी ऐसी प्यास जगायी कि पूरा पी जाऊँ। अब तक उनका जीवन अनन्तकी खोज करते हुए अनन्तके मिलनमें समाप्त हुआ। अब अनन्तके मिलनने अनन्त रसपानकी पिपासा जगा दी। उनके शब्दोंमें ज्ञान-विज्ञानकी रसमयी धाराके प्रवाहका क्रम इस प्रकार है—'वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल उपरति है। इनमें इतना अन्तर है कि वैराग्य होनेपर विषयोंमें ग्लानि होनेके कारण उन्हें भोगा नहीं जाता और उपरति होनेपर वस्तु सामने रहनेपर भी उसे भोगने की प्रवृत्ति नहीं होती। इसके उपरान्त उपरतिका फल आनन्द है और आनन्दका फल शान्ति है।'

उनकी तो पहलेसे ही वस्तुमात्रमें सतीके शृङ्गारके समान उदासीन बुद्धि थी। अब मिलन होनेपर दृश्यमात्रसे उपरति हो गयी। यह बात तो पहले ही परिपक्व थी कि **'नैना रूँठ गये, नहिं कछु ध्यान।'** अब तो दृष्टि डालनेके लिए कोई वस्तु ही नहीं रही। अब नयना उलट गये—**'आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'** वाली बात हो गयी। अब लौटकर देखना ही नहीं है। दृष्टि भरपूर हो गयी, उसे क्यों खाली करें। परन्तु वह दृष्टि कितनी ही भरें पूरी ही नहीं होती। वह मानो पाना नरसिंह[1] हो गयी

१. दक्षिणमें कृष्णा-नदीके तटपर वेंजवाड़ाके दूसरी ओर नरसिंह भगवान्का एक विग्रह।

है । उसे कितना ही शरबत पिलाओ उसकी पूर्त्ति ही नहीं होती । इसी प्रकार उनकी दृष्टि अनन्तकी दृष्टि होकर अनन्तमें ही घुल-मिल जानेके लिए मचल उठी । आप कहा करते थे, "सौन्दर्य, आराम (रमण) और ज्योति बाह्य भी होते हैं और आन्तर भी । जिसे आन्तर सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है उसके लिए बाहरकी सुन्दरता कुछ भी नहीं रहती। प्रेमीका सुख अलग ही होता है। वह अन्तरारामी होता है, उसके लिए बाहरका रमण जाता रहता है । इसी प्रकार जिसे आन्तर ज्योति प्राप्त हो जाती उसके लिए बाह्य ज्योतियोंका कोई आकर्षण नहीं रहता।"

आपको तो जिज्ञासा-कालमें ही अति उत्कट वैराग्य था । केवल संसारके नामरूपोंसे ही नहीं, भगवदीय नाम-रूपोंसे भी चित्त हट गया था। जितनी भी देखी और सुनी वस्तुएँ थीं उन सभीसे वैराग्य था । इस प्रकार ज्ञान होनेके लिए जो कुछ आवश्यक था वह सब हो चुका था । अतः अत्यन्त उत्कट जिज्ञासाके पश्चात् ही ज्ञान प्राप्त हुआ । फिर प्रेम होना भी स्वाभाविक ही था । आपने यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया कि आनन्द विषयोंमें नहीं केवल आत्मामें ही है । यह सब होनेपर भी आप सतत सतर्कता और सावधानीकी आवश्यकतापर ही जोर देते थे । आपका कथन था कि परम स्वातन्त्र्यका मूल्य सतत सतर्कता और सावधानी ही है । परमार्थ तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी दीर्घकालीन अभ्यासके कारण चित्तमें बैठी हुई विषयोंकी प्रीति दूर नहीं होती । उनका आकर्षण बना ही रहता है । उसे दूर करनेके लिए असङ्गताका अभ्यास करनेकी आवश्यकता है । बिना अभ्यासके आत्मानन्दकी दृढ़ता नहीं होती और बिना आत्मानन्दकी दृढ़ताके विषयोंमें सुख-बुद्धि नहीं जाती। अतः विषयोंसे उपराम होनेके लिए और आत्मानन्दकी पुष्टिके लिए अभ्यास अवश्य करना चाहिए। अभ्याससे यह बात पुष्ट हो जायगी कि मैं चराचरका द्रष्टा हूँ और सम्पूर्ण दृश्य मरुभूमिका जल है।

श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि यह तो बड़े-बड़े युद्धोंकी अपेक्षा भी महान् युद्ध है। यह तो देवासुर संग्रामकी अपेक्षा भी बड़ा संग्राम है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड एक ओर हैं और यह अद्वितीय वीर दूसरी ओर । इस चक्रव्यूहको अकेले ही भेदन करना होता है । महान् महारथियोंका सामना करना होता है । यह भूतेश्वर परमशिवकी यात्रा सरल और सामान्य नहीं है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध अनेकों लुभावने और

भयावने रूप धारणकर सामने आते हैं। इष्ट बनकर ठगनेके लिए उपस्थित होते हैं, मित्र बनकर मयदानव निकलते हैं, गुरु बनकर कालनेमि सिद्ध होते हैं और रावण होनेपर भी राम-लक्ष्मण रूपमें परम प्रिय प्रियतम बनकर सामने आ जाते हैं। ये साधकको किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देते हैं। इस मार्गमें फँसनेका डर, फिसलनेका डर, निगले जानेका डर और उड़ा लिए जानेका डर भी है। यहीं नहीं इसमें मस्तिष्कके विकृत होने और हक्का-बक्का होकर दिल डिगनेका भी डर रहता है। इस परमशिवकी ओर यात्रा करनेमें बीच हीमें हज्म कर जानेवाले भूत-प्रेत मिल जाते हैं। इतना ही नहीं, विचित्र व्यसनोंमें डाल देनेवाले शृङ्गार रस, करुण रस, सख्य रस, वात्सल्य रस और मधुर रस अपने मनोहर रूप धारण कर श्रोत्रमनोऽभिराम मोठी-मीठी रमणीयार्थ-प्रतिपादक राग-रागनी और गीतोंको आलाप और गान करते हुए आते हैं। मैंने सङ्गीतके पीछे सम्पत्तियोंको स्वाहा होते देखा है, ठंडाईके पीछे धन ठण्डा हो जाता है। स्पर्शके पीछे स्वाहा हो जाते हैं जीवनके जीवन और घरके घर। वीभत्स रस बीच-बीचमें भयावह स्थिति उपस्थित कर देता है। दृश्यका आकर्षण ऐसा प्रबल है कि उसमें बड़े-बड़े मनस्वी एवं विद्वान् भी फँस जाते हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इस युगकी एक महान् विभूति थे। उन्हें परमहंस श्रीरामकृष्णने सच्चा विद्यासागर बताया था। परन्तु एक बार नाटक देखते हुए जब अभिनयमें एक अंग्रेजको एक भारतीय कुलीपर अत्याचार करते देखा तो उसमें ऐसे तन्मय हुए कि यह भूल गये कि मैं नाटक देख रहा हूँ। उसे सच्चा दृश्य समझकर अपना चप्पल उतारकर दे मारा। जब नकली दृश्योंका यह हाल है तो उस जगन्नियन्ता नटनागरके इस दृश्यप्रपञ्चके आकर्षणके विषयमें क्या कहा जाय। इसलिए यह किसी अद्वितीय महावीरका ही हृदय हो सकता है कि इस अनन्त रङ्ग-रङ्गीले जगन्नाटकपर दृष्टि न जाय। बस, अपने जगन्नाथ रसनागरके हृदयसे हृदय, दृष्टिसे दृष्टि और प्यारसे प्यार मिला रहे। इस अद्वितीय वीरकी यात्रा तो चिदाकाशमें होती है। सम्पूर्ण प्रपञ्च भूताकाशमें स्थित है और योगी तथा अन्तरङ्ग उपासकोंकी स्थिति चित्ताकाशमें है। इस चिदाकाशरूप परमेश्वरको दिव्यातिदिव्य नाम, रूप और लीलाओंके प्रपञ्चने घेर रखा है। इस घेरेको तोड़कर जाना है, क्योंकि चिदाकाश ही ज्ञानीका लक्ष्य होता है। सब प्रकारके आकर्षणोंसे निकलकर चिदा-काशमें जाना है। इसके लिए आपका कथन था कि असंगतताका निश्चय

हो जानेपर भी यदि जगत्‌की सत्यता बनी रही तो उसमें आसक्ति हो जाना सम्भव है, क्योंकि बिना असत्यता निश्चय हुए जगत्‌में रमणीयबुद्धि दूर नहीं होती। इसलिए उसकी असत्यताका बोध भी परम आवश्यक है। अतः चिदाकाशके यात्री या आत्मचिन्तनके इच्छुक पुरुषको प्रतीतिमात्रको आकाश-कुसुमके समान समझकर उसकी उपेक्षा करते हुए निःसंकल्पतापूर्वक अपने-आपको वृत्तिसाक्षीरूपसे अनुभव करना चाहिए। यद्यपि विचारदृष्टिसे दृश्यका अस्तित्व नहीं है, तथापि दृश्यमें राग न हो—इसका उपाय निरन्तर करता रहे। परमात्मामें चित्त आसक्त हुए बिना कोई साधक सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होगा। अतः आत्मज्ञान हो जानेपर भी आत्मप्रेमका उत्कर्ष निरन्तर होता रहे, उसमें ढील न पड़ने पावे।

आप कहा करते थे—'मैंने अनुभव किया है कि अभ्यासका कैसा चमत्कार होता है—

'आतिवाहिक देहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम्।
आधिभौतिकतां नीतं पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥'

'देखो, यह अभ्यासका ही खेल है कि आतिवाहिक देह जो यह मन है और जो वास्तवमें शुद्ध चिदाकाश ही है वही भूलके कारण दृढ़ताका अभ्यास होनेसे आधिभौतिक रूपमें पिशाच जैसा खड़ा हो गया है। अतः निरन्तर इसके विपरीत अभ्यास करनेकी आवश्यकता है, शिथिल अभ्यास से कुछ नहीं होगा। सावधान चित्तसे निरन्तर अभ्यासमें लगा रहे। वह पुस्तकी विद्या नहीं, अनुभवका पद है।

'अभ्यासकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) स्थूल शरीरसे अपनेको भिन्न समझना। इस अभ्यासकी पुष्टि होनेपर सूक्ष्मशरीरमें आत्मत्वका अभिमान हो जाता है। (२) उसके पश्चात् शब्दादि विषयोंसे असंगता अनुभव करनी। इससे दृष्टि सूक्ष्म शरीरसे हटकर कारण शरीरमें स्थित हो जाती है। (३) फिर सुख-दुःखसे पृथक्‌ता अनुभव करनी। इसमें अन्तःकरण चतुष्टयसे हटकर शुद्ध आत्मामें स्थिति होती है। इसीके विषयमें आप कहते थे कि तदवीर वही है जो तकदीरको मिटा दे।

चिन्तनके समय असंगताकी भावना करनी चाहिए। जगत्‌की असत्यता तो विचारसे सिद्ध ही है। चिन्तन बढ़नेके साथ आसनादिसे बैठनेकी प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है, उसका बढ़ना अच्छा है। वृत्ति

बढ़नेसे निद्रा-तन्द्रा आदि दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं तथा आसन भी स्वयं स्थिर हो जाता है। इसकी प्रेरणाके लिए चाहे आँखें खुली रखो चाहे बन्द, आवश्यकता है चेष्टाशून्य हो जानेकी। सीखनेकी वस्तु भजन है, ब्रह्मविचार नहीं। जबतक विचारका उदय नहीं होता तबतक तो जिज्ञासुके लिए ज्ञान बड़ा है। किन्तु ज्ञान हो जानेपर तो आत्मामें आसक्ति होनी ही बड़ी बात है। पहले इष्ट वस्तुमें आसक्ति होती है, फिर भाव होता है और तत्पश्चात् प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेमको ही समाधि कहते हैं। यह अवश्य है कि इस संघर्षमय जीवनमें तुम्हें नित्य-प्रतिके अभ्यासमें कठिनाई होगी, बड़ी-बड़ी असुविधाओंका सामना करना होगा। उस समय तुम्हें सावधान रहना होगा। यदि संसार है ही नहीं तो चिन्तन क्यों करते हो। संसार तो भावनासे ही बना है। अतः विपरीत भावनासे इस भावनाका अभाव करो।

"निवृत्तिपरायण होना—यही ज्ञानका फल है। यहाँ तो बुद्धिका ऑपरेशन है। यही 'नेति-नेति' करके अवशिष्ट परमपदका स्वरूप है। यहाँ समष्टि-व्यष्टि सभी प्रकारकी बुद्धि और बुद्धिकी निवृत्तिकी भी निवृत्ति हो जाती है। यह असंगाकार बुद्धि ज्ञानाग्नि है। यह बुद्धिको स्वाहा कर देती है। यह वृत्ति नित्य-अनित्य, सत्-असत् और जड़-चेतनका विभाग करती है। अतः यह इन सबसे विलक्षण है। इस वृत्तिका लय प्रारब्धकी समाप्तिपर होता है। बोध वृत्तिसे ही होता है, आत्मा तो साक्षीमात्र है। निखिल प्रपञ्चका बाध होनेपर जो प्रपञ्चशून्य निर्विशेष वृत्ति होती है उसे ही ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। वह वृत्ति कर्ताका बाध करके होती है; इसलिए वह कर्ताके अधीन नहीं है। वह ब्रह्मकी वृत्ति है और स्वतःसिद्ध एवं अपरिणामिनी है। ब्रह्माकार वृत्तिकी घनता होनेपर निर्विकल्प समाधि होती है। उस समय प्रपञ्चकी प्रतीति भी नहीं होती। यही ब्रह्माकार वृत्ति और समाधिमें अन्तर है।"

वस्तुतः यह वृत्ति ही विवेक-दण्ड है, जिसके विषयमें कहा है—

उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियाहीन् पुनः पुनः।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन्॥

अर्थात् जैसे इन्द्र पर्वतोंपर प्रहार करता है वैसे ही पुनः-पुनः उठनेवाले इन इन्द्रियरूप सर्पोंपर विवेकरूप दण्डसे प्रहार करना चाहिए। यह वृत्ति ही आदिनारायणके पास ले जानेवाला श्रीकृष्णका सुदर्शन चक्र

है। यही परमशिवका पाशुपतास्त्र है, जो निषेध द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्चको चीरते हुए बुद्धिरूपी भवानीको अपनेमें समर्पित कर लेता है। और यही वरमाला है जिसे परमशिव धारण करते हैं।

इस स्थिति तक पहुँचनेके लिए आपने राजयोगका प्रतिपादन करनेवाले ये श्लोक बताये थे—

'न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो न देशकालौ न च वायुरोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा समेधमाने सति राजयोगे॥
नेत्रे ययोन्मेषनिमेषशून्ये वायुर्यया वर्जितरेचपूरः।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम्॥
उन्मन्यवस्थाधिगमाय विद्वन्नुपायमेकं तव निर्दिशामः।
पश्यन्नुदासीनतया प्रपञ्चं सङ्कल्पमुन्मूलय सावधानः॥
प्रसह्य सङ्कल्पपरम्पराणां सम्भेदने सन्तत सावधानम्।
आलम्बनाशादपचीयमानं शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः॥[1]

(श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यकृत योगतारावली)

इसके लिए आपकी शाम्भवी मुद्रा सर्वथा अनुकूल ही थी। यह मुद्रा परमशिव शम्भुके प्रेमकी सहचरी ही है। श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि सुषुप्ति और स्वप्न तो बीचमें घुस आये हैं, इन्हें हटाओ। पहले ये दो अवस्थाएँ नहीं थीं। इस प्रकार निष्कण्टक राज्य करनेके लिए पूर्ण आत्मश्री प्राप्तकर सच्चे चक्रवर्ती होना ठीक समझकर अपने लक्ष्यके प्रतिबन्धक शत्रुओंको बीन-बीनकर मारना ही आपने अच्छा समझा। आपका कथन था कि इच्छा क्रिया और ज्ञानका परस्पर सम्बन्ध है। क्रिया रोक देनेसे आसन और प्राणायाम हो जाता है। इसी प्रकार इच्छाकी निवृत्ति होनेपर धारणा और ध्यान हो जाते हैं तथा इच्छापूर्वक क्रिया न करनेपर क्रियाकी शान्तिरूप समाधि हो जाती है।

१. राजयोगके अनुसार समाधिका अभ्यास करनेपर दृष्टिके लक्ष्य, चित्तकी एक देशमें स्थिति, प्राणनिरोध और धारणा-ध्यान आदिका परिश्रम आवश्यक नहीं है। जिसके द्वारा नेत्र निमेष-उन्मेषशून्य हो जाते हैं, प्राणोंका आना-जाना बन्द हो जाता है तथा मन सङ्कल्प-विकल्परहित हो जाता है वह उन्मनी अवस्था मुझमें उदित हो। हे विद्वन्! इस उन्मनी अवस्थाकी प्राप्तिके लिए मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ—सम्पूर्ण प्रपञ्चको उदासीन भावसे देखते हुए सावधानीसे सङ्कल्पको निर्मूल कर दो। इस प्रकार सावधानीसे सङ्कल्पपरम्पराको उखाड़ देनेपर कोई आलम्बन न रहनेके कारण चित्त क्षीण होता हुआ धीरे-धीरे शान्त हो जाता है।

ध्यानका अभ्यास परिपक्व होनेपर निद्रा कम हो जाती है, क्योंकि ध्यानसे ही निद्राजनित विश्राम मिल जाता है। जब चित्तसे विक्षेप निकल जाय तभी ध्यान पूरा हुआ समझो। चिन्तनसे चिन्तन दूर होता है। जब आत्मचिन्तन होने लगता है तो जगच्चिन्तन स्वयं ही छूट जाता है। ध्यानके समय मनको शरीरके साथ मिलाना नहीं चाहिए। यदि मन स्थिर न हो तो भी शरीरको नहीं हिलने देना चाहिए। इस प्रकार शरीरको स्थिर रखकर चित्तको एकाग्र करना चाहिए। ध्यानमें हठकी आवश्यकता है। एक लक्ष्यमें वृत्तिको स्थिर करके तदाकार रहना ही हठ है। रास्ता चलनेसे वह रास्ता ही आगेका मार्ग दिखा देता है। चाहे ज्ञान हो चाहे भक्ति, जबतक विक्षेप निवृत्त न होगा तबतक सुख नहीं मिल सकता। विक्षेपकी निवृत्ति न होनेसे ज्ञानी और भक्तोंमें आसुरी सम्पत्ति रह जाती है। यह विक्षेपकी निवृत्ति ध्यान द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त होनेपर होती है। उपनिषद् कहती है—**'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।'** अर्थात् पुरुषसे परे और कुछ नहीं है वही परत्वकी सीमा और सर्वश्रेष्ठ गति है। इस पुरुषमें प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही गीताके शब्दोंमें परम नैष्कर्म्यसिद्धि है। यही आपका लक्ष्य था। आप कहते थे, यही जवाहरात है कि प्रकृतिका अस्तित्व मिटाकर पुरुष ही पुरुष रह जाय। इस प्रकार समाधि और प्रेमकी पराकाष्ठा और उसका साङ्गोपाङ्ग साधन दिखाकर आप घोषणा करते थे— **'वासना विसारि डारो—यही बड़ी बात है।'** सब लोग अपनी वासनाके अनुसार ही सब कुछ देखते हैं। अतः वासनारूप निद्राकी निवृत्ति ही 'तुरीय' शब्दसे कही जाती है—

स्ववासनानुरूपेण सर्वः सर्वाणि पश्यति।
प्रक्षीणवासनानिद्रा तुरीयत्वेन कथ्यते॥[1]

जैसे नदीके प्रवाहमें कोई महामत्स्य एक तटसे दूसरे तटतक विचरता रहता है उसी प्रकार आत्माराम महापुरुष इन अवस्थारूप तटोंके बीचमें विचरण करता रहता है। आप अपने स्वरूपविहारकी अन्वय और व्यतिरेकरूप गतियोंमें पराकाष्ठा करना चाहते थे। व्यतिरेककी पराकाष्ठा ही निर्विकल्प समाधि है, जिसे आप प्रेम कहते थे। अन्वयविहार जाग्रत् है। इसकी मधुरतामें कटुताका लेशमात्र भी योग न हो। आप घोषणा करते थे—**'स्वभावविजयं शौर्यम्'**—अपने स्वभावपर विजय प्राप्त

१. सब लोग अपनी वासनाके अनुसार ही सब वस्तुओंको देखते हैं। जिसमें वासनारूप निद्रा क्षीण हो गयी है वह तुरीयरूप कहा जाता है।

करना ही शूरवीरता है। इस प्रकार जाग्रत् और समाधिमें परमशिवका मधुर विहार होता है। इसमें सावधानी यही रखनी है कि मधुररसमें कटुता न आने पावे। इस मधुररसका परिपाक होनेपर उसमें मिठास ही मिठास रह जाती है। निर्विकारता सम्पादन करना परम आवश्यक है। जबतक चित्त लीन नहीं होता तबतक क्रियाके सम्बन्धसे विकार हुए बिना नहीं रह सकता। चित्त लीन हो जानेपर फिर जो क्रिया होती है वह तो केवल लीलामात्र हुआ करती है। उसमें आस्था न रहनेके कारण कोई विकार नहीं होता। यह विषवत् तृष्णा केवल आत्मारामीको ही धोखा नहीं दे सकती। बाकी सब संसारको तो नचाती ही है। जिस समय राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाय तभी समझना चाहिए कि हमें पूर्ण बोध हुआ है। राग-द्वेषका पू ं अभाव हुए बिना साधनकी पूर्णता नहीं होती। जिस समय हमें कोई कतल करनेको तैयार हो और हम प्रसन्नतासे उसके लिए तैयार हों, हमारे हृदयमें किसी प्रकारका भय या विषाद उत्पन्न न हो, उस समय समझना चाहिए कि हमने राग-द्वेषपर विजय प्राप्त कर ली है। अथवा जिस समय हमारी दृष्टि पड़ते ही सिंहादि हिंसक जीवोंकी हिंसावृत्ति दूर हो जाय उस समय राग-द्वेषका अभाव समझना चाहिए। पूर्ण बोधनिष्ठामें तो किसी भी प्रकारके सूक्ष्मातिसूक्ष्म राग-द्वेषके लिए भी अवकाश नहीं है। जबतक ऐसी स्थिति प्राप्त न हो तबतक अभ्यास तो करते ही रहना चाहिए। प्रकृतिकी आदिम उच्छृङ्खल अवस्था और नरकका गम्भीरतम हाहाकार चाहे क्यों न हो, चाहे प्रलय हो रहा हो, समुद्र सूख रहा हो, पहाड़ टूक-टूक हो रहे हों तथा विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें अपने नाशके लिए घोर संग्राम छिड़ा हो, तथापि आत्मदर्शीके चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता। हमको अपनी स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होना चाहिए। यदि हम अपनी स्थितिसे विचलित हो गये तो हम विचारवान् कैसे ? चाहे करोड़ों शत्रु उपस्थित हों, उनसे प्रेम ही करना चाहिए और चाहे करोड़ों मित्र आ जायँ, उनसे राग नहीं करना चाहिए। जो मानके इच्छुक हों उन्हें मान देना चाहिए। और भी जो व्यक्ति हमसे जिस वस्तुकी इच्छा करें उन्हें यथासम्भव वह वस्तु दे देनी चाहिए। मायाका चमत्कार जिसे वशमें न कर सके, जिसका चित्त संसारके किसी भी पदार्थकी ओर आकर्षित न हो और जो मनसे भगवान्में लीन हो गया हो वही सिद्ध है। इसीको आप ज्ञानके पश्चात् होनेवाला सच्चा भजन कहते थे।

प्रेमके लिए कटिबद्ध

मैंने श्रीगरुड़जीकी अमृतप्राप्तिका अद्भुत वर्णन पढ़ा था। किन्तु श्रीमहाराजजीकी अमृतप्राप्ति और आस्वादनकी लीला उससे भी अद्भुत देखी-सुनी। अमृतकलशकी रक्षा अनेकों सर्प कर रहे थे। उनकी जिह्वाओं-से विषाग्निकी लपटें निकलती थीं। उनके चारों ओर आकाशमें अग्नि-मण्डल व्याप्त था। परन्तु गरुड़जीने अपने मुखमें चारों समुद्रोंका जल भरकर उससे अग्निको ठण्डा कर दिया और पङ्खोंमें धूल ले जाकर उसे सर्पोंकी आँखोंमें झोंक दिया तथा पङ्खोंसे उन्हें क्षत-विक्षतकर अमृतकलश लेकर दौड़ आये। इस स्वर्गीय अमृतकी प्राप्तिमें उन्हें इतनी धीरता-वीरताकी आवश्यकता पड़ी। फिर इस अनन्तलोकैकजीवन, पूर्णामृतरस-समुद्र, सत्यात्मक, सर्वाधीश अनन्तरससागरको अपनानेके लिए कितनी अद्वितीय वीरता चाहिए। इस पूर्ण सौन्दर्यलक्ष्मीकी रक्षा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापरूप अग्निमण्डल और अनेकवासना-जालरूप विषैले सर्प कर रहे हैं। इसके चारों ओर अनेकों रङ्ग-बिरङ्गी सुरंगें बिछी हुई हैं। प्रथम साक्षात्कारके अनुभवमें ही आपको मालूम हो गया कि कैसे-कैसे प्रलोभन घेरते हैं। इसलिए आपने भगवान् बुद्धका यह निश्चय अपनाया—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुजन्मदुर्लभं नैवासनात् कायमिमं चलिष्यति॥[1]

आपने मिलनका रस तो छक लिया। उसमें अविच्छिन्न रति, स्थिति और गतिके लिए सहर्ष-बलिदान होनेका निश्चय किया। अपने इस प्रयत्नमें किसी प्रकारकी शिथिलता न हो—इसके लिए आपने भगवान् बुद्ध-का एक ऐसा चित्र रखा, जिसमें यह दिखाया गया है कि प्रचण्ड साधना करते-करते उनका शरीर मूर्त्तिवत् और पाषाणवत् हो गया था, केवल चमड़ा और हड्डियाँ रह गयी थीं। पेट पीठमें सट गया था और प्रत्येक अङ्ग बल खा गया था। जब अप्राप्त बोधकी प्राप्तिके लिए भगवान् बुद्धने इतना प्रचण्ड तप किया, फिर आपने तो उस सन्मात्र-चिन्मात्र स्वरूपको देख और जान लिया था कि **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'**,

---

१. यहाँ इस आसनपर ही मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा हड्डियाँ और मांस नष्ट हो जायँ, तथापि अनेक जन्मोंमें भी जिसका प्राप्त होना कठिन है उस बोधको बिना पाये यह शरीर आसनसे चलायमान नहीं होगा।

'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।' अतः निश्चय किया कि जो मृतक है उस मुर्देको अमृतनिवासमें रमण करनेके लिए छोड़ दूँगा। एक गेहूँ मरकर —अपनेको मिट्टीमें मिलाकर हजारों गेहूँ देता है; वैसे ही इस अल्प शरीर, प्राण और मनको मिट्टीमें मिला दूँगा, जिससे प्राणका भी प्राण और मनका भी मन होकर स्वमहिमामें स्थिर हो जाऊँगा। यह जीवित दृश्य यदि मेरा बाल बाँका नहीं कर सका तो अब बाधित होनेपर क्या बिगाड़ सकता है। जैसे जीवित चूहा भी बिल्लीका कुछ नहीं बिगाड़ सकता तो मरा हुआ क्या बिगाड़ करेगा। इस प्रकार दृश्यमात्रमें मुर्दाबुद्धि करके अपने आरोहणमें तीव्र संवेग लाऊँगा। इतना ही नहीं, बोधराजाका शिकार किया हुआ यह मृतक सिंह आँगनमें पड़ा-पड़ा उन बोधनृपकी बलिहारी-बलिहारीका गीत गायेगा। इस प्रकार अमरगुफाका मार्ग अवरुद्ध करने वाले इन पाँचों कोशोंको हटाऊँगा। फिर निष्कण्टक स्वराज्यलक्ष्मीके पूर्ण स्वत्वके लिए आगे बढूँगा। यह मन अनेकों रूप धारण करेगा। प्रलोभनके तरह-तरहके रूप धारणकर आगे नहीं बढ़ने देगा। क्षिप्त, विक्षिप्त, प्रक्षिप्त आदि अनेकों विकराल रूप धारण करेगा, परन्तु मैं उनसे घबराऊँगा नहीं। प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहरूप धारण करके सामने आ जाय तो भी उनके साथ सटूँगा नहीं। अनेकों सम्प्रज्ञात समाधियाँ अपने विचित्र रसमय मोहनरूप धारण करके आ जायँ, तथापि पग-पगमें स्वरूपानन्दका आस्वादन करते हुए उन्हें हटाता जाऊँगा। फिर शुद्ध चिन्मात्र दृङ्‌मात्र साफ नङ्गमनङ्गा होनेके लिए उनमें रसास्वाद न करते हुए विवेक द्वारा असङ्ग रहूँगा।

इसके लिए आपने 'भगवान् बुद्धका तपः साधन' नामका एक चित्र रखा था। उसके नीचे लिखा था—'थोड़े ही दिनोंमें वे असम्प्रज्ञात समाधि-में पहुँच गये। इसी प्रकार अनेकों समाधियोंको पार करके अन्तमें वे सिद्धासन लगाकर समाधिमें निमग्न हो गये।'

यही थी आपकी स्वरूपामृत प्राप्ति। इस स्वरूपलक्ष्मीकी रखवाली करनेवाले मनरूप अनन्तफणधर नागोंको मारकर मस्त स्वस्थ स्वरूपस्थ रहना—यही था आपका निषेधमुख नित्यविहार और यही है शुद्ध परात्पर निर्दोष परमशिवका नित्यविहार। उस परमशिवका स्वरूप है सर्वरूप और सर्वदृक्। उस शुद्ध अविनाशी दृङ्‌मात्रमें दृष्टि एकमेक हो जाय अर्थात् अपनी अविपरिलुप्त दृष्टिसे उसीको निहारे और उसीमें विहारे। इस पुरुषके पक्षीके समान वैराग्य और बोध दो पङ्ख हैं। उन

दोनोंके बिना मुक्तिरूप महलकी अट्टालिकापर आरोहण नहीं हो सकता। वैराग्यकी अनेकों सीढ़ियों द्वारा विज्ञानके प्रकाशमय जगमगाते हुए दीपकोंसे देदीप्यमान महलमें पहुँचकर ज्ञानो पुरुष मुक्तिमहारानीके साथ आनन्दित होता है।

श्रीमहाराजजीके जीवनमें यह परम शिवावतरण वैसा ही हुआ जैसे पतितोंको पावन करनेके लिए गङ्गावतरण हुआ था। भगवान् शङ्करने समर्थ होकर गङ्गाजीको अपने जटाजूटमें धारण किया। वे उस ब्रह्मद्रवको अपनी अलकोंमें ही रोककर आनन्दित रह सकते थे। परन्तु उन्होंने उसे मस्तकपर धारणकर फिर अनन्त ब्रह्माण्डको पवित्र करनेके लिए आर्यावर्त्तमें प्रवाहित किया। उसी प्रकार आपने भी इस परमशिवानन्दरूप गङ्गावतरण को अपने हृत्प्रदेशमें धारणकर उसीमें रमे रहनेमात्रमें सन्तोष नहीं माना। अपितु उसे सभीके कल्याणार्थ सर्वसाधारणमें प्रवाहित करनेका निश्चय किया। इसलिए आपको यह अभिमत नहीं था कि एक आनन्दसत्ताको पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक ती सत्ताओंमें विभक्त किया जाय। आपको तो एक आनन्दसत्ता ही अभीष्ट थी। व्यक्तित्व, प्रतिभास और व्यवहारको लेकर लेशाविद्या स्वीकार करना आपको अनुभवके विरुद्ध प्रतीत हुआ। अद्वितीय पूर्णानन्दमय सर्वात्मक शुद्ध चेतन ही अनेक रूपमें क्रीडा कर रहा है। इस विभाजनका कारण विक्षिप्तचित्त है। उसके समूल नाशके लिए वासनासमूहको निर्मूल करनेका निश्चय किया। उसको दैनिक जीवनमें पद-पदपर आचरणमें लानेके लिए आपने अपनी डायरीमें श्रीविद्यारण्य स्वामिकृत दुर्वासना-प्रतीकार-दशकम् लिख लिया था।

इसका आशय यही था कि सब क्षेत्रोंका शोधनकर सद्दर्शन, जीवन-दर्शन और ब्रह्मदर्शन तीन नहीं, एक अद्वितीय स्वयं ही हैं। ज्ञान साधक-बाधक नहीं है' ऐसा कहकर झूठी तुष्टिमें रहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान-विज्ञान-रसधारा महदानन्दरूपमें प्रवाहित न हो तो क्या रहा? आपकी चित्तभूमि तो जिज्ञासाकालमें ही तैयार हो चुकी थी। अतः साक्षात्कार होते ही आप परमशिवके मुखचन्द्रकी चकोरी हो गये। उस तन्मयतामें प्रेमरससागर मर्यादा तोड़कर उमड़-उमड़कर उछलेगा। उसका आनन्द लेना है। उसी तन्मयतामें उत्साहित होनेके लिए आपने भगवान् बुद्धका एक अन्य चित्र अपने पास रखा था, जिसमें वे ध्यानमें तल्लीन हैं।

कानपुरकी ओर

इस प्रकार आप वैराग्यरसिकशेखरसे प्रेमरसिकशेखर होकर परमशिवमें तन्मय होते जा रहे थे। जो रसधारा ब्रह्माकार और ब्रह्ममयी होकर श्रीपूर्णानन्द-तीर्थमें फूट निकली थी उसने अब तीव्र वेग धारण कर लिया। वह अनुरागरूपमें परिणत हो गयी। जैसे कोई मार्ग भूला हुआ व्यक्ति अपने घरकी ओर लौटने लगे वैसे ही यह तो स्वयं अपनी ही ओर लौटनेका मार्ग था। इस आन्तरिक प्रशान्तसागरकी शान्ति उनके व्यक्तित्वके तटोंमें छा गयी। उनका रोम-रोम जिज्ञासाग्निसे उत्तप्त और तृषाकुल था। अब उन्हींसे आनन्दरसकी फुहारें निकल रही थीं, क्योंकि परमशिवके प्रेमास्वादकी लीला उनके हृदयमें आविर्भूत हो गयी। उनका मुखमण्डल दिव्यज्योतिसे जगमगाने लगा। प्रियतमके अनुराग-रङ्गसे रञ्जित होकर रसमाधुरीकी जो भीनी-भीनी महक प्रकट हुई उसने नेत्रोंको अर्धोन्मीलित कर दिया। आत्मा अथाह रसपानकी ओर जा रहा है—यह अनुभव होने लगा। इस प्रकार ब्रह्मानन्दका रस जीवनमें छा गया, दृष्टि प्रेमरसके नशेमें चूर हो गयी, हृदय इस आनन्दमें उल्लसित था कि जो जानना था जान लिया और जो पाना था पा लिया तथा मुखमण्डल प्रसन्नताकी पराकाष्ठासे उल्लसित हो उठा। प्रेमरस जीवनरस होकर अङ्ग-अङ्गमें छलकने लगा। इस प्रकार जीवनक्षेत्रमें ब्रह्मानन्दकी हरियाली उत्तरोत्तर बढ़कर आह्लादित करने लगी।

इस मस्तीमें आप गङ्गातटपर आगे बढ़ने लगे। कुछ दूर जानेपर एक गाँवमें आपने चातुर्मास्य किया। वहाँ एक गृहस्थकी बैठकमें ठहरे। उसमें पहले एक महात्मा रहते थे। उनका शरीर शान्त हो चुका था। उनके स्वाध्यायके अनेकों ग्रन्थ वहीं रखे हुए थे। परन्तु आपका निश्चय था कि शास्त्र-जङ्गलमें नहीं पढ़ना चाहिए। शास्त्रीय और अशास्त्रीय दोनों प्रकारका मनोराज्य जगत् ही है। साधकको इन दोनों हीसे दूर रहना चाहिए। अधिक शब्दजालमें पड़ना ठीक नहीं; इससे मनमें विक्षेप होता है। नक्शेमें जैसे अनेकों नदियोंके चित्र होते हैं, परन्तु उनमें जल एक बूँद भी नहीं होता, उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञानका रस भी है। अतः इस शास्त्रजालमें समय न बिताकर आप एकान्तमें आत्मरमणमें तत्पर रहे। शीतोष्ण सहन किया और जनसंसर्गसे दूर रहे। बस, अपने कामसे काम था। इस समय आपको स्वप्न और ध्यानमें अनेकों दिव्य अनुभव होते थे। श्रीशुकदेव, वामदेव और दत्तात्रेय आदि सिद्ध महापुरुषोंका

सत्सङ्ग होता था। मानो वे आपको अपने आदर्शोंके लिए बलिदान होनेमें उत्साहित करनेके लिए ही आते थे।

वर्षा व्यतीत होनेपर आप आगे बढ़े। आपको एक पञ्जाबी सन्त मिले। उन्होंने भी निर्विकल्प समाधिके लिए सिद्धासन, शाम्भवी मुद्रा और केवली कुम्भकको ही अपनाया हुआ था। उनके रहन-सहनमें विशेष बात यह थी कि वे एकान्तशील, मिताहारी और मितभाषी थे। श्रीगीताजीकी ज्ञाननिष्ठा ही उनके हृदयका हार थी। आप दो-तीन दिन उनके पास रहे, क्योंकि उनका रहन-सहन, साधन और लक्ष्य आपसे मिलता था। परन्तु फिर विचार किया कि ध्यानाभ्यासीको किसीके भी साथ नहीं रहना चाहिए। **'एक एव चरेद्भिक्षुर्न केनापि सहालपेत्।'** अतः फिर आप आगे बढ़ गये।

आप तो उन परमशिवकी ओर बढ़ रहे थे जो स्वयं छिपकर जादूका खेल करते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप सूत्र प्रसारणकर उसमें आरूढ़ मायावीके समान बार-बार विराट्, तैजस और प्राज्ञरूपसे चढ़ते हैं और स्वयं छिन्नमस्त होकर गिरते एवं पुनः उठते रहते हैं। ऐसे कटे-मरे जादूकी माया और मायावी आपको ग्राह्य नहीं थे। जो इनसे भिन्न परमार्थ मायावी तुरीयाख्य परमशिव है उसीमें तन्मय होते जा रहे थे। उनका रस तो साक्षात्कारके समय मिला। अब आप उपाधि-दौर्गन्ध्यसे उन्मुक्त शुद्ध रस चाहते थे। अतः स्वयं भी दृश्यरूप उपाधि-दौर्गन्ध्यसे निर्मुक्त होते हुए शुद्ध होकर, शुद्धसे सत्य होकर और सत्यसे परमशिव होकर परमशिवसे मिलने जा रहे थे, जिस प्रकार बिन्दु सिन्धुसे। प्रकृति-विकृतिसे मिले हुए रसको त्यागकर उसकी विवर्त्तरूप शैवालको हटाते हुए अजात शिवरससे अभिन्न हो रहे थे। बीच-बीचमें जैसे भवानीकी प्रेमपरीक्षाके लिए सप्तर्षि आते थे उसी प्रकार ऐसे सङ्कल्प भी आ जाते थे कि क्या करोगे उस अचिन्त्य अव्यक्त स्थितिको लेकर। देखो, ब्रह्म तो ज्यों-का-त्यों है। क्या ब्रह्माकार वृत्ति लेकर चल पड़े। यही ब्रह्म-दृष्टि है। भला, सुषुप्ति और समाधिमें क्या अन्तर है? छोड़ो, जो होना था सो हो गया, जो पाना था सो पा लिया। यह सब देखकर आप हँस जाते और कहते कि मैंने यह स्पष्ट अनुभव किया है कि शुद्ध परात्पर परमशिवरस ही सर्वोपरि है, और सब रस पराधीन हैं, उन्हें लेकर क्या होगा। मुझे तो उसीके चिन्तन और आस्वादनका उत्साह है। उस शुद्धरसमें तन्मय होना है, इसलिए 'नेति-नेति' करके इस ब्रह्ममयताको

त्याग रहा हूँ। इसमें 'मयट्' प्रत्यय माया है। मुझे मायिक मिलावट नहीं चाहिए।

बस, आप गङ्गाजीकी धार-धार कानपुरकी ओर चल दिये। भीतर भी आनन्दगङ्गाकी धारा प्रवाहित थी। उसके उद्गमकी ओर बढ़ रहे थे। रसास्वादमें छके चल रहे थे। अकस्मात् दलदलमें फँस गये। वर्षाके पश्चात् गङ्गातट जहाँ-तहाँ दलदलमय हो जाता है। युधिष्ठिरकी सभाके समान ऊपरसे देखनेपर उसका पता नहीं लगता। झट उसमें फँस गये। जितना-जितना निकलनेका प्रयत्न करते थे उतना ही नीचे-नीचे धँसते जाते थे। छातीतक नीचे चले गये। उससे निकलनेका कोई उपाय नहीं सूझता था। अतः मनमें निश्चय हुआ कि अन्तकाल उपस्थित है। परन्तु भीतरसे आप निश्चिन्त थे, मरने-जीनेकी कोई चिन्ता नहीं थी— **'नाभिनन्दति मरणं नाभिनन्दति जीवितम्।'** अतः सहज भावसे स्वरूपस्थ हो गये। इतने हीमें कुछ लोग दौड़ते-दौड़ते वहाँ आये। उन्होंने झट एक वस्त्र फेंककर कहा, "बाबा! इसे पकड़ लो।" हाथ तो धँसे नहीं थे, अतः वह वस्त्र पकड़ लिया। तब उन लोगोंने बल लगाकर आपको बाहर खींच लिया। फिर आपने गङ्गाजीमें स्नान करके दलदलकी कीचड़ धोयी। जीवन प्रारब्धाधीन है, भगवान् अपने भक्तका योगक्षेम निर्वाह करते हैं— ये बातें सर्वथा सिद्ध हुईं। इधर आपकी यह दृष्टि भी यथार्थ सिद्ध हुई कि ज्ञानी शरीरावसानके समय अपने स्वरूपको नेत्रोंसे रूपके समान स्वभावसे ही देखता है।

आपके जीवनमें यह प्रायः देखा गया है कि जब-जब आप आगे बढ़नेके लिए कटिबद्ध हुए तभी कोई न कोई झटका लगे बिना नहीं रहा। मानो माया बार-बार आपको लक्ष्यच्युत करनेपर तुली हुई थी— उसका ऐसा प्रयत्न था कि कहीं आगे न बढ़ जायँ। जब नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर चले तब हैजाके शिकार हुए और उसने आपको नहर किनारे असहाय अवस्थामें डाल दिया। संन्यासके पश्चात् जब स्वदेश और सर्वस्व त्यागकर चले तब एक फल खानेसे ही हैजा हो गया और उसने आपको गङ्गातटपर मुर्दोंके बीचमें डाल दिया। प्रयागसे आगे आनेपर जब हृदयमें जिज्ञासाका तुमुल तूफान उठा था तब बाहरसे भी एक तूफानने घेर लिया और प्रलयपयोनिधिका दृश्य उपस्थित कर दिया। किन्तु इन सभी विघ्नोंको आपने पार ही नहीं किया, प्रत्युत सुवर्ण जैसे तपानेसे और भी चमकने लगता है उसी प्रकार उनके द्वारा आपकी

लगन और प्रगतिमें निरन्तर वृद्धि ही हुई। बस, यही निश्चय रहा कि प्रकृति, प्रारब्ध, माया या दैव कोई भी हो, वह भले ही अपनी करनीमें कसर न रखे, परन्तु मैं अपनी निष्ठासे विचलित नहीं होऊँगा। अब आत्म-साक्षात्कारके पश्चात् तो आप स्वातन्त्र्य-रस छक रहे हैं और उसीके उन्मादमें आपके हृदय और जीवन झूम रहे हैं। वे ख्वाहिश बेपरवाह होकर चल रहे हैं। इस दलदलकी घटनाने यह स्पष्ट कर दिया कि आप वर्तमानमें सर्वदा हाजिरा-हुजूर अपने स्वरूपमें दृष्टिको लौटाकर उसीके रसपानमें उन्मत्त हैं। फिर जीवन-मरणकी चिन्ताका प्रश्न ही कहाँ है ?

इस दलदलकी घटनाने आपको अपनी रसपुष्टिमें और भी सतर्क कर दिया, क्योंकि आपकी गति और मति रसमार्ग की ही थीं। आपने सोचा 'अरे ! इस महाकाशकी स्थूल दलदल जब इतनी भयावह है तो फिर इस चित्ताकाशकी दलदल कितनी भयङ्कर होगी। यह तो ऐसी है कि अँगुली पकड़कर पहुँचा पकड़ती है। जो सावधान नहीं रहता वह सहज हीमें फँस जाता है। फिर कितना ही प्रयत्न करो छुटकारा कठिन हो जाता है। उल्टे 'अधिक-अधिक उरझाई' वाली बात होती है। इसकी गहराई नापनेके लिए विवेक ही दण्ड है। यही नहीं, परात्पर परमशिवने तो अपनी स्वतः सिद्ध अपरिणामिनी ब्रह्मरसवाहिनी निर्विकल्पवृत्ति मुझे प्रदान की है। इसका एक छोर उनके हाथमें है और दूसरा मेरे हाथमें। मेरा प्रयत्न भी है हो, क्योंकि मेरा सारा अनुराग उसी ओर लगा हुआ है। उधर वे भी अपनी ओर खींचते जा रहे हैं। इसीको शास्त्र योगीका अशुक्लकृष्ण कर्म कहते हैं। यही उसे धर्ममेघरूप सहस्त्ररसधाराओंमें डुबानेवाली निर्विकल्प समाधिमें ले जाकर अभिषेक कराता है। यही है स्वराज्यसिंहासनकी प्राप्ति।

अब आप आन्तरिक दलदलोंसे सतर्क होकर आगे बढ़ने लगे। भीतर चित्ताकाशमें हलचल मच गयी। श्यामाश्यामके नित्य नाम, रूप और धामकी लीला चल पड़ी। सुमधुर वृन्दावनधामकी लीलाओंका आवि-र्भाव होने लगा। श्रीश्यामसुन्दरके अनन्त सौशील्य, माधुर्य, वात्सल्य और सख्यरसकी लीलाएँ दिखायी देने लगीं। इसके साथ ही कादम्बरी पीठ - निवासिनी श्रीकाली अपनी समग्र ऐश्वर्य-माधुर्यमयी महिमाका विस्तार करते हुए लीला करने लगीं। साथ ही सहस्रों वर्ष पुरातन ऋषि, महर्षि, हंस, परमहंस, कुटीचक, बहूदक और वेदपाठी अपने स्वाध्याय और सत्सङ्गके साथ चित्ताकाशमें आविर्भूत हुए। वे लुभावने छन्दोंमें

कह रहे थे—"देख, देख, हमारी ओर देख।" इधर श्रीश्यामसुन्दर कहते थे, "आओ ग्वाल-बाल, यही नन्दभवन है, नन्दबाबाका आँगन है। मैं भी नन्दबाबाका ही लाला हूँ। देखो, कैसा आनन्दोत्सव हो रहा है। दधि-काँदा मचा हुआ है। श्रावणका महीना है। सब हिलमिलकर हिंडोलोंमें झूलेंगे।" आपसे पूछते, "क्यों बाबा ! क्या मैं आपका लाला नहीं हूँ ?" तब आप कहते, "हाँ।" सचमुच आप नन्दबाबा ही थे। आपके हृदयाङ्गण-में श्याम-ब्रह्म अनन्तरसवर्षिणी सख्य, वात्सल्य और माधुर्यादि भावमयी अगणित लीलाओंका विस्तार कर रहे थे। जिनकी एक छटाने प्रकाण्ड अद्वैतवादियोंके छक्के छुड़ा दिये, उन्हें भूल-भुलैयामें डाल दिया, उनसे वेदान्तग्रन्थ फिकवा दिये और अपनी लीलारसधारामें बलात्कारसे खींच लिया, गोपियोंके घूँघट खोलनेके समान अपनी ओर आकर्षित कर लिया, उन्हीं रसराजने रसिकोंकी राजधानी श्रीरासेश्वरीके साथ आपको पकड़नेके लिए अनेकों लीलाएँ कीं। परन्तु आप तो जानते थे कि यह सब हमारी ही दृष्टिकी सृष्टि है—हमारी ही नजरोंकी दौलत है। जब लालजी कहते कि बाबा ! नेक ठहर जाओ—तो आप कहते, "लाला ! मैं तो अनन्त रससमुद्रमें गोता लगानेके लिए जा रहा हूँ; अब बोलनेका समय नहीं है, रास्ता छोड़ दो।" किन्तु भीतर-भीतर यह भी जानते थे कि यह सब उस शुद्ध संवित्का ही चमत्कार है। मेघकी मधुर-मधुर फुहारोंसे जैसे सूर्यकी किरणें आकाशमें रङ्ग-बिरङ्गे इन्द्रधनुषका आकार धारण कर लेती हैं उसी प्रकार इस अनन्त चित्ताकाशमें व्याप्त होकर ये अनेक रङ्ग-बिरङ्गी रसमयी लीलाएँ छिड़ी हुई हैं। आपका यह निश्चय था कि उपराग-रञ्जित रस छूना नहीं है। इसे छूते ही रोग लग जायगा— चिपट जायगा। इस व्रजमण्डलका पत्थर भी रागरञ्जित है। इसलिए इस ओर दृष्टि ही मत डालो।

कुछ शुकदेव-वामदेव आदि मुनिगण प्रकट होकर कहते थे कि **'नेह नानास्ति किञ्चन'** इस रसमयी सर्वबाधित शिवरसवाहिनी वृत्तिको मत छोड़ो। यही आगेका मार्ग खोल देगी और तुम्हें अपने लक्ष्यपर पहुँचा देगी। इसी प्रकार ध्यान, स्वप्न और जाग्रत्में आतिवाहिक ऐश्वर्य-माधुर्यको वैराग्य और बोधरूप पङ्खों द्वारा पार करते चिदाकाशकी ओर उड़ते जा रहे थे।

चलते-चलते आप कानपुरके पास एक गाँवमें पहुँचे। वहाँका एकान्त गङ्गातटका वैराग्यरसवाही वातावरण तथा क्रमागत ब्रह्मवेत्ताओंका

समागम आपको उपरतिकी ओर आकर्षित करने लगा। अतः आपने निश्चय किया कि यहाँका शुद्ध वातावरण आत्मानुसन्धानके लिए अनुकूल है। ब्राह्मणोंका गाँव है, उनकी पवित्र भिक्षा है, आत्मानुसन्धान योगरस तथा परमप्रेमास्पद आत्मदेवका स्पर्श प्राप्त करनेके लिए अनुकूल शरद्-ऋतुका आरम्भ है, शरच्चन्द्रकी शीतल ज्योत्स्ना छिटक रही है, आकाशमण्डल स्वच्छ है तथा चित्ताकाश भी सम्पूर्ण उपाधियोंसे निर्मुक्त होकर निर्मल हो रहा है; अब मैं श्रीपरमशिवके मुखचन्द्रकी चकोरी होकर उनके रासविलासको निहारते हुए और उन्हींमें दृष्टि गाड़ते हुए उन्हींमें समा जाऊँगा।

इस प्रकार इस अनुकूल वातावरणको पाकर आपके आन्तर वैराग्य बोध और उपरति आकाशस्थ शरच्चन्द्रके समान खिल उठे। इस मधुमय रसने सम्पूर्ण विषयमात्रकी भूख मिटा दी। यह तो आपके लिए मानों बला-अतिबला बूटियाँ ही बन गया। इस रससे छककर आप दिव्यातिदिव्य विषयोंकी तृष्णासे भी मुक्त हो गये तथा अनन्त चिदाकाशकी ओर बढ़ने लगे। अब आप अन्यत्र दृष्टि न ले जाते हुए अभ्यासयोगमें तत्पर हो जैसे-जैसे अपनी वृत्तियोंको समेटते जाते थे वैसे-वैसे ही आपके प्राणोंकी निःस्पन्दता बढ़ती जाती थी। दिव्यदर्शन, दिव्यसृष्टियाँ और दिव्यशक्ति मानसपटलपर विलक्षण खेल दिखाते हुए आते थे। मनोमय कोशमें जन्म-जन्मान्तरोंके जितने चलचित्र भरे थे सब आपके सामने खुलते जा रहे थे। दिव्य लीलाभूमि ध्यानमण्डलमें घूम जाती थी। उसके विहार और रास-विलास अपना चमत्कार लेकर सामने आते थे। परन्तु आप यही दृष्टि रखते थे कि यह सब हमारे अनन्त शिवाङ्गणकी फुलवारी है। हमारे सत्य-समागमका यह दिव्य उत्सव हो रहा है। इसे क्या देखना। देखना तो **'सत्यं शिवं सुन्दरं'**को ही है। मन तू उधर ही देख। वे तुझे बिना व्यवधानके देख रहे हैं, तू भी बिना पलक गिरे, बिना नेत्र झपके उन पूर्ण रसराजकी ओर देख। और सब ओरसे आँखें मींच ले। बस, इधर-उधर देखना छोड़कर आपने एकमात्र परात्पर शिवपर ही दृष्टि गाड़ दी। उन्हींपर टकटकी लग गयी। निष्काम और निश्चल होकर स्थिर आसनसे विराज गये; क्योंकि आप जानते थे कि मैं कहाँ जाऊँ और कहाँ दौड़ता फिरूँ; सारा विश्व तो मुझसे ही पूर्ण है। बस, अपना ठिकाना ही सबसे श्रेष्ठ है, हलचल सब दुःखरूप है। इस प्रकार निरन्तर आपकी स्थिरता और निर्विकल्पता बढ़ती गयी; क्योंकि—

यथा यथा समाभ्यासात्मनसः स्थिरता भवेत् ।
मनोवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ।।

जैसे-जैसे समताका अभ्यास करनेसे मनकी स्थिरता होती है वैसे-वैसे ही मन, वाणी, शरीर और नेत्रोंकी स्थिरता भी होती जाती है ।

आपके निषेध और परमशिवप्रेमने आन्तरिक और बाह्य निःस्पन्दता ला दी । यह इस बातको सूचित करती थी कि आप अपने प्रेमास्पादमें एकमेक होते जा रहे हैं । आप मूर्त्तिवत् पाँच-पाँच घण्टे निर्विकल्प ध्यानमें बैठे रहते थे ।

इस प्रकार आप गङ्गातटपर बढ़ते गये और कानपुर में भगवानदास घाटपर पहुँचे । वहाँ एक विद्वान् नित्यप्रति योगवासिष्ठका प्रवचन करते थे । आपको उनकी प्रतिपादनशैली पसन्द आयी । मधुकरकी भाँति आपका सर्वत्र सरस और सुन्दर अनुभूतियोंको ग्रहण करनेका स्वभाव था । अतः उसने आपको कुछ दिन वहाँ ठहरकर उस अद्वैतमधुस्रवा कथाको श्रवण करनेके लिए बाध्य कर दिया । यद्यपि रहनेके लिए वहाँ कोई स्थान नहीं था और न भिक्षाकी ही सुविधा थी, तथापि वह कथा सुननेके लिए आप कुछ दिन वहाँ ठहर गये । उन असुविधाओंको सहन करना आपके लिए कोई बड़ी बात नहीं थी । आप तो मृत्युतुल्य क्लेशोंमें भी सर्वथा अडिग और अलमस्त रहे और उत्तरोत्तर कष्ट सहनमें सुदृढ़ होते गये थे । आपने अनुभव किया कि भगवान् वसिष्ठकी इस वाङ्मयी मूर्त्तिमें उनका अजर, अमर, अद्वैत हृदय है, जो निरन्तर सबको वैराग्य और बोधका अक्षुण्ण प्रकाश दे रहा है । सच्चिदानन्द-समुद्रके यात्रियोंकी जीवन-नैयाका आनन्दविहार सानन्द सम्पन्न हो जाय—इसके लिए यह ग्रन्थरत्न सुदृढ़ डाँडके समान है । अतः आपने यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट रहकर भगवान् विश्वम्भरने जैसी व्यवस्था की उसीसे निर्वाह कर लिया । पण्डितजीकी प्रतिपादनशैलीसे मुग्ध होकर आपने पूछा कि क्या आपको आत्मसाक्षात्कार हो गया है ? पण्डितजी सत्यवादी और सरल प्रकृतिके थे । उन्होंने कहा, "महाराज ! मैं तो सीधी-सीधी कथा कह देता हूँ और अपना जीवन-निर्वाह करता हूँ । यह कलियुग है, क्या आत्मसाक्षात्कार होगा ? हाँ यह संस्कार अवश्य है कि जो नित्य वेदान्ताध्ययन करता है उसके पुण्यकी वृद्धि होती है ।" आप उनकी सत्यशीलता और सरलता से प्रसन्न हुए ।

वहाँ एक प्रसिद्ध योगिराज ब्रह्मचारी आये। उनके दर्शनार्थ सब लोग दौड़-दौड़कर जाते थे। कहते थे कि वे समाधिमें मग्न हो जाते हैं इससे उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ने लगी थी। आप उनके पास गये, परन्तु उनका शाही रहन-सहन और खान-पान आपको पसन्द नहीं आये। फिर भी उनकी समाधिका रहस्य जाननेके लिए उनके साथ कुछ सत्संगचर्चा की। ब्रह्मचारीजीने बताया, "आप भस्त्रिका प्राणायाम कीजिये। उससे आपको आकाशमें उड़नेकी शक्ति प्राप्त हो जायगी और वही समाधिकी प्राप्ति भी करा देगी।" आपने उसकी पद्धति पूछी और उन्होंने बतायी। परन्तु प्राणायामका अभ्यास करनेके लिए शीतकाल उपयुक्त होता है और उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी। फिर भी आन्तरिक उत्साहकी अधिकताके कारण आपने ग्रीष्म ऋतु में ही अभ्यास आरम्भ कर दिया। अभ्यास करते-करते एक दिन उस प्राणायामने आपको आसनसे उठाकर दो फीटकी दूरीपर फेंक दिया और आप बहुत देरतक अचेत रहे। इससे आपने यह अनुभव किया कि निःस्पन्दताके अभ्यासमें यह प्राणायाम साधक नहीं, बाधक है। प्राणोंका सच्चा आयाम (संयम) न करके यह उन्हें क्षुब्ध कर देता है। यह केवल प्राणोंका व्यायाममात्र है।

विठूर और वरुआघाटमें

कुछ दिन कानपुरमें ठहरकर आप विठूर पधारे। वहाँ दण्डिस्वामी श्रीआत्मानन्दजी मिले। वे अन्न बहुत कम खाते थे, अधिकतर जड़ी-बूटी ही सेवन करते थे। वहाँसे आगे बढ़नेपर एक अच्छे सुशिक्षित ब्रह्मचारीजी मिले। उनमें निश्चित् रूपसे अनेकों उन्नतिके लक्षण दिखायी दिये। प्राणायामका क्रमिक विकास होनेपर पहले स्वेद, फिर कम्प और तत्पश्चात् आसनोत्थान होता है। श्रीब्रह्मचारीजीमें आपने स्पष्टतया ये तीनों अवस्थाएँ देखीं। आपने उनसे पूछा कि प्राणायामका पूर्ण परिपाक कैसे हो सकता है और जीवनमें उसका क्या महत्त्व है ब्रह्मचारीजीने कहा कि प्राणायामके बिना निद्रा, तन्द्रा और आलस्यपर विजय प्राप्त होना असम्भव है। योगारूढ़ होनेके लिए यह बहुत आवश्यक है और इसीके द्वारा गुण एवं उनके कार्योंसे ऊपर उठकर त्रिगुणातीत स्थिति प्राप्त की जा सकती है। श्रीब्रह्मचारीजीने आपको सलाह दी कि आप वरुआघाट जाइये और पूज्य स्वामी ज्ञानाश्रमजीसे इस विषयमें विचार कीजिये। वे इसपर अच्छा प्रकाश डालेंगे।

बस, आप गङ्गातटपर आगे बढ़ने लगे। केवल बाहर ही आगे बढ़ रहे हों ऐसी बात नहीं थी, भीतर भी आनन्द-गङ्गाके तटपर उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जा रहे थे। आपका निश्चय था कि रसास्वादका त्याग तो तभी हो सकता है जब पहले रसकी वृद्धि हो। अतः अभी तो रसकी वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि रस ही रसको काट सकता है, जैसे हीरा ही हीरेको काटनेमें समर्थ है। आप अपने असङ्गताके अभ्यासमें बराबर आगे बढ़ रहे थे। उधर श्यामब्रह्म ध्यान, स्वप्न और जाग्रत्में आपके नेत्रोंके सामने अपनी मधुर लीलाएँ व्यक्त कर रहे थे। उस समय आप कहते थे कि लाला! तुमने तो जन्मसे ही त्यागका पाठ पढ़ाया है। जन्म लेनेपर माँ देवकी रखी रह गयी, उन्हें गोकुल छोड़ आनेकी आज्ञा दी। नन्द-यशोदाने प्राणपणसे पालन-पोषण किया, ग्वाल-बालोंने सख्यभावसे अनेकों खेल-कूद और क्रीडाएँ कीं तथा हजारों गोपाङ्गनाओंने अत्यन्त दुस्त्यज आर्यधर्म एवं स्वजनोंको त्यागकर तुम्हारे चरणोंपर अपने प्राण एवं हृदय निछावर कर दिये; परन्तु हाय रे निष्ठुर! तुम सबको विरहाग्निमें डालकर अक्रूरके साथ मथुरा चले गये। फिर उन मथुराके प्राणियोंको छोड़कर द्वारिकावासी हो गये। वहाँ भी अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्यमें रहकर सबके हृदय हरे और फिर स्वधामगमनका सङ्कल्पकर उन आर्यधर्मप्रतिपालक गुरुजन एवं सेवकोंको तथा जिनके तुम्हीं आत्मा थे उन परम प्रेमियोंको विप्रशापके व्याजसे आपसमें लड़ाकर स्वयं चले गये। मैंने आपकी ये सब लीलाएँ देखी हैं। आप कमलनयन हैं, इसलिए असङ्गता तो आपका स्वभाव ही है।

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमः पङ्कजाङ्घ्रये॥

आपके सभी अङ्ग कमलरूप हैं; अतः आप पद्मपत्रवत् असङ्गरूपसे स्थित हैं, निर्लिप्त मायामानुष हैं। आपके जीवनका सार तो असंगता ही है। मैंने भी उसीको अपनाया है। करते हुए न करना—यही मेरा दृष्टिकोण है। भवभावनाके त्यागपूर्वक निरन्तर शरीरके नाशपर दृष्टि रखते हुए मैंने निर्लेप जीवनकी साधना ही अपनायी है। मैंने तो आपका अच्युत साधन, अच्युत सिद्धान्त और अच्युत स्वरूप ही अपनाया है। अब मैं विरहाग्निसंश्लिष्ट मिलनको आकांक्षा नहीं रखता। मैंने समझ लिया है कि भगवान्का सम्बन्ध भी विरहका विषपान कराता है। इस दृश्यका क्या भरोसा। मैं तो उस विशुद्ध परमरस शिवका आशिक हूँ जो कभी

छूटता ही नहीं। मेरी दृष्टि अब उधर ही है, इधर नहीं। परन्तु क्षमा करना, प्रसन्न रहना। मैं आपके ही उस अद्वितीय, अनवच्छिन्न, सदा एकरस, समरस मधुररसमें ही जा रहा हूँ। जाने दो लाला! जाने दो।

बस, इस प्रकार प्रतिपक्षभावनापूर्वक पीछे निजस्वरूपमें लौट रहे थे, जो सबका अधिष्ठान है। यही आपका सरस त्याग और सरस गुणवैतृण्यरूप परवैराग्य था। जो प्रत्यगभिन्न सर्वाधिष्ठान परमशिव शुद्ध परात्पर ब्रह्म है उसमें अभिन्नरूपसे रसमय विहारकी यही मधुर शैली है। यह तन्मय मिलन ही मिलनकी महती उत्कण्ठा है। इसमें बिलम्ब सहन नहीं होता। इसलिए आप अपनी दृष्टि समेटते जा रहे थे, पीछे मुड़ते जा रहे थे। यही है मधुर ब्रह्मचिन्तनकी चाल। इसमें जो अध्यस्तका पूर्ण प्रविलाप है वह अधिष्ठानरूपसे स्वयं स्थित होनेके लिए है। इस प्रकार आप अपने आत्ममिथुन, आत्मरमण और आत्मक्रीडामें संलग्न थे।

जब आपने सुना कि स्वामी श्रीज्ञानाश्रमजी उच्चकोटिके सन्त हैं तो आपका चित्त उनसे मिलनेके लिए लालायित हो उठा, क्योंकि सेवा और प्रश्न करके साधनकी शोध करना तो आपका स्वभाव ही था। पूर्णतया कुशल मल्ल भी जैसे नये-नये दाँव-पेच जाननेके लिए दंगलोंमें पहुँच जाता है उसी प्रकार स्वयं आत्मनिष्ठ होनेपर भी सर्वविजयी आत्मज्ञानकी पुष्टिके लिए आप भी उच्चकोटिके संतोंसे सत्संग करके नयी-नयी युक्तियाँ जाननेका चाव रखते थे, क्योंकि इस समय आप भी चित्तको अचित्त करनेके लिए आन्तरिक दंगलमें संलग्न थे। अतः आप श्रीज्ञानाश्रम स्वामीकी सेवामें पहुँच गये। ये सन्त उस समय गङ्गातटपर घनश्यामपुरके पास बरुआघाटमें रहते थे।

स्वामी ज्ञानाश्रमजी जन्मतः महाराष्ट्र देशीय ब्राह्मण थे। संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् तथा प्राणायामके रसिक थे। आपने उन्हें देखते ही पहचान लिया कि इनमें हठयोगियोंके प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं। शास्त्र कहता है—

वपुषः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
आरोग्यता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडी विशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादस्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।।[1]

पास रहनेपर आपने उनका स्वेदन, कम्पन और आसनोत्थान भी देखा। वे प्राणायाममें बहुत कुशल थे । भगवत्पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीके अद्वैत सिद्धान्तके प्रेमी थे । उन्होंने किसी साम्प्रदायिक गठबन्धनमें न बँधकर विद्वत्संन्यास लिया था । आपके यहाँ उपनिषदादि प्रस्थानत्रय और पञ्चदशी आदि प्रक्रियाग्रन्थोंका पठन-पाठन होता था। किन्तु वह था केवल विरक्त जिज्ञासुओंके लिए ही। अपनेपर और अपने पास रहनेवाले सन्तोंके संयमपर उनकी कड़ी दृष्टि रहती थी। रहनेवालोंपर यह कठोर नियन्त्रण था कि पेट भरकर भोजन मत करो, मीठी-मीठी भूख बनी रहे—इतना ही खाओ। यदि भरपेट खाया जायगा तो आलस्य बढ़ेगा। रातमें निदिध्यासन और अभ्यास करेंगे या तान-दुपट्टा सोयेंगे । इसलिए केवल एक समय भोजन बनता था। श्रीमहाराजजी कहते थे कि उन-जैसा संयमी अभ्यासी विरला ही देखनेमें आवेगा। आप जब वहाँ रहे तो आश्रमकी कुछ सेवा भी करते थे। भोजन बनानेके लिए जब स्वयंपाकी ब्रह्मचारियोंको आटा देते तो कटोरीमें आटा दबा-दबाकर भर देते। जब सब भोजन कर चुकते तो ज्ञानाश्रमजी सबके पेट दबा-दबाकर देखते कि किसीका पेट आगे तो नहीं निकला है। यदि किसीका पेट बढ़ा दिखायी देता तो कहते, "हाँ, हाँ, पूर्णानन्दने आटा दबा-दबाकर दिया होगा। वे स्वयं आयुर्वेदके अनुभवी चिकित्सक थे। दुःखी जनता-जनार्दनको औषधि बाँटते थे। किसीकी नाडी नहीं देखते थे, केवल लक्षण सुनकर दवा दे देते थे। स्त्रियोंसे कभी नहीं मिलते थे। आश्रमवासी विरक्त और ब्रह्मचारियोंके लिए भी नियम था कि वे सायङ्कालमें भिक्षाके लिए गाँवमें न जायँ, क्योंकि वह स्त्रियोंके शृङ्गार का समय है। अपने पास रुद्राक्ष और तुलसीकी मालाएँ रखते थे और प्रत्येक आस्तिक भक्तको माला देकर जप करनेका अनुरोध करते थे। द्विजातियोंको गायत्रीजप करनेपर जोर देते थे।

---

१. शरीरकी कृशता, मुखकी प्रसन्नता, नादकी स्पष्टता, नेत्रोंकी निर्मलता, आरोग्य, वीर्यपर विजय और नाडियोंकी शुद्धि—ये हठयोगके लक्षण हैं। शरीरका हल्का हो जाना, नीरोगता, अलोलुपता, शरीरके रङ्गकी स्वच्छता तथा मल-मूत्र कम हो जाना—ये योगकी आरम्भिक प्रवृत्तिके लक्षण कहे जाते हैं।

आप कोरे शुष्क वेदान्ती नहीं थे। आपका मधुररस श्रीकृष्णभक्ति-रससे सरस था। आपका शरीर योगिजनोचित सूक्ष्म और लघु था। परन्तु मुखारविन्द तेजोमय था। उनके ध्यानाभ्यासकी कुटीमें ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका चित्र लगा हुआ था। वे भक्तिरसप्रवाहिनी श्रीमद्भगवद्-गीता-रामानुजभाष्यका स्वाध्याय करते थे। उनका आहार बहुत स्वल्प था। मूँगकी दालमें फुलकाका बक्कुल डुबोकर खाते थे। दाल कभी गाढ़ी नहीं बनायी जाती थी, दालका पानी ही होता था। रहनी-सहनी बहुत सादा थी, अल्पभाषी थे और स्वभावसे ही जितेन्द्रिय थे।

उनकी ऐसी आदर्श रहनी-सहना देखकर श्रीमहाराजजी उनकी सेवा में रहने लगे। तबतक उन्हें वहाँ रहते हुए तीस वर्ष व्यतीत हा चुके थे। आपको पर्णकुटीमें रहना पसन्द था। एक भक्तने पक्की कुटी बनवानेका आग्रह किया। परन्तु आपने स्वीकार नहीं किया। तब भी वह माना नहीं। चलते समय जब कहने लगा कि कोई सेवा बताइये, तब आपने कहा, "बस, यही सेवा है कि छः महीने मुख मत दिखाना।" तब उसने रोकर क्षमा-प्रार्थना की। आप तो स्वभावसे ही कृपालु थे, उसे क्षमा कर दिया।

श्रीज्ञानाश्रमजीने हमारे श्रीमहाराजजीको पहचान लिया कि ये तो मेघमण्डलाच्छादित पूर्ण चन्द्र ही हैं। आपकी रहनी सर्वथा विरक्तजनोचित थी। अतः श्रीस्वामीजीकी सूक्ष्म दृष्टि, इनकी योगश्री, तपोमय जीवन, ध्यानाभ्यासकी लगन और आसनकी स्थिरतापर गयी। थोड़ी-सी बात करने पर ही उन्हें अनुभव हुआ कि ये सूखे वाचिक ज्ञानी नहीं हैं, ये तो ज्ञानको पचाकर उसे विज्ञानरूपमें परिणत कर रहे हैं और विज्ञानानन्दकी प्राप्तिके लिए कटिबद्ध हैं। अतः आपने आग्रहपूर्वक इनके फटे-पुराने वस्त्र उतरवा कर नवीन वस्त्र धारण करा दिये। उन्हें धारण करके बादलोंके छिन्न-भिन्न होनेपर जैसे पूर्ण चन्द्र देदीप्यमान होता है, वैसे ही आप सुशोभित हुए।

बस, आप श्रीज्ञानाश्रमजीके पास रहने लगे। उस समय आप छायाके समान उनका अनुगमन करते थे और अन्तर्यामी होकर उनकी सेवा करते थे! सेवाके लिए उन्हें कभी कुछ बताना नहीं पड़ता था। उनका सङ्कल्प होते ही आप उसकी पूर्त्तिके लिए तैयार रहते थे। सेवाका कोई अवसर हाथसे निकल न जाय—इसके लिए आप

सर्वदा सतर्क रहते थे। वहाँकी स्वल्प भिक्षाके कारण आश्रमवाले प्रायः भूखे रहते थे और उदर-पूर्त्तिके लिए गाँवमें जाकर भिक्षा कर आते थे। परन्तु आप तो अत्यन्त स्वल्पाहारी थे। जितना मिलता था वही पर्याप्त होता था। भूख तो प्राणोंका धर्म है और आपके प्राण निःस्पन्द होते जा रहे थे। अतः उन्हें आहार की विशेष अपेक्षा थी ही नहीं। उनका आहार तो ध्यान ही था। आपकी तो यही दृष्टि थी कि चाहे भक्ति हो या ज्ञान जैसे-जैसे इनकी भूमिका बढ़ती है वैसे-वैसे साधक स्वयं ही अपने बलि-दानकी वेदी बनता जाता है। यह महान् ब्रह्म ही हँस-हँसकर जिन्दा मरनेकी वेदी हो जाता है। अभिषेक क्या हुआ स्वयंको ही स्वाहा करनेका ज्ञानाग्नि मिल गया। अतः आप बाहर न जाकर यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट हो अपने निजस्वरूपमें ही समाते जा रहे थे। दृश्यमात्रको सत्ता-शून्य देखते हुए आपकी दृष्टि निरन्तर असंग पुरुषपर ही लगी हुई थी।

रात्रिके समय स्वयं उनके सिर और तलुओंपर बादामका तेल मलकर उन्हें सुलाते थे। और स्वयं सिद्धासन लगाकर स्वतःसिद्ध आत्म-स्वरूपमें निमग्न हो जाते थे। कुटीके बगीचेमें एक स्वादिष्ट मीठे आमोंका वृक्ष था। श्रीस्वामीजी उसके आम बहुत पसन्द करते थे। दूसरे लोग भी उन्हें पानेके लिए लालायित रहते थे। अतः आप रात्रिमें ही आम इकट्ठे करके उन्हें स्वामीजीके लिए सुरक्षित रख देते थे और दूध पिलानेके समय उन्हें खिला देते थे। एक बार श्रीस्वामीजीने बगीचेके वृक्षोंको सींचनेकी आवश्यकता प्रकट की। तब आपने रात्रिमें सबके सो जानेपर अकेले ही उन्हें सींच दिया, जिससे किसीको पता भी न लगे कि यह काम किसने किया। अपनी सेवासे आपने श्रीस्वामीजीको अपने वशीभूत कर लिया था। उनके वात्सल्यभाजन बनकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया और उनकी ज्ञान-विज्ञान सम्पत्ति भी प्राप्त की।

ग्रीष्मकालमें जपकी प्रधानता रही। शीतकाल आनेपर प्राणायामका अभ्यास आरम्भ हुआ। आपका विचार था कि मैं भी इनकी पद्धतिसे प्राणायाम करूँ। किन्तु स्वप्नमें माँ श्रीजगदम्बाका आदेश हुआ कि यह पद्धति तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है। तुम जिस प्राण निःस्पन्दरूप राज-योगका अभ्यास कर रहे हो वही तुम्हारे लिए ठीक है। उसे बदलनेकी आवश्यकता नहीं है। आपका यह सुनिश्चित् विचार था कि साधु पञ्चकोशसे न्यारा होता है और पञ्चकोशके विवेकद्वारा ही परमशान्ति की उपलब्धि होती है। आपकी दृष्टिमें व्यष्टि-समष्टि पञ्चकोश एक ही

थे। परन्तु व्यष्टि अपने अधिक समीप है, अतः इसीसे असंग होना है। इसीके आश्रित सारा प्रपञ्च है। यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, इससे संसर्ग होनेपर दुग्धादि पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं, अतः इसे मलभाण्डके समान त्यागकर सर्वथा असंग रहना चाहिए। बस, इस एकके त्यागसे सबका त्याग हो जाता है। यदि संकल्पका त्याग हो जाय तो सारे प्रपञ्चका प्रलय हो जाता है, यदि इसमें आग लग जाय तो सारा प्रपञ्च भस्म हो जायगा। इसीलिए जब निरन्तर सगुण ब्रह्मकी लीलाओंका दर्शन होने लगा तो उनकी ओर आकर्षित न होकर, जो सम्पूर्ण सृष्टिका ताना-बाना है उस प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्दकी ओर ही टकटकी लगाकर उसीमें समाते गये। आपका यह स्पष्ट निश्चय था कि हजारों-हजारों कृष्ण नाचते रहें किन्तु वे सब सत्ताशून्य प्रतीतिमात्र हैं। आपका अकाट्य अनुभव था—

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
नापृथक् न पृथक् किञ्चिदिति तत्त्वविदोविदुः॥[1]

इसलिए आप निःस्पन्द, निश्चिन्त, निर्विकल्प समाधियोग में संलग्न थे, जो निर्वासनिक मौनकी पराकाष्ठा है। आप जैसे-जैसे हटते जाते, दृश्य-मात्रसे आँख मींचते जाते थे, वैसे-वैसे ही आनन्दरसाप्लावित होकर अपनेमें ही समाते जाते थे। अब आप प्रशान्त महासागरसे परम शान्त आत्मसागर में रमण कर रहे थे, उसीमें व्यक्तित्व खोकर समाते जाते थे।

एक वर्ष वहाँ ठहरकर आप अकस्मात् गङ्गातटपर ऊपरकी ओर चल दिये। आपके जानेपर श्रीज्ञानाश्रमस्वामीके चित्तको बड़ा आघात लगा। वे श्रीवंशीगोपालजी तिवारीसे कहते थे कि उनकी सेवा बड़ी उत्तम थी तथा रहनी और बोली बड़ी मीठी थी। उनकी सेवासे सन्तुष्ट होकर उनके प्रति मेरा अत्यन्त वात्सल्यभाव हो गया था। ज्योतिषियोंने कहा था कि आपको किसी ब्रह्मचारी या विरक्तसे सेवाका सुख नहीं मिलेगा, किन्तु पूर्णानन्दजीने इस भविष्यवाणीको झूठा कर दिया। मुझे जीवनभर किसीसे इतना सुख नहीं मिला।

---

१. यह नानात्व न तो आत्मदृष्टिसे है और न स्वतः किसी प्रकार सिद्ध हो सकता है। यह न तो अपनेसे अभिन्न है और न भिन्न है—ऐसा तत्वज्ञ पुरुष जानते हैं।

कई साल बीतनेपर श्रीमहाराजजी और स्वामी निर्मलानन्दजी उनके पास गये थे। तब उनसे किसीने कह दिया था कि उड़ियाबाबा तो गायत्री जप करनेके लिए मना करते हैं। अतः जिस समय ये वहाँ पहुँचे तो सबसे पहले उन्होंने यही प्रश्न किया, "क्यों पूर्णानन्द, क्या तुम गायत्रीजपके लिए निषेध करते हो ?" आपने कहा, "नहीं, मैं तो द्विजातिमात्रसे सन्ध्योपासन और गायत्रीजप करनेका अनुरोध करता हूँ। परन्तु जो आलसी ऐसा नहीं करते उनसे कहता हूँ कि कम-से-कम चलते-फिरते, खाते-पीते भगवन्नाम ही लिया करो।" यह सुनकर आप बहुत प्रसन्न हुए।

श्रीज्ञानाश्रमजीका निर्वाण भी बड़ा विचित्र हुआ। आपने भक्तोंसे कहा कि एक नावमें मुझे विठूर ले चलो। आप सिद्धासन लगाकर नावमें बैठ गये और भक्तोंसे कहा कि गीताका सस्वर पाठ सुनाओ। जैसे भीष्म पितामहने सब ओरसे ध्यान खींचकर श्रीकृष्णचन्द्रपर ही अपना चित्त लगा दिया था वैसे ही आपने विठूरके श्रीशङ्करजीके दर्शन करते हुए और गीता-पाठ सुनते हुए ब्रह्माण्डभेदन करके प्राण त्याग दिये। इस प्रकार सब प्रकार की उपाधियोंका भेदनकर परात्पर शुद्ध ब्रह्ममें समा गये। उनके निर्वाणके समय ही उनकी पर्णकुटी भी गिर गयी। आपने अपना अनुभव अनुभूत स्वास्थ्यरक्षा, संकल्पसिद्धि और कल्याणमार्ग इन तीन पुस्तकोंमें लिखा है। उनसे साधक लोग लाभ उठा सकते हैं।

बरगदिया बाबा

यहाँसे चलकर आप श्रीबरगदियाबाबाके पास पहुँचे। वे एक विशाल वटवृक्षके नीचे रहते थे। वहाँ रहते हुए उन्हें तीस वर्ष हो गये थे। इसीसे आप उस प्रान्तमें बरगदियाबाबाके नामसे प्रसिद्ध हो गये थे। उनका एक प्रकारसे क्षेत्र-संन्यास था। मरणपर्यन्त वे उस स्थानको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं गये। वे जाट जातिमें उत्पन्न हुए थे, तितिक्षाकी मूर्त्ति थे, क्षमाके आगार थे और अपनी निष्ठामें हिमालयके समान अटल थे, उनके मुखारविन्दपर दिव्य तेज था। महात्माओंका प्रायः ऐसा कथन है कि पानी बहता भला और साधु चलता भला; किन्तु इन संतशिरोमणिका जीवन बताता था कि शूरा विचरता है पूरा बैठता है। इसका आशय यह है कि साधक-शूरवीर ब्रह्मके प्रांगणमें विचरता है अपने आत्मसंरक्षण और अभ्युदयके लिए। इस प्रकार असंग-व्यवहार

जीवनमें अभ्यस्त हो जाय, किसी देश, काल और वस्तुका राग चित्तमें न चढ़े तथा नानात्वके रङ्ग-विरङ्गे रूप-रसकी पकड़में न आवे, इसलिए वह विचरता है। इसके सिवा परमात्मामें दिन-दूनी रात-चौगुनी आसक्ति बढ़ जाय—इसलिए भी विचरता है। किन्तु पूरा, अर्थात् जिसका स्वभाव ही स्वरूपानन्दमें निमग्न रहता है, वह कहीं बैठा रहे तब भी उसके बाह्य-रङ्गों की पकड़में आने या निष्ठासे फिसलनेकी आशङ्का नहीं है।

बरगदिया बाबा अपनेमें पूर्ण और आत्मानन्दमें अलमस्त थे। राग-द्वेषका उनमें अत्यन्ताभाव था। उनके महान् व्यक्तित्वसे शान्तिकी धारा उमड़-उमड़कर प्रवाहित होती थी तथा उनके सान्निध्यमें सब लोग सन्ताप-शून्य होकर सरस शान्तिरसका पान करते थे। दर्शनाभिलाषी जनता गङ्गा प्रवाहके समान अविच्छिन्न-रूपसे उनके पास आती रहती थी। वे अनुभवकी मूर्त्ति थे और अभ्यासके धनी थे। भले ही संसारकी दृष्टिमें विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु अनुभवमें प्रत्यक्षदर्शी थे। विद्यासे यद्यपि जड़ताकी निवृत्ति होती है, तथापि आत्मानुभवके लिए वह अनिवार्य नहीं है। वास्तवमें तो विद्या, वैभव, शक्ति और अनुभव ये सब अपने हीमें निहित हैं, कहीं बाहरसे लाने नहीं हैं।

श्रीमहाराज़जीने उनके अभ्यास और निष्ठाके विषयमें जानना चाहा। तब उन्होंने बड़ी मस्तीसे कहा, "**मय्येवं सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।**"[1] इससे श्रीमहाराजजीने समझा कि ये अहंग्रहोपासक हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निरन्तर अभ्यास करनेसे इन्होंने मायारूप जालको अपने पुरुषार्थसे तोड़ दिया है। इसीसे इनमें आत्मबल, बुद्धिबल और सजगताका स्पष्ट परिचय मिलता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस निष्ठासे अथाह तितिक्षा, क्षमा और एकरस प्रसन्नता उनके मुखारविन्दपर खेल रही थीं। श्रीमहाराजजीने सोचा कि अहंग्रहोपासनासे इनकी ऐसी विलक्षण स्थिति है तो बोधनिष्ठासे कितनी अद्भुत स्थिति होनी चाहिये।

उन्हें गलित कुष्ठ हो गया था। कीड़े नीचे गिर जाते थे तो वे उन्हें उठाकर फिर अपने घावमें ही रख देते थे और कहते थे कि अरे भाई! यह तो तुम्हारा आहार है, खूब खाओ और मौज करो। कानपुरके अच्छे-से-अच्छे डाक्टर चिकित्साके लिए आये, किन्तु आपने कहा, "आप लोगोंकी बड़ी कृपा है कि आप इतना कष्ट उठाकर आये। परन्तु मैं

१. सब कुछ मुझमें ही उत्पन्न हुआ है और मुझमें ही स्थित है।

चिकित्सा नहीं कराऊँगा। यह प्रभुकी देन है, मैं इसका सहर्ष स्वागत करता हूँ, सहन करनेमें ही आनन्द है। जब भोग समाप्त होगा तब यह रोग भी समाप्त हो जायगा।" आश्चर्यकी बात कि निर्वाणके तीन दिन पहले उनका शरीर सर्वथा नीरोग हो गया, कुष्ठका नाम-निशान भी नहीं रहा।

स्वामी चतुराश्रमजी

उनकी निष्ठा और धैर्यसे परम प्रसन्नतामें डूबते आप आगे बढ़े और स्वामी चतुराश्रमजीके पास पहुँचे। वे भी प्रायः तीस वर्षसे एक ही स्थानमें निवास करते थे। वे अद्वैत-सिद्धान्तके प्रेमी तथा साधन और संयमकी मूर्त्ति थे। उन्होंने आग्रहपूर्वक आपको तीन बातें जीवनमें आचरणके लिए बतायीं—

१. संयत जीवन।
२. निश्चित समयके अनुसार साधन और स्वाध्याय करना।
३. लक्ष्यको ध्यानमें रखते हुए सर्वदा व्यर्थ चेष्टासे बचना।

स्वामी चतुराश्रमजी अत्यन्त वृद्ध हो गये थे तो भी माधूकरी वृत्तिसे ही निर्वाह करते थे। उनका विचार था कि **'सदन्नं वा कदन्नं वा भिक्षा नैव परिग्रहः'** (अन्न अच्छा हो चाहे बुरा भिक्षा परिग्रह नहीं है)। आप उनके अपरिग्रह तथा संयत नियमित और त्यागमय जीवनसे प्रभावित हुए। उनमें यह विशेष बात देखी कि वे सेवा किसीसे नहीं लेते थे। वे पूर्ण निवृत्ति और व्यतिरेक निष्ठापर ही जोर देते थे। उनके पास लोग केवल दो घण्टेके लिए सत्सङ्ग करनेकी दृष्टिसे ही आ सकते थे। युवावस्थामें तो वे किसीसे नहीं मिलते थे। निरन्तर साधनमें ही संलग्न रहते थे। उनकी दृष्टि थी कि संसारी लोग राग-द्वेषकी पोटली लिये फिरते हैं और नानात्वकी वासनाका जाल फैलाते हैं। उनकी विशेष रुचि सन्तचरित्रोंके स्वाध्याय और अनुशीलन में थी। उनका विचार था कि सन्त ही परमशिवका अनावरण करते हैं। वे ही आत्मदेवको आँख खोलकर लखाते हैं; अन्तर्निहित शक्ति-सौन्दर्य और लावण्यको खोलते हैं; जीवनको दुःखसे आनन्दमें, अन्धकारसे प्रकाशमें, भयसे निर्भयतामें परिणतकर अहंको ठीक-ठिकानेपर ले जाते हैं। वे अविनाशी रस पिलाते हैं, अकृत्रिम सौन्दर्य लखाते हैं तथा बन्दासे खुदा और नरसे नारायण बनाते हैं। कहाँ तक कहें, यदि इस संसारके अनादि प्रवाहमें सन्त और

भक्त उत्पन्न न होते तो इस सृष्टिका कभीका प्रलय हो जाता। इसके अनन्त वैभवको प्रकाशित करनेवाले एकमात्र सन्त ही हैं। ये ही उस अनादि पुरुषके प्राकट्यके एकमात्र द्वार हैं—सगुण-साकारके ऐश्वर्य और सौन्दर्य, निर्गुण-निराकारके माधुर्य तथा पूर्ण पुरुषके पूर्णत्वको सन्त ही उद्घाटित करते और आस्वादन कराते हैं।

उनके विचार सुनकर आप बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने पुनः आपको पाँच बातोंपर ध्यान रखनेको कहा—

१—निरपेक्षभावसे भिक्षा माँगकर खाना।

२—किसीसे भिक्षा करानेकी आशा न रखना।

३—महात्माके स्थानपर जाना हो तो पहले भिक्षा करके जाना।

४—किसी धनी पुरुषके स्थानपर न रहना।

५—किसी विद्वान्से अनुराग करके किसीसे उसे सहायता देनेके लिए कहकर फकीरीको कलङ्कित न करना।

ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दजी

यहाँसे चलकर आप आकिनघाट पहुँचे। आपके जीवनमें असंग व्यवहारकी प्रधानता थी। एकान्त बहुत प्रिय था। असंग पुरुषमें दृष्टि स्थिर होती जा रही थी। जनसंसर्गसे दूर गङ्गातटपर ध्यानमें निमग्न रहते थे। आकिनघाटमें ब्रह्मानन्द नामके एक ब्रह्मचारी रहते थे। उन्होंने मुझे बताया था कि उन दिनोंमें आपके महाराजजीकी उपरति कमालकी थी। वे मूर्तिमान् वैराग्य ही थे। निरालम्बमुक्त पुरुषकी रहनी थी। वे आत्मोक्रीडा, आत्मरति और आत्ममिथुनमें संलग्न थे।

ब्रह्मचारीजीने जब सुना कि आप गंगातटपर एकान्तमें विराजमान हैं तो सोचा कि स्वतः तो आप आयेंगे नहीं। सामान्यतः प्रार्थना करनेपर भी आना कठिन ही है, क्योंकि इस समय वैराग्यका नशा चढ़ा हुआ है। इसलिए एक युक्ति सोची। उन्होंने अपने एक ब्रह्मचारीको आपके पास भेजा और कहलाया कि महाराज! हमारे एक ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द हैं, वे पंगु हैं, स्वयं चलकर नहीं आ सकते। किन्तु आपके दर्शनोंकी उन्हें बड़ी लालसा है। कृपया उनके स्थानपर पधारें। आप तो कृपालु थे ही; उनकी प्रार्थना स्वीकार करके तुरन्त साथ हो लिये। परन्तु स्थानपर पहुँचकर देखा कि ब्रह्मचारीजी तो सर्वथा स्वस्थ हैं, पंगु या लंगड़े नहीं हैं। तब आपने आश्चर्यचकित होकर शान्तिसे पूछा—"ब्रह्मचारीजी!

आप तो पूर्णतया स्वस्थ हैं, आपने यह कैसे कहलाया कि मैं लूला-लँगड़ा हूँ, स्वयं चलकर नहीं पहुँच सकता ?' झट ब्रह्मचारीजीने मुसकराकर कहा, "महाराज ! शास्त्र कहता है कि **"योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव सः ।"** (अर्थात् जो एक दिनमें एक योजनसे अधिक नहीं चलता वह भिक्षु पंगु ही है ।) उनका यह साधुशाही उत्तर सुनकर आप बड़े प्रसन्न हुए । आपसमें बड़ा आनन्दरसका प्रवाह चला और आनन्दवर्षिणी हँसी होती रही । महाराजजी मुसकराये और समझ गये कि ब्रह्मचारीजी साधुसेवी हैं । मुझे घोर एकान्त और खुले मैदानमें देखकर मेरी सुख-सुविधाके लिए यह युक्ति की थी । उनका पवित्र सेवा-भाव देखकर आप बहुत प्रसन्न हुए । ब्रह्मचारीजीने आपसे कुछ दिन वहीं ठहरनेके लिए बहुत अनुनय-विनय की । आपने भी उनका आन्तरिक भाव और प्रेम पहचानकर स्वीकार कर लिया और एक फूसकी कुटीमें ठहर गये ।

वहाँ नित्यप्रति योगवासिष्ठका पाठ होता था । उसमें एक स्थानपर यह श्लोक आया—

संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतितो देही सुखमासाद्यते कथम् ।।[1]

फिर दूसरे स्थानपर यह श्लोक सुना—

दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वाऽपि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ।।[2]

यह सब सुन-सुनकर आपकी उपरति और भी पुष्ट हुई । इससे आपकी शुद्ध परात्पर परमशिवके प्रति आनन्दयात्रामें और आनन्द-विहारमें और भी पुष्टि हुई । ब्रह्मचारीजीने माधूकरी वृत्तिकी महिमाकी चर्चा करते हुए कहा कि बिना माधूकरी करे कोई सच्चा साधु नहीं हो सकता । साधु जीवनमें मानापमानका सहन, अत्याचारियोंके प्रति क्षमा, यदृच्छालाभमें सन्तोष, द्वन्द्वसहिष्णुता और सब प्रकारके भयोंसे विमुक्ति— इन धर्मोंको माधूकरी वृत्ति बहुत दूरतक परिपक्व करती है । स्वयं वरण करके छातीसे लगायी निष्किञ्चनता (गरीबी) बड़ी ही सरस

---

१. संसार ही दुःखोंकी अन्तिम सीमा है—ऐसा कहा जाता है । तब उसके बीचमें पड़ा हुआ देहधारी सुख कैसे प्राप्त कर सकता है ?

२. हे रघुनाथजी ! इस संसारको दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तभ्रम अथवा दीर्घ मनोराज्य जानो ।

होती है। परमतत्त्वकी प्राप्ति और सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्तिमें दारिद्रय ही परम औषध है—इसमें सन्देह नहीं।

श्रीब्रह्मचारीजीका यह युक्ति-युक्त और अनुभवपूर्ण प्रतिपादन आपको बहुत प्रिय लगा। आपने देखा कि ब्रह्मचारीजी स्वयं माधूकरीधर्म और सेवाव्रतमें तत्पर हैं। अत: आप उनके कथनसे और भी प्रभावित हुए।

एक वैष्णव सन्त

फिर आप इस हितशिक्षाको हृदयङ्गमकर और अपने निश्चित निर्द्वन्द्व नि:स्पन्द योगद्वारा अन्तरात्मामें लवलीन हो वहाँसे चल दिये और सात मील आगे एक परम वैष्णव सन्तके आश्रमपर पहुँचे। वह आश्रम चित्र-कूटके समान सुन्दर सुहावनी वनस्थली-जैसा जान पड़ता था। मालूम होता था मानो श्रीयुगलसरकार वनविहार कर रहे हैं और लखनलालजी अपने हृदयधन श्रीसीतारामजीकी सेवाके लिए पुष्प-चयन करने सिधार गये हैं। वहाँ एक विशाल अश्वत्थ बृक्ष भी था। उसके नीचे एक सुन्दर वेदी थी।

आपका दर्शन करते ही वे सन्त आनन्दविभोर होकर नाच उठे, भाव-विभोर होकर गद्‌गद् हो गये और उन्हें रोमाञ्च तथा अश्रुपात होने लगा। बीच-बीचमें वे **'अहोभाग्य-अहोभाग्य ! महत्कृपा-महत्कृपा !'** गुनगुनाते जाते थे और कृपामय भगवान्‌का गुणगान करते थे। उनका ऐसा विचित्र-भाव देखकर आप आश्चर्यचकित हो गये और उन्हें सजग करनेकी चेष्टा करने लगे। जब वे सजग और स्वस्थ हो गये तब उनसे प्रेम-पूर्वक पूछा— 'महाराज ! हमारा आपका मिलन तो अब हुआ है, कोई पूर्व परिचय भी नहीं था, फिर आप ऐसे स्नेहरसानुभूतिमें क्यों डूब गये ? यदि कोई सङ्कोचकी बात न हो तो बतलानेकी कृपा करें। यह गंगातट है, यहाँ तो सैकड़ों महात्मा विचरने आते रहते हैं; फिर आज ऐसी क्या विचित्रता हो गयी ?"

तब वैष्णव सन्तने हृदय खोलकर कहा—'महाराजजी, मैं ब्राह्म-मुहूर्तमें ध्यानस्थ हुआ बैठा था कि बड़े आश्चर्यकी बात हुई। मैंने देखा कि श्रीप्रिया-प्रियतम चित्रकूटकी वनस्थलीके सौन्दर्यको सुन्दरता प्रदान करते अत्यन्त मधुर विहार कर रहे हैं। श्रीरघुनाथजी वहाँके लता, पुष्प और फलोंके रस-वैचित्र्य और गुण-वैचित्र्यका विवेचन करके प्रियाजीको समझा रहे हैं। कोकिलादि पक्षीगण रामनामके गुणगानमें उन्मत्त हो रंग-विरंगे

फल-फूल और पल्लवोंको निहार-निहारकर चहक रहे हैं। श्रीजुगलजोड़ीकी मुखाम्बुजश्री शीतल शरच्चन्द्रकी चन्द्रिकाके समान छिटक रही है। मैं श्रीयुगलसरकारके मञ्जुल मंगलामोदरूप विहारको निहारकर मुग्ध हो रहा था और मेरे नेत्रोंसे आनन्दाश्रु झर रहे थे। उनकी कृपामयी छटा और आनन्दरूप विहार देखते ही बनते थे। तब करुणावरुणालय भगवान् रामने मेरी ओर संकेत करके कहा—"देख, आज यहाँ एक संत आयेंगे। उनके दर्शन मेरे दर्शनोंकी अपेक्षा भी अधिक महत्वशाली हैं। उनके मिलनका महत्व मेरे मिलनेसे भी बढ़कर है। उनकी सेवा मेरी सेवासे भी श्रेष्ठ है।" इतना सुनकर आश्चर्यचकित होकर मैं पूछ बैठा—"उनमें ऐसी क्या बात है? क्या महत्ता है? क्या विशेषता है? जो वे आपसे भी बढ़कर हैं। हे दीनानाथ, हे दीनबन्धो, कृपया बतलाइये।" श्रीभगवान्ने कहा—"ब्रह्मवेत्ता मेरेसे भी अधिक पूजनीय होता है। वह मेरा आत्मा है इतना ही नहीं, वह मुझसे भी बड़ा होता है।" इतना आदेश देकर कृपामय युगल सरकार अन्तर्धान हो गये। इस रसमय प्रसङ्गको सुनाते हुए वे अश्रुपात करते जाते थे। कहने लगे—'मैं तो आपकी प्रतीक्षामें ही था कि आप पधार गये।

श्रीमहाराजजी उनकी बात सुनकर आश्चर्यचकित हो गये और सोचने लगे कि आनन्दकन्द भगवान् निरन्तर आगे-आगेकी व्यवस्था करते जा रहे हैं। श्रीरघुनाथजीके वनगमनके समय जैसे देवगण उनके पहुँचनेसे पहले ही उनके सुवास और सुपासकी व्यवस्था कर देते थे वैसे ही यहाँ भगवान् कर रहे हैं। दैवी-मण्डल स्वयं सेवामें संलग्न है। केवल निवास आदिकी व्यवस्था ही नहीं होती; साधनके लिए भी आवश्यक संकेत प्राप्त होते हैं। जैसे जब श्रीज्ञानाश्रमजीका साधन स्वीकार करनेका सङ्कल्प हुआ तो भगवान्ने आदेश दिया कि यह मार्ग तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है; तुम जैसे चल रहे हो वैसे ही चलते जाओ। इस प्रकार वे **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** अपनी इस प्रतिज्ञाका परिपालनकर **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** इस उक्तिके अनुसार अपने असली आत्माके समान प्यार और रक्षा भी करते जा रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं, सन्त ही वस्तुतः उनके अपने आत्मा हैं।

वैष्णव सन्तने आपको शुद्ध जौके सत्तू खिलाये। रात्रिमें आपने वहाँ विश्राम किया और दूसरे दिन बिना उन्हें सूचना दिये प्रातःकाल ही चुपचाप चल दिये।

अजातिभिक्षु शिवानन्दजी

यहाँसे चलकर आप शृङ्गीरामपुरमें श्रीकुक्कूबाबाके स्थानपर पहुँचे। आपने सुन रखा था कि वहाँ अजातिभिक्षु स्वामी शिवानन्दजी रहते हैं। वे एक भव्यमूर्त्ति सन्त थे। उनका शरीर अच्छा सुगठित और विशाल था। जान पड़ता था कि पहले वे कोई पहलवान थे। लोगोंसे मालूम हुआ कि पूर्वाश्रममें वे इन्दौर महाराजके दरबारी पहलवान थे। वे जहाँ भी जाते थे वहाँ बादाम और मिश्रीका ढेर लग जाता था। स्वामीजी कट्टर वैराग्यवान् थे और अद्वैतनिष्ठाके प्रेमी थे। उनका इस श्लोकार्थपर जोर था—

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ।।

अर्थात् लोक, देह और शास्त्रका अनुवर्तन छोड़कर अपने अध्यास (भ्रम)की निवृत्ति करो। •

उनका कथन था कि निवृत्ति ही परमनिवृत्तिका मार्ग है। इसलिए वैराग्य और निवृत्तिको कभी छोड़ना नहीं चाहिए। उनका मुखमण्डल अत्यन्त तेजस्वी था। उन्हें यदि कोई पैसे रखनेवाला साधु मिल जाता तो उसके मुँहपर तमाचा मारते थे और उसके पैसे छीनकर फेंक देते थे। उनका विचार था कि पैसा ही सम्पूर्ण इच्छाओंकी उत्पत्तिका कारण है। अतः इस अर्थरूप अनर्थसे वे साधुको छुटकारा दिला देते थे।

रात्रिमें उनके साथ आपका सत्सङ्ग हुआ। आपका कथन था कि निर्विकल्प समाधिके बिना ज्ञाननिष्ठाका सुदृढ़ परिपाक नहीं होता। किन्तु वे दावेके साथ कह सकते थे कि इसके लिए निर्विकल्प समाधि अनिवार्य नहीं है। हाँ, सबल ज्ञाननिष्ठाके लिए एकाग्रता अवश्य होनी चाहिए। बोधवान्के लिए समाधि अत्यन्त आवश्यक नहीं है। वह अभ्यास करते-करते हो जाय तो वाह-वाह और न हो तो भी वाह-वाह। उनकी विशेष श्रद्धा अजातिभिक्षु स्वामी हीरादासजीमें थी। जब वे बुलाते थे तो बादाम-मिश्री आदि सारा सामान छोड़कर तुरन्त चले जाते थे।

स्वामी शिवानन्दजीने आपको आग्रहपूर्वक सलाह दी कि संसारसे सर्वथा असङ्ग रहें, कहीं भी ममता न होने पावे। अहन्ता तोड़नेके लिए अनवरत आत्मध्यान करते रहें। भगवान्की माया अघटनघटनापटीयसी है। वह बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी और मानी लोगोंको वञ्चित कर देती है

और उनके जीवनको बदल डालती है। मनीरामपर कभी विश्वास न करे। उन्हें कभी खाली न रहने दे, क्योंकि ये बड़े शैतान हैं। इसलिए हर समय भगवच्चिन्तन, आत्मचिन्तन और इष्टचिन्तनमें लगा रहे। खाली रहना पाप है।

फर्रुखाबाद और ढाईघाटमें

भगवान् शङ्कराचार्यने दयावश होकर ये उद्गार प्रकट किये थे—'हाय! हाय! लोग मार्गमें पड़े हुए हड्डी और बालोंसे तो बचते हैं, परन्तु इन्हीं सबके ढेर इस शरीरसे नहीं हटते!' श्रीमहाराजजीने तो आरम्भसे ही निश्चय किया था कि शरीरको मैं मुर्देके समान त्याग दूँगा। इतना ही नहीं, भूख-प्यास प्राणके धर्म हैं और काम-क्रोधादि मनके विकार हैं; इन सबको भी मैं मटियामेट कर दूँगा। आप जिस-जिसको अपनेसे भिन्न देखते गये उसीको भुलाते गये और ऐसी दृष्टि रखी कि ज्ञेयका ध्यान न करना ही ज्ञातामें स्थित होना है। जितनी-जितनी निश्चिन्तता बढ़ती गयी उतनी-उतनी ही निश्चलता और निःस्पन्दता आप जीवनमें स्पष्ट अनुभव करते जा रहे थे। यह भी स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि आनन्द ज्ञानमें नहीं, प्रेममें है। अतः निःसङ्कल्पतापर कड़ी दृष्टि रखते हुए आप अपने स्वरूपमें समाते जा रहे थे। इसी प्रकार आत्मचिन्तनमें संलग्न हुए आप फर्रुखाबाद पहुँच गये।

वहाँ आपने एक सन्तके दर्शन किये जो प्रायः अपने स्थानसे नहीं हटते थे और न आसन ही बदलते थे। उनके पलक भी प्रायः नहीं गिरते थे। उनका बालवत् स्वभाव था और वे सरलताकी मूर्त्ति थे। उनका ऐसा उपरतिका परिपाक देखकर आप बड़े प्रसन्न हुए। आपको तो इसकी खोज ही थी कि किसीमें निर्विकल्प समाधिके लक्षण दीख जायँ। अपनेमें भी आप निश्चिन्त और निःस्पन्द जीवनका ही विकास देखना चाहते थे। यही आदर्श आपको इन सन्तके जीवनमें दिखायी दिया। आप डंकेकी चोट कहा करते थे कि शुकदेव, वामदेव, दत्तात्रेय आदि जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित हैं, वे ही आदर्श हैं, अन्य नहीं।

यहाँसे गङ्गाजी पार करके आप ढाई घाट गये, जहाँ विरक्त सन्तोंका समागम होता था। वहाँ विरक्तोंके शिरमौर महान् त्यागमूर्त्ति स्वामी श्रीआत्मानन्दजीसे आपका मिलन हुआ। वे बड़े शान्त मूर्त्ति थे। अपने स्वरूपमें ही मस्त रहते थे। प्रश्नोंका अत्यन्त स्वल्प सूत्रमात्र उत्तर

देते थे। जो अत्यन्त विरक्त दिखायी देता था उसीसे बात करते थे, नहीं तो प्रायः मौन ही रहते थे। अपने जीवनमें उनका विरक्ति, निवृत्ति और उपरति पर जोर था। सूत्ररूपमें आपका यही कथन था कि अपनेसे या भगवान्‌से राग और संसारसे वैराग्य यही सार है तथा सुषुप्तिवत् बर्तना ही उपरति है। श्रीमहाराजजीसे उन्होंने कहा कि धनका त्याग तो सरल है, परन्तु स्त्रीका त्याग अत्यन्त कठिन है। अपने जीवनमें सतर्क रहनेके लिए उन्होंने यह श्लोक बताया—

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥[1]

(भाग० ११।१७।३३)

इससे उनका तात्पर्य यही था कि स्त्रियोंकी ओरसे सदा सजग रहना चाहिये। उनसे किसी प्रकारका संसर्ग नहीं होना चाहिये।

स्वामी श्रीआत्मानन्दजी अपरिग्रहकी मूर्त्ति थे। लोग जो भिक्षा ले आते थे उसीमें सन्तुष्ट रहते थे। एक सौ आठ घड़ोंसे स्नान करते थे। लगे, 'अरे! सब मांसका विकार है, पड़ा रहने दो।' कानोंसे कम सुनने लगे तब किसी यन्त्रका प्रयोग नहीं किया। उनकी दृष्टि तो शरीरके साक्षीपर लगी हुई थी। अपने पास किसीको पाँच मिनट भी बैठने नहीं देते थे। जो पास आते थे उनसे फल या प्रसाद लानेको मना करते थे। अधिकतर खड़ार नामके गाँवमें रहते थे। उनकी आयु प्रायः सवा सौ वर्षकी हुई। अन्तकाल उपस्थित होनेपर आपने गोबरसे भूमि लिपवायी और कुशासन बिछवाया। फिर नया गेरुआ वस्त्र धारण किया और आसनपर बैठकर प्रणव उच्चारण करते हुए महानिर्वाणमें प्रविष्ट हो गये।

विश्वम्भरकी लीला

स्वामी श्रीआत्मानन्दजीमें बोध और उपरतिकी मूर्त्तिमती व्याख्या पाकर आप पुनः गङ्गाजीके इस पार लौट आये और ऊपरकी ओर चलने लगे। उनकी असङ्गता, निःस्पृहता और निश्चिन्तता बार-बार स्मृति-

---

१. जो गृहस्थ नहीं है उस पुरुषको स्त्रियोंको देखने, स्पर्श करने, उनसे वार्तालाप करने और क्रीड़ा आदि करनेसे दूर रहना चाहिये और समागमरत नर-मादा प्राणियोंको भी दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

पथपर आरूढ़ होती रही। कुछ दूर चलनेपर आप एक बम्बाके किनारे चलने लगे। आषाढ़ मास लग चुका था। वर्षाऋतुने पूर्ववायु, बादल और बिजलीकी तड़क-भड़कसे अपने आगमनकी सूचना दे दी थी। आप सोचने लगे कि बरसात आ रही है, अब कहाँ रहना चाहिए। आस-पास कोई ठहरने योग्य गाँव भी नहीं है। यहाँ कोई आदमी भी दिखायी नहीं देता, जिससे इस विषयमें पूछा जाय। इन विचारोंकी उधेड़-बुनमें सायङ्काल हो गया। भगवान् भास्कर विश्राम लेनेके लिए अरुण वस्त्र धारणकर अस्ताचलकी ओर सिधार रहे थे। आकाशमण्डलने उनकी बिदाईके अवसरपर समयानुसार अरुणवर्ण बिछौना बिछा दिया था। आप एक शिंशिपाके तले सिद्धासन लगाकर विराज गये। आज दिनभर भिक्षा नहीं हो पायी थी। सायङ्काल भी बीत चुका था। उदरमें वैश्वानराग्नि प्रज्वलित हो रही थी। उसमें आहुति देकर प्राणयज्ञ करना था। इधर-उधर दृष्टि डालनेपर कोई गाँव दिखायी नहीं दिया। जब आपने देखा कि भिक्षा-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं है तो आप प्राणोंके प्राण अपने स्वरूपमें स्थित हो गये। 'क्या होता है भूख-प्यास' ऐसा सोचकर अपने निर्गुण साक्षी स्वरूपमें समाकर उसकी उपेक्षा कर दी।

कुछ रात्रि व्यतीत हो गयी। पश्चिमकी ओरसे बादल तितर-बितर हो गये। निर्मल आकाश निशानाथ चन्द्रमाके विहारके लिए उनकी प्रतीक्षा करने लगा। इतनेमें निशाकरका उदय हुआ। उनकी स्निग्ध ज्योत्स्ना चारों ओर छिटककर उस वन्यप्रदेशको आलोकित करने लगी। सब ओर शान्तिका साम्राज्य छा गया। सारी सृष्टि मानो अमृतपानके लिए खुले हृदयसे निहारने लगी। इसी समय दो सुन्दर बालक खिलखिलाकर हँसते आपकी ओर आये। उनके सौन्दर्यने उस प्रदेशको और भी सुन्दर कर दिया। चन्द्रमाने उनके लावण्य और माधुर्यको और भी निखारनेके लिए उन्हें अपनी चमकीली ओढ़नी ओढ़ा दी मानो स्वयं ही अपने हाथोंसे उनका शृङ्गार कर दिया हो। उन बालकोंके मुखचन्द्र व्रजेन्द्रचन्द्रके मुखारविन्दके समान मन और हृदयको चुरानेवाले थे। उनके मधुर हास्यने आपको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। फिर उन्होंने पूछा, "बाबा ! आप रोटी खाओगे ?'

आपने झट कहा—हाँ, बेटा ! पर तुम यह तो बताओ तुम्हारा घर कहाँ है और तुम किस जातिके हो।

बच्चे हँसी-खुशीमें झूमते बोले—बाबा ! हम तो पास ही के एक गाँवके हैं और माहेश्वरी बनिये हैं ।

बाबा—अरे बेटा ! तुम रात्रिमें अकेले क्यों घूम रहे हो ?

बच्चे—बाबा ! हम तो यहाँ खेलते-खेलते चले आये हैं ।

महाराजजीको वे दोनों बालक अत्यन्त प्रिय लगे । उन्होंने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया । जान पड़ता था कि वे इस लोकके निवासी नहीं हैं, क्योंकि उनकी सुन्दरता दिव्यातिदिव्य और हँसी तथा बोली मधुररस-बोरी थी । वे दोनों जाकर थोड़ी ही देरमें दो मोटी-मोटी रोटियाँ और केलेका शाक ले आये । आप तबतक ब्राह्मणोंके अतिरिक्त किसी अन्य वर्णकी भिक्षा नहीं पाते थे । परन्तु उन बालकोंने ऐसा मन्त्रमुग्ध कर दिया कि उनकी जातिका विचार न करके वह भिक्षा प्रसन्नतासे पा ली । उसी दिनसे इस नाटकीय ढङ्गसे आपने तीनों वर्णोंकी भिक्षा करना आरम्भ कर दिया । इस प्रकार विधि-निषेध-शृङ्खलाकी एक कड़ी टूट गयी । दोनों भाई उस चन्द्रिकाचर्चित वातावरणमें आपकी सन्निधिमें खूब हँसते, खेलते और नाचते रहे । उनकी रसमयी क्रीड़ाओंसे रसनिधि चन्द्रदेव भी मुग्ध हो रहे थे, फिर आपके विषयमें तो कहना ही क्या है ? उनकी मीठी-मीठी बोली तथा बाल-चापल्यने आपको अपनी ओर आकर्षित कर लिया । दृश्यमात्रका बाध करानेवाला आपका हृदय भी उन बालकोंके सौन्दर्य, माधुर्य और चापल्यसे मुग्ध हो गया । वे केवल आपके सामने ही क्रीड़ा नहीं कर रहे थे, प्रत्युत आपके हृदयाङ्गणमें भी विहार करने लगे । फिर बोले—"बाबा ! हम जायँ ?" आपने कहा—"अच्छा बेटा !"

रात दो घड़ी बीत चुकी थी । उनके जानेपर आप अपने स्वरूप-ध्यानमें बैठ गये । परन्तु उन दोनों भाइयोंकी दिव्य मुसकान, चञ्चल चितवन, तोतली बोली और ललित लीलाएँ आपके मानसपटलपर ऐसी अङ्कित हुई मानो वे अब भी आपके आगे ज्यों की त्यों हो रही हों । आप भीतर-भीतर जैसे-जैसे आनन्दमग्न होते थे वह आनन्द वैसे-वैसे ही आपके नेत्रोंसे छलक-छलककर प्रवाहित होने लगता था । उन्होंने तो आपका चित्त ही चुरा लिया । भावोद्रेकमें दोनों आँखोंसे गङ्गा-यमुनाके समान प्रेमाश्रुओंकी दो धारायें बहने लगीं । मानों उन दोनों धाराओंसे आप दोनों भाइयोंका अभिषेक ही करा रहे थे । निर्गुण-निराकार ध्यानमें आपका मन नहीं लगा, इसलिए आप ध्यान छोड़कर लेट गये ।

थोड़ी नींद लेकर आप उठे तो बड़े आश्चर्यकी बात कि वे दोनों भाई ब्राह्ममुहूर्तकी सुहावनी वेलामें मधुर मुसकानके सम्मोहनास्त्र चलाते नृत्य कर रहे हैं। वे हँस-हँसकर 'बाबा! बाबा!' कहते आपके पास बैठ गये। आपने पूछा—'बेटा! तुम इतनी रातमें क्यों चले आये? अभी तो दिन भी नहीं निकला है।' वे बोले—'बाबा! हम खेलनेके लिए चले आये हैं। आप यह बताओ कि कुछ छाछ पियोगे?' महाराजजीने कहा—'हाँ'। वे झट जाकर एक मिट्टीकी हाँडीमें छाछ ले आये और आपके तूँबेमें भरकर चले गये। आप शौचादिसे निवृत्त हुए बिना ही वह छाछ पी गये। उसके एक-एक घूँटमें अद्भुत आनन्दरसकी अनुभूति होती थी। अब यह बात चालू हो गयी कि प्रेममें नियम नहीं होता।

सूर्योदय होनेपर आपको यह जाननेकी उत्कण्ठा हुई कि ये बालक कहाँ रहते हैं? इधर-उधर पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि यहाँ तो दूर-दूर तक कोई गाँव नहीं है। फिर मार्गमें एक महात्मासे इस प्रसंग की चर्चा की तो उन्होंने कहा—"यह कोई विश्वम्भर भगवान्‌की लीला है।"

गढ़ी रामपुरमें

आपका जीवन पग-पगपर विश्वासामृत और विचारामृतका पान कराता है। आपका निश्चय था—'**खुदा खानाबदोशोंकी करे खुद कार सामानी। नयी मंजिल नया विस्तर नया दाना नया पानी।**' आप बड़ी मस्तीसे कहा करते थे कि भगवान् शंकरने जो सिद्धान्त और साधन बतलाया है उसे सुनकर और सब आचार्य तो घबरा गये। केवल शंकराचार्य ही ऐसे हैं जिन्होंने डंका बजाकर इस अद्वितीय सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए कहा है—

'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥'

अर्थात्—करोड़ों ग्रन्थोंने जो बात कही है वह मैं आधे श्लोकसे कहता हूँ—"ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या है तथा जीव ही ब्रह्म है, कोई अन्य नहीं।"

सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ही उनका सिद्धान्त था। ज्ञान और कर्मके समुच्चयका उन्होंने खण्डन किया है। ज्ञान और कर्मकी दिशाएँ

परस्पर विरोधी हैं, अतः पूर्व और पश्चिम समुद्रके समान उनका समुच्चय होना असम्भव है। ज्ञानका फल उपरति है—**'बोधस्योपरतिः फलम्'** आपके मतमें उपरति दो प्रकारकी है—

वृत्तेर्दृश्यपरित्यागो मुख्यार्थ इति कथ्यते।
गौणार्थः कर्मसंन्यासः श्रुतेरङ्गतया मतः॥

यद्यपि आपका सिद्धान्त और मत अद्वैतनिष्ठा ही थी, तथापि आपने सार्वभौम दृष्टिको ही जीवनमें अपनाया था। इस दृष्टिकोणको पुष्ट करने वाली बातें आपने सभी आचार्योंसे ग्रहण की थीं। जैसे बुद्ध भगवान्‌का तीव्रसंवेगपूर्वक अथाह पुरुषार्थ और अनन्त सृष्टिको शून्यरूप देखना तथा अष्टावक्र मुनिका सीधा लक्ष्यवेधी वेदान्त—

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धः द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥

इस प्रकार आपका जीवन इन सभी भावोंका अनुभव करता हुआ आगे बढ़ रहा था—

भाववृत्या च भावत्वं शून्यवृत्या च शून्यता।
पूर्णवृत्या च पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्॥

आपने यह सभी साक्षात् अनुभव किया था। आपका वेदान्त बुद्धिका व्यायाम नहीं था, अनुभवगम्य था।

मार्गमें आगे चलते हुए आप गुनगुनाते जाते थे—**'अजब तड़प थी, गजबका मिलन था।'** साथ ही बड़ी मस्तीसे अपनी स्थितिको व्यक्त करनेवाले इस गीतको भी गाते जाते थे—

---

१. वृत्तिके द्वारा दृश्यका पूर्णतया त्याग (अर्थात् निर्विकल्प समाधि) यह उपरति-का मुख्य अर्थ है। तथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग—'यह गौण अर्थ है और यह वेदान्तश्रवणका अङ्ग माना गया है।'

२. तू सम्पूर्ण प्रपञ्चका एकमात्र साक्षी है और सर्वदा मुक्तस्वरूप ही है। तू जो अपनेसे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा (चेतन) देखता है यही तेरा बन्धन है।

३. भाववृत्तिसे अर्थात् सब कुछ सन्मात्र है—ऐसी दृष्टिसे भावरूपताका अनुभव होता है और शून्यवृत्तिसे शून्यताका। इसी प्रकार पूर्णवृत्तिसे अर्थात् सर्वत्र एक ही सत्ता देखनेसे पूर्णता प्राप्त होती है, इसलिए पूर्णताका ही अभ्यास करना चाहिए।

तिन खान-पान नहिं भावै है, नहिं कोमल वसन सुहावै है।
सब विषयभोग तिन खारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥१॥
तिनके तनु कृश हो जाते हैं, मुखकञ्ज सदा विकसाते हैं।
तिन चीर वसन तनु धारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥२॥
ते अल्पकाल जग जीते हैं, महबूब रङ्गमें माते हैं।
तिन सभी अनातम जारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥३॥
नहिं मान-बड़ाई चाहते हैं, नहिं अपना गुण दिखलाते हैं।
तिन आश-पाशको जारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥४॥
जब रामसनेही पाते हैं, तिन अपना हाल सुनाते हैं।
तिन लोगोंसे चुप धारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥५॥
तिन सबसे नाता तोड़ा है, विष-विषयोंसे मन मोड़ा है।
इक अपना प्रिय उर धारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥६॥
जग जो-जो वस्तू देखे हैं, सब सत्य न करके फेंके हैं।
तिन जग सों किया किनारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥७॥
नहिं श्रुतिके किंकर होते हैं, मन वाक् अगोचर जो वे हैं।
तिन विधि-निषेधको जारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥८॥
जैसा तनु चले चलाते हैं, जब हरि देवे तब खाते हैं।
तिनके संग फिरता प्यारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥९॥
तिन लोकलाज सब त्यागी है, तिनकी मति प्रिय पग लागी है।
तिन प्रिय हित नहिं तनु प्यारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥१०॥
जो प्रेम-पियाला पीते हैं, प्रिय सहित सभी जग जीते हैं।
कुछ करना नहीं विचारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥११॥
कुछ और न मनमें धरते हैं, उपहास जगतका सहते हैं।
तिन नयन बसत नित प्यारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है ॥१२॥

इस प्रकार मस्तीमें झूमते और अपने लक्ष्यकी माधुरीका आस्वादन करते आप गढ़ी रामपुर पहुँचे। आपने सुना था कि वहाँ मोतीराम नामके एक निष्ठावान् ब्रह्मचारी हैं। उनकी अपनी एक पाठशाला भी है। उनसे मिलनेके विचारसे आप वहाँ ठहरना चाहते थे। आप गाँवके पूर्वकी ओर उत्तरको मुँह किये एक पीपलके नीचे खड़े थे। इसी समय पतिराम नामके एक विद्यार्थीने आपको देखा। उसने जाकर सब विद्यार्थियोंसे कहा कि पीपलके नीचे एक महात्मा खड़े हैं। विद्यार्थी ब्रह्मचारीजीसे आज्ञा लेकर आपके पास आये और पाठशालामें पधारनेकी प्रार्थना की।

आप बोले—"मैंने सुना था कि ब्रह्मचारीजी जहाँ पढ़ाते हैं वह मन्दिर बस्तीसे बाहर है, परन्तु यह तो बस्तीके भीतर है; मैं नहीं जाऊँगा।" आप एकान्तप्रिय थे, बस्तीमें नहीं ठहरते थे। विद्यार्थियोंने एक स्वरसे कहा—"स्वामीजी ! मन्दिर तो पश्चिमकी ओर बस्तीसे बाहर ही है।" तब आप मन्दिरपर आये। श्रीब्रह्मचारीजीने आपको आसन दिया और सब विद्यार्थी आपको घेरकर बैठ गये।

उस समय आपके पास तूँबी और गेरुआ वस्त्रके सिवा और कुछ नहीं था। आयु भी पैंतीस सालके लगभग थी। वहाँ जो महात्मा ठहरे हुए थे उनमें आपसमें विवाद चला कि इतनी छोटी आयुमें संन्यास नहीं लेना चाहिए। परन्तु आपने शास्त्रोंके अनेक प्रमाण देकर उनका समाधान कर दिया। श्रीब्रह्मचारीजीके अत्यन्त आग्रहसे आपने वहाँ चातुर्मास्य करना स्वीकार कर लिया। आपका विद्यार्थियोंसे प्रेम हो गया। उनमें-से कुछ प्रतिभाशाली विद्यार्थियोंको आप सारस्वतचन्द्रिका, रघुवंश और श्रीमद्भागवत पढ़ा दिया करते थे। रात्रिको बारह बजेतक अध्यापनका क्रम चलता रहता था। फिर आपकी आज्ञा पाकर सब सो जाते और आप आसन लगाकर ध्यानस्थ हो जाते। दो-तीन बजे जब विद्यार्थी उठते तो आपको जबरदस्ती लिटा देते। कहते कि आप तो रात-दिन बैठे रहते हैं, भोजन बहुत कम करते हैं; शरीर सूखा जाता है; अब लेट जाइये। आप 'नहीं, नहीं, रे !' ऐसा कहकर लेट जाते और थोड़ी देर पश्चात् फिर बैठे ही दिखायी देते। इस प्रकार रात-दिनमें आपको लेटे हुए प्रायः कभी नहीं देखा।

वहाँसे गङ्गाजी ढाई-तीन मील दूर थीं। आप प्रातःकाल चार बजे चल देते और सूर्योदय तक स्नान करके लौट आते। उन दिनों शीतकाल था, इसलिए आपके हाथ-पाँव पालेसे ठिठुर जाते थे। वहाँसे आकर फिर सिद्धासनसे बैठ जाते थे। जब विद्यार्थी गोदमें उठाकर आपको आगके पास बैठाने लगते तो कहते कि नहीं, नहीं, धूप निकलनेपर सब ठीक हो जायेंगे। आपका विचार था कि ब्रह्मचारीको अग्नि और सूर्यतापका विशेष सेवन नहीं करना चाहिए। आपने यह भी बताया कि मैंने अपने हाथसे कभी पङ्खा नहीं किया और जल भी नहीं खींचा।

आपकी पढ़ानेकी शैली ऐसी सुन्दर थी कि विद्यार्थी उससे आकर्षित और प्रभावित होकर आपसे बहुत प्रेम मानने लगे। इससे पाठशालामें विद्यार्थियोंकी संख्या भी बढ़ गयी। इन विद्यार्थियोंमें एक देशराजजी भी

थे। उनका कथन था कि आप हल्की-हल्की दो रोटी और दाल लेते थे। पहले केवल रोटी खा लेते और जब दाल बच रहती तो कहते, "अरे देश-राज ! दाल तो रह गयी।" मैं कहता, "स्वामीजी ! एक रोटी और ले लो" तो आप दाल पी जाते। आप ध्यानाहारमें मस्त रहते थे, इसीसे इतना स्वल्प आहार करते थे। आपको मस्ती इतनी बढ़ी हुई थी कि आपको प्यासका ध्यान ही नहीं रहता था। जब पढ़ाते-पढ़ाते कण्ठ सूखने लगता तो कहते, "कण्ठ सूख रहा है, क्या करूँ ?' तब मैं जल लाकर तूँबेमें भर देता। आप जल पीकर कहते, "अरे प्यास थी, इसीसे कण्ठ काम नहीं देता था।"

मार्गमें जब आप श्लोक बोलते हुए चलते तो हम समझते थे कि स्वामीजी धीरे-धीरे चल रहे हैं। परन्तु जब हम भागते-भागते थक जाते तो आपहीको पकड़कर खड़े हो जाते और पाँव सहलाने लगते। चलते समय आप हमें जीवनोपयोगी शिक्षाएँ दिया करते थे। कहते थे कि शारीरिक स्वास्थ्यसे मन भी शान्त रहता है। अति भोजन और अभोजन सर्वथा त्याज्य है। जिस वस्तुको खानेसे शरीरमें रोग हो उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए। भजन, भोजन और निद्रा नियत समयपर होने चाहिए। बिछौना, ओढ़ना और वासस्थान सर्वदा परिष्कृत रखने चाहिए। किन्तु विलासितासे दूर रहना चाहिए। शिष्टाचारको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। हाँ, परनिन्दा अवश्य त्याग देनी चाहिए। आलस्य सबसे अधिक विघ्नकारक है, उससे शरीर और मन दोनों दुर्बल होते हैं। जिस समय कोई विघ्न उपस्थित हो उस समय सरल भावसे भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिए। समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिए। जब कोई काम न हो तब जप, मानसपूजा या सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए। मनमें कुत्सित चिन्तन होने लगे तो उसे हटानेके लिए जप, धर्मचिन्तन अथवा वैराग्य-भावना करनी चाहिए। याद रखो शुद्धि छः प्रकारकी होती है—

(१) मनकी शुद्धि मनको विषयभोगके पदार्थोंसे पृथक् करके परमार्थ-चिन्तन करनेसे होती है।

(२) वाणीकी शुद्धि सत्य, मधुर और सरल भाषण तथा श्रीहरिका गुणगान करनेसे होती है।

(३) अन्नशुद्धि साधुके लिए भिक्षा तथा गृहस्थके लिए शुद्ध जीविका होनेपर होती है।

(४) कक्षशुद्धि वीर्यकी रक्षा करने तथा शुद्ध ब्रह्मचर्यमय जीवनसे होती है।

(५) हस्तशुद्धि प्रतिग्रह न लेनेसे तथा शुभ कर्म करनेसे होती है।

(६) क्रियाशुद्धि शुद्ध निष्कपट व्यवहार करनेसे होती है।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें ये छः प्रकारकी शुद्धियाँ होनी चाहिए। मनसे किसीका बुरा न सोचे और दीनोंकी सेवा करे। यही सब कुछ है।

हम आपसे गेहूँके खेतोंकी पहचान कराते तो आप बड़े आश्चर्यसे कहते, "अरे! हमारे देशमें तो ये होते नहीं हैं, वहाँ तो केवल धान होता है।" हम लोग कहते, "स्वामीजी! अपने देशकी बोली सुनाइये" तो आप हँसते-हँसते सुनाने लगते और खूब हँसते-हँसाते। ऐसे खिलवाड़में ही सायंकाल बीत जाता था। जब हम लोगोंपर कोई दुःख आता था तो हम आपसे कहते। तब आप कहते कि तुमने मेरा नाम क्यों नहीं लिया? जब हम ऐसे अवसरोंपर आपका नाम लेते तो न जाने कैसे वह दुःख दूर हो जाता।

बड़े भाग्यशाली थे वे विद्यार्थी जिन्होंने श्रीमहाराजजीसे अध्ययन किया और शिक्षा ग्रहण की। आपकी विचित्र महिमाकी अनुभूतियाँ उन लोगोंको पल-पलमें होती थीं। आस-पासके लोगोंपर भी इतना प्रभाव था कि उन दिनों गाँवमें प्रातःकाल चार बजे चक्कियाँ बन्द रहती थीं, क्योंकि वह आपके ध्यानाभ्यासका समय था। जब आप गङ्गा-स्नानको चले जाते थे तब चक्कियाँ चलायी जाती थीं। श्रीब्रह्मचारीजी, विद्यार्थी और गाँववालोंके आग्रहसे आप वहाँ दो साल रहे।

आपसे सब विद्यार्थी प्रेम मानते थे—यह कोई नयी बात नहीं थी। आप तो स्वभावसे ही स्नेहकी मूर्त्ति और वात्सल्यके भण्डार थे। बलराम नामका एक विद्यार्थी तो मानो आपके स्नेहमें बिक ही गया था। वह आपके प्रेममें लबालब डूबा रहता था। पौष मासमें आपको ज्वर आया और फिर चेचक भी निकल आयी। जब बलरामको मालूम हुआ तो उसे बड़ा आघात लगा। वह सोचने लगा कि हाय! यह क्या हुआ? किसी प्रकार ये स्वस्थ हो जायँ और मुझे इनका रोग लग जाय। ऐसा कहकर वह लेट गया। आश्चर्यकी बात कि उसे भी ज्वर हो गया और चेचक निकल आयी। जितना ज्वर श्रीमहाराजजीको था उतना ही उसे था और चेचक भी दोनोंको समान ही थी तथा दोनोंके रोगमें समान रूपसे

उतार-चढ़ाव होता था। फिर तेरह दिन पश्चात् साथ-साथ ही दोनोंकी चेचक ढली। वहाँकी माताएँ दोनों ही-के स्वास्थ्य लाभके लिए शीतला-पूजन और मानताएँ करती रहीं। विद्यार्थी दुर्गासप्तशतीका पाठ और महा-मृत्युञ्जय-जप करते रहे। धन्य है बलराम, जिसने सच्चे प्रेमका पाठ सीखा और सिखाया। आपके निर्मल प्रेमकी बलिहारी।

वहाँके आबाल-वृद्ध आपसे प्रेम मानते थे। सचमुच उन लोगोंने आपको पहचान लिया था। एक वृद्धा ब्राह्मणीका आपके प्रति वात्सल्य-स्नेह था। वह अपनेको यशोदा मानती थी और आपके प्रति गोपालजीका भाव था। वह सोचती, 'हाय ! हमारे लाला रातभर बिना खाये जब उठेंगे तो भूखे होंगे, उन्हें आँखें खुलते ही खिलाऊँगी।' इस लालसासे वह सूर्योदय से पहले ही मिट्टीके खिपड़ेपर रोटी सेककर ले आती। और आप भी उसके भावका आदरकर बिना शौचादिसे निवृत्त हुए ही खा लेते। सच है, प्रेममें नियम नहीं होता। वहाँ बलदेव नामके एक ब्रह्मचारी रहते थे। उनका आपके प्रति सखाभाव था। उन्हें इस प्रकार रोटी खाना और खिलाना अच्छा नहीं लगता था। अत: उन्होंने उस वृद्धा माताको डाँटा। उसने आना बन्द कर दिया। तब आप स्वयं उसके घर जाने और उसकी प्रेमभरी रोटी खाने लगे। बलदेव ब्रह्मचारीको जब मालूम हुआ तो वे वहाँ भी पहुँच गये और बुरा-भला कहने लगे। तब आपने उन्हें समझाया कि हमें मैयाके प्रेमका आदर करना चाहिये। इससे वे सन्तुष्ट हो गये।

ब्रह्मचारी मोतीरामजीने एक बिल्ववृक्षके नीचे बैठकर सवा लाख गायत्रीका पुरश्चरण किया। उस समय आप भी उनके समीप ध्यानस्थ हुए बैठे रहते थे। आश्चर्यकी बात यह थी कि जितनी देर जप चलता उतनी ही देर नित्यप्रति एक सर्प वहाँ आकर बैठा रहता था। जब अनुष्ठान समाप्त होनेका समय आया तो ब्रह्मचारीजी चिन्ता करने लगे कि हमारे पास पैसा तो है नहीं अनुष्ठानका उद्यापन कैसे होगा। आप विद्यार्थियोंके साथ इस विषयमें बात कर रहे थे उसी समय श्रीमहाराजजी वहाँ पहुँचे और बोले, 'आज गुरु-चेलों क्या बातें कर रहे हैं ?' ब्रह्मचारीजी बोले, 'स्वामीजी अनुष्ठान समाप्त होने वाला है और सामग्री हमारे पास है नहीं।' आपने कहा,'ब्रह्मचारीजी ! इतनी सामग्री इकट्ठी हो जायगी कि आप उसे समाप्त नहीं कर सकेंगे।' ब्रह्मचारीजी ने कहा, "महाराज ! यज्ञके समय तो आप विराजेंगे ही, देखा जाय, कितनी

सामग्री आती है।" आप बोले—"मैं तो उस समय दूर चला जाऊँगा, यहाँ नहीं रहूँगा।"

न जाने आपकी क्या महिमा थी, जब समाप्तिका समय आया तो सात मन हवन सामग्री और पचास मनसे अधिक भण्डारका सामान हो गया। यज्ञके पश्चात् इतना सामान बचा कि सात दिनतक समाप्त नहीं हुआ। ब्रह्मचारीजी कहते थे—"यह उड़ियाबाबाका प्रसाद है।" बस, यहींसे लोग आपको 'उड़ियाबाबाजी' कहने लगे। वहाँ आपके और भी अनेकों चमत्कार देखे गये, उनका कहाँतक वर्णन करें।

शहबाजपुरमें

अब आप व्यतिरेकप्रधान शुद्ध रसमें समाते तथा हृदय और दृष्टिद्वारा उसीका आस्वादन करते गङ्गातटपर शहबाजपुर आये। आपकी दृष्टि इस श्लोकद्वारा व्यक्त की जा सकती है—

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।
अन्तःशून्यो वहिशून्य शून्यकुम्भ इवाम्बरे॥१

इसकी उपलब्धिके लिए आपको श्रीवसिष्ठजीकी यह दृष्टि प्रिय थी। इसके द्वारा मायाके मूलपर आक्रमण करनेकी बात कही गयी है—

चित्तं नाभिः किलस्येह मायाचक्रस्य सर्वतः।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित् प्रबाधते॥२

(योग० ५-४९-४०)

इस मायाविजयके लिए आपने हमें यह निर्मली दी है। जैसे वर्षाऋतुका मटियाला जल फिटकरी डालनेसे स्वच्छ हो जाता है और फिर स्वयं फिटकरी भी बैठ जाती है उसी प्रकार उपाधिकृत मालिन्यकी निवृत्ति और विवर्त्त-शैवालको हटानेके लिए यह अचूक साधन है—

यद्यत् स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते।
क्रियानाशाद्भवेच्चित्तनाशोऽस्माद्वासनाक्षयः॥३

१—समुद्रमें डूबे हुए घड़ेके समान जो भीतरसे भी भरा हुआ है और बाहरसे भी तथा आकाशस्थ घटके समान जो भीतरसे भी खाली है और बाहरसे भी।

२—इस मायारूप चक्रकी चित्त ही नाभि (केन्द्र) है, यदि उसपर अधिकार करके स्थिति हो जाय तो फिर यह कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।

३—जो जो वस्तु अपनेको प्रिय हो उसे त्यागनेपर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वासनाप्रशमो मोक्षः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१
वर्तमानमनाभासं भजद्बाह्यधियाक्षणम् ।
भूतं भविष्यदभजद् याति चित्तमचित्तताम् ॥२

तब यह स्पष्ट अनुभव होगा कि—

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
निर्मनस्कस्वभावं तन्न तत्र कलनामलः ॥
सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मिकी ।
सर्वज्ञता सा सा दृष्टिर्न तु यत्र मनः क्षतम् ॥

(योग० ५।५०।२१-२२)

चित्तहीन चेतन ही प्रत्यक्चेतन (अन्तरात्मा) कहा जाता है। वह स्वभाव से ही बिना मनका (मननहीन) होता है। उसमें कलना (सङ्कल्प) रूप मल नहीं होता है। वही सत्यता है, वही शिवता (कल्याणरूपता) है और वही वास्तविकी स्थिति है। वही सर्वज्ञता है और वही सम्यग्दृष्टि है, जहाँ कि यह पापी मन नहीं है।

इसपर एक बार मैंने आपसे पूछा था कि जिस प्रकार योगी सृष्टिसे दृष्टि हटाते हैं उसी प्रकार क्या तत्वज्ञ भी दृष्टिका संकोच करता है ? आप बोले—'नहीं, याद रखो, ज्ञानी शिवस्वरूप है।' मैंने पूछा—'तो क्या वह संसार-सर्पको पूँछ पकड़कर फेंकता है ?' आपने कहा—'उसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरी दृष्टि ही सृष्टि है। अर्थात् मेरा सङ्कल्प ही सृष्टि है और निःसङ्कल्प ही प्रलय है; सङ्कल्प ही विक्षेप है और निःसङ्कल्पता ही शान्ति है। अन्वयदृष्टिसे वही सर्व है और व्यक्तिरेकदृष्टिसे वही सर्वातीत है।

श्रीमहाराजजीके इस कथनसे मैंने यह समझा कि जितनी व्यतिरेक विहारकी पराकाष्ठा होगी उतना ही अन्वय अर्थात् शुद्ध सर्वात्मविहार होगा। शुद्ध परात्पर ब्रह्ममें तत्परता ही अनन्त ब्रह्ममें पूर्ण विहारकी

१—कर्मका नाश होनेपर चित्तका नाश हो जाता है, और उससे वासनाओंका क्षय होता है। वासनाओंका क्षय ही मोक्ष है और वही पुरुष (जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं) जीवन्मुक्त कहा जाता है।

२—एक क्षणके लिए भी वर्तमानकी अप्रतीति बाह्य दृष्टिसे प्राप्त हो जाय, तो भूत, और भविष्यत्की भी अप्रतीति हो जानेसे चित्त अचित्तताको प्राप्त हो जाता है।

एकमात्र कुञ्जी है। प्रत्यक्‌परमशिवरूपसे जागना ही पूर्णशिवरूपसे जगमगाना है। आपको इस बातमें ही सन्तोष नहीं था कि जगत्‌का मिथ्यात्व निश्चय ही बाध है, उसकी अप्रतीति आवश्यक नहीं है। आप तो उसकी अप्रतीतिपर भी जोर देते थे। इस सन्तोषमें चँवरी गायकी पूँछका स्वभाव बना रहना सम्भव है। जैसे चँवरी गायकी पूँछ जबतक गायके पास रहती है तबतक उसकी मक्खियाँ उड़ानेके काममें आती है और जब चँवरके रूपमें देवस्थानमें जाती है तब भी मक्खियाँ उड़ानेका ही काम करती है। यदि चींटी मुखमें नमक रखकर चीनीके पहाड़पर घूम आवे तब भी उसे उसकी मिठासका अनुभव तो होगा नहीं। इसी प्रकार विषयरूप नमकको सर्वथा त्यागकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होनेपर ही ब्रह्मानन्दका ठीक-ठीक आस्वादन होता है। जिस प्रकार हाथीके पैरमें सबके पैर आ जाते हैं उसी प्रकार इनकी सद्योमुक्तिमें जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति भी स्वतः प्रकाशवान् होती हैं।

हाँ, तो अब आप शहवाजपुर पहुँच गये। यह स्थान मोहनपुर (जिला एटा) के समीप गङ्गातटपर है। यहाँ स्वामी रामानन्द सरस्वती नामके एक परमविरक्त सन्त निवास करते थे, 'जो अमरसावाले स्वामीजी' बोलकर प्रसिद्ध थे। अमरसा आपकी जन्मभूमि थी। ऐसे सन्त कोई बिरले ही होते हैं जो अपनी जन्मभूमिमें रहकर भी महान् माने जाते हैं। आपने दो बार पैदल चलकर चारों धामोंकी यात्रा की थी। आपका निश्चय था कि सिद्धासनके समान कोई आसन नहीं है, कुम्भकके समान कोई बल नहीं है; खेचरीके समान कोई मुद्रा नहीं है और नादानुसन्धानके समान कोई चित्तलयका साधन नहीं है। केवली कुम्भक ही सम्पूर्ण कुम्भकोंमें श्रेष्ठ है। यह सिद्ध हो जाय तो संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। यही आपकी रहनी थी। ब्रह्मदर्शन ही आपका जीवन था। चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप योग ही आपका साधन था। तितिक्षाकी तो आप मूर्ति ही थे, सहनशीलता आपकी रग-रगमें कूट-कूटकर भरी थी। गर्मी हो या सर्दी आप खुले हुएमें अपने तख्तपर ही बैठे रहते थे और उसीपर शयन करते थे। सबके लिए आपका यही कथन था कि सोने या मरनेपर्यन्त वेदान्तचिन्तनमें ही समय बिताना चाहिए। काम आदि दोषोंको कभी थोड़ा-सा समय भी नहीं देना चाहिए। अभ्यासरत जीवनसे ही स्वरूपस्थिति प्राप्त हो सकेगी। आप सबसे यही कहते थे कि हाथके पक्के रहो—किसी प्रकारका संग्रह या परिग्रह मत करो, लँगोटीके पक्के

रहो—सभी प्रकारसे पूर्ण ब्रह्मचर्य रखो तथा वाणीके पक्के रहो—हित, मित और मधुर भाषण करो। जिसका जीवन इन तीन साधनोंमें पक जाता है और जो आन्तर एवं बाह्य प्रत्याहारपूर्वक अभ्यासमें तत्पर रहता है वही अपने इष्ट या लक्ष्यकी प्राप्तिकर उसका आस्वादन कर सकता है। आप स्वयं कठोर तपस्याकी मूर्ति थे। परन्तु दूसरोंके लिए कुसुमसे भी कोमल थे। इस प्रान्तमें आपका पवित्र यश और उज्ज्वल कीर्ति फैली हुई थी। भक्तगण गङ्गास्नान करने आते और आपके दर्शन, स्पर्श एवं उपदेशामृतका आस्वादन करके भी कृतकृत्य होते थे।

श्रीमहाराजजी और आप परस्पर मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। दोनों ही भगवत्प्रेम और तीव्र अभ्यासके रसिक थे तथा दोनों हीको विषय वैरस्य अभीष्ट था। अतः दोनों हीका एक-दूसरेके प्रति प्रेम और गौरव जीवन-पर्यन्त समानरूपसे बना रहा। इनका निर्वाणकाल उपस्थित होनेके समय श्रीमहाराजजी अस्वस्थ थे। तथापि उसकी ओर दृष्टि न देकर आप शहबाजपुर जाकर उनसे मिल आये थे।

जब श्रीमहाराजजी वहाँ पहुँचे तो आपके पास ही बेलवाली कुटीमें ठहरे। उन दिनों ही मोहनपुरवाले भक्त वहाँ आये। वे श्रीमहाराजजीके पास जाकर प्रणाम करके बैठ गये। उस समय आप कह रहे थे—'अभ्यासके द्वारा चित्तको शान्त करो। विषयोंका चिन्तन करना मनको आहार प्रदान करना है। सङ्कल्पपुरके पदार्थोंका चिन्तन करनेसे ही पतन हो जाता है। किसीके विषयमें विचार करना या उसका चिन्तन करना भी संग ही है। संगसे वस्तु समीपताका रूप धारण कर लेती है तथा संगत्याग करनेसे सब त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। चित्तमें शुभ विचारोंको भरो, शुभविचारोंके साथ खेल करो और उन्हींके साथ जीवन बिताओ। सारा अभ्यास मनसे सम्बन्ध रखता है। भगवत्तत्त्व समझनेके लिए मनका अभ्यास अपेक्षित है, केवल शारीरिक तपसे कुछ नहीं होगा। इससे देहासक्ति तो शिथिल हो जाती है, अतः यह अभ्यास स्थूल चित्तवालोंके लिए है। वाणीका तप भी आवश्यक है। लोग प्रायः अभ्यास करते समय वाणीका तप भूल जाते हैं। मैं तो कहता हूँ कि केवल सत्यभाषणसे भी आत्मसाक्षात्कार हो सकता है, किन्तु सत्यमें सरलता भी निहित है, वह सत्यसे पृथक् नहीं है। आवश्यकता ऐसे अभ्यासकी है जिसमें वाणीका उद्वेग न हो। जिस वाणीमें कटुता, उद्वेग और चंचलता होती है, वह अभ्याससे रहित होती है। जो लोग वाणीद्वारा चित्तमें

विक्षोभ पैदा कर देते हैं वे सत्यके यथार्थ स्वरूपसे बहुत दूर चले जाते हैं। इसलिए यदि किसीको समझाना हो तो मधुर वाक्योंसे समझाना चाहिए। यदि शत्रुको भी कोई सूचना देनी हो तो वह भी मीठे शब्दोंमें ही होनी चाहिए। शरीरके तपद्वारा देहबुद्धिका नाश करो, वाणीके तपद्वारा सरलता, सुशीलता पवित्रता एवं मधुरता आदि कोमल और शान्त गुणोंको प्राप्त करो तथा मानस तपद्वारा मनमें भरे सारे सङ्कल्पोंका नाश करो। सारी वासनाओंका क्षय कर दो, कोई भी वासना हो उसका तिरस्कार कर दो। वासनारत मनुष्योंके संसर्गमें कभी मत जाओ।"

सत्सङ्ग समाप्त होनेपर मोहनपुरके भक्तोंने अत्यन्त अनुनय-विनय-पूर्वक अपने गाँवमें पधारनेकी प्रार्थना की। आपने तो दृष्टिपात करते ही उनका जन्म-जन्मान्तरका प्रेम पहचान लिया था, परन्तु उन्होंने प्रेमबस आग्रह तो किया तथापि अपने प्रभुको पहचाना नहीं। आगेके लीलारसकी वृद्धिके लिए इसकी भी आवश्यकता थी। फिर आपसे मोहनपुर पहुँचनेका वचन लेकर वे लोग गये।

दर्शनार्थी आपके पास भेटमें जो कुछ लाते थे उसे आप उसी समय वितरण कर देते थे, क्योंकि वस्तु पास होनेसे मन उसमें लालायित होता है। सोचता है कि खाओ, पिओ, पीछे सत्सङ्ग करेंगे। आप प्रायः विद्यार्थियोंको प्रसाद देते समय हँस-हँसकर कहा करते थे कि हमारे भारतकी सभ्यता है कि **'रिक्तहस्ते न गन्तव्यं राजानं देवतां गुरुम्'** (राजा देवता और गुरुके पास खाली हाथ न जाय)। उपनिषत्कालमें भी शिष्य समत्पाणि होकर गुरुके पास जाते थे। इसका तात्पर्य यही है कि गुरुके पास उनकी जीवनोपयोगी वस्तुएँ लेकर ही जाना चाहिए।

एकबार श्रीमहाराजजीने अमरसावाले स्वामीजीके सत्सङ्गी एक मरणोन्मुख ग्वालेके अन्तिम उद्‌गारोंकी चर्चा करते हुए कहा था कि जब उससे पूछा गया कि तुम्हारा क्या हाल है और तुम्हारी क्या इच्छा है? तो उसने कहा—क्या हाल बताऊँ और इच्छाका तो अब प्रश्न ही क्या है? श्रीमहाराजजी (अमरसावाले स्वामीजी) ने सब कुछ बता दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरे स्वरूपसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।" फिर पुनर्जन्मकी एक घटना सुनाई कि अमरसामें एक ठाकुरको पीट-पीटकर मार डाला था। पीछे उसी घरमें एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसके शरीरपर चोटोंके चिह्न थे। वह जब कुछ बड़ा हुआ तो उसने बताया कि अमुक-अमुकने मुझे पीटा था, ये चिह्न उसी चोटके हैं। यह पुनर्जन्मका

चक्र विचित्र ही है। आपने यह भी सुनाया कि एक बार अमरसामें एक परमहंस आये। वे भिक्षा माँगने गये। तब कुत्ते उनके ऊपर टूट पड़े और काटते चले गये। उन्होंने कोई प्रतीकार नहीं किया। कुत्तोंने उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया और उसीसे उनकी मृत्यु हो गयी। यह था संन्यासी-का अहिंसाव्रत, जिसके लिए शास्त्रकी आज्ञा है—**'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्'** (सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासका आचरण करे)। अतः सत्यव्रत, धर्मव्रत, अभयव्रत और प्रेमव्रत—इन सबको प्राणों की बाजी लगाकर पालना पड़ता है। व्रतमें सचाई हो तो मृत्युका भी आलिङ्गन करना पड़ता है। यह है अमर जीवनका मार्ग।

मोहनपुरमें

श्रीमहाराजजी तो अन्तर्यामी थे ही, उन्होंने मोहनपुरके भक्तोंके जन्म-जन्मान्तरीय प्रेमसम्बन्धको एक दृष्टिमें ही पहचान लिया। वे भक्त भी आपके दर्शन और वचनामृतका पान करके मुग्ध और आकृष्ट हो गये। क्योंकि उनके हृदयमें छिपा हुआ पुरातन प्रेम उमड़-उमड़कर उन्हें विवश कर रहा था। अन्तर केवल इतना था कि श्रीमहाराजजीने तो अपने प्रेमियोंको पहचान लिया किन्तु वे लोग अल्पज्ञ थे इसलिए यह नहीं पहचान सके कि ये हमारे अनादि सुहृद्-सर्वस्व और सम्बन्धी हैं। तथापि चन्द्रमाको देखकर जैसे समुद्रकी तरंगें उछल-उछलकर नाचने लगती हैं, उसे चूमनेके लिए दौड़ने लगती हैं, वैसे ही उनका हृदय उन्हें प्रेमालिङ्गन देनेके लिए उतावला हो उठा। इसीसे उन्होंने शहवाजपुरमें आपको अवश्य-अवश्य मोहनपुर पधारनेके लिए आवाहन किया और कुछ दिनों वहाँ अवश्य-अवश्य वास करनेका वचन भी लिया। श्रीमहाराजजीने उनका प्रेम पहचान लिया और चन्द्रमाको चकोरके समान उनके हृदयकी लगनने आपको पकड़ लिया। अजी ! क्या कहें उन प्रेमियोंकी और आपकी आँखें लड़ गयीं। मालूम होता है, प्रेम-पीयूषके पारस्परिक आदान-प्रदानके लिए ही परमात्माने यह मेल कराया था।

आपने उनके हृदयका आह्वान—उनका प्रेम-निमन्त्रण स्वीकार किया था, इसलिए सन् १९१५ ई० में चैत्र पूर्णिमाके दिन आपने मोहनपुरमें पदार्पण किया था। वे लोग तो शहवाजपुरसे ही आपका सामान लेकर चलनेके लिए उद्यत हुए थे, परन्तु आपके पास तो केवल एक काष्ठका

पात्र, एक चादर और कौपीनके सिवा और कोई सामान ही नहीं था। एक ताड़पत्रकी कापीपर लोहेकी कीलसे आप अपने हृदयको प्रियश्लोक लिख लिया करते थे। इस प्रकार ले जानेके लिए कोई सामान न मिलने-पर उन्होंने केवल आपसे वचन ही ले लिया। आपके पधारनेपर सभी बड़े आह्लादित हुए, जैसे चन्द्रमाके उदित होनेपर कुमुद खिल उठता है। आपको साथ लेकर उन्होंने आस-पासके सब स्थान दिखाये और कहा, 'महाराजजी ! ये सब स्थान देख लीजिये, इनमें-से आपको जो पसन्द हो वहीं कुटिया छा दी जायगी। बस, यह प्रार्थना है कि आप पसन्द करें और बता दें।'' सब जगह घूम देखकर आपने बाबा बालकदासजीका स्थान, जो गाँवके दक्षिणी भागमें है, पसन्द किया। वहीं बड़े उत्साहसे बिल्ववृक्षके नीचे एक कुटिया बना दी गयी और आप सानन्द निवास करने लगे।

आपको माधूकरी भिक्षाका शौक तो था ही। आप जब माधूकरीको जाते तो एक माता कहती—'अरे बेटा ! माधूकरी तो जन्मभर माँगनी है, आज यहीं पा लो।' बस, आपको पकड़कर बैठा लेतीं और वहीं प्रसाद पवाकर जाने देतीं। आप भी हृदयसे उनके वात्सल्य-प्रेमका आदर करते थे। इसीसे जैसे घरके बच्चे अपने सम्बन्धियोंको सम्बोधित करते हैं उसी प्रकार किसीको बूआ, किसीको चाची और किसीको नानी कहकर पुकारते थे। इसी प्रकार बालवत् क्रीड़ा करते और बालकोंमें घुल-मिल जाते थे। किन्तु इस प्रकार बालचापल्यमयी लीलाएँ करते हुए भी आप अपने अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय आत्मरसके आस्वादनमें निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। रस-पानमें ऐसे तन्मय थे कि बाहरके पलक भी नहीं गिरते थे, फिर भीतरकी झपकियोंकी तो बात ही क्या है। प्राण भी बिना किसी हलचलके चुपचाप शान्त हो गये, क्योंकि सरकार अपने अन्तरात्मामें आराम कर रहे थे, अपने स्वरूपमें आनन्द ले रहे थे, स्वमहिमामें घुलते-मिलते जा रहे थे। इसीसे भीतर तो श्रीकृष्ण और उनके लीला-परिकर एवं काली और उनकी सहचरियाँ तथा बाहरसे भक्तपरिकर मुग्ध एवं चकित होकर देख रहे थे। 'बोलो मत, बाबा जग न जायँ'; इस प्रकार चुपचाप बाबाके मधुमय रूपकी चुस्की लेते जायँ और शान्त बैठे रहें। इतना ही नहीं, उस प्रत्यगभिन्न रससमुद्रमें बाबाके साथ उस ब्रह्मयज्ञका अवभृथ स्नान ही करते जाते थे—उनके साथ उसमें डुबकी लगाते जाते थे। जितनी देर वे गोता लगाते उतनी ही देर साथ-साथ ये भी गोता लगाते रहते। जब वे

उठते तब ये भी उठकर अपने लीला-परिकरके सहित सज-धजकर आनन्दोत्सव मनाते। कहते—'अरे ग्वालबालो! देखो, बाबा हमारा-तुम्हारा सभीका प्राणप्यारा आत्मा है। वह जाग गया और चल दिया, हम भी चलें।' फिर बाबासे कहते—'अरे बाबा! खूब लौट आये पूर्ण रस-समुद्रमें गोता लगाकर, बाबा! हमने भी आपके साथ उसमें गोता लगाया।'

इस प्रकार जैसे-जैसे बाबा जागते जायँ और महाकाशमण्डलमें उतरते जायँ वैसे-वैसे सब दिव्य परिकर भी साथ ही उत्साहपूर्वक चला आता और उनके सामने प्रत्यक्ष मधुररसमयी लीलाएँ होने लगतीं। इस तरह बाबाके त्रिविध आकाशके दिग्विजय और उनके सर्वविजयी ज्ञानका महोत्सव मनाया जाता। जैसे गोकुलमण्डलमें श्रीनन्दात्मजका जन्मोत्सव होता है वैसे ही स्पष्ट जाग्रत्‌में आपके स्वरूपरसमाधुर्यको छकाछक पान करके उन्मत्त लीला होती थी। ऐसा जान पड़ता है कि 'इस स्वरूपरस-समुद्रसे चलें ही नहीं, इन आनन्दरसमूर्त्तिको अकेले भेजना ठीक नहीं' ऐसा सोचकर झट सभी परिकर अन्वयविहारमें भी उनके साथ हो लेते थे। श्रीमहाराजजी भी अभिन्न सर्वात्मदृष्टिसे उन्हें निहारते और प्यार करते।

आप जब समाधिसे उठते तो देखते कि सब भक्तवृन्द प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब श्रीमहाराजजी जगें और उन्हें कुछ व्यारू करा दें। वे देखते थे कि आप रात-रातभर एक आसनसे बैठे रहते हैं, इतने डूबे रहते हैं कि बाहर पलक नहीं झपकते, प्राण नहीं चलते और यह भी कहना कठिन हो जाता है कि ये श्रीमहाराजजी हैं या कोई मूर्त्ति है, क्योंकि मुख खुला रहता तो मक्खियाँ निःसङ्कोच भीतर-बाहर आती-जाती रहतीं। वे कितनी ही आयें-जायें आप टस-से-मस नहीं होते थे। मालूम होता था कि मूक होकर यह मुग्ध गीत गा रहे थे—

'स्पन्दनं नाशमुच्यते निःस्पन्दं समुपास्महे।'[१]

भक्तलोग प्रतीक्षामें बेचैन रहते थे। वे सोचते थे कि ये जग जायँ तो कुछ खिला दें। इन्हें तो न तनका होश है न मनका। पता नहीं, इनका होश कहाँ रहता है, किस होशमें समाया हुआ है? परन्तु मुख-मण्डल चन्द्रमाके समान शीतल ज्योत्स्ना बिखेर रहा है। इनकी इस चुपचापमें भी महती रसमधुरिमा अङ्ग-अङ्गमें छाती जा रही है।

१—स्पन्दन ही नाश कहा जाता है, हम निःस्पन्दकी उपासना करते हैं।

आपकी इस निर्वासनिक मौन-पराकाष्ठाके समय ये लोग भी उस मधुर रसमूर्त्तिको निहार-निहारकर अपने दृग्-प्यालोंसे इस सगुण ब्रह्मकी रसमाधुरीका अनवरत पान कर रहे थे। जब जगते तो झट आपको स्नान कराकर भोग लगानेके लिए कुछ अमनिया ले आते। परन्तु जब मुखमें ग्रास देते तो वह मुखमें ही रह जाता और आप अपने स्वरूपमें डूब जाते। लोग कहते, "अरे भैया ! बड़ी कठिनतासे तो जगे। एक कौर भी खाया नहीं कि झट भीतर डूब गये।" तब ग्रामकी वात्सल्यमयी माताओंने एक युक्ति सोची कि इन्हें पदगान करते हुए खिलायेंगी। उनमें जानकी, गीता, पार्वती, जमुना और जयदेवी ये पाँच ब्राह्मणी प्रधान थीं। ये मानो वात्सल्यरस की भण्डार ही थीं। पीछे लोग इन्हें 'पञ्च-कन्या' कहने लगे थे। ये माताएँ इन्हें बच्चेकी तरह गोदमें डाल लेतीं और हिला-हिलाकर सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास एवं नरसी आदि भक्तोंके सरस पद गाते हुए एक-एक ग्रास खिलातीं। फिर भी आप जल्दी-जल्दी अपने स्वरूपरसमें निमग्न हो जाते। तब गीता, जो ढोलक बजानेमें कुशल थी, ढोलक बजातीं और गान विद्यामें कुशल जानकी पद गाती। शेष तीन मँजीरे बजाते हुए गातीं। इसी प्रकार आप लेटे-लेटे कुछ खा लेते। इसमें उनकी प्रसन्नताका कोई पारावार न रहता। इस तरह बालविनोदमयी लीलाएँ करते ये अवधूतशिरोमणि आनन्दरसमें अवगाहन करते समय बिता रहे थे।

फिर गाँववालोंने सोचा कि श्रीमहाराजजी हर समय डूबे ही रहते हैं। अतः अच्छा हो कि बालक इन्हें बंबा नहलानेके लिए ले जाया करें। टहलनेके लिए कहनेपर तो ये चलेंगे नहीं, अतः इनसे यही कहना चाहिए कि महाराजजी ! चलो, बंबा नहा आवें। तब बालकोंने आपसे कहा, "महाराजजी ! आप हमारे साथ खेलो-कूदो और चलो बंबा नहाने चलें।" आप तो स्नेहकी मूर्त्ति ही थे, फिर बालकोंके प्रति तो कहना ही क्या ? बस, उनका बालहठ स्वीकारकर आप रास्तेमें खेलते-कूदते उनके साथ हो लेते। यहाँ तक कि कभी आप उछलकर उनके कन्धेपर बैठ जाते और वे आपके कन्धेपर चढ़ जाते। बालकोंमें संकोच तो होता नहीं। अतः जिस प्रकार श्यामसुन्दर ग्वालबालोंके साथ खेलते थे उसी प्रकार आप भी बालकोंके साथ तरह-तरहके खिलवाड़ करते बंबा नहाने चले जाते। बंबेमें कूद-कूदकर स्नान करते और जल उलीचकर सबके साथ जलक्रीड़ा करते। कभी स्वयं गाय या भैंस बनकर बालकोंको अपनी

पीठपर चढ़ाते और फिर उन्हें लिये हुए जलमें डुबकी लगा जाते। बालक झट कूद-कूदकर भाग जाते। कभी एक लाल ईंट ले लेते। उसका नाम रखते 'लाल बहू।' फिर कहते—'लाल बहू किसकी ?' सब कहते, 'मेरी।' फिर उसे बंबामें डाल देते और कहते, 'अच्छा ढूँढ़ो।' सब ढूँढ़ते और जिसे वह मिल जाती उसीकी मानी जाती। कभी आप जलमें डुबकी लगाकर भीतर-भीतर ही आकर किसी बालकका पैर खींचते और कभी कोई बालक आकर आपका पैर खींचता। कभी दो बालकोंकी बाहें आपसमें मिलाकर आप उन्हें पकड़कर लटक जाते। आपका इस समयका जीवन इस श्रुतिका ठीक अनुवाद कर रहा था—

बुधो बालकवत्क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥१॥

इसी प्रकार गाँवकी माताएँ भी आपको हर समय समाधिमें डूबा देखकर किसी भी प्रकार कुछ न कुछ खिलानेका अवसर देखतीं। जब भिक्षाके लिए जाते तो कहतीं, "आज कुछ देरी हो गयी है, अभी भोजन तैयार हुआ जाता है।" झट आप रसोईके काममें उनकी सहायता करने लगते। वे भी यही चाहती थीं कि इन्हें कुछ बाह्य चेतना रहे, जिससे ये कुछ खा-पी लें। बस, कभी इन्हें काटनेके लिए शाक-सब्जी दे देतीं और कभी ये मसाला पीसने लगते। इन मधुर लीलाओंने आपके भीतर निहित गुणवैचित्र्यको प्रकट कर दिया। श्रुति कहती है कि यतीको अजिह्व (मूक), षण्ड (नपुंसक), पंगु, अन्धा, बहिरा और मुग्ध होना चाहिए। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव सः ॥

---

१. तत्त्ववेत्ता बुद्धिमान् होनेपर भी बालकके समान क्रीडा करे, कुशल होनेपर भी मूर्खोंका-सा आचरण करे, विद्वान् होनेपर भी पागलोंकी तरह प्रलाप करे और शास्त्रज्ञ होनेपर भी गौ आदि पशुओंका-सा आचरण करे।

तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिवाट् सोऽन्ध उच्यते ।।
हिताहितं मनोरामं वचः शोकवहं तु यत् ।
श्रुत्वापि न शृणोतीव वधिरः स प्रकीर्तितः ।।
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ।।१।।

(नारद परिव्रजकोपनिषद् ३।६३-६८)

इस प्रकार श्रुतिने जो अजिह्व आदिके लक्षण बताये हैं वे आपमें पूरे-पूरे ज्योंके त्यों पाये जाते थे। आपका रसरूप व्यक्तित्व यह स्पष्ट व्यक्त कर रहा था कि आपके जीवनरसकी मधुरिमा यह थी—

सर्वमात्मेदमत्राहं किं वाच्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थिताम् ।।
नाहमस्मि न चान्योऽस्मि न चायं न चेतरः ।
सोऽसंग इति सम्प्रोक्तो ब्रह्मास्मीत्येव सर्वदा ।।२।।

(अन्नपूर्णोपनिषद् २।३-४)

---

१. जो भोजन करते हुए भी 'यह अच्छा है यह अच्छा नहीं है' इस प्रकार उसमें आसक्त नहीं होता तथा जो हितकर सत्य और स्वल्प भाषण करता है उसे अजिह्व कहते हैं। जैसे आज उत्पन्न हुई बालिकाको उसी प्रकार जो सोलह वर्षकी युवती और १०० वर्षकी वृद्धाको देखकर निर्विकार रहता है वह नपुंसक कहा जाता है। जिसका भ्रमण केवल भिक्षाके लिये अथवा मल-मूत्र त्याग करनेके लिये ही होता है और जो एक दिनमें एक योजन (आठ मील) से अधिक नहीं चलता वह भिक्षु सर्वथा पंगु ही है। जिसकी दृष्टि बैठने या चलनेके समय चार धनुष पृथ्वीको छोड़कर और आगे नहीं जाती वह संन्यासी अन्धा कहा जाता है। जो यति हितकर-अहितकर तथा मनोरम या शोकावह शब्दोंको सुनकर भी मानो नहीं सुनता वह बहिरा कहा गया है विषयोंकी सन्निधिमें रहनेपर और स्वयं भी सामर्थ्यवान् होनेपर भी जिसकी इन्द्रियोंमें चंचलता नहीं होती प्रत्युत जो सोये हुए पुरुषके समान उनकी ओरसे बेसुध-सा रहता है वह भिक्षु मुग्ध कहा जाता है।

२. यह सब आत्मा ही है, इसमें मैं क्या चाहूँ और क्या त्यागूँ। जीवन्मुक्त स्वरूपमें स्थित महानुभावोंकी यह असंगस्थिति समझो। न तो (देहादि-रूप) मैं हूँ, न कोई अन्य है, न यह है और न इससे भिन्न है, बस, सर्वदा ब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ—ऐसी जिसकी स्थिति है वह 'असंग' कहा गया है।

ये शब्द ही आपके अन्वयविहारके अनुवादक हैं, और ये ही विद्वज्जनके समझनेके लिए आपके जीवनकी कुञ्जी हैं। आपका व्यतिरेक विहार पराकाष्ठापर पहुँचता जा रहा था। आपने उसका इन शब्दोंमें वर्णन किया था और दूसरोंने तो यह प्रत्यक्ष देखा था—

तन थिर मन थिर प्रान थिर, सुरत निरत थिर होय।
कह कबीर तेहि पलक सुख, कल्प कोटि नहिं होय॥[1]

इसी बातको श्रीअष्टावक्रजी इन शब्दोंमें कहते हैं—

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित्॥[2]

मोहनपुरके भाग्यशाली भक्तोंके लिए तो एकमात्र पूजा-पाठ अपने प्राणधन श्रीमहाराजजीकी सेवामें तत्पर रहना ही था। सेवामें यह विलक्षणता है कि अपने प्राणसर्वस्वकी मधुर मूर्तिकी रसायन तृषित नेत्रोंसे पीता जाय, हृदयसे आलिंगन करता जाय और पग-पगपर अपना प्रेमपूर्ण हृदय बिछाता जाय। उन सबकी एक मन, एक प्राण और एक दिलसे यही चाह थी कि **'रटता रहूँ तेरा नाम कभी तार न टूटे। मिट जाय जगत् सारा मगर चाह न छूटे।'** आपका यह क्रीड़ा-विनोद भी अपने भक्तोंकी प्रेममयी स्वीकृति ही थी और इससे उनके भक्तिभावकी पुष्टि होती थी।

इस प्रकार परस्पर भावराज्यमें मधुर लीला करते हुए जीवनयापन हो रहा था। इसमें उन्हें जैसे शुद्ध मधुरानुभूतिका आनन्द प्राप्त होता था वैसे ही आपके महान् ऐश्वर्यकी भी अनुभूति होती थी। ऐश्वर्यानुभूतिमें यह विशेषता है कि इससे भक्तोंके श्रद्धा-विश्वासकी पुष्टि होती है। हमारे प्यारे समर्थ हैं, इसलिए हमें किसीका मुँह ताकनेकी आवश्यकता नहीं है। अपनी पूर्तिके लिए किसीसे कुछ माँगनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमारे श्रीमहाराजजी सर्ववाञ्छाकल्पतरु हैं। किसी बातके लिए किसी ओर दृष्टि डालनेकी—हाथ पसारनेकी आवश्यकता नहीं है। अब

१. जिस समय शरीर, मन और प्राण स्थिर हो जाते हैं और संकल्प-विकल्प भी शान्त हो जाते हैं, कबीरजी कहते हैं उस पलक भरके सुखकी समता करोड़ों कल्पोंका सुख भी नहीं कर सकते।

२. जिसका मन निमेषोन्मेषके व्यापारमें भी खेदका अनुभव करता है उस आलसियोंके शिरमौरको ही सच्चा सुख प्राप्त है, और किसीको नहीं।

तो पैर पसारकर तान दुपट्टा निश्चिन्त नींद लेनी है, क्योंकि पूरेका पूरा भरोसा है।

आप मोहनपुरमें 'तन लटे कपड़े फटे, तनको तनिक न ध्यान' इस स्थितिमें रहते थे। फिर भी कभी-कभी सबके साथ खेलते-खेलते लेट जाते और कहते कि सब मिलकर उठाओ। तब बहुत-से आदमी मिलकर सारा जोर लगाते, उठाते-उठाते श्वास फूल जाते, पस्त हो जाते और हार मान बैठते। तब कहते, 'अरे! इनका शरीर तो शङ्करजीका धनुष ही हो गया। जानकीजीके स्वयंवरमें उसे उठाते-उठाते बड़े-बड़े बलशाली हार गये, पर वह टस-से-मस नहीं हुआ। कोई कहता, 'भाई! यह तो वही लखनलालजीका शरीर जान पड़ता है जिसे मूर्छा होनेपर बड़े-बड़े वीर भी नहीं उठा सके थे।' आपकी ऐसी अद्भुत गरिमा सिद्धिकी लीला देखकर लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता था। इससे उनके आनन्द-का भी पारावार नहीं रहा, ऐसा अनुभव होने लगा कि ये तो निर्बलके बल राम हैं।

साथ ही अपनी स्वजनमोहिनी मायाका ऐसा विस्तार करते कि लोग उससे मोहित होकर आपसे ढेले फुड़वाया करते और आप अपनी महिमा को छिपाकर उसे चुपचाप फोड़ते रहते। यही तो माधुर्यकी महिमा है। यह ऐश्वर्यको ताकमें रखकर महिमाको भुलाकर लीलारसमें मस्त कर देती है। समर्थ होते हुए भी असमर्थका खेल, नहीं नहीं, ऐश्वर्यवान् होते हुए भी माधुर्यमें सराबोर करना, सर्वज्ञ होते हुए भी सर्वसाधारणकी चाल चलना, प्रेममें मचलना और मचलाना—यही तो इसकी अद्भुत विचित्रता है।

इस प्रेमवैचित्र्यमें बालहठ, तिरियाहठ और राजहठ भी अपनेको सुमधुर करनेके लिए आ धमकीं। बेचारी हठ भी इनकी फकीरी हठके घेरेमें अकुला रही थी। ध्यानकी हठमें हाजिरी देते-देते उसका दम घुट रहा था। अब वह भी लीलारसपान करनेके लिये बालहठ, भक्तहठ आदि रूप धारण करके लीलामें सम्मिलित हो गयी। आप त्यवहार आदि विशेष अवसरोंपर सभी घरोंमें जाकर थोड़ा-थोड़ा प्रसाद पाया करते थे। रात्रिमें कुछ भी पाना पसन्द नहीं करते थे। परन्तु फिर भी भक्तजन पराठे या दूध भोग लगानेके लिये ले जाते। उस समय भी प्रेमकी अटपटी और अनौखी लीला चलती। एक भक्त कुछ ले जाता तो आप कहते, मैं नहीं खाऊँगा, मुझे अफारा हो रहा है।' भक्त पहले तो नेत्रोंसे निहार-

निहारकर हृदयसे मूक प्रार्थना करता कि महाराजजी, कुछ पा लो, क्यों मना करते हो ? परन्तु आप मना ही करते जाते, 'हाँ, बेटा ! देख लिया। अरे ! मैं कहता हूँ, अफारा हो रहा है, ले जा।' परन्तु आप जैसे-जैसे मना करते वैसे-वैसे ही प्रेम महाराज आग्रहका रूप धारण करते जाते। भक्त कहता, मैं इनसे प्रार्थना करते-करते थक गया, ये मानते ही नहीं हैं।' वह झट आपके हाथ पकड़ लेता और जबरदस्ती मुँहमें ठूँसने लगता। अब तो आपको भी मुँह चलाना ही पड़ता। इस प्रकार जैसे-तैसे कुछ खिला जाता। इतने ही में कोई दूसरा आ धमकता और कहता, 'महाराजजी ! भोग लगा लो।' परन्तु आपका तो वही पेटेन्ट उत्तर होता, 'मैं नहीं खाऊँगा, मुझे अफारा हो रहा है।' वह कहता, 'अफारा हो रहा है तो उसका कैसे खा लिया ? हाँ, हमारा खानेमें अफारा हो रहा है। जैसे उसका खाया वैसे मेरा भी खाना होगा।' कितनी ही अनुनय-विनय करते, वह मानता ही नहीं। फिर जबरदस्ती हाथ पकड़ता और मुँहमें ठूँस देता। तब उसके लिए भी आपको मुँह चलाना पड़ता। इसी प्रकार कई लोग आपको जबरदस्ती खिला-पिला जाते। हठ भी अपनेको धन्य-धन्य मानता—आज सफल हुआ आपका लीलापात्र बनकर। इस प्रकार भक्त और भगवान्‌की अटपटी लीलाओंका प्रेमरस प्रवाहित होने लगता। इसमें अद्‌भुत रस है, ये अद्‌भुत भगवान् हैं, अपनेसे भिन्न यहाँ कोई है ही नहीं। इससे बढ़कर पाने और पीने योग्य और है क्या ? यह है प्रेम और कृपाका भक्त और भगवान्‌का लीलारस, जिसका पान करके **'नहिं अघात मति धीर'**।

अपनी महत्ताकी महँक आप कितनी ही छिपाते वह उड़-उड़कर दशों दिशाओंमें फैल ही जाती थी। लोग चाहते थे कि हमारे जीवनाधार सर्वदा यहीं रहें; अतः आपके लिए एक पक्की कुटी बन गयी। मोहन-पुरके रामदास आदि प्रेमी भक्त, यह सोचकर कि कहीं ये भाग न जायँ, तिजौरीमें जैसे लक्ष्मीको बन्द करते हैं वैसे ही आप लक्ष्मीनिवासको उस कुटियामें बन्द करके ताला लगा देते थे। जब दूसरे दिन प्रातःकाल दस बजे कुटिया खोलते तो देखते कि जैसे बैठा गये थे वैसे ही अपने भीतर डूबे हुए बैठे हैं। यह स्पष्ट जान पड़ता था कि आप यहाँ नहीं हैं। आपने तो इस कुटियाको क्या, अपनी देहरूप कुटीको भी त्यागकर भीतर आसन जमाया है। वहाँके आनन्दका उल्लास मधुर मुसकानके रूपमें मुखारविन्दपर खेल रहा है और मानो हमें चुनौती दे रहा है कि लो, और बन्द कर जाओ। कुटियामें कोई जंगला या रोशनदान नहीं था।

परन्तु गर्मी हो या सर्दी ताला बन्द करके चाभी ले जाते। कभी-कभी ऐसा आश्चर्य भी होता था कि कुटिया बन्द रहती और आप बाहर घूमते मिलते।

कुछ लोग परीक्षाकी दृष्टिसे अपने कुछ प्रश्न लेकर आपके पास आये। परन्तु आपने उनके प्रश्न करनेसे पहले ही उत्तर दे दिये। वे देख कर दङ्ग रह गये। गये थे परीक्षाके लिए परन्तु हुआ यह कि अपना हृदय भी आपपर निछावर हो गया। कभी-कभी आपके पास थोड़ा प्रसाद भी बहुत हो जाता था। एक बार एक भक्त परीक्षाके लिए एक पुड़ियामें कुछ इलायचियाँ लाया। आपने कहा, "बाँट दे।" उपस्थिति अधिक थी, इसलिए सकुचाया। आपने कहा, "देखता क्या है ? दो-दो इलायची बाँट दे।" उसने सबको दो-दो इलायचियाँ दीं, तब भी पुड़ियामें शेष बच रहीं। ऐसे आश्चर्य देखकर सब नत-मस्तक हो जाते थे। संसार तो चमत्कारको नमस्कार करता है। परन्तु यह सब स्वयं होता था, देवी-देवता सब प्रबन्ध कर देते थे, आपको सङ्कल्प करनेकी आवश्यकता नहीं थी। कई बार ऐसा देखा जाता कि आप चटाईपर बैठे होते और आस-पास अनेकों भक्त भी होते। तो भी उस समय एक सर्प आपकी परिक्रमा करनेके लिए आता। वह कभी फण उठाता और कभी नीचा कर लेता। आपकी आज्ञा थी कि उसे कोई छेड़े नहीं। बस वह परिक्रमा करके चला जाता।

भक्त मुन्शीलालके कोई पुत्र नहीं था। एक दिन आपने स्वयं कहा, "मुन्शीलाल, तुम्हारे कोई पुत्र नहीं है। सो पुत्र तो हो जायगा, परन्तु स्त्री नहीं रहेगी।" मुन्शीलालने कहा, "ऐसे पुत्रको मैं गलेमें बाँधकर क्या करूँगा, मुझे नहीं चाहिये।" तब आपने कहा, "अच्छा, तुम्हारी पुत्रीके एक लड़का होगा और वह तुम्हारे पास ही रहेगा।" कालान्तरमें लड़कीके लड़का हुआ और आपने ही उसका नाम हरिशङ्कर रखा। वह अभीतक सकुशल है।

मोहनपुरके कारिन्दा अब्दुल मजीदको भयङ्कर गुर्देका दर्द होता था। उसकी श्रीचरणोंमें श्रद्धा थी। उसने आपसे प्रार्थना की कि मेरा दर्द कैसे ठीक हो। उसे शिकार खेलने और मांस खानेका व्यसन था। श्रीमहाराजजी ने कहा; "यदि तुम मांस खाना छोड़ दो तो तुम्हारा दर्द ठीक हो सकता है।" उसने शिकार करना और मांस खाना दोनों ही छोड़ दिये और तबसे उसका दर्द भी ठीक हो गया।

आपका एक और मुसलमान भक्त था हकदाद। उसने आपको हिन्दुओंके घरोंमें भिक्षा करते देखकर एक दिन प्रार्थना की कि गरीब-परवर! आप सबके घरोंमें दावत पाते हैं, महरवानी करके एक दिन मेरे घर पर भी दावत मंजूर फरमाई जाय। आपने स्वीकार कर लिया। उसने सारा घर गोबरसे लीपकर सुन्दर आसन बिछाया। आप जब विराज गये तो आपके आगे फल रखे। आपके साथ और भी कई लोग गये हुए थे। आपने एक फल स्वयं उठा लिया और शेष सब दूसरोंको लेनेकी आज्ञा दे दी। इस प्रकार उसके यहाँ आपकी परिकर सहित भिक्षा हो गयी।

आपके सत्संगमें विद्यार्थी, सन्त, भक्त और सभी सम्प्रदायोंके लोग आते थे। आपका आजीवन अभ्यास करते रहनेपर जोर था। कहते थे—आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास करनेकी। बिना अभ्यास कुछ नहीं हो सकता। अभ्यास और वैराग्य रहित जीवन व्यर्थ है। विचार करो कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् संकल्परूप है। जैसा संकल्प करोगे ठीक वैसा ही जगत् दृष्टिगोचर होने लगेगा। संकल्प समुद्रकी एक बूँदके समान है और अनन्त संकल्पोंका समूह ही संसार है। वास्तवमें संकल्पसे भिन्न कुछ भी नहीं है—ऐसा विचार करके विश्व प्रपञ्चकी आसक्तिका नाश कर दो। सबसे प्रबल तो तुम्हारी वासनाओंकी स्फुरणा ही है। वासनाओंका क्षय होनेसे अध्यासकी भी कमी होती जायगी। देहाध्यास घोर जडता है। इस घोर जडताको दूर किये बिना आध्यात्मिक क्षेत्रमें उतरना कठिन है। इसके लिए न मनके साथ युद्ध करना होगा और न उसे किसी वस्तुका प्रलोभन देकर फुसलाना होगा। किन्तु एक कार्य अवश्य करना होगा। वह है मनमें भरे हुए संकल्पोंका नाश। ज्यों ही तुम्हें इस कार्यमें सफलता होगी सांसारिक प्रलोभन स्वतः ही तुम्हारी ओर आकर्षित होने लगेंगे। निरन्तर छः महीनेके निर्बल साधनसे भी संसारके प्रलोभन आने लगते हैं। इस अवस्थामें सावधान रहना चाहिये। सत्सङ्ग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है? जैसे कोई रामायण तो पढ़े किन्तु रामभक्त न हो। अथवा श्रीमद्भागवतका पारायण करते हुए भी श्रीकृष्णका अनुयायी न हो।

एक बार स्वामी श्रीशरणानन्दजी मोहनपुर गये थे। उन्होंने आपसे पूछा कि दृश्यका यथार्थ स्वरूप क्या है? आपने कहा, "तुम्हें क्या जान पड़ता है?" वे बोले, "कुछ नहीं।" तब आपने भी कहा, "कुछ नहीं।"

आपका वेदान्त भी सुमधुर था, लट्ठमार नहीं। एक बार एक सज्जनने **'लखो जिन लालकी मुसकान'** यह गीत गाया। तब आप बोले, "इसका आस्वादन किसके प्रकाशसे होता है—उसे भी तो जानना चाहिए।" इसपर वे सज्जन कुछ बोलने लगे। तब आपने कहा, "देखो लोग सत्यको जानकर भी मानना नहीं चाहते।" इसी प्रकार एकबार कमालगंज वाले स्वामी श्री सच्चिदानन्द और रामदेवजीके साथ आपका सत्सङ्ग हो रहा था। स्वामी सच्चिदानन्दजीने कहा, "ईश्वर भी जड़ है।" तब आप बोले, "इन्होंने व्यतिरेक तो किया है, अन्वय नहीं किया।" सबको जडरूप तो देखा है, किन्तु सब चैतन्य भी तो है। एक बार आपने कहा था, "देखो भैया ! कुछ लोग तो संकल्पपुरमें रहते हैं, कोई उससे पार होनेपर खुद नगरमें टिक जाते हैं। किन्तु जो उससे भी पार चले जाते हैं वे शान्तिपुरमें निवास करते हैं।"

इस प्रकार मोहनपुरमें श्रीमहाराजजी बड़े घुल-मिलकर रह रहे थे। अतः वहाँके लोग अपने सौभाग्यातिशयसे गर्वित हो उठे। वे समझने लगे कि अब श्रीमहाराजजी हमें छोड़कर नहीं जा सकते। एक दिन एक माता के मुखसे आपने यह गर्वोक्ति सुन भी ली। उसी समय आपने मन ही मन वहाँसे जानेका संकल्प कर लिया। अत्यन्त दयालु तो थे ही, इसलिए किसीको अपने मनका भाव बताया नहीं। बस, एक दिन चुपचाप आप चले गये।

आपके अकस्मात् अन्तर्धान हो जानेसे गाँवमें सब ओर चकाचौंध हो गया, मानो आकाशसे बिजली गिर गयी हो। जीवन ऐसा हो गया जैसे जलसे निकाली हुई मछली। आप उनकी दृष्टिसे ओझल क्या हुए मानो अपनेको उनसे चुरा ही लिया और अपने साथ उनके हृदय भी चुरा लिये। सब लोगोंको रोते-रोते वह रात बीती। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सब पागल हो गये। मार्गमें पथिकोंसे पूछते, "भाई ! क्या तुमने मोहनपुरके महात्मा देखे हैं ? उनके मुखमण्डलपर आनन्द लहराता है, शान्ति छायी रहती है, मन्द-मन्द मुसकान मुखपर खेलती रहती है। उनके उज्ज्वल गजदन्त आनन्दकी कान्ति बिखेरते हैं। उनके चलनेमे चंचलता नहीं है और बोलनेमें कटुता नहीं है। वे रसमें डूबे-डूबे डगमगाते चलते हैं। हाँ, चलते बहुत तेज हैं, इतने तेज मानो उड़ते हों। हाथमें एक तूँबा है और एक खद्दरकी चादर ओढ़े हुए हैं।" पथिक पूछते, "क्या बात है, क्यों ढूँढ़ते हो ?" तो कहते, "भाई ! क्या कहें ? एक महामूल्य रत्न हाथ लगा था, उसे अपनी मूर्खतासे

खो दिया। वे दयाके भण्डार हैं, प्रेमके धनी हैं। हाय ! क्या कहें, कहते नहीं बनता, परन्तु कहे बिना सरता भी नहीं। वे हमारे गुरु हैं, माता हैं, पिता हैं, धन हैं, दौलत हैं।" इस प्रकार दशों दिशाओंमें ढूँढ़ा और अपनी मूर्खता पर पछताकर अपनेको धिक्कारा। बस, बस, इस महती विपत्तिमें एकमात्र आशाकिरण थी उनकी अहैतुकी कृपा। वे निष्ठुर नहीं हैं, दयामय हैं। वे हमें दुखी देख नहीं सकेंगे, इसलिए अवश्य आयेंगे और अवश्य मिलेंगे।

आखिर रोते-विलखते कुछ भक्त और माताएँ रामघाट पहुँचे। वे सब श्रीचरणोंमें गिरकर रोये और कहने लगे, "महाराजजी ! कैसे छोड़ आये। खैर, क्षमा करो, अब फिर चलो।" तब आपने आश्वासन दिया कि मैं फिर आऊँगा। इसके पश्चात् आप समय-समय पर मोहनपुर जाते रहे तथा वहाँके भक्तजन भी जगह-जगह आपके दर्शन करके उत्सवादिमें सम्मिलित होते रहे। तथा आपके दरबारका दर्शनानन्द और उत्सवोंमें उमड़ते हुए प्रेमानन्दमें गोता लगा-लगाकर रसपान करते रहे।



: ७ :

रामघाट और नरवरमें

(प्रधान लीलाक्षेत्र)

पूर्णानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहित सद्गुरुं तं नमामि ॥

इस ब्रह्माण्ड मण्डलमें भारत ही एक ऐसा भूमण्डल रहा है जहाँ वेदमन्त्रोंमें, श्रुति, स्मृति और पुराणोंकी विस्तृत गाथाओंमें, रसिक सन्तोंके मधुरालापोंमें और दुर्धर्ष योद्धाओंकी वीरगाथाओंमें गन्तव्य, प्राप्तव्य और ध्यातव्य विशुद्ध विषय, विहितधर्म और सच्चे समर्पणके स्थान और धामोंका स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे प्रकाशरत भारतमें भी आर्यावर्त्त सर्वोत्कृष्ट पुण्य-भूमि रूपसे विख्यात है। उसमें भी गङ्गा-यमुनाके बीचका मण्डल तो दिव्य धाम और दिव्य लीलाओंका केन्द्र ही है। यह नित्य और नैमित्तिक अवतारोंकी श्रीपदाङ्कित लीला-भूमि है। यह भूमि प्रत्येक प्राणीके जीवन-का सर्वतोमुखी विकास और पालन-पोषण करते हुए गङ्गा, यमुना और सरस्वतीके समान उसमें कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनों हीका आविर्भाव कराने वाली है तथा उसे समष्टि और व्यष्टि रूपसे सच्चे आनन्द और शान्तिका आस्वादन कराती है। यह गङ्गा-यमुनाके मध्यका मण्डल ही हमारे महाराजजीकी प्रधान लीला-भूमि है। यह अनन्त रसमयी भूमि ही आपके निर्दोष रसवैचित्र्यमय लीला-विहारकी रङ्गस्थली है। यहीं आपके द्वारा अगणित जीवोंको रस-वितरण हुआ है और यहीं स्वमहिमाका भी विस्तार हुआ है। यहाँका कण-कण और क्षण-क्षण आपकी सुदुर्लभ मधुर-रसमूर्त्तिकी महिमा-गान करता है तथा यहाँके जन-जनका हृदय आपकी कृपाकटाक्षकी कान्तिसे उद्भासित हुआ है। उससे आपके प्रेमरस पान-के उद्गार ही प्रकट होते हैं वे आपकी दीन-दयालुताका ही दिग्दर्शन कराते हैं।

आप पूर्ण पुरुष हैं, स्वयं पुरुषोत्तम हैं और सम्पूर्ण रस-धाराओंके आगर हैं। आपने अपने अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य और लावण्यकी रसवृष्टिसे अगणित जीवोंको आनन्द और आह्लादमें तल्लीन किया था। ब्रह्मद्रवा गङ्गाके तटपर रामघाट और कर्णवास आपकी प्रधान लीलास्थली थीं तथा श्यामप्रेमद्रवा श्रीयमुनाके तीरपर प्रेम-रसिकोंकी राजधानी श्रीराधिका महारानीकी मधुर रसवर्षिणी रङ्गस्थली श्रीवृन्दावन आपकी भी प्रेमरस-प्रदायिनी प्रधान लीलास्थली रही। मुख्यतया विशुद्ध ब्रह्मरसप्रधान-लीला इस ब्रह्मद्रवाके तटमें और प्रेमरसवितरण-लीला आनन्द-तट वृन्दावनमें हुई।

•

अस्तु, अब इधर प्राकृत लीलाकी ओर दृष्टि लाइये। आपने मोहन-पुरसे चलकर रामघाटमें पदार्पण किया। यह रामघाट जिला बुलन्दशहर में गङ्गातट पर है। जब गङ्गाजीका इस मर्त्यलोकमें अवतरण हुआ तब उन्होंने श्रीभगवान्‌से कहा कि कलियुगमें तो पापी ही अधिक होंगे। उनके स्नानादिसे मुझे स्वयं पाप-कलुषित हो जानेकी आशंका है। तब भगवान् ने उन्हें आश्वासन दिया कि तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करनेवाले सन्त-जन, जो स्वयं श्रीहरिके निवास स्थान होते हैं, तुम्हारे भीतर स्नानादि करके तुम्हारे पाप और कालुष्यको हर लेंगे। अतः गङ्गावतरणके समकाल से ही गङ्गातट विरक्त महात्माओं और सन्तोंका निवास स्थान रहा है। इसकी वनस्थली जीवन-वैज्ञानिकोंकी अनुसन्धानशाला और गुप्त प्रयोग-शाला रही है। श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि काशीसे कानपुर तक साम्प्रदायिक दण्डिस्वामियोंकी प्रधानता है, कानपुरसे रामघाट तक दण्डि-स्वामी, परमहंस और ब्रह्मचारी सभीकी मिली-जुली भूमि है। परन्तु राम-घाटसे लक्ष्मणझूला तक और उससे आगे भी परम विरक्त और तत्त्वदर्शी वेदान्त-केशरियोंकी भूमि है इसमें अनादिकालसे अद्वैत वेदान्तका डिंडिम-घोष होता है। मैंने सम्पूर्ण गङ्गातटपर विचरकर यह निश्चय किया है कि कर्णवास और कनखल मुख्यतया ब्राह्मी भूमि हैं। यहाँ स्वभावसे ही ब्राह्मी स्थितिकी पुष्टि होती है। रामघाट श्रीमहादेवजीका महिमामण्डल है। इसलिए रामघाटसे लेकर लक्ष्मणझूला तक ज्ञान-वैराग्य-रसका प्रवाह चलता है। यहाँके वायुमण्डलमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूपसे परम्परागत सिद्ध महापुरुषोंके द्वारा इसी सङ्गीतका गान हुआ है—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयनम्रगिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ।।१।।

इस वैराग्यपादमें पदार्पण कर फिर परवैराग्यरूप महत्सङ्गीतमें अपनी जीवन-तन्त्रीका तार मिलाना चाहिए। इसका सर्वोच्च आलाप है—

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव ।।२।।

यहाँ तक हमने श्रीमहाराजजीकी जीवन-घटनाओंका काल-क्रमसे क्रमिक वर्णन किया है। परन्तु आगे आपका जीवन ऐसा व्यस्त और विविध व्यापारमय रहा है कि उसका क्रमिक वर्णन करना बहुत कठिन है। आपकी भावी लीलाएँ प्रधानतया रामघाट, कर्णवास और वृन्दावन इन तीन स्थानों में ही हुई हैं। अतः आपके पर्यटनके समस्त स्थानोंका क्रमशः वर्णन न करके हम उक्त तीन क्षेत्रोंमें ही सबका अन्तर्भाव करेंगे। आगे रामघाट क्षेत्रसे सम्बन्धित चरितोंका वर्णन किया जाता है।

रामघाटमें पदार्पण

इस वैराग्य रसकी राजधानी रामघाटमें स्वयं रसस्वरूप आपने पदार्पण किया। आपने पदार्पण क्या किया मानो असंख्य प्राणियोंके हृदयागारमें, जो अनन्त रामका आवासस्थान होनेसे सच्चा रामघाट है, उसीमें प्रवेश किया। यही नहीं, आपने उस रामालयको गुरुनिलय ही बना दिया। इसी प्रकार कर्णवासमें प्रवेश करके आपने दानवीर कर्णकी उदारताको उज्जीवित करते हुए यह दिखा दिया कि दाता एक राम है और सारी दुनिया भिखारी है। आप जहाँ-जहाँ भी पदार्पण करते हैं, वहाँ-वहाँ जीवनार्पण हो जाता है। फिर वह स्थल भी आपका लीलास्थल हो जाता है और वहाँके व्यक्ति भी आपके व्यक्ति हो जाते हैं।

---

१. चित्तको चुरानेवाली युवतियाँ हैं, अनुकूल सुहृद्गण हैं, सच्चे बन्धुवर्ग हैं, विनीत वाणी बोलनेवाले सेवक हैं, हाथियोंके समूह चिग्घाड़ रहे हैं और घोड़े उछल-कूद कर रहे हैं, किन्तु आँखें बन्द होनेपर ये कुछ भी नहीं रहते।

२. यह मैं हूँ और येह मैं नहीं हूँ—इस विभागको छोड़ दो। सब कुछ आत्मा ही है—ऐसा निश्चय करके सुखी हो जाओ।

जिस समय आप रामघाटमें पधारे उस समय आप अहं-अहं रूपसे निरन्तर नृत्य करते हुए आनन्दविहारीकी पदध्वनिसे एकतार होकर उनके आनन्दरसमें डूबते जा रहे थे। जैसे-जैसे आप उसमें डूबते थे वैसे-वैसे ही समुद्रमन्थनके समय प्रकट होनेवाले लक्ष्मी आदि रत्नोंके समान आपके चिन्मय मन्थनमें मधुररसविहारी श्यामब्रह्म और उनकी रसवर्षिणी लीलाओंका तथा जगदम्बा कालीका प्रस्फुट प्राकट्य होता जाता था। आप तो अहं-अहंके शब्दविन्यासका अनुसरण करते हुए उस शुद्धपरात्पर ब्रह्मकी रासस्थलीकी ओर जा रहे थे, बीचमें चित्ताकाशमें श्यामरस-विहारी मिल गये। अतः शुद्ध परात्पर ब्रह्मविहारमें अहं-अहंरूपसे स्फुरित होनेवाले बृहत् विहारीके साथ तथा अन्वयमें वृन्दावनविहारीके साथ विहार करते हुए हमारे श्रीमहाराजजी दाऊ भैयाके धाम[1] रामघाटमें आ गये।

उनके समरसानन्दमय जीवनकी झाँकियोंको समझनेके लिए इस बातकी ओर ध्यान दीजिये। कर्दमजीके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णुके नेत्र-कमलसे एक आनन्दविन्दु टपका था, जो विन्दुसरोवर नामसे विख्यात हुआ। उसमें तपस्तापसे क्षीण देवहूतिने पतिदेवकी आज्ञासे गोता लगाया। उस समय अनेकों देवाङ्गनाओंने उनका उबटन करके स्नान कराया तथा दिव्य अंगराग एवं वस्त्राभूषणोंसे शृङ्गार किया। इससे वे अपने खोये हुए सौन्दर्यसे हजारों-गुने सौन्दर्यद्वारा जगमगाते हुए बाहर निकलीं। उसी प्रकार हमारे श्रीमहाराजजीके जिज्ञासाग्निसे सन्तप्त जीवनमें परशिवसाक्षात्काररूप आनन्दविन्दु आ टपका। वह विन्दुसरोवर नहीं साक्षात् आनन्दसिन्धु ही बन गया और आप उसमें समाते चले गये। वहाँ उस परमशिवके निरावरण आलिंगनके लिए, जहाँ शब्द भी कुण्ठित हो जाते हैं, परिकरसहित श्रीश्याम और माँ जगदम्बा आपका भीतर-ही-भीतर दिव्य शृङ्गार कर रहे थे! वे आपको असङ्गामृतरसका पान करा रहे थे, अजरामृतका अङ्गराग लगा रहे थे

१. कहते हैं, पहले रामघाटका नाम बलरामघाट था। श्रीबलरामजीने कोलासुर दैत्यको मारकर यहाँ गङ्गास्नान किया था और श्रीवनखण्डी महादेवजीकी स्थापनाकी थी। उन्हींके नामानुसार यह स्थान पहले बलरामघाट और फिर रामघाट कहलाया। यहाँ श्रीबलरामजीका प्राचीन विग्रह भी स्थापित है।

और राग-अनुराग एवं प्रेमका मधुर पाक बनाकर, जिसमें वैराग्य, उपरति और तितिक्षाकी मेवा मिली हुई थी, आपके रसवर्धन और पुष्टिके लिए खिला रहे थे। वे स्व-परके भेदसे रहित मधुर मिलन और मधुर विहारके लिए आपको निरन्तर सुसज्जित कर रहे थे। आप अपनी नयी-नयी उन्मेष-शालिनी बुद्धिसे अपने प्रेमास्पदमें तन्मय होते जा रहे थे, क्योंकि जैसे-जैसे अभ्यासकी पुष्टि होती है वैसे-वैसे ही मधुर मिलनकी रसानुभूति भी बढ़ती जाती है—**'कौशलान्यभिवर्धन्तेऽभ्यासपाटवात्।'**[1] यही था उनका रूप और स्वरूप। वे बाहरसे थे श्रीपूर्णानन्द तीर्थ और भीतरसे थे पूर्णानन्द समुद्र। अर्थात् स्वयं पूर्णानन्द समुद्र ही पूर्णानन्द तीर्थ रूपमें दिखायी देते थे।

जैसे श्रीगङ्गाजीकी धारामें अनेकों भँवर उठते हैं तो उनमें जलके साथ अनेकों रजःकण भी गङ्गाजीके ऊपरी स्तर पर आ जाते हैं, वैसे ही आनन्द रसके साथ राग, वैराग्य, प्रेम, उपरति और तितिक्षा आदि अनेकों भाव लहराते हुए आपके मुख-कमलपर प्रस्फुटित हो रहे थे। अतः कमल जैसे अपने परागके सहित सौगन्ध्य-सौरस्यका विस्तार करता है उसी प्रकार आपके मुख-कमलसे भी उक्त सभी दिव्य गुण छलक-छलककर एक दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका विस्तार करते थे। आपकी जीवन-सुरसरि सर्वत्याग रूप तरंग मालाओंसे आप्लावित हो रही थी तथा मधुवनमें मधुर-मिलन-का मधु स्रवित कर रही थी। यही है आपका मुक्तिश्री के साथ पूर्णानन्द समुद्रमें शयन। यही है विशुद्ध-बुद्धिरूपा भवानी महारानीका परमशिव के साथ विहार। आपके नेत्र उस मिलनके रससे चूर थे। बाह्य दृश्यकी ओर आपका रत्तीभर भी ध्यान नहीं था। इस प्रकार आप नाममात्रके तो अर्धनारीश्वर हैं, परन्तु वास्तवमें परमशिव ही हैं। ऐसे थे हमारे श्रीमहा-राजजी, जिन्होंने इस समय रामघाटमें वनखण्डी महादेवपर पदार्पण किया था।

आप सबसे पहले सम्वत् १९७२ वि० के आषाढ़ मासमें रामघाट पहुँचे। वहाँकी वनस्थली एकान्त, गङ्गातटका मनोहर दृश्य, मुग्ध शान्तिका महान् रस तथा दिव्य वसुन्धराकी दीप्ति देखकर आपने वहाँ रहनेका निश्चय किया। वनखण्डी महादेवका स्थान सदासे ही

---

१. अभ्यासकी अधिकता होनेपर चित्तनिरोधकी कुशलताओंमें भी वृद्धि हो जाती है।

सन्तोंका निवासस्थान और विरक्तोंका विहारस्थल रहा है। आपने श्रीमहादेवजीका दर्शनकर इमलीवाली कुटीमें आसन लगाया। पास ही एक तिदरीमें परम विरक्त और वेदपाठी विद्वान् ब्रह्मचारी श्रीहीरानन्दजी से मिले, उन्होंने प्रणाम किया और फिर धीरे-धीरे दोनोंकी घनिष्ठता हो गयी।

बाबू रामसहाय

श्रीमहाराजजीने दशों वर्ष तक जङ्गलोंमें अपना तपोमय, अभ्यास-मय और अथाह पुरुषार्थमय जीवन व्यतीत किया है। रामघाटमें पहुँचते ही आपको बाबू रामसहाय मिले। बाबूजी विचित्र मूर्ति थे। वे ईश्वर और सन्तोंकी खोजमें रहते थे। उन्होंने विरक्तशिरोमणि स्वामी हीरा-दासजीका खूब सत्सङ्ग किया था। उनके हृदय और नेत्रोंमें महान् विरक्त महापुरुषोंकी मूर्त्तियाँ गड़ी हुई थीं। स्वयं भी अत्यन्त विरक्त और सादा स्वभावके थे तथा दिगम्बर एवं मौनभावसे श्रीहनुमानजी वाली कुटीमें रहकर तपस्या कर चुके थे। अपने जीवनमें मनों आटेकी रोटियाँ स्वयं अपने हाथोंसे बनाकर सन्तोंकी सेवा करते रहे थे। वे ऊपरसे तो बहुत रूक्ष स्वभावके जान पड़ते थे, परन्तु भीतरसे अत्यन्त मीठे थे। जो उनके विशेष सम्पर्कमें रहे हैं वे ही उनकी इस प्रकृतिको जान सकते थे। श्रीमहाराजजीके वे अनन्य सेवक थे और सभी परिकरके लिए अत्यन्त आदरणीय थे। अपने भावोंको छिपानेमें वे बड़े ही विचित्र थे। श्रीमहा-राजजीकी भी उनके प्रति अनुपम कृपा थी। उनका कोई बाह्य आडम्बर नहीं था। पूजा आदि करते हुए भी उन्हें कभी किसीने नहीं देखा।

श्रीमहाराजजीके पहुँचते ही बाबूजी आपसे मिले और यह प्रश्न किया कि यद्यपि यह संसार स्वप्न है, परन्तु जिसे यह स्वप्न हुआ है वह कौन है?

श्रीमहाराजजी—उसे तुम कैसे जानोगे, तुम तो स्वप्नपुरुष हो और वह स्वप्नद्रष्टा है।

बाबूजी—यदि हम स्वप्नपुरुष हैं तो उस स्वप्नद्रष्टाके जागनेपर ही हमारी मुक्ति हो जायगी। फिर हम कोई साधन क्यों करें?

श्रीमहाराजजी—साधनके द्वारा तुम यह जान सकोगे कि वास्तवमें वह स्वप्नद्रष्टा तुम ही हो और यह संसार तुम्हारा ही स्वप्न है। जिस समय तुम्हें यह ज्ञान हो जायगा उसी समय तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।

बाबूजीके फकीर, महात्मा और साधु-सन्तोंके विषयमें बड़े स्पष्ट विचार थे। यदि उनसे कोई कहता कि अमुक साधु मौन रहता है, तो वे कहते थे, 'यह कोई आश्चर्य नहीं, आश्चर्य तो यह है कि कोई साधु होकर बकवासमें जीवन समाप्त कर दे।' यदि कोई कहे कि बाबूजी अमुक साधु पैदल चलता है, तो कहते, 'यह आश्चर्य नहीं, कोई साधु होकर सवारीमें मारा-मारा फिरे—आश्चर्य तो यह है।' यदि कोई कहता बाबूजी यहाँ तो बड़ा आनन्द है, तो तुरन्त फटकारते कि तुम देश-काल-वस्तुओंका आनन्द लेनेके लिए नहीं आये हो, अपने वास्तविक स्वरूपानन्द और भगवदानन्दपर ही दृष्टि रखो। इसीलिए साधु हुए हो। उन्हें साधुके लिए धनी पुरुषोंका संग करना पसन्द नहीं था, क्योंकि धनियोंके यहाँ विषयरसका प्रवाह रहता है, वह विषयवैरस्यरूप मोक्षमार्गको मटियामेट करनेवाला तथा विचित्र व्यसनमें खींचनेवाला होता है। अतः वे प्रत्येक साधकसे धनी पुरुषोंके संसर्गमें रहनेके लिए मना करते थे। स्वयं बड़े पुरुषार्थी और साधु-सन्तोंके प्रेमी थे। उन्होंने जब श्रीमहाराजजीके संस्मरण पढ़े तो कहने लगे, "देखो, सबने अपनी-अपनी प्रशंसा लिखी है। लिखना यह चाहिए था कि हम कैसे पतित हैं और वे महान् पतितपावन हैं, हम कितने दीन-दुखिया हैं और वे कैसे दीनदयालु हैं, हम कितने गरीब कंगाल हैं और वे कैसे गरीबनिवाज हैं, हम कितने आर्त्त-अर्थार्थी हैं और वे कितने वाञ्छाकल्पतरु एवं कामधेनु हैं।" ऐसा था उनका हृदय और ऐसी थी उनकी गुरुभक्ति।

श्रीबाबूजीने मुझसे कहा था कि श्रीमहाराजजी अखण्ड समाधिमें रहते हैं। इनकी अटूट आत्मनिष्ठा है। ये व्यवहार नहीं जानते, हर हालतमें आनन्दमें डूबे रहते हैं, व्यवहारकी ओर इनका ध्यान नहीं है। अर्थात् इनमें विषमता बिलकुल नहीं है, ये एकरस स्नेहमूर्त्ति हैं।

उनके इस कथनका यहाँ कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है। कुछ सन्त बड़ी मस्तीसे कहते हैं कि व्यक्तित्व मनुष्य है और पुरुष परमात्मा है। दूसरे एकजीववादी वेदान्ती कहते हैं कि व्यक्तित्व ईश्वर है और पुरुष परमात्मा है। यहाँ विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर, जिनमें विश्व, तैजस और प्राज्ञ भी आ जाते हैं तथा इनकी अवस्थाएँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, 'ईश्वर' शब्दसे कहे गये हैं। उसीको यहाँ 'व्यक्ति' कहा है। तथा इन उपाधियोंसे निर्मुक्त तुरीय ही परमात्मा है। उसीको यहाँ 'पुरुष' कहा गया है। वह अजात है। उपाधिमात्रका बाध करके निरुपाधिक

है। चिन्तन ही जगत् है और यही विघ्न है तथा चिन्तनका अभाव ही शान्ति है।

अब आप बुद्ध भगवान्‌के समान प्रचण्ड तपमें संलग्न थे। आपकी अविच्छिन्न प्रेमधारा परमशिवसे सङ्गम करनेके लिए प्रवाहित हो रही थी। उस व्यतिरेकविहार, प्रेमसमर्पण और स्वाराज्यसिंहासनपर अभिषेककी बात एक अद्भुत सुख-दुःखका मिश्रण है। प्रचण्ड तपकी ज्वालामें तप्त होते हुए स्वाराज्यसिंहासनपर अधिकार करना है। अपनेको बलिदान करके परमशिवरूपसे देदीप्यमान होना है। इस विषयमें जब आपसे पूछा गया तो आपने बताया कि इसे वही समझ सकेगा जो अहंको गिरफ्तार करके उसे बलिदानकी वेदीपर चढ़ा देगा, क्योंकि मुर्दा मन ही उससे मिल सकता है। हमारा सच्चा स्वरूप स्पष्ट अनुभवमें आनेपर उसीमें तन्मयता बढ़ती जाती है। उस स्वरूपका परिचय आप इस अमर गीतसे देते थे। बड़ी मस्तीसे गाते थे—

तदा नैव बालो युवा भोगलोल-
स्तथा नैव वृद्धः समासन्नकालः।
न वा साधुशीलोऽप्यथासाधुशील-
श्चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥१॥

तदा नैव जीवः शिवो नापि कर्ता
तथा नैव भोक्ता न भर्ता न मन्ता।
तथा नो विरञ्चिरथो नापि विष्णु-
श्चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥२॥

तदा नैव बद्धो न मुक्तो न रागी
विरागी न सङ्गी तथा नो विरागी।
न योगी न भोगी न संसाररोगी
चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥३॥

तदा नैव सूक्ष्मं न वा स्थूलमेकं
न चाजङ्गमं जङ्गमं वापि किञ्चित्।
न कर्माणि धर्मोऽप्यधर्मो न कश्चि-
च्चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥४॥

तदा कामिनी नैव कामो न कामी
न वा क्लीबमल्पं न वर्णाश्रमादि।

न वा शिष्यवर्गो गुरुर्वा न चास्ते
चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥५॥
तदा नैव जाग्रत् सुषुप्तिर्न चास्ति
न वा स्वप्न येषा तुरीयापि काचित् ।
न हि चोन्मनी नो गतायात नाम्नी
चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥६॥
तदा नासनं प्राणरोधो निरोधो
न वा धारणा नो न वा ध्यानमेकम् ।
तदा कारकाणां समाधिर्न कश्चि-
च्चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥७॥
तदा नाप्यभेदो न भेदो न बोधो
न चाबोध एष विनोदी न खेदः ।
अहो न मुकुन्दो न चानन्दकन्दो
चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥८॥
तदा नो स्मृतिर्विस्मृतिर्नो बहिर्नो
तथा नान्तरं साधको नापि सिद्धः ।
असिद्धो न सिद्धो न चाशुद्ध एष
चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥९॥
तदा नैव तूष्णीमतूष्णीं न किञ्चित्
न हि किञ्चिदेवेति कोटिद्वयोऽपि ।
यथावस्थितोऽहं तथैवास्मि सिद्ध-
श्चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः ॥१०॥

श्रीमहाराजजीने इस गीत द्वारा पूर्णानन्दसिन्धुको ही चिदानन्दसिन्धु कहकर गाया है, जिसमें वे स्वयं निमग्न थे। इस आनन्दसिन्धुसे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—रसका स्फुट अनुभव करनेके लिए आपने पहले ही यह निश्चय किया था कि स्वप्न और सुषुप्ति दो अवस्थाएँ बीचमें आ घुसी हैं, पहले नहीं थीं। इन्हें उड़ा देना है। सुषुप्ति तो तमोगुणरूपा सबीजावस्था है और स्वप्न रजोगुणरूपा है, जिसमें धर्माधर्मरूप बीज अंकुरित होते हैं। अतः आपने उन बीज और अंकुरको मूल और शाखाओंके सहित नष्ट कर देनेके लिए स्वप्न और सुषुप्तिको निकाल फेंकनेका निश्चय किया। पहले उपासनामें जाग्रत्के समान ही स्वप्ना-

वस्था हो जाय—ऐसा प्रयत्न किया जाता है। अब सुषुप्ति और स्वप्न दोनोंको त्यागकर असङ्ग होना है, जाग्रत्में ही निरोधको सुप्रतिष्ठित करना है। इसीसे आपने अभ्यासीके लिए जाग्रत् और समाधि दो ही अवस्थाएँ मानी थीं। अतः आप आत्मप्रेममें एकमेक होकर रहनेके लिए और सहजावस्था सतत सुलभ होनेके लिए चान्द्रायणादि प्रचण्ड तपोंमें तत्पर हो गये। उन दिनों आपका साधन बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आप दिनभर सिद्धासन लगाये बैठे रहते थे। रात्रिमें भी लेटते नहीं थे। जब बैठे-बैठे थक जाते तो कुहनियोंके बल आगेकी ओर झुककर विश्राम कर लेते थे। इस प्रकार बहुत वर्षोंतक आप बिना लेटे ही विश्राम करते रहे।

अभ्यासके विषयमें आप कहा करते थे कि जबतक तुम्हें अपना पता है तबतक उनका पता नहीं लग सकता। जब उन्हें जान लोगे तो अपना पता नहीं रहेगा। वास्तवमें जब निराकारको देखने लगोगे तो कुछ भी कह नहीं सकोगे। जितने विशेषण दिये जाते हैं वे अपना भाव बनानेके लिए ही होते हैं। हठसमाधि तो प्राणकी कसरतमात्र है। उसमें निर्विकल्प अवस्था नहीं रहती और न उससे शान्ति-दान्ति आदि गुण ही प्राप्त होते हैं। समाधिसे उत्थित होनेपर वह योगी एक साधारण पुरुषके समान ही होता है। परन्तु ध्यान-समाधिमें चित्त सम्बन्ध-शून्य हो जाता है। दीर्घकालीन हठसमाधिकी अपेक्षा भी क्षणभरकी ध्यान-समाधिका महत्त्व सैकड़ोंगुना बढ़कर है। ज्ञानी दृष्टि-सृष्टिवादी होता है। उसकी दृष्टि ही सृष्टि है तथा उसकी दृष्टिकी निवृत्ति सम्पूर्ण प्रपञ्चकी निवृत्ति है। ध्यान-समाधि अभ्याससाध्य है। यह उसीको प्राप्त होती है जो दीर्घ-कालतक निरन्तर अभ्यास करते-करते रजोगुण (स्वप्न) और तमोगुण (सुषुप्ति) से सर्वथा मुक्त हो गया हो। ध्यानका अभ्यास परिपक्व हो जानेपर निद्रा कम हो जाती है, क्योंकि ध्यानसे ही निद्राजनित विश्राम मिल जाता है। इसीसे ध्यानाभ्यासी पुरुष एक-डेढ़ घण्टा सोकर भी रह सकता है। जब ध्यान स्वाभाविक हो जाता है तो फिर विश्रामकी इच्छा नहीं रहती। जब चित्तसे विक्षेप निकल जाय तब ध्यान पूरा हुआ समझो। यह विक्षेपकी निवृत्ति ध्यान द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त होनेपर ही होती है। जिसे आधा घण्टा निर्विकल्प समाधि हो जाती है, वह सूक्ष्म सृष्टिको देख सकता है, क्योंकि सजातीय होनेपर ही उस जातिकी सृष्टिसे सम्पर्क होना सम्भव है। अतः जो अपने सूक्ष्म शरीरको स्थूल शरीरसे

अलग कर सकता है वही सूक्ष्म सृष्टिको देख सकता है। विचारसे संशय दूर होता है और एकाग्रतासे चित्तकी चञ्चलता दूर होती है। समाधिके पश्चात् शरीर तिनकेके समान हल्का हो जाता है। उस समय चित्त स्थूल शरीरसे हटकर सूक्ष्म शरीरमें स्थित हो जाता है।

आपने यह सब स्पष्ट अनुभव किया। परन्तु आपका स्वभाव और शौक था कि सब स्थितियाँ अपनी मुट्ठीमें रहें, जिसे आप सहजावस्था कहते थे। अतः आप रात-दिन सिद्धासनसे बैठे रहते थे, क्योंकि यह निःस्पन्द योगका प्रथम अङ्ग है। स्त्रियोंके सम्पर्कसे दूर रहना—यह आपका पक्का नियम था—**'वर्जयित्वा स्त्रियः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात्'** अर्थात् स्त्री का सङ्ग छोड़कर लगनके साथ अभ्यास करे। आपने निश्चित रूपसे कह दिया था कि यदि मेरे पास कोई स्त्री आवेगी तो मैं चला जाऊँगा। परन्तु आपको उनसे कोई घृणा नहीं थी, क्योंकि आपकी दृष्टिमें तो सब स्त्रियाँ माँ जगदम्बाका ही स्वरूप थीं—**'स्त्रियः समस्तास्तव देवि रूपाः।'** तथापि आप अपने अभ्यासमें इतने लवलीन थे कि स्त्रियोंसे क्या, पुरुषोंसे भी बचना चाहते थे। आप सबसे दूर रहकर अभ्यासमें मानो टूट पड़े थे। विरक्त पुरुष स्त्रियोंके शरीरोंको मनसे चीरकर भला बार-बार उसे क्या देखे ? एक बार समझ लिया कि इसमें हड्डी-मांसादिके सिवा रमणीय वस्तु कोई है ही नहीं। पुनः-पुनः रक्त-मांसादिके चिन्तनसे तो नरक ही होगा। अतः ऐसा चिन्तन करके घृणा करना भी ठीक नहीं है। परन्तु आप अपनी निष्ठामें सर्वदा सतर्क रहते थे, इसलिए स्पष्ट कह दिया था कि यदि कोई स्त्री मेरी दृष्टिके आगे आ जायगी तो मैं इस स्थानको त्याग दूँगा।

आपके चान्द्रायणादि व्रतोंके समय जिरौलीके पं० वासुदेव आये थे। उन्होंने इमलीवाली कुटीमें घुसकर देखा तो उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो कोई मुर्दा बैठा हो। वे सोचने लगे कि लोग कैसे मूर्ख हैं, उन्होंने यहाँ कोई मुर्दा बैठा रखा है। ऐसा सोचकर जब वे लौटने लगे तो आपने उन्हें बुलाया। वे आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने तो आपका अस्थिचर्मावशिष्ट कलेवर कोई मुर्दा ही समझा था। फिर प्रणाम करके भिक्षाके लिए प्रार्थना की। आपने कहा, "मैं आजकल व्रतोंमें हूँ, अतः भिक्षा नहीं करता।" उन्होंने जहाँ-तहाँ आपकी चर्चा करते हुए लोगोंसे कहा कि वे अद्वितीय सन्त हैं, उनके दर्शन अवश्य करो।

एक महात्माने आपकी देखा-देखी चान्द्रायण-व्रत आरम्भ किया। सोचा कि मैं क्या बाबासे कम हूँ, मैं भी ये व्रत आदि कर सकता हूँ। परन्तु बीस दिन पश्चात् हिम्मत टूट गयी और क्रुद्ध होकर कहने लगे, "अरे! बाबाने मुझे मार डाला।" सच है—**'देखा-देखी साधे जोग। छीजे काया बाढ़े रोग।'** अपना बलाबल देखे बिना तपस्यामें लग जाना मूर्खता ही है। साधन तो इतना ही चाहता है कि प्राप्त परिस्थितिका उपयोग किया जाय और प्राप्त विचारका आदर। कोई भी साधन छोटा या बड़ा नहीं होता। समर्थ गुरुदेवने अपने लिए जैसा आदेश दिया हो उसीकी सच्चाई के साथ अनुसरण करना चाहिए।

श्रीमहाराजजी तो हर समय समाधिमें लीन रहते थे। उन्हें तो पलक गिरानेमें भी आलस्य था। एक कौर भी उठाकर मुखमें रखना अच्छा नहीं लगता था। इतनी बहिर्मुखता भी उन्हें सहन नहीं होती थी, इसलिए उनके लिए तो स्वभावसे ही खाना-पीना कठिन था और इसी दृष्टिसे उन्होंने अन्न-ग्रहण छोड़ दिया था। वे व्रतके लिए व्रत नहीं कर रहे थे। ध्यानाहारीको ही निद्रा और आहारकी अपेक्षा नहीं रहती, फिर समाधिनिष्ठ महापुरुषकी तो बात ही क्या है? आपने यह स्पष्ट अपने जीवनमें अनुभव किया था और मुझे बताया था कि यदि कोई आठ घण्टा समाधिमें रह सके तो फिर सोलह घण्टा जागृतिमें रह सकता है, उसे सुषुप्तिकी आवश्यकता नहीं रहती। छः घण्टेसे कम समाधि होनेपर तो सुषुप्तिमें रहना ही होगा। समाधि प्राप्त होनेपर माया अपने अधीन हो जाती है। सारी सिद्धियाँ समाधिनिष्ठ पुरुषके पीछे-पीछे चलने लगती हैं।

इस प्रकार श्रीमहाराजजीने समाधि और जाग्रत्में विहार करते हुए गुप्त रूपसे रामघाट और कर्णवासकी वनस्थलीमें बहुत काल व्यतीत किया था। वे अपनेको बहुत छिपाते थे। परन्तु कहाँतक छिपते। धीरे-धीरे प्रकृति ही उनके स्वभावका अनुसरण करने लगी। जङ्गलोंमें शिकार होना बन्द हो गया। आगे चलकर तो उनका समाधिमण्डल वहाँके इस वातावरणमें व्याप्त हो गया। उनका मुखमण्डल पूर्णचन्द्रके समान देदीप्यमान होने लगा। इस निःस्पन्द ब्रह्मके आनन्द और समाधि यहाँकी सारी सृष्टिमें ही छा गये। ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वी और आकाश भी ध्यानस्थ-से हो रहे हैं। गङ्गाजी मन्थर गतिसे प्रवाहित हो रही थीं, सो मानो तीर्थ-यात्रियोंको संकेत करती थीं कि इस निःस्पन्द आनन्दब्रह्मके दर्शन करो, अवसर मत

चूको। वे भी मानो निःस्पन्द समाधिके घेरेमें आ गयी थीं, इसीसे उनकी गति अगतिमें परिणत हो रही थी, उनके प्रवाहमें व्यवधान पड़ गया था, यात्रियोंको दिखाते-दिखाते मानो स्वयं भी शान्त और स्तब्ध होकर मूक आस्वादन ले रही थीं। वायु भी शान्त था। पक्षियोंने कुहूरव करना छोड़ दिया था, वे भी मानो निःस्पन्द ध्यानमें डूब गये। सारी सृष्टि निःस्पन्द ब्रह्मके ध्यानमें एकमेक हो गयी। अशब्द, अस्पर्श, अरूप ब्रह्ममें समाधिस्थ इस आनन्दरसमय मण्डलमें सभी निःस्पन्द, स्तब्ध और नीरूप होकर स्थित थे। इससे यह अनुभूति प्रमाणित हो गयी कि ध्रुवकी तन्मयता से सारी सृष्टिका प्राण निःस्पन्द हो गया था। अगाध शान्ति छायी रहती थी। जब वे जागते थे उनकी ईश्वरता और आनन्दरूपता वहाँके कण-कण और क्षण-क्षणमें छा जाती थी। अपने आनन्दरससे वे सभीको उज्जीवित कर देते थे। सम्पूर्ण प्रकृति मानो जड़ताकी ओढ़नी फेंककर आनन्द-मधुसे उन्मत्त होकर नृत्य करने लगती थी। यह जाग्रत नहीं था, मानो पूर्णानन्द-तीर्थकी विविध आनन्दोल्लास-संवलित सौभाग्य-लक्ष्मी ही थी। श्रीपदाङ्कित भूमि आपके श्रीचरणमकरन्दका आस्वादन कर उन्मत्त हो रही थी। वह रस मधु-पुरुषके आलिंगनके लिए मुसकराते हुए स्वयं आनन्दरूपिणी होकर भक्तिमती माँ जगदम्बाके समान सुशोभित थी। अजी! उनकी जाग्रत क्या थी मानो अनवरत प्रेमरसधारा ही स्रवित हो रही थी। भाई! ऐसे महा-पुरुषोंके संसर्गसे स्थावर भी मुक्त हो जाते हैं, पामर जीवोंकी तो बात ही क्या—**'स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनः पामरा जनाः।'**

आपका सर्वात्मविहार

इस प्रकार आप गुप्तरूपसे बहुत वर्षोंतक अभ्यारस रहे। फिर धीरे-धीरे इस ओर आपके आन्तर प्रभावकी महक फैलने लगी। साङ्ग-वेदविद्यालय नरवरके धुरन्धर विद्वान् और वेदपाठी ब्राह्मण आपके अभूतपूर्व त्याग और समाधिनिष्ठाको देखकर मुग्ध हो गये। उन्हें ऐसा लगा मानो यह एक अपूर्व निधि ही हाथ लग गयी। अनेकों विरक्त और ब्रह्मनिष्ठ सन्त भी आपके सम्पर्कमें आये और उन्होंने जहाँ-तहाँ अपने भक्तमण्डलोंमें आपकी चर्चा की। उनमें प्रमुख थे विरक्तशिरोमणि स्वामी उग्रानन्दजी, स्वामी मौजानन्दजी, स्वामी अजरानन्दजी, स्वामी हरि-

हरानन्दजी, बाबा बेख्वाहिश-बेपरवाह और कूटस्थ बाबा आदि। एक डाकिया बाबा थे। जगह-जगह घूमनेका उनका स्वभाव था। वे कहते थे—'एक अद्भुत मूर्त्ति है, दर्शन करो। उनकी वाणी सुनते-सुनते तृप्ति नहीं होती, निरन्तर सुनते रहनेकी ही इच्छा होती है—**'नहिं अघात मतिधीर'** इत्यादि।' अतः सब ओरसे भक्तगण आपके दर्शनोंके लिए आने लगे। जैसे गङ्गाजीमें अनेकों नदियोंकी धाराएँ आकर मिल जाती हैं वैसे ही जनसमूह उमड़-उमड़कर आपके श्रीचरणोंमें आने लगा। इतना ही नहीं, जैसे श्रीरामकृष्ण परमहंस कालीमन्दिरमें जाकर पुकारते थे कि बालको! आ जाओ, मैं आ गया हूँ, वैसे ही आप भी मूक पुकार करते थे। आपकी लीला-देवी इतने हीमें सन्तोष न करके लोगोंको स्वप्न और जाग्रत्में आपके पास आनेकी प्रेरणा देती थी कि मैं अमुक स्थानमें हूँ; आ जाओ।

आप जब रामघाटके जङ्गलोंमें अधिक रहने लगे तो वहाँके मुसलमान जमींदारको सन्देह हुआ कि कहीं सारा जंगल इन बाबाजीके अधिकारमें ही न आ जाय। यह बात जब आपको मालूम हुई तो आप जङ्गलोंसे लगे हुए एक आमके बगीचेमें रहने लगे। वहाँ बाबू रामसहायने कलकत्तीवाले डाक्टर जयसिंहके आग्रहसे एक पक्की कुटी बनवा दी। डाक्टर जयसिंह एक परमभक्त साधुसेवी सिख सज्जन थे। स्वामी श्रीहीरादासजीको गलित कुष्ठ हो गया था। परन्तु गवर्नमेण्टके मना करनेपर भी आपने उस ओर ध्यान न देकर बराबर उन सन्तशिरोमणिकी सेवा की। स्वामीजी धुरन्धर विद्वान् थे, परन्तु ग्रन्थादि पढ़नेका उनका स्वभाव नहीं था। तथापि डाक्टर साहबके बहुत प्रार्थना करनेपर उन्होंने इन्हें श्रीगीताजीका केवल तेरहवाँ अध्याय पढ़ाया और कहा कि गीताका सारभूत ज्ञान बस इतना ही है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ —(१३।१)

इसके पश्चात् **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** यह महावाक्य है।

डा० जयसिंहका सारा परिवार श्रीमहाराजजीकी सेवामें उपस्थित हुआ। उनका एक पुत्र था। उसके विषयमें श्रीमहाराजजी कहते थे कि उसे गुरुनानकका साक्षात् दर्शन होता था। लोग यदि उससे कोई बात पूछते तो वह कहता कि गुरु बाबासे पूछकर बताऊँगा। बीचमें दर्शन

होना कम हो गया तो श्रीमहाराजजीसे इसका कारण पूछा। आपके उसे उपाय बताया और कहा कि संसारी बातें अधिक मत पूछो। फिर तो उसे पूर्ववत् दर्शन होने लगे और उसकी वाहगुरुनिष्ठा ज्यों-की-त्यों हो गयी। आप कहा करते थे कि गुरु और इष्टका सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरसे होता है।

उनका सर्वात्मविहार लोगोंका अध्यारोपमात्र था। उनका उसके लिए अपना कोई प्रयत्न नहीं था। दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान दूसरोंका भाव ही उनमें प्रतिबिम्बित होता था। इसलिये अग्नि जैसे अपनी उपाधिके अनुरूप रूप धारण कर लेता है तथा जैसे ब्रह्म **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** है वैसे ही आप भी दूसरोंकी भावनाके अनुरूप जान पड़ते थे, जैसा कि जीवन्मुक्तानन्दलहरीमें भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

मौने मौनी गुणिनि गुणवान् पण्डिते पण्डितश्च।
दीने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः॥
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिनि प्रौढ़ वाग्मी।
धन्यः कोऽपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः॥[1]

इसके अतिरिक्त प्रधान रूपसे ध्यान देनेकी बात यह है कि जैसे चुम्बककी सन्निधिसे लोहेमें गति आ जाती है, सूर्योदय होनेसे कमल स्वयं खिल जाते हैं, चन्द्रमाके उदयसे औषधियाँ स्वयं पुष्ट होती हैं और कुमुदनी खिल उठती है तथा जैसे चेतनकी सन्निधिमात्रसे अनन्त सृष्टिकी स्वयं प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार आपके जाग्रत्‌में उदय होते ही अनन्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और प्रेम आदि कल्याणमयी प्रवृत्तियाँ खिल उठती थीं और पुष्टिको प्राप्त होती थीं, क्योंकि इनकी दृष्टि उनकी सम्पत्ति थी, वाणी सिद्धवाणी थी, पादविक्षेप कल्याणमयी यात्रा थी तथा हस्तकमल भगवान्‌का वरदहस्त था। इनके नेत्रकमल खिलते ही कितने ही हृदयकमल खिल जाते थे और उनका मुखकमल प्रफुल्लित होते हो कितने ही जीवनकमल प्रफुल्लित हो उठते थे। आपका समरस सौरभ सर्वत्र व्याप्त हो गया। कस्तूरिया मृगके समान अपने अन्तःस्थ

१. जो मौनीके लिए मौनी, गुणीके लिए गुणी, पण्डितके लिए पण्डित, दीनके लिए दीन, सुखीके लिए सुखी, भोगीके लिए भोगसम्पन्न, मूर्खके लिए मूर्ख, युवतियोंके लिए युवा, वक्ताके लिए बड़ा भारी वक्ता और अवधूतके लिए अवधूत है, ऐसा कोई तीनों लोकोंको जीत लेनेवाला महापुरुष धन्य है।

सौरभको बाहर खोजनेवाले कल्याणकामी पुरुष जब आपके आनन्दवृत्तमें आते तो अनुभव करते कि हाँ, यहाँ अवश्य शान्ति मिली, तृषा शान्त हुई, भूख मिटी और तृप्ति भी होने लगी। जान पड़ता है, स्वयं आनन्दात्मा ही यह मूर्त्ति है। इनकी कृपासे अन्तर्हित स्व-स्वरूपकी ओर दृष्टि जा रही है। इनका अद्भुत माधुर्य है, इसमें विरस है ही नहीं और चन्द्रकलाके समान इनकी कृपा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। जान पड़ता है 'इति' शब्दकी सार्थकता तो शास्त्रोंमें ही है, इनकी कृपा, प्रेम, आनन्द और अभयमें तो कहीं 'इति' है ही नहीं। सर्व-समर्पणकी सार्थकता अथवा सत्यात्मक प्रभुकी प्रपत्ति या शरणागतिकी शरण्यता इन्हींमें है। ये ही अभेदभक्तिकी असलियत हैं। इसी प्रकार शरण्य और वरेण्यकी रसानुभूति करते हुए समुद्र-तरङ्गके समान भक्तगणरूप-जनतरङ्ग इस पूर्णचन्द्रको निहार-निहारकर उछल-उछलकर चरण-सान्निध्यके लिए आ रहे थे।

गुरु सर्वस्व

प्रिय भाई रामस्वरूपजी केलाके यहाँ मैं जब-जब जाता हूँ, तो वहाँ एक प्रतिमा देखता हूँ जिसमें एक ही स्थानमें ध्यानमग्न अर्धनारीश्वर दिखायी देते हैं। दोनों अपने-अपने सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अनावृत अभेद दर्शनके लिए तन्मय जान पड़ते हैं। यही है तत् और त्वंपदके शोधन-पूर्वक लक्ष्यार्थकी अभिन्नता। परन्तु भवानी और परमेश्वरकी समाधिमें जो अन्तर है उसपर दृष्टि दीजिये। परमेश्वर तो देखते हैं कि अर्ध-नारीश्वर तो नाममात्र है, वास्तवमें है तो एक ही, केवल लीलाके लिए दो हैं। परन्तु भवानी तो प्रत्यक्ष करुणा-वरुणालय जगदम्बा ही हैं। परमेश्वर अपने अव्यक्त रूपसे जगत्के ताने-बाने होनेपर भी, बिना किसी व्यवधान या अलगावके निरन्तर अनुस्यूत रहनेपर भी तथा जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपसे कहे जानेपर भी इस संसारके सभी जीव त्रिविध तापसे सन्तप्त हो रहे हैं। इस प्रकार आनन्दसमुद्रके निवासी होनेपर भी वे प्यासे हैं, क्योंकि परमशिव स्वयं तो अजात हैं, अपनी महिमामें मस्त हैं। अतः ये जगदम्बा भवानी ही करुणामयी माँ हैं। इससे स्पष्ट है कि पिता निष्ठुर हैं और माँ परम दयालु हैं। ये माँ ही अन्न-पूर्णेश्वरी होकर सतत अन्नदान करती हैं—ये ही अपने प्रेमरस द्वारा अजात शिवरसका पान कराती हैं तथा अपने करुणारससे दुःखाक्रान्त प्राणियोंकी आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति करके उन्हें परमानन्दकी प्राप्तिद्वारा

परम मधुर रस पिलाती हैं। यही नहीं, वे सकामी-साधककी कामनापूर्त्ति करके उसे विश्वास दिलाती हैं, निष्कामीको वैराग्य रस प्रदानकर अपने परमप्रेमास्पद परमशिवका सान्निध्य देती हैं, ज्ञानीको तो अपना आत्मा ही दे डालती हैं तथा प्रेममें तो सर्वतोभावेन बिक ही जाती हैं।

हमारे श्रीमहाराजजीमें अक्षरशः और **अर्थतः** (**वाच्यार्थतः** और **लक्ष्यार्थतः**) यह मातृस्वरूप पूर्णतया चरितार्थ होता है। इसलिए **'त्वमेव माता'** से उनकी लीला आरम्भ हुई। सभी वैष्णवाचार्योंका मत है तथा रसिक सन्तोंकी अनुभूति है कि माँ ही करुणावरुणालया हैं, उनसे ही कृपाकटाक्षकी भीख माँगी जातो है। इसलिए स्वमहिमामें स्थित परमपुरुष, जो **'त्वमेव पिता'** का लक्ष्यार्थ है वही वास्तवमें स्नेहरससे भरपूर माँ भी है, वही ज्ञातव्य, ध्यातव्य, प्राप्तव्य और आस्वादनीय है। उसकी प्राप्तिका कोई सीधा मार्ग नहीं है। सीधी प्रपत्ति रेतीपर नाव चलानी है या सूखा-सूखा अन्न चबाना है। रसप्राप्ति और रसपुष्टिकी सन्त भक्त और रसिकों द्वारा अनुभूत यही सुनहली पगडण्डी है, और यही कांक्षित वर प्राप्तिके लिए कल्पतरु है। वास्तवमें गुरुदेवकी करुणामयी कृपाकटाक्ष ही शरणागतोंकी एकमात्र आश्रय है। यही परमार्थस्वरूप परमशिवरस और करुणाप्रसूत प्रेमरस दोनों-हीकी प्राप्ति है, जिसके द्वारा सभी प्रकारके अभावोंकी निवृत्ति और पूर्णत्वकी प्राप्ति होती है। हमारे श्रीमहाराजजीमें इस प्रकार **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'** यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है, क्योंकि करुणामूर्त्ति होनेसे वे ही स्नेहमयो माँ हैं और स्वरूपसे वे ही परमार्थ सत्य परमपुरुष पिता भी हैं। वे ही **'त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव'** स्वरूप भी हैं, क्योंकि वे माँ ही महामेधा, महास्मृति, महालक्ष्मी और महासरस्वती भी हैं। तथा वे ही स्वर्ग और अपवर्ग प्रदान करने वाली हैं। इस प्रकार वे यथानाम-तथागुण हैं—भीतरसे पूर्णानन्द-समुद्र हैं और बाहरसे पूर्णानन्द तीर्थ हैं। गुरुदेव सर्वदेवमय होते हैं, अतः वे **'त्वमेव सर्वं मम देवदेव'** भी हैं।

आपकी महिमा

आपमें स्त्री-पुरुष भेद भी नहीं है। यही श्रीशुकदेवजीकी महिमा थी। उनके पिता श्रीवेदव्यास, ब्रह्मसूत्र और पुराणसंहिताओंके प्रणेता होनेपर भी, इस भेद-दृष्टिसे ऊपर नहीं उठ सके। स्त्री-पुरुष दृष्टिसे ऊपर उठना ही तो वास्तवमें अवधूत-दृष्टि है। आपके जीवनमें इस विशेषताका भी आविर्भाव

हुआ था। यों तो स्त्री, पुरुष और चिन्ता अग्निरूप ही माने जाते हैं। ये अग्नि वनाग्निके समान आपको घेरते जा रहे थे। परन्तु आपके सान्निध्य-मात्रसे वे अग्नि अपने आत्मस्वरूपमें समा जाते थे। चिन्ता निश्चिन्ता हो जाती थी, पुरुष परमपुरुषके सान्निध्यके अधिकारी हो जाते थे और स्त्रियाँ जगदम्बासे अभिन्न हो जाती थीं। अतः श्रीपूर्णानन्दके सान्निध्यकी सीढ़ियोंमें वन्दना करते ही उनकी चरणरज मस्तकमें लगते ही इन सबमें अपनी प्रकृति-विकृतिको खोकर एक नवीन जीवन, नवीन स्फूर्त्ति और नवीन दृष्टि आविर्भूत हो जाती थी। सभी आनन्दरसार्णवकी तरङ्गोंमें समा जाते थे, क्षुद्र हृदय खो जाता था और अनन्त आह्लादमय हृदयकमल विकसित हो जाता था। फिर तो अपने जीवनमें भी पूर्णानन्दरस-मधु स्रवित होने लगता था और वही जीवनकी धाराओंमें तरङ्गित हो उठता था। परमहंस श्रीरामकृष्ण कहते थे कि गङ्गास्नान करनेवाले पुरुषोंके पाप उन्हें छोड़कर गङ्गातटके वृक्षोंपर जा बैठते हैं और जब गङ्गाजीसे निकलकर शरीर पोंछ लेते हैं तो पुनः फुर्र-फुर्र उड़कर उनके सिरपर आ बैठते हैं। ऐसी बात गङ्गास्नान करनेवालोंके विषयमें भले ही ठीक हो, परन्तु यहाँ श्रीपूर्णानन्दकी चरणरजमें अभिषिक्त होनेपर तो इस मधुमय पुरुषकी महिमा जीवनके प्रत्येक पक्षको, प्रत्येक दिशाको और प्रत्येक अवस्थाको आक्रान्त कर लेते थे, हृदयमें एक नूतन दिव्यभाव आविर्भूत हो जाता था, एक रसभरी रँगीली होली ही मच जाती थी और श्रावणकी अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यमयी हरियाली फूट-फूटकर जीवन-वनस्थलीमें विकसित हो उठती थी तथा **'अपने रंगमें रँग ले'** की अनवरत माँगका सङ्गीत फूट निकलता था।

ब्रह्मनिष्ठ विरक्त सन्तके विषयमें श्रुति कहती है—

'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् ॥१॥ स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति ॥ ते देवा पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च ससाधनेभ्यो व्युत्थाय निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्तमाना शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परंब्रह्मात्म-प्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः ॥३॥ कुवलोऽसहाय एकाकी समा-धिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके

नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वेषु मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति ॥४॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मिष्ठं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चनेत्यादि महावाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति ॥ ५ ॥

(महावाक्यरत्नावली प्रकरण ८)

अर्थात् वह ब्रह्मवेत्ता भक्षण करता, क्रीडा करता, और आनन्द लेता हुआ स्त्रियों, सजातियों और समवयस्कोंके साथ सर्वत्र विचरता है। उसे अपने समीपवर्ती व्यक्तियोंकी ओर इस शरीरकी भी सुधि नहीं होती ॥ १ ॥ वह (महापुरुष) ऐसा देखता, ऐसा मानता और ऐसा जानता हुआ आत्मामें ही प्रेम रखता है, आत्मासे ही क्रीडा करता है, आत्मासे ही मिला रहता है और आत्मामें ही आनन्दित होता है; वह अपनेमें ही विराजता है ॥ २ ॥ हे देवगण ! वे (जीवन्मुक्त महापुरुष) अपने-अपने साधनोंके सहित पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणासे ऊपर उठकर गृह, परिग्रह, शिखा और यज्ञोपवीतको त्यागकर अन्धों, बहिरों, मूर्खों, नपुंसकों, गूँगों और मतवालोंके समान विचरते हुए शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही राग करते हैं, आत्मामें ही क्रीडा करते हैं, आत्मासे ही मिले रहते हैं और आत्मामें ही आनन्दित होते हैं। वे प्रणवको ही परब्रह्मस्वरूप आत्माका प्रकाशक और सम्पूर्ण प्रपञ्चसे शून्य जानकर उसीमें लीन रहते हैं ॥ ३ ॥ ऐसा महापुरुष मलिन वस्त्रधारी, निरालम्ब, अकेला और समाधिस्थ होकर आत्माकी ही इच्छा रखनेवाला, पूर्णकाम, निष्काम अथवा कामनाहीन होकर हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, न्यौले तथा सर्प, राक्षस और गन्धर्वोंमें भी मृत्युके रूपोंको जानकर किसीसे भी नहीं डरता ॥ ४ ॥ वह सब धर्मोंको त्यागकर ममता और अहङ्कारसे शून्य हो किन्हीं ब्रह्मनिष्ठ सन्तकी शरणमें जा उनसे **"तत्त्वमसि"**, **"सर्व खल्विदं ब्रह्म"**, **"नेह नानास्ति किञ्चन"** इत्यादि महावाक्योंके अर्थका अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करके 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा निश्चय करता है तथा निर्विकल्प समाधिके द्वारा स्वतन्त्र होकर यतिरूपसे विचरता है। वह संन्यासी है, वह मुक्त है, वह पूज्य है, वह योगी है, वह परमहंस है, वह अवधूत है और वही ब्राह्मण है ॥ ५ ॥

आपमें जीवन्मुक्त परमहंसके ये सभी लक्षण देखे गये थे। विद्वन्मण्डलने भी इन्हें साक्षात् अनुभव किया था। इसीसे वे भी आपका सब प्रकार आदर करते थे और समय-समयपर वेदमन्त्रोंसे पूजन भी करते थे। अब अभ्यास तो आपका स्वभाव हो गया था। आप कभी-कभी कहा करते थे कि पहले जो विद्यार्थी होता है वही पीछे मास्टर हो जाता है। सो अब आपका मास्टर-जीवन आरम्भ हुआ। सर्वात्मविहाररूपसे जो क्षुद्र-मत्स्यके रूपमें प्रारम्भ हुआ वही बढ़कर अब स्वयं मत्स्यभगवान् हो गया।

प्रवृत्तिका प्रारम्भ

अब आप बागवाली कुटीमें रहने लगे। पहले जब वहाँ रहना आरम्भ हुआ तब आपकी आज्ञा थी कि रात्रिमें यहाँ कोई नहीं रह सकेगा। फिर रात्रिके दस बजेतक रहनेकी छूट हुई, उसके पश्चात् सब भक्त वहाँसे चले आते थे। रामघाट-कर्णवास गङ्गाजीके घाट तो थे ही, आपके कारण वे जनता-जनार्दनके संगमस्थल भी बन गये। वहाँ सत्संगका सदावर्त्त लग गया। सभीको मुक्तहस्तसे अपना-अपना अभीष्ट प्राप्त होने लगा। जो अनेक जन्मोंतक भजन करके सुकृतोंका परिपाक होनेपर अपने अन्तिम जन्ममें ज्ञानप्रदीपद गुरुकी प्राप्तिके लिए छटपटा रहे थे वे सभी जिज्ञासु सब ओरसे श्रीचरणोंकी सन्निधिमें उपस्थित होने लगे। ऐसा जान पड़ता है कि जैसा भगवान्‌के अवतारोंके समय उनके नित्य-परिकर भी विभिन्नरूपसे अवतरित होकर भगवल्लीलाओंमें सहयोग प्रदान करते हैं, उसी प्रकार इन नित्यावतार सन्तोंके आविर्भूत होनेपर भी इनके नित्य-परिकर जन्म लेते हैं और इनके लीलारसका आस्वादन करते हुए उसमें योग देते हैं। वे लीलामाधुरीकी अभिवृद्धिके लिए मुमुक्षु होकर फिर सालोक्य, सारूप्य एवं कैवल्यादि मुक्तियोंका आनन्द लेते हैं। उनके दर्शन करते ही वे उनके करुणासिन्धुकी लहरियोंसे मुग्ध हुए और उनके रूपसिन्धुकी तरंगोंसे आह्लादित हुए। उनके चरणोंमें सदाके लिए उनके हृदय निछावर हो गये। उनकी थाह न पानेसे उनकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी। किन्तु उनकी शरणागतवत्सलताने सदाके लिए उन्हें अपना लिया। सभी उन्मुत्त होकर आनन्दाश्रुपूर्ण हो एक स्वर एक मन और एक प्राणसे **'श्रीगुरवे नमः'** का कीर्तन करते हुए उनकी यह गुरुगरिमामयी आरती गाने लगे—

जय गुरुदेव दयानिधि दीनन हितकारी। जय दीनन हितकारी।
जय-जय मोह विनाशक भवबन्धनहारी ॥ जय देव गुरुदेव ॥१॥
ब्रह्मा विष्णु सदाशिव गुरुमूरतिधारी। जय गुरु-मूरतिधारी।
वेद पुराण बखानत गुरु महिमा भारी ॥ जय देव गुरुदेव ॥२॥
जप-तप संयम तीरथ दान विविध दीन्हे। जय दान विविध दीन्हे।
गुरु बिनु ज्ञान न होवे कोटि जतन कीन्हे ॥ जय देव गुरुदेव ॥३॥
माया मोह नदी जल जीव बहें सारे। जय जीव बहें सारे।
नाम जहाज बिठाकर गुरु पलमें तारे ॥ जय देव गुरुदेव ॥४॥
काम, क्रोध, मद, मत्सर चोर बड़े भारे। जय चोर बड़े भारे।
ज्ञान खड्ग ले करमें गुरु सब संहारे ॥ जय देव गुरुदेव ॥५॥
नाना पन्थ जगतमें निज-निज गुण गावें। जय निज-निज गुण गावें।
सबका सार बताकर गुरु मारग लावें ॥ जय देव गुरुदेव ॥६॥
गुरु चरणामृत निर्मल सब पातकहारी। जय सब पातक हारी।
वचन सुनत तम नाशै सब संशयहारी ॥ जय देव गुरुदेव ॥७॥
तन मन धन सब अर्पण गुरुचरणन कीजै। जय गुरुचरणन कीजै।
ब्रह्मानन्द परम पद मोक्षगति लीजै ॥ जय देव गुरुदेव ॥८॥

इधर सभी भक्त साधक और जिज्ञासु आपकी रहनीसे मुग्ध होकर मन-ही-मन और प्रकट रूपसे आज भी यही भीख माँगते हैं। इसमें उनकी रहनी और स्वभावका विस्पष्ट वर्णन है—

---

१. यह आरती पहले-पहले बहन रामकुँवरिने गायी थी। इस भावभानी आरतीको सुनकर श्रीमहाराजजी प्रसन्न हुए। पीछे सभी भक्त उसके द्वारा गुरुदेवकी वन्दना करने लगे। बहन रामकुँवरि देदामई गाँवकी रहने वाली हैं, इनका विवाह तो हुआ, परन्तु इन्हें गार्हस्थ्य-जीवन रुचिकर नहीं जान पड़ा। इसलिए विवाहके कुछ ही दिन पश्चात् अपने पितृगृहमें लौट आयीं और तबसे बराबर साध्वी रूपसे जीवन-यापन कर रही हैं। इनसे बड़े इनके भाई सियारामजी भी युवावस्थामें ही संन्यासी हो गये थे। वे सिद्धेश्वराश्रम नामसे प्रसिद्ध हैं, तथा इनके माता-पिता तथा और भी सब भाई-बहन श्रीमहाराजजीके अनुगत भक्त रहे हैं। सारा परिवार ही भजननिष्ठ है। छोटी बहन राजकुँवरि पंगु है, परन्तु अत्यन्त सात्विकी वृत्तिकी है और अविवाहित कौमार्य जीवन व्यतीत करती है।

कबहुँकि हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगो॥१॥
जथा लाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मनक्रम वचन नेम निबहौंगो॥२॥
परुष बचन अति दुसह स्रवनि सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान समसीतल मन परगुन नहिं दोष गहौंगो॥३॥
परिहरि देहजनित चिन्ता दुःख-सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथि रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥४॥

श्रीमहाराजजी तो आमके बागवाली कुटीमें रहते थे तथा उनका भक्त-परिकर किशनलालकी कुञ्जमें, जिसे श्रीरामचन्द्रजीका पालीवाल मन्दिर भी कहते हैं, ठहरता था। किशनलालके पुत्र उदयराम और उनकी विधवा भाभी पद्मावती आजतक श्रीमहाराजजीके साधु आश्रम और साधुओंकी सेवा बड़े प्रेमसे करते हैं। श्रीमहाराजजीके दर्शन और सत्सङ्गके लिए राततक भक्तोंका ताँता लगा रहता था। एक बार उनकी कुटीके पास एक शेर आ गया। उसने श्रीमहाराजजीके वहाँ पधारनेसे पहले कई पशुओंको मारा था। इसकी चर्चा सभी गाँवमें फैली थी। लोग कहते थे कि वह श्रीमहाराजजीके कुटीके पास ही रहता है। इससे भक्तगण घबराने लगे। आप तो अन्तर्यामी और भवभयहारी थे, अतः इस भयका प्रश्न ही क्या था। आपने सबका हृदय ताड़कर कहा, "भैया ! वह चामुण्डा देवीके दर्शनार्थ आता है, अब चला जायगा। उससे डरनेकी कोई बात नहीं है।" बस, उसके पश्चात् वह चला ही गया।

नागाञ्जलि—अब सब लोग श्रीमहाराजजीकी धूप-दीप-नैवेद्यादिसे षोडशोपचार पूजा करने लगे थे। एक अनूपशहरका रहने वाला लड़का भी आ गया। वह बिलोंमें-से विषैले सर्प पकड़ लाता था और फूलोंकी तरह आपपर चढ़ा देता था। लोग उसे पीटनेके लिए दौड़े तो आपने उन्हें रोककर कहा, "खबरदार ! उसे कोई मत पीटना।" तब कुछ लोग उसे पकड़कर अनूपशहर छोड़ आये। किन्तु वह फिर वहाँसे लौट आया। वह श्रीमहाराजजीको छोड़ नहीं सकता था। जीवनभर उसकी यह नागाञ्जलि चलती रही, उसे कोई न रोक सका। श्रीमहाराजजी सबकी पूजा स्वीकार करते थे, किसीका चित्त दुखाते नहीं थे। उल्टे उनके भक्तिभावका पोषण ही करते थे। कुछ दिनों पश्चात् सर्पदंशसे ही उसकी मृत्यु हो गयी।

योगशक्तिका परिचय—एकबार हाथरसके वैद्यराज पं० भूदेव शर्मा अपने साथ देवशर्मा नामके एक सुप्रसिद्ध हठयोगी सज्जनको लेकर आपके दर्शनार्थ आये। देवशर्माजीकी हठयोगमें अच्छी प्रगति थी। उन्होंने आपके समक्ष योगशक्तिका प्रदर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की। अतः आपकी कुटीपर दोपहरको २ बजेके लगभग सैकड़ों मनुष्य एकत्रित हो गये। पहले उन्होंने एक लड़केको माध्यम चुना और उसपर अपनी शक्तिका प्रयोग आरम्भ किया। परन्तु डेढ़ घण्टेतक सिर-तोड़ परिश्रम करनेपर भी वे उस बालकपर कोई प्रभाव न डाल सके। श्रीमहाराजजी यह सब देखकर मुसकरा रहे थे। फिर और भी कई पात्र बदले, परन्तु उनपर भी उनका कोई प्रभाव न पड़ा। अतः आपके सामने वे कोई चमत्कार न दिखा सके। उनकी योगशक्ति आपके आगे कुण्ठित हो गयी। अन्यत्र तो वे अपनी शक्तिका प्रदर्शन करते ही थे।

एक बार अनूपशहरके श्रीराम भारती आये। सब चले गये, किन्तु वे कुटीपर ही रह गये। रात्रिमें श्रीमहाराजजी स्वरूपस्थ हो कुटीके भीतर बैठ गये। ये सोचने लगे, 'ये कैसे निर्दयी हैं, आप तो कुटीमें बन्द होकर बैठ गये। यहाँ यदि मुझे कोई हिंसक जीव खा जाय तो इन्हें क्या परवाह?' इतना चित्तमें आते ही श्रीमहाराजजी बाहर आये और बोले, "क्या चिन्ता करते हो, इस रेतीमें सो जाओ, कुछ नहीं होगा। रेतीके बाहर कोई आहट हो तो डरना मत।" भारतीजी कहते हैं कि वह रेती तो मानो लक्ष्मणजीके धनुषकी रेखा ही हो गयी। फिर कोई जीव उसके भीतर नहीं आया; हाँ बाहर कभी-कभी कोई शब्द होता था। बाबाके साधनमें भी यही करामात थी। बस, करते जाओ, हिंसक कामादि दोष भाग जायेंगे।

चँदौसीके ॐनन्दन तथा उनके माता-पिता आदि कुछ भक्त दर्शनार्थ आये। जब लौटे तो मार्ग भूलकर मुर्दघाटकी ओर चले गये। वे डरने लगे। किन्तु आश्चर्य कि उन्हें श्रीमहाराजजीकी 'राधेश्याम सीताराम—राधेश्याम सीताराम' यह ध्वनि सुनायी देने लगी। वे उस ध्वनिकी ओर चलने लगे और फिर ठीक मार्गपर पहुँच गये। जबतक रास्तेपर नहीं पहुँचे उन्हें बराबर यह ध्वनि सुनायी देती रही। जिनकी ध्वनि थी वे तो नहीं मिले, परन्तु रास्तेपर पड़ते ही वह आवाज बन्द हो गयी। इसी प्रकार जो आपके पास आते थे उनका आप हर समय ध्यान रखते

थे और उनकी रक्षा करते थे। उनका दिया हुआ साधन भी उन्हींके समान है, वह भी उसी प्रकार रक्षा करनेवाला है।

सर्वहितकारी आरण्यक विश्वविद्यालय—भारतकी सौभाग्यलक्ष्मी अनादि कालसे उसकी अरण्यभूमिमें ही विकसित हुई है। भारतके गौरव सन्त एवं भक्त आदि भी वनस्थलीमें ही आविर्भूत और पोषित हुए हैं। आपका जीवन भी इस वनस्थलीके गुप्त रहस्यको उद्घाटित करनेवाला ही था। आपने ब्रह्मपुत्रसे लेकर ब्रह्मद्रवा गंगाके उद्गमस्थानतक फैली वनस्थलीमें ही अधिकतर अपना जीवन व्यतीत किया। वह जीवन भूटानसे लेकर बदरी-केदारकी तलहटी हरिद्वारतक अहर्निश अखण्ड पुरुषार्थपूर्वक शक्ति और स्वरूपके अमृत-मन्थनका विशुद्ध परिणाम है। वह प्रेमपीयूषका प्राकट्य करनेवाला परम रसमय जीवन है। वह स्वावलम्बके सौन्दर्यका अमर संगीत, सच्चे बलकी सतत पुष्टि और सद्विकासकी सीमा है। स्वावलम्बकी चरम सीमा तथा निरालम्बताकी पराकाष्ठा। निरालम्बताका पर्यवसान सर्वदा आत्मस्वरूपमें ही होता है। आपका वनस्थली जीवन ही स्पष्टतया स्वाभिमानका सौन्दर्य बिखेरता है। उसमें निरभिमानकी मिठासका सदावर्त्त है, वह महदभिमानके उच्चतम शिखरपर आरूढ़ करानेवाला है, अनन्त जीवोंके लिए आनन्दगंगाका अवतरण करानेवाला है, असङ्गताके अगाध वैभवको अभिव्यक्त करनेवाला है, निर्विकारताके निरुपम सौन्दर्य, लावण्य और माधुर्यका अद्वितीय नित्य वसन्त है, अद्वैतकी विस्पष्ट महिमा है और उदारताका निरवधि प्रवाह है। ऐसे हैं भारतभाग्यलक्ष्मीरूप वनस्थलियोंसे आविर्भूत हुए हमारे श्रीमहाराजजी जो मानो सन्तसमाजकी स्वराज्यलक्ष्मीके अधिष्ठाता ही हैं।

आपका जीवन इस बातका प्रमाण है कि वनस्थली क्रीड़ा-कौतुक या जीव-हिंसाका स्थान नहीं, अपितु आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति और परमानन्द प्राप्तिके लिए परमपुरुषार्थका विद्यापीठ ही है। यह ब्रह्मयज्ञकी यज्ञस्थली है तथा मानवताका मर्म खोलनेके लिए, जीव खुदासे जुदा नहीं—इस ध्रुव सत्यका साक्षात्कार करानेके लिए वनस्थली और जीवनस्थली दोनों ही प्रयोगशालाएँ हैं। रामघाट और कर्णवास ऐसे अर्धनारीश्वर गुरुदेवके निवास-स्थान होनेसे स्वयं ही सर्वहितकारी आरण्यक विश्वविद्यालय बन गये। वहाँ बिना बुलाये ही कल्याणकामी साधक उपस्थित होने लगे और वे बिना लिखा-पढ़ी किये ही हृदय निछावर करने लगे। यहाँ रक्तसे क्रान्तिपत्र नहीं लिखा जाता था, अपितु स्वयं ही सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण

होता था। यहाँ साम्प्रदायिक वैषम्य नहीं था, स्वयं ही सत्सङ्ग, सुधार तथा स्वातन्त्र्यकी सत्शिक्षा एवं पुष्टि होती थी। सत्सङ्गके लिए किसी जाति या सम्प्रदायविशेषका प्रतिबन्ध नहीं था। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और योगका कोई कैसा भी अधिकारी हो और किसीका शिष्य हो यहाँसे अनुभवपूर्ण प्रयोग एवं सहयोग प्राप्त कर सकता था।

देशसेवासे सहयोग—क्रान्तिकारी और काँग्रेसी दोनों ही प्रकारके देशभक्त श्रीचरणोंके सान्निध्यमें संकल्प करके प्रतिज्ञा करते थे कि भारतके स्वातन्त्र्य का संग्राम हम कटिबद्ध होकर लड़ेंगे। आपका यह स्पष्ट कथन था कि यदि तुम्हें देशसे प्रेम है तो अपनेको उसपर निछाबर कर दो, जीवनका लोभ मत करो। आवश्यकता पड़े तो अपनेको बलिदान दे दो। यह था आपका हृदय, आपकी शिक्षा-दीक्षा और निष्ठा। इसी निमित्तसे नहीं, जिसका जो भी लक्ष्य हो उसके लिए बलिदान होना ही आपकी दृष्टिमें सच्चा प्रेम और समर्पण था। स्वामी श्रीशरणानन्दजीको आपका यह देशप्रेम बहुत ही प्रिय जान पड़ा। वे कहते हैं कि बाबा देशसेवाको प्रपञ्च या झंझट नहीं समझते थे। वे एक उदारचित्त महापुरुष थे। उनका यह भी कथन था कि जो संन्यासी स्वतन्त्रताके संग्राममें जेल जाय वह भले ही कष्ट सहन कर ले परन्तु संन्यासके लिंग (गेरुआ वस्त्र आदिको) त्याग न करे, अपने धार्मिक चिह्नोंको न छोड़े।

अनूपशहरके वैद्य श्रीलल्लूजी कहते हैं कि एक ऐसा सी० आई० डी० आया जिसके पास आपके परिवारका पूरा पता और बंगभंग आन्दोलनके समयकी आपकी गति-विधियोंका पूरा व्यौरा था। आपकी वर्तमान गति-विधियोंपर दृष्टि रखनेके लिए केन्द्र और प्रान्तके गुप्तचरविभाग अपने कर्मचारी रखते थे। परन्तु आप सब कुछ जानकर भी हँसते थे और कहते थे कि साधुके स्थानपर तो सब मुक्त ही होंगे, यहाँ बन्धन किसीका नहीं होगा। आपका ऐसा प्रभाव था कि सब कुछ जानकर भी कोई कुछ कर नहीं पाता था। महात्मा गाँधीके असहयोग आन्दोलनके समय आप स्वयं खद्दर पहनते और तकलीसे सूत कातते थे। परन्तु आपका यह निश्चित विचार था कि राज्य लेना, राज्य करना या सँभालना केवल अहिंसासे सम्भव नहीं है। हाँ, व्यक्तिगत जीवनमें पूर्ण अहिंसा रह सकती है, परन्तु राज्यसञ्चालनमें नहीं। फिर भी आप क्रान्तिकारी और काँग्रेसी दोनों हीको उचित सहायता और परामर्श देते थे। कई लोगोंने

श्रीचरणोंमें शस्त्र रखकर प्रतिज्ञा की थी। आपके जो भक्त जेलमें गये थे उनका चित्त भरने और उन्हें प्रोत्साहित करनेके लिए आप जेलमें जाकर उनसे मिल आते थे। भारतमाताकी भक्ति आपके सहज जीवनकी अंग थी।

श्रीराम भारतीजी लिखते हैं कि श्रीप्रभुदत्त, इन्द्र और सहस्रराम इन तीन ब्रह्मचारियोंने अपने रक्तसे लिखा था कि हम आजीवन देश-सेवा करेंगे। ये तीनों काशीसे बदरीनारायणतककी पैदल यात्रापर चले। किन्तु सहस्रराम अनूपशहरमें ठहर गये और यहीं काँग्रेसका काम करने लगे। एक दिन रात्रिमें दस बजेके लगभग हम दोनों बाबाकी चरण सेवा कर रहे थे। उस समय बाबा प्रसन्नचित्त बैठे थे। तभी ब्रह्मचारीजीने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो यही आशीर्वाद दीजिये कि मैं आजीवन दरिद्र और भूखा रहूँ। बाबाने कहा, "अरे भैया! ऐसी बात तुम क्यों करते हो?" ब्रह्मचारीजीने कहा, "हम दरिद्रता और भूखमें जितनी ईश्वर-भक्ति और देश-सेवा कर सकते हैं उतनी धनवान् और सुखी बनकर नहीं कर सकते और हमें जीवनभर करना यही है। इसलिए मैं तो यही आशीर्वाद माँगता हूँ।" बाबाने कह दिया, "अच्छा भैया! जैसी तेरी इच्छा।" उसके पश्चात् जबतक वे जीवित रहे तबतक ऐसी ही अवस्था रही कि महीनामें चार-छः उपवास अवश्य हो जाते थे।

डाकुओंका उद्धार—गर्मियोंके दिन थे। श्रीमहाराजजी कुटीके बाहर बैठे थे। देखनेवालोंको मालूम होता था कि उनके मुखमण्डलसे जो किरणें निकल रही हैं वे करोड़ों चन्द्रमाओंसे भी बढ़कर अमृतवर्षिणी और शीतल हैं। इसी समय उधरसे एक दस्युराज निकला। वह डाकुओंके एक दलका सरदार था। सरकारने उसे पकड़नेके लिए दस हजार रुपयेका पारितोषिक घोषित किया हुआ था। जब वह श्रीमहाराजजीके पास पहुँचा तो झिझककर एक पेड़के नीचे खड़ा हो गया। अपनी प्राणसंगिनी बन्दूक उसने पेड़के सहारे खड़ी कर दी और खाली हाथ श्रीमहाराजजीके पास जाकर बैठ गया। वहाँ वह मन्त्रमुग्धकी भाँति बहुत देर बैठा रहा। श्रीमहाराजजीका हृदय उसकी इस दग्ध और जर्जर दशाको देखकर द्रवीभूत हो गया। वे समाधिशिखरसे मानवताके धरातलपर उतरे और उस क्रूर हिंसककी ओर दयादृष्टिसे देखकर उन्होंने उससे पूछा, "क्यों क्या बात है?" उसने दीनतासे कहा, "यों ही दर्शन करने चला आया था।" थोड़ी देर पश्चात् वह फिर बोला, "महाराजजी! डाका डालनेके

लिए जा रहा हूँ।" श्रीमहाराजजी बोले, "सो, मैं क्या करूँ?" फिर बोले, "एक बात मानेगा?" उसने कहा, "कहिये महाराज!" आप बोले, "देख, स्त्रियोंको मत छूना।" उसने कहा, "महाराज! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि स्त्रियोंको हाथ नहीं लगाऊँगा।" यह कहकर उसने दण्डवत्की और चला गया। उसने एक जमीदारके यहाँ डाका डाला। उसे लूटा और सब मालमता लेकर चल दिया। जब गाँवसे प्रायः दो मील निकल गया तो उसने पीछे घूमकर देखा कि उसके साथी उस जमीदारकी लड़कीको उसके पलङ्गसहित उठाकर ला रहे हैं। उसने तुरन्त कहा कि तुम लोगोंने यह क्या किया, इसे क्यों ले आये। साथियोंने कहा, "क्यों, क्या बात है? ले आये।" वह बोला, इसे वापस करना होगा।" उन्होंने कहा, "अब वहाँ जानेसे हम सब मारे जायेंगे। सारा गाँव इकट्ठा हो गया होगा।" तब वह स्वयं आगे बढ़कर बोला, "मैं आगे चलता हूँ, तुम लोग पीछे-पीछे आ जाओ।" सब उसके पीछे हो लिये। वे गाँवमें पहुँचकर लड़कीको पलंगसहित छोड़कर सकुशल लौट आये। अपने डेरेपर आनेपर उस दस्युराजके मनमें पश्चात्तापका तूफान उठने लगा। उसने विचार किया, 'यह कैसा घोर काम है, लोग तड़पते हैं और हम उनकी छातीपर चढ़कर उनका धन छीनते हैं तथा हमारे साथी स्त्रियोंका अपमान करते हैं। मुर्दोंसे बने महल क्या कभी दुर्गन्धसे मुक्त हो सकते हैं।' इस प्रकारके विचार उठकर उसके हृदयको छेदने लगे। वह बेचैनीसे घूमने लगा। दस्यु जीवनका सारा दृश्य उसके नेत्रोंके सामने नाचने लगा। उसी समय उसके मानसनेत्रोंके सामने एक परम अलौकिक शान्तिमय दृश्य आ गया। उसने देखा कि श्रीमहाराजजी अर्धोन्मीलित नेत्रोंसे शान्त मुद्रामें बैठे हैं। उनके रोम-रोमसे आत्मीयता और प्रेमकी किरणें निकल रही हैं और उसका सिर उनके चरणोंमें झुका हुआ है। अपनेको उनकी छत्रच्छायामें देखकर वह निर्भय हो गया और उसी क्षणसे सदाके लिए उसका पथ परिवर्तित हो गया। फिर उसने सारा दल ही भंग कर दिया। सच है—

गंगा पापं शशिस्तापं दैन्यं कल्पतरूस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च हन्ति सज्जनदर्शनम्॥[1]

---

१. गङ्गाजी पापको, चन्द्रमा तापको और कल्पवृक्ष दीनताको दूर करते है। किन्तु सत्पुरुषका दर्शन तो पाप, ताप एवं दीनता सभीको दूर कर देता है।

एक बार एक प्रसिद्ध डाकू आपके दर्शन करनेके लिए आया। वह बोला, "मैं आपका नाम लेकर डाका डालता था तो सर्वदा सफल होता था। पर अब मुझे कष्ट हो रहा है, वैसी सफलता नहीं मिलती।" इस डाकूसे श्रीमहाराजजीका कोई पूर्व परिचय नहीं था। उसने केवल एक बार दर्शन किये थे और सुन रखा था कि बाबाके पास जो व्यक्ति जिस इच्छासे जाता है उसकी वह कामना पूरी हो जाती है। उसकी बात सुनकर श्रीमहाराज-जीने कहा, "भैया! इस कामको तू बिलकुल छोड़ दे, यह तेरे योग्य नहीं है।" डाकू सुनकर चुपचाप चला गया। कुछ दिन वह शान्त भी रहा। परन्तु जब एक बार उसके साथियोंने बहुत दबाब डाला तो वह उनके साथ हो लिया। यद्यपि बाबाकी आज्ञा भंग करनेके कारण उसका चित्त दुखी था। दैवयोगसे उस दिन गाँव वालोंने सभी डाकुओंको घेर लिया। अब वह बहुत घबराया और मन-ही-मन श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना करने लगा कि मुझे बचाइये, मेरी रक्षा कीजिये, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि फिर ऐसा काम नहीं करूँगा। उसी क्षण उसके हृदयमें ऐसी प्रेरणा हुई कि वह एक चारेके ढेरमें छिप गया। गाँववालोंने दूसरे डाकुओंका ही पीछा किया, इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया। दूसरे दिन यह श्रीमहाराजजी के पास आया और चरण पकड़कर रोने लगा। श्रीमहाराजजीने फिर उससे जीवनपर्यन्त डाका न डालनेकी प्रतिज्ञा करायी और उसे आश्वासन देकर विदा किया।

इसी प्रकार एक लड़का, जो पहले आपके पास आता था, पीछे कुसंगमें पड़कर डाके डालने लगा था। वह जब आपको मिला तो आपने उससे फिर कभी ऐसा न करनेकी प्रतिज्ञा करायी। उसके पश्चात् उसने सदाके लिए डाका डालना छोड़ दिया।

पूर्ण कृपामूर्त्ति

श्रीमहाराजजीका जीवन आत्मकथा नहीं अद्वैत आत्मकृपाकी अमर गाथा है, आत्मबल और पौरुषकी प्रकृष्ट प्रदर्शिनी है। आत्मकृपाका जागना ही ईश्वर और गुरुकृपा होनेका स्पष्ट प्रमाण है, क्योंकि **'ईश्वर गुरुरात्मेति मूर्तिभेदाविभागिने'** इस दृष्टिसे ईश्वर, गुरु और आत्मा ये एक ही तत्त्वके तीन रूप हैं। आत्मकृपा और अनन्तकृपा दो नहीं, एक ही हैं। आपको जीवनमें आत्माने ही वरण किया, उसने ही अनन्तस्वरूपसे अपना अधिवास दिखाया। जैसे स्वयंको जान लेना ही ज्ञान है

वैसे ही अपनेपर कृपा करना और अपनेसे प्रेम करना ही आत्मकृपा है और यही आपका जीवन है। जैसे अनात्माको अलग करना ही असङ्गताके अभ्यास द्वारा असङ्ग पुरुषसे अभिन्न होनेके लिए, अथवा इतना ही नहीं पूर्णात्माकी स्पष्ट प्राप्तिके लिए भी; एकमात्र सीधा साधन है, वैसे ही आपका जीवन यह बात स्पष्ट दिखा रहा है कि साधकको परमपदकी प्राप्ति करानेमें आत्मकृपा ही प्रधान साधन है, जिसके होनेपर शास्त्रकृपा और ईश्वरकृपा भी स्वतः हो जाती हैं। आत्मकृपा और अनात्मासे असङ्गता—ये दोनों इस बातको स्पष्ट करती हैं कि स्वयं ही उठो, स्वयं ही जीतो और स्वयं ही अनन्त स्वमहिमामें प्रकाशमान हो जाओ। आत्मकृपा ही पूर्णानन्दका द्वार खोलनेकी कुञ्जी है। शरीर ही पर्दा है, इसे असङ्गतासे उठाओ आनन्दमें समा जानेके लिए। **'दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।'** श्रीमहाराजजी कहते थे कि ध्यान दो, सब कुछ आत्माके लिए ही तो प्रिय है—**'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** अतः परिपूर्ण आत्मा ही परम-प्रेमास्पद हुआ। फिर परिपूर्णके लिए क्या चाहा जाय? इस दृष्टिसे चाहका मिटाना ही आत्मासे प्रेम है। पूर्ण स्वयं है—यह स्पष्ट ज्ञान, विज्ञान और अनुभूति होनेपर तो निश्चिन्तता स्वाभाविक ही है। यही आपका निश्चिन्त योग है। यदि पूर्वाभ्यासके कारण चिन्तन किये बिना नहीं रह सकते तो अपना ही चिन्तन करो। अपना चिन्तन नहीं होता—यह कहना तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है। चिन्तन तो अपना ही सबसे सरल है। वह स्वयं तो देश-काल-वस्तु इन सभी व्यवधानों और परिच्छेदोंसे रहित है, इसका चिन्तन न होना कैसी बिडम्बनाकी बात है। देश-काल-वस्तु-परिच्छेदयुक्त पराधीन वस्तुओंका तो चिन्तन होगा और अपना नहीं—यह कितनी भ्रमित और छलित दृष्टि है। स्वयं का विश्वास नहीं है अन्यका आश्रय है! अच्छा ज्ञान हुआ — **'अहो ते बोधवैभवम्'**। शास्त्र कहता है—**'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'** (योग०) जिसमें केवल शब्दज्ञान हो, कोई वस्तु न हो, उसे विकल्प कहते हैं। वस्तुशून्य विकल्पमें उलझे रहना—वाह! वाह! स्वयंकी अनुभूति अपरोक्ष है, अतः निश्चिन्तता सहज है और स्वयं ही परमप्रेमास्पद है। उसका प्रेम होनेपर उसीकी महिमाका चिन्तन होगा और उससे मिथ्याज्ञानकी भ्रान्ति सर्वथा कट जायगी तथा स्वयंकी

स्पष्ट अनुभूति होगी। वह आत्मा या ईश्वरकी गुरुमूर्त्तिरूपमें प्रकट होता है। आत्माको कुछ भी दृष्टव्य, प्राप्तव्य, कर्त्तव्य या ज्ञातव्य नहीं होता उसी प्रकार आप (गुरुदेव) को भी नहीं है। अतः आप हमारे निःस्वार्थ सखा ही हुए। जैसे आत्मा प्राणका भी प्राण, मनका भी मन, यहाँ तक कि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होनेसे सर्वथा अपने साथ ही है, उससे भी अधिक आप हमारे साथ भी हैं और हमारे संरक्षक भी हैं। विद्वान् कहते हैं कि ज्ञानमें आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सो कोई निराश न हो, आनन्द ही आपके रूपमें आविर्भूत हुआ है। लीजिये, यही आनन्द है। ये साक्षात् अपरोक्ष आनन्दमूर्त्ति अपनी महिमासे आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति, कृपासे परमानन्दकी प्रकृष्ट प्रत्यक्ष अनुभूति सौहार्दसे सतत आत्मस्नेह की अभिव्यक्ति और ईश्वरतासे योग-क्षेमका वहन करते हैं। सारी कृपाएँ इस एक रूपमें ही सन्निविष्ट हैं, जैसे सम्पूर्ण सौन्दर्य श्रीकृष्णरूपमें आविर्भूत हुए हैं।

इस आनन्द-वितरणके लिए ही अत्यन्त व्याकुल गुरुकृपाने अनेकों सर्वसुलभ सरल साधन चलाये। जो जहाँ है उसे वहींसे उठाना इनका स्वभाव ही था। इन्होंने हृदयप्रधानको दिव्यचक्षु और मस्तिष्क प्रधानको ज्ञानचक्षु प्रदान किये। जिसमें जैसी माँग थी उसकी उसी रूपमें पूर्त्ति करके उसके विश्वासकी पुष्टि की। एक ने पूछा कि संसारमें सुखी कौन है ? आप बोले, "मैं सुखी हूँ।"

भक्त—हम लोग कैसे सुखी हो सकते हैं ?
आप—मेरे पास आओ।
भक्त—क्या हम आपके पास नहीं पहुँचे हैं ?
आप—नहीं।
भक्त—हम कैसे जानें कि अब हम आपके पास पहुँच गये ?
आप—जब तुम मेरे बिना न रह सको। यही गुरुभक्ति, ईश्वरभक्ति और आत्मरति है।

साधकोंके लिए

सर्वोपयोगी साधनक्रम—सबके लिए आप कहते थे—

जिह्वोपस्थसुखभ्रमं त्यज मनः पर्यन्तदुःखेक्षणात्।
पारुष्यं मृदुभाषणात्त्यज वृथाऽऽलापश्रमं मौनतः॥

दुःसङ्गं त्यज साधुसङ्गमबलाद् गर्वं तु भङ्क्षणात् ।
निन्दादुःखमनिन्द्यदेवमुनिभिर्निन्दाकथासंस्मृतेः ॥

(दुर्वासनाप्रतीकारदशकम्--३)

'हे मन ! सम्पूर्ण विषयोंमें दुःख देखकर तू जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय-सम्बन्धी सुखकी भ्रान्तिको त्याग दे। मधुर भाषणके द्वारा कटु भाषण और मौनके द्वारा व्यर्थ भाषणके दोषसे छुटकारा पा ले। सन्तसमागमके सामर्थ्यसे कुसङ्गको और अपमानपर दृष्टि रखकर अभिमान करना छोड़ दे। तथा इस बातको याद करके कि संसारमें सर्वथा अनिन्दनीय देवता और मुनियोंकी भी निन्दा होती रही है। अपनी निन्दाके दुःखको त्याग दे।'

आपने सुनाया कि मैं जब राजा कृष्णचन्द्रकी पाठशालामें पढ़ता था तब वहाँके विद्यार्थियोंने रसोइयाको इसलिए पीटा क्योंकि उसने खिचड़ी बनाकर नहीं दी थी। तबसे मैंने यह बात गाँठ बाँध ली कि जिह्वाका स्वाद ही सब अनर्थोंकी जड़ है—**'जिते रसं जितं सर्वम्' 'जिह्वोपस्थजयो धृतिः'** अतः मैंने रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियपर विजय पानेका निश्चय कर लिया, क्योंकि जो इन दोनोंको जीत लेता है वही सर्वजित् है। स्वामी ज्ञानाश्रमजीने एक दिन दूध नहीं पिया तो दूसरे दिन उन्हें शौच नहीं हुआ। तबसे मुझे दूधकी पराधीनता बुरी लगने लगी। रेशम क्या है ? कीड़ेका थूक ही तो है। इस शरीरको सजाना तो पाखानेको ही सजाना है। संसारमें सत्यत्व, नित्यत्व और रमणीयत्वके त्यागपूर्वक ही भजन करना है। सीखनेकी वस्तु तो भजन ही है, ब्रह्म-विचार नहीं। विचार तो भजनके परिणाममें स्वतः प्राप्त हो जाता है। अतः विचारके लिए भजन नहीं छोड़ना चाहिए। निरन्तर अभ्यास करते रहने और पूर्णतया वासनारहित होनेपर ही अनुभव होता है। केवल शास्त्र पढ़नेसे कुछ नहीं होता। जबतक वासना है चित्तमें शान्ति नहीं आ सकती। वासनाका नाश होते ही चित्तमें शान्तिका उदय होगा। वासनारहित चित्त ही परमतत्त्वके चिन्तनका अधिकारी है। पढ़ने-पढ़ानेसे कुछ नहीं होता। यह तो एक कला है। इसका ईश्वरसे सम्बन्ध नहीं है। यह ठीक है कि जडवादियोंकी अपेक्षा तो शास्त्र पढ़ने-पढ़ानेवालोंका जीवन अच्छा है, कम-से-कम शुभसंस्कार ही पड़ते हैं। इसलिए शास्त्रकारोंने भी अभ्यासपर ही बहुत जोर दिया। अभ्यास करो, इसीसे सफलता होगी। निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर ही परम-

तत्त्वकी उपलब्धि होती है। वासनायुक्त जीवनसे अभ्यास नहीं हो सकता अतः आवश्यकता है सबसे पहले वासना-त्याग करनेकी। मरनेके पश्चात् तो कुत्ता-बिल्ली भी शान्त हो जाते हैं। हमें तो इस जीवनमें ही अन्तिम तत्त्व और अन्तिम पदकी प्राप्ति करनी है। अतः जीवन्मुक्त होनेके लिए निरन्तर अभ्यास करते रहो।

विषयकी शक्ति महान् है। यह ज्ञानी, भक्त और विद्वान्में भी क्षोभ उत्पन्न कर देती है। अतः विषय-चिन्तन नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य इन्द्रियारामी होता है उसका चित्त विषयोंमें आसक्त हो जाता है। अतः मैं सिद्धान्तकी बात कहता हूँ कि तुम विषयोंको जीतनेके लिए वीर रहो। और सर्वदा विषयोंकी ओरसे सावधानी रखो। इसके लिए दो ही बातें हैं—(१) सर्वदा भगवदाकार वृत्ति रखे और (२) विषयोंसे सर्वदा वैराग्य रखे। विषयोंका आना तो प्रारब्धाधीन है, परन्तु उन्हें भोगना अविचार या विषयासक्ति ही है। चित्तको देखते रहना चाहिए। जब तक भगवदाकार वृत्ति नहीं होती तब तक चित्तको कोई देख नहीं सकता। मन तो एक ही है। जब मन जप आदिमें रहेगा तो कुछ ही दिनोंमें उससे विषयासक्ति निकल जायगी। क्योंकि एक मन तो एक ही जगह रह सकता है। गोपियोंने भी कहा है—**'ऊधो मन न भये दस-बीस। एक हुतौ सो गयौ स्याम संग को आराधे ईस।'**

भगवदाकार वृत्तिका अभ्यास साधक तो करता ही रहे, सिद्धकी शोभा भी इसे करते रहनेमें ही है। संयमसे दो-चार विषयोंका राग छूट सकता है, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका राग तो बिना भगवद्विग्रह या भगवत्स्वरूपसे राग हुए नहीं जा सकता। देखो यह अभ्यासका ही प्रभाव है कि माँ-बहनके समीप रहनेपर भी उनमें काम-भावना नहीं होती, क्योंकि उनमें माँ-बहनका भाव दृढ़ हो जाता है। किन्तु यदि परिचय न हो और साक्षात् अपनी बहन या लड़की भी मिल जाय तब भी चित्तमें कामभाव आ सकता है, क्योंकि उनमें बहन या पुत्रीकी भावना दृढ़ नहीं हुई।

जब तक दृढ़ता अर्थात् निष्ठा न हो तब तक निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करनेकी आवश्यकता है। जिस तरह विद्यार्थी पाठशालामें पढ़े। अपने पाठको यदि बार-बार नहीं दुहराता तो वह सफल नहीं हो सकता। चाहे आँखें खुली रखो चाहे बन्द, आवश्यकता है चेष्टाशून्य हो जाने की। इस अभ्याससे सारी बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। अपने नित्यप्रतिके लौकिक अथवा पारमार्थिक कार्योंमें भी नियमनिष्ठासे काम लेन ाचाहिए।

जब तक विचारका उदय नहीं होता तबतक तो जिज्ञासुके लिए ज्ञान ही बड़ा है, किन्तु ज्ञान हो जानेपर तो आत्मामें आसक्ति होना ही बड़ी बात है।

साधनप्रणाली—सभी प्रकारके साधकोंके लिए आपका आसनकी स्थिरता और चित्तकी निःसंकल्पता पर जोर था। आपका कथन था कि शरीरमें जो भारीपन होता है वह वायु और कफके कारण होता है। पित्त अर्थात् गर्मी बढ़ जानेपर शरीर हल्का हो जाता है। गर्मीको ही बिजली कहते हैं। आसन और प्राणके स्थिर होनेपर शरीरमें बिजली पैदा होती है। यदि शरीरसे कोई क्रिया की जाती है तो बिजली निकल जाती है। बिजली रोकनेसे शरीर नीरोग हो जाता है। आसन स्थिर करनेके लिए सङ्कल्प करना चाहिए कि जिस प्रकार पृथ्वीको धारण करनेपर शेषजी बिलकुल नहीं हिलते उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूँगा। मैं शरीर और प्राणका द्रष्टा हूँ। शरीर और प्राण भगवान्‌की विभूति हैं और मैं इनका साक्षी हूँ। मनके सामने शरीर और प्राणको देखते रहो। प्राणकी गति जाननेके लिए नाभिपर दृष्टि रखो। यदि शरीर हिलेगा तो प्राणकी गति बढ़ जायगी और शरीर बिना हिले ही प्राणकी गति बढ़े तो समझो कि निद्रा-तन्द्रा आ रही है। अर्थात् मन लयकी ओर बढ़ रहा है। अभ्यास तो मन और प्राणकी लड़ाई है। यदि प्राणमें मनका लय होता है तो तमोगुण बढ़ जाता है और यदि मनमें प्राणका लय होता है तो सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। तमोगुण बढ़नेपर प्राणकी गति तेज हो जाती है और सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर वह बिलकुल स्थिर हो जाता है। जब मन प्राणके द्वारा कर्म करने लगता है तो रजोगुण बढ़ जाता है। इस अवस्थामें प्राणकी गति तो सामान्य रहती है किन्तु मनमें सङ्कल्प-विकल्प होने लगते हैं। ऐसा होनेपर मनको सङ्कल्पोंसे हटा कर लक्ष्यकर स्थिर करना चाहिए। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जायेगा। हर समय जप करते हुए भी आसन लगाकर ही बैठना चाहिए। और जबतक आसन दुखने न लगे उसे बदलना नहीं चाहिए। यहाँ तक कि अन्य सब कार्य करते हुए भी जब बैठना पड़े स्थिर आसनसे ही बैठो। इससे आसन ठीक हो जायगा। प्राणके स्थिर होनेसे ही सब विकार शान्त हो जायेंगे। फिर भूख-प्यासकी बाधा नहीं होती, मल-मूत्र कम हो जाते हैं, कफ शुद्ध हो जाता है और स्वयं ही ब्रह्मचर्यका पालन होने लगता है। जिस किसीका प्राण स्थिर हो जाता है वह बच्चेकी

तरह निर्विकार हो जाता है। उसकी मृत्यु भी नहीं हो सकती। वह तो अमर हो जाता है।[1] अतः प्राणोंको स्थिर करना मनुष्यका प्रधान कर्त्तव्य है और यही मनुष्य जन्मका फल है।

शरीर और प्राण भगवान्‌की वस्तुएँ हैं, इन्हें भगवान्‌को अर्पण कर देना चाहिए। अर्थात् मैं शरीर और प्राणसे पृथक् साक्षिमात्र हूँ—ऐसा अनुभव करना ही आत्मनिवेदन-भक्ति है। दृश्य या अनात्मवर्गसे विवेक करते समय तो ऐसी भावना करो कि मैं रूपसे अलग हूँ। अर्थात् काला, पीला, हरा, लाल जो कुछ दीखता है उस सबसे अलग हूँ। फिर ऐसा विचार करो कि सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक जो कुछ भी मनकी कल्पनाएँ हैं उन सबसे भी मैं अलग हूँ।

मन, शरीर और वाणीके व्यापारोंपर दृष्टि रखनेकी आवश्यकता है। अर्थात् मनके व्यापारपर दृष्टि रखकर यह देखे कि यह पवित्र सङ्कल्प करता है या अपवित्र। इसी प्रकार शरीरकी स्थिरता और वाणीका भी संयम रखे। इसमें भी मनके स्थिर होनेमें सहायता मिलती है। इन तीनोंमें-से किसी एकके भी चञ्चल होनेपर तीनों ही चञ्चल हो जाते हैं। इनका परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है। अतः इन तीनों हीको स्थिर रखनेका प्रयत्न करे। किसीके भी द्वारा व्यर्थ चेष्टा न करे। जैसे शरीरको बिना कारण इधर-उधर हिलाना अथवा तिनका तोड़ना, वाणीसे व्यर्थ बोलना तथा मनसे असत् चिन्तन करना। इन व्यर्थ व्यापारोंको त्याग देनेपर मन स्थिर हो जाता है। सम्पूर्ण प्रपञ्चको उदासीन दृष्टिसे द्रष्टारूपमें स्थित होकर देखनेसे वासनाका क्षय हो जाता है और निर्विकल्प समाधि हो जाती है। विचारसे संशय दूर होता है और एकाग्रतासे चञ्चलता दूर होती है। समाधिके पश्चात् शरीर तिनकेके समान हल्का हो जाता है। उस समय चित्त स्थूलसे हटकर सूक्ष्म शरीरमें स्थित हो जाता है।

ध्यान—संसारके चिन्तनको छोड़कर भगवच्चिन्तनमें लगना यही जीवका कर्त्तव्य है। इष्टाकार वृत्ति रखते हुए सारे कर्म करे। यदि रोना हो तो इष्टदेवकी किसी लीलाका चिन्तन करते हुए ही रोवे और हँसना

---

१. इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि प्राणकी स्थिरता रहते हुए मृत्यु नहीं होती। योगी चाँगदेवके विषयमें यह प्रसिद्ध ही है कि जब मृत्यु आती थी तब वे समाधिस्थ होजाते थे। इस प्रकार उन्होंने बारह सौ वर्षकी आयु प्राप्त की थी।

हो तो इष्टदेवकी लीलाको सामने रखकर ही हँसे। खेलना हो तो इष्टदेव की किसी लीलाका आश्रय लेकर ही खेले। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है वह आसनसे बैठे अथवा न बैठे और शरीरसे चाहे बीमार ही हो उसका काम बन जाता है।

ध्यानके समय मुख्यतया अपने इष्टके स्वरूपका ही चिन्तना करना चाहिए। यदि स्वरूपमें चित्त स्थिर न हो, मनोराज्य होने लगे तो ध्येय की लीलाओंका ही मनोराज्य करो। रामायणमें भगवान् रामकी और भागवतमें भगवान् कृष्णकी जिन लीलाओंका वर्णन है उनका चिन्तन करो। यह भी ध्यान ही है।

भगवान्के साकार स्वरूपका ध्यान करना हो तो पहले सुखासनसे स्थिरतापूर्वक बैठे। दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखे। नासिकाके अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करे। मनको विषयोंसे हटावे तथा आगे-पीछेकी बातोंका चिन्तन न करे। फिर भगवान्के मनोहर अङ्गोंमें मनको घुमावे। एक अङ्गसे दूसरे अङ्गपर क्रमशः चित्तको ले जाय। तथा जिस अङ्गमें विशेष प्रेम हो वहाँ उसे कुछ देर ठहरावे। अन्तमें अधिक देर तक एकाग्र चित्तसे देखता रहे। उस समय अन्य विषयोंका चिन्तन न करे। इसी प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करनेसे थोड़े ही दिनोंमें प्रसन्नता तथा आनन्द का आविर्भाव होने लगता है। फिर उत्तरोत्तर अभ्यास बढ़नेसे शरीरमें स्तब्धता, रोमाञ्च, स्वेद और कम्प होने लगते हैं। इस अभ्यासमें जल्दबाजी न करे, क्योंकि यह स्थिति पापोंके सर्वथा क्षय, गुरुकृपा तथा भगवान्की दया प्राप्त हुए बिना नहीं होती। साधकको चाहिए कि कभी निराश न हो। साधनमें सफलताका मुख्य कारण है भगवत्कृपा और भगवान्की कृपा होती है भगवान्के नामस्मरण, सदाचार और निरभिमानता से।

ध्यानमें हठकी आवश्यकता है। एक लक्ष्यमें वृत्तिको स्थिर करके तदाकार रखना ही हठ है। ध्यानमें हठ है, इसीसे तो इसके सिद्ध होनेमें जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। रास्ता चलनेसे वह मार्ग ही आगेका रास्ता दिखा देता है। सत्सङ्गसे भी इसमें कुछ सहायता मिलती है, किन्तु यह गौण पक्ष है। मुख्य पक्ष तो यही है कि गुरु जो कुछ बतावें उसी पर दृढ़तापूर्वक लगा रहे। चिन्तनसे चिन्तन दूर होता है। जब भगवच्चिन्तन पूर्ण हो जाता है तो जगच्चिन्तन स्वयं ही छूट जाता है। चिन्तन ही को

ध्यान भी कहते हैं। पहले ध्यान तथा मानस पूजाका अभ्यास बढ़ाकर मन स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। मन अधिक ठहरनेसे भगवान्‌में अनुराग होता है। भगवान्‌में मन ठहरना कठिन होता है। मन न लगे तो मानस जप करना चाहिए। कुछ काल अभ्यास करनेके पश्चात् थोड़ा-थोड़ा आनन्द आने लगेगा। फिर कुछ समय तक अभ्यास दृढ़ हो जानेसे अधिक ध्यान करनेका उत्साह उत्पन्न होगा। उसके पश्चात् ध्यानकी मात्रा अधिक होनेसे चित्त भगवत्प्रेममें डूब जायगा। यही अवस्था साधनका पूर्ण पद है। इसीको भगवत्साक्षात्कार समझना चाहिए। किसी भी विषयका ध्यान करते हुए एक बार त्रिपुटीका लय हो जानेपर चाहे जब चाहे जिस विषयमें ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

साधकोंके अनुभव

श्रीमहाराजजी केवल साधन और मन्त्र ही देते थे—ऐसी बात नहीं थी, वे मन्त्रके साथ इष्टदेवका साक्षात्कार भी कराते थे। श्रीसुबोधचन्द्रजी कहते हैं कि मैंने उनके आदेशानुसार जप आरम्भ किया तो मुझे बिना ही सङ्कल्प किये स्वप्नमें अर्धरात्रिके समय भगवती महाकालीके दर्शन हुए। भगवतीके अङ्गोंकी कान्ति उज्ज्वल नीलमणिके समान थी तथा रक्त जिह्वा उनके मुखमण्डलको शोभायमान कर रही थी। उनकी पृथुल जङ्घाओंपर जाँघिया खिंचा हुआ था। उसपर भाँति-भाँतिके आभूषण ध्वनि कर रहे थे। पूज्य बाबा रत्नजटित सुवर्ण थालमें सब प्रकारकी सामग्री ले षोडशोपचारसे पूजनकर भगवतीकी आरती कर रहे थे। उस समय भक्तमण्डली हाथ जोड़े बाबाके पीछे खड़ी थी। ऐसे परम विचित्र मनोहारी रोमाञ्चकारी कालीविग्रहके दर्शन पाकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ और मैं बाबाका ध्यान करने लगा। मैंने ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीसे इसकी चर्चा की तो उन्होंने बताया कि यह बाबाकी तुमपर अत्यन्त कृपा है।

पं० रामानन्दजी दिल्लीवालोंने पूछा था कि महाराजजी! श्रीमन्महाप्रभुजीका स्वरूप कैसा है? आप बोले, "उनका स्वरूप तो दयामय है। उनके स्वरूपमें दयाके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। ऐसा करुणामय ठाकुर मैंने कोई नहीं देखा।" इतना कहकर स्वामीजीने मेरी ओर देखा। उस समय सचमुच ही उन दयालुकी दयासे श्रीमन्महाप्रभुजीका दयामय स्वरूप ज्योंका त्यों मेरे हृदयमें आ गया। हृदयसे उनका दर्शन हुआ।

तब मैंने जाना कि बाबा जिसपर दया करें उसे महाप्रभुजीका दर्शन करा सकते हैं।

अस्तु। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिसका जो इष्ट और रस होता ये औढरदानी उसे मुक्तहस्तसे देते थे और मुक्तकण्ठसे उसकी पुष्टि करते थे। इनकी दृष्टि ही अनन्त ब्रह्मका कृपाप्रसाद था। यह बात यहाँ केवल स्थाली-पुलाक न्यायसे दिखाई गयी है।

आपके पास जो आते थे उनमेंसे जो अपने होते थे उन्हें आप पकड़ लेते थे। ये स्नेहरसमूर्ति प्रथम मिलनमें ही सराबोर कर देते थे। पूछते थे कि तेरे जीवनका ध्येय क्या है। तत्काल साधन बता देते थे और विश्वास स्थापित कर देते थे कि अवश्य दर्शन होगा। यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि साधन क्या दिया, मानो जीवनमें हृदयमें और जन्म-जन्मान्तरमें स्वयंको ही दे डाला।

पं० श्रीगयाप्रसादजी कहते हैं कि गुरुसेवाके द्वारा मुझे भगवान् मिलेंगे—ऐसा मानना सर्वोत्तम भाव नहीं है। सबसे श्रेष्ठ भाव तो यही है कि गुरुके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हैं। वस्तुतः शिष्यका कल्याण करने के लिए स्वयं भगवान् ही गुरुरूपमें मिलते हैं। अपनी प्राप्तिका मार्ग वे स्वयं ही बतलाते हैं। जीव गुरुदेवके ऋणसे कभी मुक्त नहीं हो सकता।

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धी श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥[1]

श्रीभगवान् प्रेमास्पद हैं। उनसे हँसना, खेलना, रोना, रूठना सब कुछ हो सकता है। पर गुरुदेव केवल श्रद्धाके स्थान हैं। उनपर तो केवल श्रद्धा ही होनी चाहिए। ऐसी श्रद्धास्पद, प्रेमास्पद दृष्टिसे जो उपासना करते हैं श्रीगुरुदेव उनकी वैसे ही पुष्टि करते हैं। उनके दोनों हाथोंमें लड्डू रहते हैं—यह विशेषता है। उन्हें गुरु और गोविन्द दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं।

स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजी कहते हैं कि छोटा-सा दिल है थोड़ा-सा जीवन है। श्रद्धा और प्रेममें क्या अन्तर जानना। जो कुछ है वही है। बस, उसके लिए वही सर्वस्व है।

---

१. जिसकी ज्ञानरूप दीपक प्रदान करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीगुरुदेवमें 'ये मनुष्य हैं, ऐसी असत् बुद्धि है उसका सारा शास्त्र-श्रवण हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है।

इसी प्रकार साधकोंको श्रद्धा करनी नहीं पड़ती थी, होती थी। विश्वास करना नहीं पड़ता था, होता था। प्रेम करना नहीं पड़ता था, हृदय गया तो फिर लौटता नहीं था। चित्त सेवाके लिए ललचाता था, मधुर मुसकानके लिए लालायित रहता था, मञ्जुल-मङ्गल-मोदनिधानके मुखकमलपर दृष्टि निछावर हो जाती थी, अभय पदपङ्कजपर हृदय समर्पित हो जाता था। क्या कहें सच्ची बात, स्वयंने श्रीमुखसे कहा था, "ये सब मेरे हाथके पतङ्ग हैं, जैसे चाहूँ उड़ाऊँ। मेरे काँटेमें फँसी मछलियाँ हैं।" इस वेदान्तकेशरीके पंजेके शिकार हम हो गये। इनकी प्रेमभरी दृष्टिने अगणित हृदयोंको घायल कर दिया। हम क्या जाने, स्वयं ही पकड़ लिया। आपकी सन्निधिमें श्रद्धा-विश्वास दिन-दूने रात-चौगुने परिपुष्ट होते थे। उनकी पूर्ण आत्मदृष्टिका परिचय होता था। समरसके साथ उनकी शक्ति और माधुर्यका परिचय मिलता था। सबको यह अनुभव होता था कि आत्मदृष्टिसे ये हमारे आत्मा ही हैं। उनकी ईश्वरताके अनुभव से जान पड़ता था कि हम सर्वसमर्थके संरक्षणमें हैं। उनमें आश्रित प्रतिपालनका भाव स्पष्ट था। इतना ही नहीं, वे दूसरोंका दुःख देख नहीं सकते थे। साक्षात् करुणावरुणालय थे। वे गरीबोंके लिए गरीबनिवाज थे, दीनोंके लिए दीनदयालु थे। क्या कहें प्रेम तो सुना है, पर देखा और छका था वहीं। छका क्या उसने तो अमिट प्यास जगा दी। अनवरत प्रेमामृत ही झरता था।

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुम् स्नेहमकृत्रिमम ।
सज्जनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः ।।१।।
चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमा ।
चन्द्राच्चन्दनाच्चैव शीतला साधुसंगतिः ।।२।।

अर्थात् उपकार करना, प्रिय बोलना और निष्कपट प्रेम करना—यह सत्पुरुषोंका स्वभाव ही होता है। बताओ तो, चन्द्रमाको किसने शीतल किया है ।।१।। संसारमें चन्दन शीतल है और चन्दनसे भी अधिक शीतल चन्द्रमा है। परन्तु साधु-सन्तोंकी संगति चन्द्रमा और चन्दनसे भी शीतल है ।।२।।

पूज्य स्वामी श्रीशरणानन्दजी कहते हैं—जैसा उनका स्वभाव था बड़े प्यारसे उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखा। मेरे हृदयपर उनकी ममता, स्नेह और सहज स्वभावका अच्छा प्रभाव पड़ा। हिन्दू, मुसलमान, सनातनधर्मी और आर्यसमाजी जो भी आता उसीसे प्रेमसे मिलते थे।

उनकी शङ्काओंका समाधान करते और प्रत्येक साधकको उसकी योग्यतानुसार साधनमें ही दृढ़ करनेकी बात करते थे। मेरे पूज्यपाद गुरुदेव जिस प्रकार बिना पूछे मेरी निष्ठाके अनुसार मेरी स्थितिकी बात कहते और आगे की बात बता देते थे उसी प्रकार बाबा भी बिना पूछे मेरी स्थितिके अनुसार बातें बतला देते थे। मेरा पक्का विश्वास है कि बाबा सबको पहचानते थे और सदाचार, प्रेम एवं त्यागका आदर करते थे।

एक मुसलमानने आपसे पूछा कि क्या आपके सनातनधर्मके अनुसार मुझे खुदा मिल सकता है ? यदि मिल सकता है तो किस प्रकार ? आपने कहा, "हाँ, मिल सकता है। खुदाको पानेके लिए सबसे सरल उपाय प्रेम है। खुदाके यहाँ हिन्दू-मुसलमानका कोई प्रश्न नहीं है। उसे जो चाहे वही प्राप्त कर सकता है। हाँ, हिंसा करनेवालेको, वह हिन्दू हो चाहे मुसलमान, भगवान् कभी नहीं मिल सकते।"

एक दिन एक ईसाई हिन्दू धर्मपर कटाक्ष करने लगा। आप सुनकर बड़ी शान्तिसे बोले, "अच्छा भाई, एक बात बताओ; क्या तुम ईसाई होते हुए श्रीकृष्णसे प्रेम कर सकते हो ?" उसने कहा, "नहीं।" आपने पूछा, "तुम ईसासे प्रेम करते हो या ईसाइयतसे ?" वह घबरा गया कि इसका क्या उत्तर दूँ। आप कहने लगे, "देखो, मैं हिन्दू साधु हूँ। परन्तु ईसासे प्रेम कर सकता हूँ। मैं ही क्या, प्रत्येक हिन्दू, हिन्दू रहते हुए, ईसा या बुद्ध आदिमेंसे जिससे चाहे उसीसे प्रेम कर सकता है। प्रेम अलग है और मजहब अलग। मजहब नियमोंमें बाँधता है और प्रेम स्वतन्त्र है। बेटा ! तुम हिन्दू धर्मकी व्यापकता और प्रेमकी गूढ़ता नहीं जानते।" ऐसा था आपका सार्वभौम दृष्टिकोण।

उनके दर्शन और सत्सङ्ग करके सबके मनमें आता था—

'सो सुख जानहिं मन अरु काना।
रसना पै नहिं जात बखाना ॥'

सेवकोंके चित्तमें स्वाभाविक ही आता था कि—**'सिर धरि आयसु करहि तुम्हारा। परम धर्म यह नाथ हमारा ॥'** आपका यह स्पष्ट कथन था कि **'मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥'** क्या गृहस्थ और क्या साधु सबको सांगोपांग साधन बताकर आज्ञा दी कि करो। कई साधकोंने प्रार्थना की कि आपके दर्शनोंके लिए कई बार आना हमारे लिए सम्भव नहीं होता और मनमें अनेकों शङ्काएँ उठती रहती हैं, ऐसी अवस्थामें क्या करें ?। आपने कहा, "तुम मेरा

ध्यान कर लिया करो।" बस, जब कोई शङ्का उठती और उनका ध्यान कर लेते तो ध्यानसे उठनेके पश्चात् उनका समाधान हुआ पाते थे। तथा एक विलक्षण शक्ति और आनन्दका अनुभव होता था। उसे श्रीमहाराजजीका प्रसाद समझकर गद्गद हो जाते थे।

श्रीमहाराजजी सभीको भजन करनेका आदेश देते थे। बहिन मगन-बाई कहती हैं कि आपने मुझे जो जपसंख्या बतायी थी वह अधिक थी। मुझसे सोनेके समयतक पूरी नहीं हो पाती थी। एकबार घरके कामकाजमें लगे रहनेके कारण मन्त्रजापकी संख्या पूरा करना मेरे लिए भार हो गया। मेरे मनमें झुँझलाहट पैदा हुई। मैं कहने लगी कि यह माला आपने अच्छी दी। यह पचड़ा अब मुझसे पूरा नहीं होगा। तुम अपनी यह माला लो। ऐसा कहकर मैं मालाको तकियेके नीचे पटककर सो गयी। उस समय बाबा अनूपशहरमें नहीं थे, रामघाटमें या अन्यत्र कहीं थे। आश्चर्यकी बात यह हुई कि प्रातःकाल जब नींद खुली तो पूर्वाभ्यासवश संख्या पूरी करनेके लिए माला तकियेके नीचे ढूँढ़ने लगी परन्तु वह वहाँ न मिली। बहुत ढूँढ़नेपर भी कहीं पता न चला। मेरे कमरेमें दूसरा कोई था ही नहीं, जिसपर शङ्का करती। मैं रोने लगी, बड़ी पछतायी। अन्तमें जब दादा श्वसुर (श्रीशिवशंकरजी) के साथ रामघाट दर्शन करने गयी तो श्रीमहाराजजीसे मालाकी बात कहकर रोने लगी। तब बाबाने माला दिखाते हुए कहा, "यही तेरी माला है?" उन्होंने मालाके प्रति मेरा तिर-स्कार जानकर उसे छिपा लिया था। श्रीमहाराजजीने समझाया कि माला, मन्त्र और पाठ्यपुस्तक ये सब गुरुस्वरूप ही हैं। नाम और नामी दो नहीं होते। इनका तिरस्कार भगवदपराध है। ये वास्तवमें कृपाप्रसाद हैं। तिर-स्कारसे कृपा लौट जाती है। मेरा दिया हुआ सब दिव्य है, स्वयं है।

श्रीमहाराजजीके प्रेमी भक्तोंका अनुभव है कि वे विशालबाहु हैं। अतः वे भजनमें सतर्क रहते हैं तथा उनकी छविको अर्चावतार और पूजाके पात्रोंको उनका परिकर मानकर किसी अन्य कार्यमें नहीं लेते। रामघाट, कर्णवास तथा श्रीमहाराजजीके भक्तोंके घर साधनधाम ही बन गये—गुरु-निलयम् ही हो गये। उनमें साकेत, वैकुण्ठ और कैलास ही जगमगाने लगे।

प्राणिमात्रका भोज—श्रीमहाराजजीके यहाँ भण्डारे प्रायः होते रहते थे। एकबार श्रीविश्वबन्धुजीने कहा कि कुत्तों और बन्दरोंकी भी दावत

होनी चाहिए। आपने तुरन्त स्वीकार कर लिया। सब अपने-आप समयपर निमन्त्रितकी भाँति आ गये। जिस दिन वह अद्भुत भण्डारा हुआ सब चकित रह गये। सब बन्दर बिना छीना-झपटी किये सभ्य पुरुषोंकी तरह प्रसाद पा गये। उसी प्रकार कुत्ते और कौए भी। ऐसा स्पष्ट जान पड़ा मानो श्रीमहाराजजीने ही उन्हें बुलाया, खिलाया और प्यार किया। रामघाटकी गौएँ रोज उनके हाथका प्रसाद लेनेके लिए आती थीं। बन्दर इधर-उधरसे घेर लेते थे और वे मुसकराते हुए उन्हें प्रसाद देकर सन्तुष्ट करते थे। यह आपकी आत्मनिष्ठाका अद्भुत परिचय था, प्रेमकी प्रस्फुट कृपा थी। इस अद्भुत भण्डारेको देखकर श्रीमहाराजजीकी सर्वात्मप्रेमस्वरूपता प्रत्यक्ष हुई। भक्तोंमें हलचल मच गयी। दर्शकोंके दिल ही बिक गये। श्रीमहाराजजी दयाके सागर हैं—यह प्रत्यक्ष हो गया।

साधनयज्ञ—एकबार आपने रामघाटमें साधनयज्ञका आयोजन किया। कुटियाके समीप ही एकान्तमें कुछ फूँसकी कुटियायें बनायी गयीं। उनमें-से एक-एक कुटीमें अलग-अलग श्रीरमाकान्त, रामदास और सियारामजी आदि साधु तथा कुछ गृहस्थ भक्त रखे गये। उन दिनोंमें वे किसी भी प्राणीको किसी प्रकार न सतायें ऐसा नियम था। यहाँ तक कि सर्प आते तो उन्हें भी दूध पिलाते और प्रार्थना करते कि अब कल मत आना। हमें भय लगता है। इसके सिवा उनके जप तथा ध्यानादि साधन भी नियमबद्ध थे तथा भोजन भी सात्त्विक दिया जाता था। इस अनुष्ठानमें रमाकान्तजीकी स्थिति बहुत बढ़ गयी थी। वे एक दिन निरन्तर बारह घण्टेतक आसनसे बैठे रहे। तबसे उनका जीवन ही परिवर्तित हो गया। इनका विशेष परिचय आगे लिखा जायगा।

ब्रह्मचारी श्रीकृष्णानन्दजी

जैसे भगवान् शङ्करके पुत्र गणेशजी हैं उसी प्रकार हमारे श्रीमहाराजजी साक्षात् शङ्करस्वरूप थे और ब्रह्मचारी श्रीकृष्णानन्दजी गणेशजी थे। इनका शरीर कुछ स्थूल और नाटा था। इसलिए भक्तगण इन्हें गणेशजी ही कहा भी करते थे। ये जन्मतः पालीवाल मारवाड़ी ब्राह्मण थे। इनके प्रिय शिष्य श्रीविश्वम्भरप्रसादजी अतरौलीवाले बतलाते हैं कि ये युवावस्थातक घरमें रहे, किन्तु इनमें जन्मसे ही स्त्री-पुरुषका भेदभाव नहीं था। घरकी स्त्रियाँ इनके सामने नङ्गी नहाने-धोने और शृङ्गार

करनेमें भी सङ्कोच नहीं करती थीं, क्योंकि उन्होंने अपनी पैनी दृष्टिसे यह अनुभव कर लिया था कि ये शुकदेवजीके समान जन्मसिद्ध अवधूत हैं। इन्होंने श्रीमहाराजजीके गुरुभाई दण्डिस्वामी श्रीसुब्रह्मण्यदेव तीर्थसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ली थी। अपने दीक्षागुरु तथा साधु-सन्तोंकी इन्होंने खूब सेवा की तथा उनका निर्वाण होनेपर ये श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें रहने लगे। इनकी योग और ज्ञानमें अच्छी गति थी, तथापि सबसे बढ़कर था इनका बालभाव। आयुमें श्रीमहाराजजीके समवयस्क होनेपर भी ये उनके सामने बिलकुल बच्चेकी तरह रहते थे। तथा अन्य भक्तोंके साथ भी अपने समवयस्क बालकोंकी भाँति चेष्टाएँ किया करते थे।

एक बार आपने पैदल चलकर तीर्थयात्रा की थी। उस समय रेलकी पटरी-पटरी जा रहे थे। तब एक गार्डने रेलगाड़ी रोककर इन्हें जबरदस्ती रेलमें बिठा लिया। एक बार वनस्थलीमें एक सरोवरके किनारे बैठे थे। उस समय शेर और शेरनी आये तथा इन्हें सूँघकर चले गये ये निर्द्वन्द्व महापुरुष थे। तीन-तीन घण्टा शीर्षासन करते थे और पाँच-पाँच सात-सात लाल मिर्चें चबा जाते थे। एक बार शीर्षासन करते समय काला नाग लिपट गया। आपने उसे देख लिया। परन्तु जबतक वह स्वयं छोड़कर नहीं गया आपने शीर्षासन नहीं छोड़ा। इन्हें खेचरी मुद्रा भी सिद्ध थी। एक बार स्वामी अखण्डानन्दजीने कहा कि आपका पेट इतना निकला हुआ है, आप कैसा योग करते हैं? तो झट आपने पेटको पीठसे लगाकर दिखा दिया। जब श्रीमहाराजजीके पास आते थे तो फूल, पत्ता, आक, ढाक जो हाथ लग जाता था उसीको चढ़ाकर पूजा करते थे। अपने भक्तोंसे आपने कह दिया था कि श्रीमहाराजजीका पूजन और सत्सङ्ग मत छोड़ना, बस बात मेरी मानना। कभी-कभी लोग इन्हें जबरदस्ती सिनेमामें ले जाते थे। वहाँ जब चित्र चालू होता तो हँसते-हँसते कहते, "अरे! सबको पकड़ो-पकड़ो।" भक्त कहते, "महाराजजी! ये हाथ नहीं आयेंगे।" तब कहते, "बेटा! संसार भी ऐसा ही है, दिखाऊमात्र है, यह हाथ नहीं आता।" अलीगढ़, अतरौली और बेसवाँमें इनके अनेकों भक्त थे। वे इन्हें चुराकर मोटरमें ले जाते थे। इतने ध्याननिष्ठ थे कि महाराजजी कहीं भी हों, ध्यान द्वारा देखकर बता देते थे।

विश्वम्भरजी इनके विशेष भक्त थे। इन्होंने श्रीमहाराजजीसे प्रथम मिलनके समय ही प्रश्न किया कि अनादि अनन्त तत्त्व एक है या दो।

श्रीमहाराजजीका स्वभाव था पहले साधन बतलाकर फिर सिद्धान्त बताना। अतः उन्होंने कहा, "प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व अनादि-अनन्त हैं।" फिर गणेशजीके पास जाकर यही प्रश्न उनसे किया। उन्होंने कहा, "बेटा! बस एक ब्रह्म ही ब्रह्म है।" इन्हें भी बचपनसे ऐसा ही संस्कार था। अतः अपनी बातका समर्थन पाकर इन्होंने गणेशजीको गुरुरूपसे वरण कर लिया। गणेशजीने इन्हें आज्ञा दी कि सेवा, पूजा और सत्सङ्ग बराबर श्रीमहाराजजीका करते रहना। इस आज्ञाका पालन ये बराबर करते रहे। श्रीमहाराजजी उन दिनों इने-गिने अधिकारियोंके सामने ही वेदान्तकी चर्चा करते थे। जब विश्वम्भरप्रसाद सत्सङ्गमें आते तो महाराजजी इनसे मना करते थे और कहते थे कि इस लड़केको क्या हो गया, यह भजन नहीं करता। परन्तु गणेशजीकी भरपूर कृपा थी। गणेशजीने इन्हें योगवासिष्ठका स्वाध्याय करनेको कहा हुआ था। वे कहते थे कि डरो मत, सत्सङ्ग मत छोड़ो। श्रीमहाराजजी अन्तर्यामी और उदार तो थे ही। उन्होंने भी इनपर बहुत कृपा की। फिर ये अपनी जमींदारी ठेकेपर देकर निरन्तर श्रीमहाराजजीके सत्सङ्ग और गुरुसेवामें रहने लगे। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य है—यही इनका निश्चय था। बीमारीमें भी इनकी अक्षुण्ण प्रसन्नता और धैर्य देखकर इनकी गुरु-भक्तिसे मिली जीवन्मुक्ति स्पष्ट प्रतीत होती है।

एक बार अतरौलीके प्राचीन शङ्कर श्रीचकलेश्वरजी पर श्रीगणेशजीने ठंडाई चढ़ायी। वे जैसे-जैसे चढ़ाते गये वैसे-वैसे ही उपस्थित भक्त ध्यानमग्न होते गये। उनका महाप्रसाद और चरणामृत प्रायः सभी भक्त लेते थे। वृन्दावनमें सभी सम्प्रदायोंके लोग उनसे प्रेम मानते थे। एक बार वृन्दावनमें अवर्षण हो गया। सर्वत्र त्राहि-त्राहि होने लगी। सब कहने लगे कि श्रीउड़ियाबाबाजी सिद्ध हैं, उनसे कहो कि वर्षा होनी चाहिए। तब गणेशजीने सुना तो कहा कि इतनी-सी बातके लिए उनसे क्या कहना है। बस, एक घण्टेके भीतर ही घनघोर वर्षा हुई और सरोवर भर गये।

श्रीगणेशजी वृन्दावनमें ही बीमार पड़े। श्रीमहाराजजीने उनका सिर अपनी गोदमें रखकर उन्हें '**तत्त्वमसि**'—यह महावाक्य सुनाया। उन्होंने आँखें खोलीं और मुसकराये तथा उनकी गोदमें ब्रह्मलीन हो गये।

खुर्जाके भक्त

ऊपर कहा गया है कि श्रीमहाराजजीने गाँव-गाँवको साधन क्षेत्र बना दिया था। इसके अतिरिक्त निरन्तर आश्रितरक्षक और वाञ्छा-कल्पतरुरूपसे आपका सभीको अनुभव होता था। सबको यह जँचता था कि **'देह धरेकर यह फल भाई। भजिय राम सब काम विहाई॥'** यह भी अनुभव होता था कि **'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य नहिं काहुहि व्यापा॥'** अपने भक्तोंसे आपने गुप्त रूपसे कह दिया था कि दु:ख-दर्दोंमें मेरा स्मरण कर लिया करो, सब ठीक हो जायगा। सभी भक्त दिव्य धाम और दिव्य लीलाओंका अनुभव करते हुए दिव्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। श्रीमहाराजजीके महदानन्दमय स्वरूपको जिन्होंने समझा था और जो कई भक्तोंको श्रीचरणोंकी सन्निधिमें आनेके लिये प्रेरक बने वे थे खुर्जाके भक्त श्रीकेदारनाथजी। भक्त भगवान्से अलग नहीं होते, उन्हींके अङ्ग होते हैं। भक्त न होते तो भगवान्को कौन प्रकट करता। अत: यहाँ श्रीमहाराजजीके साथ उनके कुछ भक्तोंकी चर्चा करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

भक्त केदारनाथ—भक्त केदारनाथजी खुर्जाके रहनेवाले एक सद्-गृहस्थ महापुरुष थे। उनके पिताजीने उनका विवाह होनेके पश्चात् उन्हें दो सौ रुपये देकर अलग कर दिया था। उनसे उन्होंने पसारीकी दूकान कर ली थी। सन्त-महात्माओंका सत्सङ्ग और सेवा करनेका आपको बचपनसे ही चाव था। आपने सन्तोंसे अपने व्यावहारिक विक्षेपकी चर्चा की तो उन्होंने कहा कि तुम इस दूकानको अपनी न मानकर सन्तोंकी ही समझो। तबसे आपकी ऐसी धारणा बन गयी। इनकी दूकानपर एक महीनेके मसालेकी पुड़ियाएँ बनी तैयार रहती थीं। कोई भी विद्यार्थी या विरक्त ब्राह्मण दूकानपर जाता तो उसे एक महीनेका मसाला बिना मूल्य मिल जाता था।

भक्तजीकी निष्ठा थी कि शिष्य तो ऐसा चाहिये कि गुरुको सब कुछ दे दे और गुरु ऐसा होना चाहिये कि कुछ भी न ले। शास्त्रने अतिथि-अभ्यागतकी सेवामें खूब देनेको कहा है, परन्तु लेनेवालोंसे कहा है कि सावधान, केवल अपनी अनिवार्य आवश्यकताकी ही पूर्ति करना। भक्तजी का स्वभाव था कि सन्तोंको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन करना नहीं चाहते थे। एकबार एक महात्माजीको निमन्त्रित किया। बड़े

प्रेमसे स्वयं परोसकर खिलाया। सन्त संकोचवश कम न खायँ—ऐसा सोचकर भक्तजी आग्रहपूर्वक बार-बार खीर परोसते जा रहे थे। सन्तने मना किया तब भी एक चम्मच खीर डाल दी। इसपर महात्माजीने कुपित होकर भक्तजीके मुँहपर एक तमाचा लगा दिया। भक्तजी अपराधी की भाँति मौन हो गये। उन्हें यह नहीं फुरा कि ये कैसे सन्त हैं जो इतना क्रोध करते हैं। उल्टे यही समझा कि गल्ती अपनी ही थी। अतः उनके स्थानपर जाकर दूसरे दिन फिर भिक्षा पानेकी प्रार्थना की। बोले, "महाराज! कल भिक्षा ठीक नहीं हुई, आज पुनः कृपा करें।" यह है उनके सन्तहृदयकी बात। पूज्य श्रीहरिबाबाजी आदि सभी प्रमुख सन्त आपसे प्रेम मानते थे। उनके एक पुत्र और एक कन्या दो ही सन्तानें थीं। भक्तजी रोज एक महात्माके लिए दूध ले जाते थे। महात्मा प्रायः मिलते नहीं थे, अतः ये बाहर आलेमें दूधका पात्र रखकर चले आते थे। इनका एकमात्र पुत्र काँगड़ेके भूकम्पमें दबकर मर गया। तारसे सूचना मिली। पुत्रशोक भी हुआ ही। परन्तु सेवामें त्रुटि न पड़े, इसलिए दूध लेकर गये। सन्त उस दिन मिल गये। उन्होंने पूछा, "भक्तजी! उदास क्यों हो?" भक्तजी सब बात सुनाकर रो पड़े। तब सन्तने कहा कि भक्तजी, रेलके स्टेशनोंपर बाल्टियोंमें जल और रेत भरा रहता है, जिससे आग लगते ही बुझा दी जाय। इसी प्रकार सत्सङ्गी लोग जीवनमें सत्सङ्गरूप जल भरा रखते हैं। उसका उद्देश्य यही होता है कि जीवनमें आनेवाली दुर्घटनाओंकी आग जला न सके। उस आगमें हृदय और जीवन स्वाहा न हो, उसे बुझानेके लिए सत्सङ्गरूपी जल काम में लेना चाहिए। यह ऋणानुबन्ध है, संसार तो नाशवान् ही है। यहाँ छूटनेवालेसे मोह न करना और कभी न छूटनेवालेसे प्रेम करना ही तो सार है। भक्तजी तो सन्त ही थे, शान्त हो गये। समझ लिया कि जो अवश्यम्भावी होता है उसका कोई प्रतीकार नहीं होता।

अपनी आयुके अन्तिम दस वर्षोंमें भक्तजीने दूकानका काम अपने मुनीमको सौंपकर स्वयं जाना बन्द कर दिया था। अपना सब समय वे भजन सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें ही लगाते थे। कुछ काल पश्चात् अपनी दुकान मुनीमको ही दे दी थी। अपने परिवारके निर्वाहके लिए केवल पचास रुपये मासिक लेते थे। अपने जीवनमें वे कभी अदालतमें नहीं गये। उनके हजारों रुपये लोगोंपर रह गये। परन्तु किसीपर अभियोग नहीं चलाया। कहते थे कि मुझे ऐसा लगता है कि भगवान् मुझसे कह

रहे हैं कि अरे केदारा ! इनपर नालिश करना तो मुझ ही पर नालिश करना है। इनकी लड़कीका देहान्त भी विवाहके कुछ काल पश्चात् हो गया था। उसके एक पुत्र और कन्या ही इनके उत्तराधिकारी हुए।

श्रीमहाराजजीमें भक्तजीकी अनन्य निष्ठा थी। इनका कथन था कि मैं हरिद्वारसे लौटनेवाले सन्तोंका बहुत वर्षोंसे सत्सङ्ग करता हूँ। चालीस वर्षोंसे मेरा यह नियम चलता है। उस सत्सङ्गके फलस्वरूप ही मुझे श्रीमहाराजजीका दर्शन हुआ है। ये तो सर्वथा विलक्षण हैं—**'अस प्रभु कतहुँ सुनहुँ नहिं देखहुँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखहुँ ॥'** ये तो अलखमें झलक हैं। मुझे तो साक्षात् विष्णु और शङ्कर ही जान पड़ते हैं। जब मुझे पहली बार सत्सङ्ग हुआ तो मैंने इनसे वेदान्तसम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे। ये बोले, "भक्तजी ! मुझे आत्मज्ञानी तो बहुत मिलते हैं, परन्तु आत्मप्रेमी कोई नहीं मिलता।" बस, तबसे मेरे मनमें तो इनकी वही बात घर कर गयी है। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—**'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'** अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञ (तत्त्वज्ञ) का पूजन करना चाहिए। सो हमारे महाराजजी तो ये चारों हैं। इन अकेलेके पूजनसे चारोंका पूजन हो जाता है।[1]

श्रीरामदासजी—भक्तजीके पास मच्छू नामके एक नवयुवक सत्सङ्गके लिए आया करते थे। ये पटनाके रहनेवाले थे और यहाँ एक सेठके यहाँ काम करते थे। चित्त बहुत सात्त्विक था तथा भजन और सत्सङ्ग में

---

१. श्रीमहाराज देव हैं। श्रुति कहती है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' अर्थात् सर्वान्तिर्यामी भगवान् ही 'देव' हैं। श्रीमहाराजजी स्वरूपतः उनसे अभिन्न हैं, इसलिए देव हैं। द्विज तो आप जन्मतः हैं ही। 'गुरु' अर्थात् अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेवाले। अन्धकारमें जैसे वस्तुका वास्तविक स्वरूप नहीं जान पड़ता इसी प्रकार अज्ञानवश जीव असुन्दरको सुन्दर, अनित्यको नित्य और अनात्माको आत्मा समझने लगा है। श्रीमहाराजजी इस अज्ञानान्धकारके निवर्त्तक हैं, इसलिए गुरु हैं। आपमें स्वार्थका गन्ध भी नहीं है, क्योंकि आपका कथन था कि गुरु वही है जो सबसे मोह छुड़ाता है और अपनेमें राग नहीं कराता। अर्थात् जो सर्वत्याग कराता है। इसी प्रकार आप 'प्राज्ञ' भी हैं। प्राज्ञ अर्थात् प्रज्ञावान्। प्रज्ञा अर्थात् विवेकवती बुद्धि, जैसा कि कहा है—'निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते।' उस प्रज्ञासे सम्पन्न होनेके कारण आप प्राज्ञ हैं।

आन्तरिक रुचि थी। भक्तजीका इनपर बहुत स्नेह हो गया, इनसे कहते थे, "अरे तेरा नाम मच्छू है, तू संसारको मत छू। मैं तुझे श्रीमहाराजजीसे मिलाऊँगा।" एक बार भक्तजीकी प्रेरणासे ये रामघाट आये। श्रीमहाराजजीने प्रथम मिलनके समय ही इन्हें पहचान लिया और अपनी कुटियामें एकान्तमें प्राय: दो घण्टेतक उपदेश करते रहे।

इन्होंने पूछा—भगवन् ! क्या आजकल भी भगवान्‌के दर्शन होते हैं ?

श्रीमहाराजजी—हाँ, होते हैं।

मच्छू—किस प्रकार ?

श्रीमहाराजजी—मैं करा दूंगा।

मच्छू—मैं चाहता हूँ कि भजनमें मेरी अत्यन्त प्रीति हो जाय। मैं निरन्तर भजन किया करूँ।

यह सुनकर श्रीमहाराजजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "भजनसे प्रेम चाहनेवाले तो तुम एक ही मिले हो।" फिर आपने इन्हें जपके लिए एक मन्त्र बताकर अपना ही ध्यान करनेका आदेश दिया। और कहा कि तुम खुर्जा जाकर नौकरी छोड़ दो। एकान्तमें रहकर भजन करो और भक्तजीका सत्सङ्ग किया करो। साधुवेश धारण मत करना। इससे अभिमान बढ़ जाता है और भजनसे वञ्चित होना पड़ता है। तुम तीन वर्षतक अपने हाथसे बनाकर रोटी खाओ और नियमसे भजन करो। अब तुम अपनेको मच्छू मत समझो। आजसे तुम्हारा नाम रामदास हुआ।

रामदासजीने खुर्जा आकर भक्तजीको सब बातें सुनायीं तो उनकी आँखोंमें आँसू छलछला आये। उन्होंने नौकरी छोड़ दी और पं० किशोरीलालके बागमें एक बुर्जीमें रहकर भजन करने लगे। पहले भक्तजीके यहाँसे सामग्री लाकर रोटी बना लेते थे, फिर उन्हींके घर भोजन पाने लगे। श्रीमहाराजजीकी कृपा इनपर उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। फिर कुछ दिन ये उनकी सेवामें भी रहे। आगे चलकर इन्होंने काशीमें एक उदासीन सन्तसे विरक्त वेशकी दीक्षा ले ली। तब इनका नाम हुआ स्वामी बुद्धि प्रकाश उदासीन। किन्तु इनकी प्रसिद्धि श्रीमहाराजजीके दिये हुए 'रामदास' नामसे ही है। जबतक श्रीमहाराजजी धराधामपर विराजे ये अधिकतर उन्हींकी सन्निधिमें रहे। सत्सङ्गके समय बड़े प्रेम और नम्रतासे प्रश्न करते थे। उनके महाप्रस्थानके पश्चात् ये पटना रहने

लगे हैं। वहाँ इनकी अच्छी प्रतिष्ठा है। एक स्थान भी बन गया है, जिसमें पुस्तकालय और सत्सङ्गभवन भी है।

स्वामी सनातनदेव—ये भी खुर्जाके ही रहनेवाले थे। पूर्वाश्रममें इनका नाम मुनिलाल था। श्रीभक्तजीके साथ इनका सत्सङ्ग होता रहता था। इन दोनोंका मिलन श्रीचरणोंकी सन्निधिमें ही हुआ था। इनके एक सहपाठी थे श्रीविश्वबन्धुजी। वे बाल्यावस्थासे ही बड़े संयमी, सदाचारी और भगवद्भक्त थे। अपने जीवननिर्माणमें इन्हें उनसे बहुत प्रेरणा मिली थी। उनसे इन्होंने श्रीमहाराजजीके खुर्जा पधारनेकी बात सुनी। उनके कथनका इनके हृदयमें आदर था, अतः ये दर्शनार्थ गये। वहाँ इन्होंने श्रीमहाराजजीकी जो झाँकी देखी उसका इस प्रकार वर्णन किया है।

मैंने देखा एक श्यामवर्ण दुबले-पतले मध्यमकाय महात्मा गुदड़ी बिछाये बैठे हैं। उनके पास जो दर्शनार्थी आते हैं वे कुछ मिष्ठान्न या फल लाते हैं। परन्तु उनमेंसे वे स्वयं कुछ ग्रहण नहीं करते। सब आने-जानेवालोंको ही बर्ता देते हैं। शरीर दुबला-पतला होनेपर भी उसमें एक अपूर्व ओज और तेज है। दर्शकोंका आपके प्रति अद्‌भुत आकर्षण है। दिनभर उनका ताँता लगा रहता है। परन्तु रातमें वहाँ कोई ठहर नहीं सकता था। यह ज्येष्ठका महीना था। परन्तु रातको आप कमरेके सारे दरवाजे बन्द करके भीतर ही रहते थे। इन दिनों आपका ध्यानाभ्यास बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अतः शीतोष्णका तो कोई प्रश्न ही नहीं था अधिकांश रात्रि ध्यान-समाधि आदि में ही व्यतीत होती थी। उसको गुप्त रखनेके लिए ही आपकी यह तीव्र तितिक्षा थी।'

इस प्रथम दर्शनसे इनका श्रीचरणोंके प्रति आकर्षण हुआ और भक्त-वर केदारनाथजीसे परिचय। यह सन् १९२२ ई० की बात है। इस प्रथम परिचयके पश्चात् श्रीभक्तजीके साथ इनका संसर्ग सत्सङ्गमें परिणत होगया। चित्त बार-बार श्रीमहाराजजीकी ओर आकर्षित होने लगा। कुछ समय पश्चात् इन्होंने भक्तजीके साथ कर्णवास जाकर श्रीचरणोंके दर्शन किये। वहाँ गुरुजनोंके सामने प्रश्न करनेका साहस तो नहीं हुआ तथापि इन्हें ऐसा लगा कि श्रीमहाराजजी इस समय स्वयं जो कुछ कह रहे हैं वह मानो मुझको ही लक्ष्य बनाकर कहा जा रहा है। उनके कथनमें इन्हें अपनी स्थिति का उल्लेख और कर्त्तव्यका निर्देश दिखायी दिया। स्वभाव बहुत नीरस होनेपर भी श्रीमहाराजजीके प्रति इनका चित्त ऐसा आकर्षित होता था कि

बार-बार उन्हें आलिंगन करनेकी इच्छा होती थी। भक्तजी तो आपकी अद्भुत निष्ठा और विरक्तिपर मुग्ध थे ही, साथमें आये हुए रामलालजी आर्यसमाजी विचारोंके होनेपर भी कह रहे थे कि महाराजजीके हृदयमें आनन्दका ऐसा उद्रेक जान पड़ता है कि मानो वह वहाँ न समा सकनेके कारण बाहर छलक रहा है।

मुनिलालजीको अपनेमें जो भावुकताका अभाव था वह बहुत खटकने लगा। हाँ कभी-कभी चित्तमें ऐसे प्रश्न भी उठते थे कि यह विश्व क्या है? मैं कौन हूँ? यह सब कहाँसे प्रकट हो गया? इस विश्वरचनाका प्रयोजन क्या है? इत्यादि। कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होता कि भले ही त्रिलोकीका राज्य मिल जाय और बड़ी-से-बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाय तो भी यह जाने बिना कि मैं कौन हूँ मेरा चित्त शान्त नहीं हो सकता। श्रीभक्तजी का सत्सङ्ग तो अब नित्य ही होता था। परन्तु उनकी बातोंसे इनकी सन्देह की वेदना निवृत्त नहीं होती थी।

सन् १९२६ ई० में श्रीमहाराजजी पुनः खुर्जा पधारे। उस समय इन्होंने उनसे पूछा कि आपने क्या कोई ऐसे महात्मा देखे हैं जिन्हें निर्विकल्प समाधि हुई हो। श्रीमहाराजजी बोले, "हाँ देखे हैं, परन्तु तुम विश्वास कैसे करोगे? देखो, भैया! जबतक तुम्हारी किसी एक महापुरुषमें श्रद्धा नहीं होगी तुम्हारा मार्ग नहीं खुलेगा।" इसी प्रकार और भी प्रश्नोत्तर होते रहे। कुछ दिन ठहरनेपर गुरुपूर्णिमा आ गयी। खुर्जामें श्रीमहाराजजी की केवल यही गुरुपूर्णिमा हुई है। उसी दिन भक्तजीने प्रसंगवश आपसे कहा, "भगवन्! इस मुन्नीने मुझे बहुत ग्रन्थ सुनाये हैं। आप कृपा करके इसे कुछ साधन बताइये।" मुनिलालजी लिखते हैं कि आज मेरा भाग्योदय हुआ। श्रीभक्तजी तो इतना कहकर उठ गये। फिर श्रीमहाराजजी बोले, "मेरे विचारसे तुम्हारी प्रवृत्ति साकारोपासनामें नहीं हो सकती। तुम्हारी बुद्धि तर्कप्रधान है। उपासनाके लिए सरल श्रद्धाकी आवश्यकता है। सो रूप और नाममें तो तुम्हारी श्रद्धा हो सकती है, किन्तु लीला और धाममें होनी कठिन है। तुम तो गीताके इस श्लोकपर विचार करो—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (२।२४)

इसके लिए द्रष्टा और दृश्यका विवेचन होना परम आवश्यक है। देखो

जिस प्रकार तुम संसारकी सब चीजोंको देखते हो उसी प्रकार इस शरीरको भी देखते ही हो। इसी मनके सङ्कल्प-विकल्प, बुद्धिके निश्चय और सुख-दुःखादि भी तुम्हारे दृश्य ही हैं। और यह नियम है कि दृश्यसे द्रष्टा सर्वथा भिन्न होता है। अतः तुम शरीर, मन, बुद्धि आदि सभीसे भिन्न हो। इसलिए इनके किसी व्यापारसे तुम्हारा कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता। बस, तुम उठते-बैठते, चलते-फिरते हर समय अपनेको इनके असङ्ग देखा करो। तुम्हारा यह अभ्यास इतना दृढ़ हो जाना चाहिए कि जिस प्रकार तुम घड़ेको अपनेसे भिन्न देखते हो उसी प्रकार तुम्हें यह शरीर दिखायी दे।"

इसपर इन्होंने पूछा, "महाराजजी ! जब इस प्रकार शरीर अपनेसे भिन्न दिखायी देने लगेगा तब तो यदि इसे कोई काटे-कूटेगा तो उससे भी कोई उद्वेग नहीं होगा।"

श्रीमहाराजजी—हाँ दृढ़ अभ्यास होनेपर तो ऐसा ही होगा। तुम अभी यही अभ्यास करो। जब इसमें तुम्हारी कुछ स्थिति हो जायगी तब तुम्हें और भी साधन बताया जायगा। फिर तो तुम्हें यह सारा विश्व आकाशमें बादलके समान सर्वथा असत् और अपनी ही दृष्टिका विलास जान पड़ेगा।

यह बात इन्हें कठिन-सी जान पड़ी। भक्तजीने इनसे पूछा कि क्या महाराजजीने तुम्हें कोई साधन बताया ? इन्होंने सब बातें सुनाकर कहा, "साधन तो बताया, परन्तु मुझे तो यह अपनी योग्यतासे परे जान पड़ता है। भला, जब मैं अपनेको शरीरादिसे परे अनुभव करने लगूँगा तो और शेष ही क्या रहेगा। अभी मेरी ऐसी योग्यता कहाँ है ? मैं तो चाहता था कि कोई भजनकी युक्ति बता देते।"

भक्तजी—हाँ, बात तो ठीक है। अब तुम श्रीमहाराजजीसे फिर प्रार्थना करो कि भगवन् ! यह तो बहुत ऊँची बात है, मुझे तो आप कोई भजनकी सरल-सी युक्ति बताइये।

ये बोले, "अब तो मेरी उनसे कुछ कहनेकी इच्छा नहीं होती।" इस प्रकार और कुछ पूछनेकी ओरसे ये निराश हो गये। उसके कुछ देर पश्चात् ये बाजारकी ओर गये। जब ये बाजारमें चल रहे थे उसी समय अकस्मात् इनकी मनोवृत्ति समाहित हो गयी और इन्हें ऐसा लगने लगा मानो शरीर स्वयं ही चल रहा है और मैं तटस्थ रूपसे उसे देख रहा हूँ। इस विचित्र अवस्थामें इन्हें बड़ी निश्चिन्तता और शान्तिका

अनुभव हुआ तथा ऐसा जान पड़ा कि यदि यह दृष्टि बनी रहे तो फिर कुछ भी हुआ करे, उसकी मुझे क्या परवाह। बस, इतनेसे ही इन्हें निश्चय हो गया कि यह साधन मेरे लिए ठीक है, मुझे इसका अभ्यास करना चाहिए।

श्रीमहाराजजी इनसे कहा करते थे कि तुम्हारा चित्त काष्ठकी तरह कड़ा है, साधकका चित्त तो जतु (लाख) की तरह होना चाहिए, जो साधन की आँच लगते ही पानीकी तरह पिघल जाय और विषयोंकी ठण्डके सामने काठकी तरह कड़ा हो जाय। परन्तु उनकी कृपासे इनकी साधनामें उत्तरोत्तर प्रगति होती ही गयी। अतः वे शरणागतोंके एकमात्र आश्रय और पथप्रदर्शक थे तथा समय-समयपर उनकी शङ्काओंका समाधान करके उन्हें साधनपथमें अग्रसर करते रहते थे।

इसके प्रायः दस वर्ष पीछेकी बात है। भक्तजी बहुत वृद्ध हो गये थे। उनका शरीर भी रोगग्रस्त रहने लगा था। तथापि गुरुपूर्णिमापर वे श्रीमहाराजजीके दर्शनार्थ रामघाट गये। किन्तु प्रभुकी इच्छा, श्रीमहाराजजी वहाँ नहीं पहुँचे। भक्तगण निराश होकर अपने-अपने घर लौट आये। रामदास और मुनिलालजी भक्तजीके साथ खुर्जा आ गये। खोज करनेपर श्रीमहाराजजीके पिलखुवाके पास सिखेड़ा ग्राममें दर्शन हुए। आपने दूसरे दिन ध्यानावस्थासे उठकर कहा, "मैंने भक्त केदारनाथ को आज स्वप्नावस्थामें बीमार देखा है; मैं उनसे मिलनेके लिए खुर्जा जाऊँगा।" बस, वहाँसे कुछ भक्तोंके साथ आप खुर्जा पधारे। भक्तजीकी शारीरिक अवस्था अच्छी नहीं थी। आदमियोंके उठानेपर ही वे खाटसे उठ सकते थे। परन्तु श्रीमहाराजजीके पहुँचनेपर वे स्वयं खाटसे उतरकर नाचने लगे। उन्होंने आपका चरणस्पर्श किया और विधिवत् पूजा की। श्रीमहाराजजीने उस समय उन्हें वेदान्तचर्चा ही सुनायी। तीन-चार दिन ठहरकर आप रामघाटकी ओर चल दिये। चलते समय रामदासजीसे कहा, "भक्तजीका शरीर सोलह दिन और रहेगा। तुम यहीं रहकर इनकी सेवा करो। मुनिलाल भी उनकी सेवामें रहे। ठीक सोलहवें दिन दोपहरको दो बजे वे ब्रह्मलीन हो गये। रुग्णावस्था में भक्तजी विधिवत् महाप्रस्थानकी तैयारी करते रहे। ब्राह्मणोंसे जपानुष्ठान कराकर उन्हें यथेच्छ दक्षिणा दी और वेदान्तचर्चा ही करते रहे। मुनिलालजीसे तेजोविन्दु-उपनिषद् सुना। उन्होंने पूछा कि भक्तजी! इस समय तो रोगके कारण वृत्ति गुम-सी रहती होगी? वे बोले,

"नहीं जी ! यह तो रोग-समाधि है। चित्त हर समय अपने लक्ष्यपर रहता है, केवल प्यासके कारण उत्थान होता है।" ऐसी थी उनकी आत्मनिष्ठा।

कछुई जैसे ध्यानद्वारा अपने अण्डोंका पोषण करती है उसी प्रकार श्रीमहाराजजी सङ्कल्प द्वारा अपने सेवकोंका संरक्षण करते थे। आधि-व्याधि बीमारी और अन्तकाल उपस्थित होनेपर भी उनका ध्यान रखते थे। उन्होंने जिसे जो साधन दिया उसे उसीके अनुरूप साध्यरस छकाते थे तथा उसे सब विघ्नोंसे पार कर देते थे। इस प्रकार जो श्रीचरणोंका आश्रय लेता था उसे वे अपना-आप ही दे देते थे।

मुनिलालजी अब गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण' मासिकपत्रके सम्पादकीय विभागमें काम करने लगे थे। वहाँ इन्होंने कई शास्त्रीय ग्रन्थोंके अनुवाद किये। फिर सन् १९४६ ई० की वैशाख पूर्णिमाको इन्होंने रामघाटमें श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें संन्यास ले लिया। श्रीमहाराजजीने इनका नाम 'सनातनदेव' रखा। महाराजजीके आश्रमसे उनके विषयमें जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका और वर्तमान पुस्तकका भी सम्पादन इन्हींके द्वारा हुआ है।

श्रीविश्वबन्धुजी—ये खुर्जा तहसीलके नीमका नामक ग्रामके अधिवासी थे। बाल्यावस्थासे ही बड़े संयमी और साधननिष्ठ थे। अत्यन्त आर्थिक कष्टमें इनका आरम्भिक जीवन व्यतीत हुआ। किन्तु अत्यन्त स्वाभिमानी और तपोनिष्ठ नवयुवक थे। भगवान्‌के सिवा और किसीके आगे झुकना इन्होंने सीखा ही नहीं था। हृदयमें देशसेवा और भगवत्प्राप्ति दोनों ही-की तीव्र लगन थी। असहयोग आन्दोलनमें जेल भी गये और जेलके एकान्तवास (तनहाई) में ही इन्हें भजनके विशेष अनुभव हुए। साधु तो ये स्वयं ही थे। आजीवन अविवाहित रहे। सभी महात्माओंसे मिलते थे। परन्तु पूज्य श्रीमहाराजजीमें इनकी गहरी श्रद्धा और आत्मीयता थी। अलीगढ़से प्रायः सात मील दूर अलहदादपुरमें इन्होंने ऋषिआश्रम नामसे एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की। इनके प्रिय अनुगामी पं० होतृदत्तजी उसके अध्यापक हुए। पण्डितजीके लिए शुद्ध आजीविकाकी व्यवस्था करना और बालकोंको शिक्षाके साथ सदाचारमें प्रवृत्त करना ही इस पाठशालाका उद्देश्य था। अब यह पाठशाला एक हाईस्कूलमें परिणित हो गयी है। प्रायः दो वर्ष हुए श्रीविश्वबन्धुजी भी ब्रह्मलीन हो गये हैं।

इनके सिवा श्रीमहाराजजीके खुरजा-निवासी भक्तोंमें सेठ सूरजमल और उनके भाई श्रीबाबूलालजी जटियाके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये समय-समयपर श्रीचरणोंमें उपस्थित होते रहते थे और उनके आदेशानुसार साधन-भजनमें तत्पर रहते थे। दोनों ही भाई परम आस्तिक आचारनिष्ठ और दानी सज्जन थे। श्रीहीरालालजी सिंहानियाँ तो आपके चरणाश्रित होकर फिर विरक्त ही हो गये। उनके पिता श्रीकन्हैयालालजी और चाचा श्रीगौरीशङ्करजी भी आपके चरणोंमें बहुत श्रद्धा रखते थे। सेठ श्रीगौरीशङ्कर गोइनका मारवाड़ी-समाजमें बड़े शास्त्रज्ञ, सदाचारी और दाननिष्ठ सज्जन माने जाते थे। वे जबतक इस धराधाममें रहे बराबर श्रीमहाराजजीके सम्पर्कमें आते रहे। आयुर्वेदाचार्य पं० नारायणदत्तजी तथा उनके कनिष्ठ भ्राता पं० शङ्करदेवजी भी आपके अनन्य भक्त रहे हैं। श्रीशङ्करदेवजी तो अब भी बराबर वृन्दावन आश्रममें आते रहते हैं और उनकी ओरसे श्रीमहाराजजीको नित्यप्रति उबाले हुए चनोंका भोग लगाकर प्रसादरूपसे वितरण किया जाता है। श्रीमहाराजजीकी अदृष्ट कृपासे ही उनकी पत्नीकी प्रेतबाधा निवृत्ति हो गयी।

भक्तवत्सल भगवान्

श्रीराममोहनशरणजी कहते हैं कि प्रत्येकको अनुभव होता था कि जहाँ-जहाँ वे रहते उनके दिव्य विग्रहसे जो प्रच्छन्न रश्मियाँ निकलती थीं वे वहाँके सम्पूर्ण वातावरणको व्याप्त करके मानव हृदयको बेसुधकर उसमें एक अभूतपूर्व चेतनाका सञ्चार कर रही हैं। ऐसा जान पड़ता था कि इनसे मेरा चिरकालका सम्बन्ध है। ये मेरे अत्यन्त समीपके स्वजन हैं। मेरा हृदय द्रवीभूत होकर मानो उन्हींमें मिला जा रहा है। जब श्रीरामचरितमानसका पाठ होता तो वायुमण्डल एक अद्भुत प्रभावसे व्याप्त रहता था। सबका व्यक्तित्व मानो गाढ़ निद्रामें पड़ जाता था। सभीपर श्रीमहाराजजीके गौरवपूर्ण व्यक्तित्वका आधिपत्य था। उनके मुखोंसे भी मानो वे ही बोल रहे थे। मानसके नायकका स्थान भी मानो उन्हींने ग्रहण कर लिया था। पाठ समाप्त होते ही एकदम पवित्र नीरवता छा जाती थी तथा सबका हृदय गम्भीर शान्त आनन्दमें गोता खाने लगता था।

यदि कोई पाससे श्रीमहाराजजीका निरीक्षण करता तो उसे आश्चर्य होता था कि इनमें किस प्रकार इतने विरोधी भावोंका समावेश हुआ है।

उनमें जो भाव भी दिखायी देता वह इतना पूर्ण और स्वाभाविक होता था कि मानो उसके उद्‌गम स्थान वे ही हैं। प्रकृति उनके सामने आते ही मानो लज्जासे सिर नीचा कर लेती थी। जब प्रातःकाल सत्संगके लिए उनका द्वार खुलता था तो उस समयकी उनकी उन्मादित मुद्रा बड़ी ही अनूठी होती थी। उनके अर्धोन्मीलित नेत्र एक क्षणको खुलकर जब मानो दृश्यका भार सहन न करनेके कारण झप जाते तो उनका वहाँ बैठनेवालोंपर बड़ा संक्रामक प्रभाव पड़ता था। ऐसा कोई पुरुष देखनेमें नहीं आता था जिसकी संकुचित वृत्तियाँ उनके समीप पहुँचनेपर दब न गयी हों और दैवी गुणोंका विकास न हुआ हो। उनके पास पहुँचनेपर ऐसा अनुभव होता था कि मैं कितना पतित और सत्यके सुनहले रास्तेसे दूर हूँ। लोग पश्चात्तापपूर्वक कातर होकर रुदन करते और उनके पाससे नवजीवनकी आशा, आश्रय और मोड़ एवं ज्ञानका प्रकाश लेकर लौटते थे।

एक समयकी बात है, श्रीमहाराजजी रामघाटके सामने गङ्गाजीके दूसरे तटपर थे। श्रीगङ्गाजीकी रजतकान्त रेणुकामें सत्सङ्ग हो रहा था। आपकी दिव्य सन्निधिके प्रभावसे सभीके हृदय शान्त और आनन्दमें गोता लगा रहे थे। पीछेकी ओर चिम्मन नामका एक भंगी बैठा था। वह नियमसे गङ्गास्नान करनेके लिए आया करता था। उसे वहाँ बैठकर एक अद्‌भुत आनन्दकी अनुभूति हुई। वह गाँव जाना भूल गया और उसे अपने तनकी सुधि न रही। उसकी आँखें खुलीं तो देखा कि श्रीमहाराजजी खड़े हुए उसे करुणापूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं और कह रहे हैं, "बेटा! गङ्गास्नान करनेके लिए आया है? भोजन यहीं कर लेना।" वह बेचारा प्रेमकी उस अभूतपूर्व वर्षाको सहन न कर सका। सङ्कोचमिश्रित आनन्दसे उसका रोम-रोम उत्तेजित हो उठा। बाह्यज्ञान होनेपर उसने भूमिपर लोटकर प्रणाम किया और सदाके लिए उनका शरणागत हो गया। अब उसकी आँखोंमें दूसरा ही नशा भरा था। वह गाँव, घर और परिवार भूल गया। उसने सुना कि कल श्रीमहाराजजी रामघाट जायेंगे। रात्रिको नींद उसकी आँखोंसे विदा हो गयी। रातभर वह डेरेके चारों ओर परिक्रमा लगाता रहा। तीन बजेके लगभग अपनी झाड़ू उठायी और मतवाला होकर रास्ता बुहारते हुए रामघाटकी ओर चल दिया। कभी गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेकी धुनमें जल्दी-जल्दी झाड़ू लगाता था। और कभी उन करुणामयकी मूर्त्तिका ध्यान हो आनेसे स्तब्ध

एवं निष्क्रिय हो जाता था। इस विह्वल अवस्थामें ही वह कुटियापर पहुँच गया। वहाँ बागके कोने-कोनेको झाड़ू लगाकर परिष्कृत किया। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तद्वारा परिष्कृत मार्गसे कुटियाकी ओर चले। मार्गमें सराहना करते जाते थे कि देखो कोई झाड़ू लगा गया है। श्रीमहाराजजी प्रायः इतने तेज चलते थे कि साथके लोगोंको दौड़ना पड़ता था। किन्तु इस समय भक्तोंके साथ भगवच्चर्चा करते धीरे-धीरे चल रहे थे, मानो अपने भक्तकी सेवाके एक-एक कणका आस्वादन कर रहे हों।

चिम्मनका श्रीमहाराजजीके प्रति बड़ा गूढ़ प्रेम था। श्रीमहाराजजी एकान्तमें उसके पास चले जाते थे। वह भूमिष्ठ होकर साष्टांग प्रणाम करता था और आप उसके सिरपर अपना चरण रख देते थे। आप कहते, "बेटा! घर नहीं जायेगा?" वह बोलता, "आपको छोड़कर मेरा कौन-सा घर है?" आप कहते, "बेटा! वे भी तो मेरे ही हैं।" चिम्मनने दो काम अपना लिये थे। अँधेरेमें उठकर झाड़ू लगाना और दिन निकलनेपर झाड़ियोंमें बैठकर भजन करना। यदि भोजनके समय वह न आता तो श्रीमहाराजजी कहते, "देखो, चिम्मन कहीं गङ्गाजीमें तो नहीं डूब गया।" तब लोग उसे ढूँढ़कर लाते और भोजन कराते थे। श्रीमहाराजजी सभी प्राणियोंका ऐसा ध्यान रखते थे जैसे पक्षी अपने अण्डोंका रखता है। चिम्मन प्रायः तीस-पैंतीस वर्षोंतक श्रीमहाराजजीकी सेवामें रहा। श्रीवृन्दा-वन-आश्रममें ही वह बीमार पड़ा और श्रीमहाराजजीका ध्यान करते हुए उसने वृन्दावनमें ही अपना नश्वर देह त्यागकर अनन्त जीवनमें प्रवेश किया।

अद्भुत स्नेह—श्रीमहाराजजी स्नेहकी मूर्त्ति थे। नर-नारी, बाल-वृद्ध, पशु-पक्षी सभीके लिए वे अपने हृदयकमलसे पूर्ण प्रेम उड़ेल देते थे। भोले बालकोंमें वे उनसे भी छोटे बन जाते थे। इससे उन्हें ऐसा विश्वास हो जाता था कि हम इनसे जो चाहें वह करा सकते हैं। रामघाटमें एक बालकने आपका कटिवस्त्र पकड़ लिया और बोला, "बाबा! तुम बहुत झूठे हो, तुमने मेरे शङ्करजीके लिए घड़ियाल मंगानेको कहा था, परन्तु अभीतक नहीं मँगाया। मैं तुम्हें जाने नहीं दूंगा।" आप उसे अनुनय-विनय करके मनाने लगे—"बेटा! जरूर मँगा दूंगा।" बालहठ ही जो ठहरा। वह मचल गया, "मैं नहीं छोड़ूंगा। तुम बहुत झूठे हो।" समय बीत रहा था, पर आप बँधे खड़े थे। कितने ही लोग प्रतीक्षा कर

रहे थे। पर आप एक नन्हे-से कोमल हृदयको तोड़कर कैसे जा सकते थे। आपका हृदय तो इस बालकके हृदयके साथ एक हो रहा था।

इसी प्रकार आप गायको देखते तो उसीकी पीठपर लोट जाते। वह भी चुपचाप खड़ी प्रेममें डूबकर समाधिस्थ हो जाती। लोग कहते, "महाराजजी ! यह मार देगी।" तो आप कहते, "क्यों मारेगी, मैं इतना प्यार करता हूँ।" सूअरको देखकर आप कहते, "अरे ! तुझे कोई प्यार नहीं करता ?" आपकी करुणादृष्टि पड़ते ही वह भी खड़ा हो जाता। मानो अपने परम सुहृद्‌के प्रेमका मूक भाषामें उत्तर दे रहा है।

भक्तानुकम्पी—मोहनपुरका रामदास आपका प्रेमी भक्त था। आपको नित्यप्रति कुटियामें बन्द करके जाता था। और वही जबरदस्ती दूध पिलाता था। उसने एक धर्मशाला बनवानेका निश्चय किया था। श्रीमहाराजजीने मना किया कि अब तेरा शरीर अधिक दिन नहीं रहेगा। इस पचड़ेमें मत पड़। परन्तु वह न माना, बनानेमें लग गया। बीचमें ही उसकी मृत्यु हो गयी और वह प्रेत बना। श्रीमहाराजजी जब गङ्गा-स्नान कर रहे थे तब उनका तूँबा उठाकर ले गया। सब चकित होकर देख रहे थे कि क्या बात हुई। श्रीमहाराजजीने कहा, "यह रामदास है, प्रेतयोनिमें यहाँ आया है। प्रार्थना कर रहा है कि छुड़ाओ।" फिर आपने कह दिया, "अच्छा बेटा ! भागवतपाठ बैठाऊँगा, तुम इस योनिसे छूट जाओगे।" श्रीमहाराजजीने भागवतपाठ बैठाया। इससे आपकी कृपासे उसका प्रेतयोनिसे छुटकारा हो गया। गुरु ही प्रत्येक परिस्थितिसे उबारते हैं, हर योनिसे मुक्त करते हैं अतः गुरु दयाके अवतार हैं। गुरु-आज्ञा न माननेपर न जाने क्या दुर्गति हो, अतः सावधान !

आपकी अन्तर्दृष्टि—बुद्धिसागरजीने लिखा है कि कर्णवासमें जयदयालजीके सत्सङ्गमें एक दिन इस प्रसङ्गपर चर्चा चली कि विषय-वासना कैसे दूर हो। इसपर विभिन्न सत्सङ्गियोंने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। अन्तमें श्रीजयदयालजीने श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना की कि आप भी इस विषयमें कुछ कहिये। महाराजजीने कहा, "मैं क्या कहूँ, मुझे तो कुछ मालूम नहीं।" परन्तु जब पुनः प्रार्थना की गयी तो आप बोले—**"राम नाम जब सुमिरन लागा। कहत कबीर विषय सब भागा॥"** इस संक्षिप्त और सारगर्भित उत्तरको सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि आप तो कहते थे कि मैं कुछ नहीं जानता। आपने तो सम्पूर्ण शास्त्रोंका निचोड़ ही कह दिया।

एकबार श्रीमहाराजजी कुछ भक्तोंके साथ हरिद्वारसे गङ्गाकिनारे लौट रहे थे। एक स्थानपर विश्राम किया और सत्सङ्ग होने लगा कि भगवान्‌के दर्शन कैसे हों। इसी विषयपर श्रीमहाराजजीका प्रवचन हो रहा था कि उसी समय माथेपर तिलक लगाये एक नवयुवक पण्डितजी आये और पूछने लगे कि महाराजजी ! मुझे भगवान् कब मिलेंगे ? आपने तुरन्त उत्तर दिया कि तुमको तो सात जन्ममें भी भगवान् नहीं मिल सकते। पण्डितजीने पूछा, "क्यों महाराज ?" महाराजजीने स्पष्ट कह दिया, "परस्त्रीगामीको भगवान् कभी नहीं मिलते।" सुनकर पण्डितजी अवाक् रह गये। जो महापुरुष दूसरोंके गोपनीय प्रसङ्गोंको भी जान लेनेका सामर्थ्य रखता है उसकी बातको अस्वीकार करनेकी सामर्थ्य पण्डितजीमें कहाँ थी। परायी स्त्रियोंसे दूषित सम्बन्ध रखनेवाले और साथ ही भगवान्‌के दर्शन चाहनेवाले पुरुषोंको श्रीमहाराजजीके इस उत्तरसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

एकबार मैंने पूछा, "महाराजजी ! गुरुके पास शरीरसे रहना चाहिए या मनसे ?" आपने कहा, "शरीरसे रहना चाहिए, मनको किसने देखा है।" श्रीमहाराजजी इन दोहोंको प्रायः गाया करते थे—

बालकपनसे हरि भजे, जगसे रहे उदास।
तीरथ हू आशा करें, कब आवे हरिदास॥
साधू ऐसा चाहिए, दुखे दुखावे नाहि।
फूल पात तोड़े नहीं, रहे बगीचे माहि॥

रामघाटके भक्त

बिहारीलाल—ये हलवाईकी दूकान करते थे। अत्यन्त निर्धन थे, परन्तु साथ ही बड़े सन्तोषी थे। पीछे दूकान छोड़कर आश्रममें श्रीमहाराजजीके पुजारी हो गये थे। इनकी वेदान्तमें बड़ी अटूट निष्ठा थी। इनके घरमें एक प्रेत रहता था। जो भी बच्चा होता उसे शैशवकालमें ही समाप्त कर देता था। एकबार श्रीमहाराजजीने इनके घर बैठकर भोजन किया। इससे वह प्रेत चला गया। इसके पश्चात् दो पुत्र हुए शुद्ध बुद्ध मुक्त और नित्यानन्द अविनाशी। ये अभीतक विद्यमान हैं।

ये लिखते हैं कि वैराग्य मूर्त्तिमान् होकर श्रीमहाराजजीके सम्मुख खेलता था। उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र अथवा धन आदिमें उनकी बिलकुल आसक्ति नहीं थी। श्रीगीताजीके 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' के प्रत्यक्ष

उदाहरण थे। चारों ओरसे सब प्रकारकी सामग्रियोंसे घिरे रहनेपर भी सर्वदा निर्लिप्त रहते थे। वे प्राणिमात्रसे प्रेम करते थे। स्वयं चाहे भूखे रह जायँ पर दूसरोंको खिलानेमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था।

ये एक दिन अपनी दूकानके सामने सोये हुए थे। एक बैलने बिगड़कर जोरसे टक्कर मारी। इससे खाटके पायेके साथ इनका घुटना दीवारसे टकरा गया। चोटके कारण ये चीख उठे। पर ज्यों ही उठे इन्हें सामने श्रीमहाराजजी खड़े दिखायी दिये। वे बोले, "तू देहसे अलग हो जा, कुछ भी पीड़ा नहीं होगी।" ये ऐसा ही अनुसन्धान करते सो गये। फिर जब जगे तो पीड़ा बिलकुल नहीं थी। जब श्रीमहाराजजीको यह प्रसङ्ग सुनाया तो उन्होंने कहा, "चुप हो जा।"

इन्हें दस वर्ष तक गठियाकी बीमारीसे अत्यन्त पीड़ा रही। अनेकों चिकित्साएँ कीं, परन्तु ठीक नहीं हुए। श्रीमहाराजजीको इनपर दया आ गयी। उन्होंने कहा, "अच्छा, गङ्गास्नान करना, गठिया-वठिया ठीक हो जायगी।" इन्होंने ऐसा ही किया और इससे गठिया ठीक हो गयी। जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो लड़कोंसे कहा, "मैं नित्यमुक्त हूँ, मेरे शवका दाह मत करना, गङ्गाजीमें प्रवाहित कर देना।" ऐसा ही किया गया।

वंशीधरजी—ये पानकी दूकान करते थे। इनके पुत्र निरञ्जन और ये निरन्तर श्रीचरणोंकी सेवामें रहते थे प्रतिदिन रात्रिको दस बजे आरती करके श्रीमहाराजजीको शयन कराते थे। उसके पश्चात् सब भक्तोंके सहित गाँवमें चले जाते थे। ये बहुत गरीब ब्राह्मण थे और बहुत सन्तोषी भी थे। श्रीमहाराजजीमें इनकी अनन्य भक्ति थी। एक बार इन्होंने दीपावलीके अवसरपर पैसोंका अभाव होनेके कारण अपनी थाली-लोटा बेचकर श्रीमहाराजजीकी कुटियापर दीपक जलाये थे। एक समय श्रीमहाराजजी रामघाटमें नहीं थे, शरत्पूर्णिमाका दिन था। पण्डितजी खीर लेकर कुटियापर गये और रोते रहे। क्या आश्चर्य हुआ कि श्रीमहाराजजी प्रकट हुए उन्होंने भोग लगाया और कहा कि किसीसे कहना मत। उस समय यह उत्सव कर्णवासमें हुआ था। वहाँ जो लोग श्रीमहाराजजीके पास गये थे, उन्होंने उत्सवकी प्रशंसा की। परन्तु वंशीधरजी चुप रहे।

एक बार श्रीमहाराजजी रामघाटसे जानेवाले थे। आपने आग्रह किया कि मत जाइये। श्रीमहाराजजीने देख लिया कि इनका शरीर नहीं रहेगा। इसलिए रुक गये। जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तो कहा कि

हाथी लाओ, मैं महाराजजीके पास चलूंगा। फिर मानो हाथीपर चढ़नेके लिए टाँग उठायी। उसी समय शरीर शान्त हो गया। बाबू रामसहायजी ने श्रीमहाराजजीके पास जाकर कहा कि वंशीधरका शरीर शान्त हो गया है। श्रीमहाराजजीने कहा, "वह तो यहाँ हाथीपर आया था और मिलकर गया है।" बाबूजीने इस रहस्यके विषयमें आपसे बहुत पूछा परन्तु आपने हँसकर टाल दिया।

प्यारेलाल वैद्य, टीकाराम और गंगासहायजी—ये तीनों पहले क्रान्तिकारी थे, फिर श्रीमहाराजजीके परामर्शसे काँग्रेसी हो गये। प्यारेलालजी वैद्यको आपने ज्ञाननिष्ठाका स्वारस्य इस श्लोक द्वारा बताया था—

इतो न किञ्चित्परतो न किञ्चिद्यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित् ।।[1]

इसी प्रकार भगवान्के भक्तवात्सल्यका सार इस श्लोक द्वारा बताया था—

क्वेदं वपुःक्वच वयः सुकुमारमेतत् क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते ।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमंग यदि मे समये विलम्बः ।।[2]

अन्य उल्लेखनीय भक्तोंमें पं० जयगोपाल और शिवनारायणजी थे। श्रीजयगोपालजीका कण्ठ बहुत सुरीला था। ये श्रीमहाराजजीको पद सुनाया करते थे। शिवनारायणजी भी अच्छे कर्मकाण्डी और प्रेमी भक्त थे। ये खँडसारका काम करते थे। वनखण्डी महादेवके पुजारी भगवतीप्रसाद और उनके पुत्र गौरीशङ्कर, बाबूलाल और रूपकिशोर सभी चरणोंके अनन्याश्रित भक्त थे। इनमें अब केवल रूपकिशोर ही विद्यमान हैं। एक अनन्य भक्त हैं पं० गंगाप्रसाद। पहले इनका श्रीरामचरितमानसमें बहुत प्रेम था और भक्तिनिष्ठा थी, किन्तु अब पक्के वेदान्ती हैं। मास्टर श्यामलालजी भी अच्छे प्रेमी भक्त थे। उन्होंने वनखण्डी महादेवके पास साधु-सन्तोंके लिए एक सुन्दर पक्की कुटी बनवायी है।

---

१. न इधर कुछ है न उस ओर कुछ है, जहाँ-जहाँ भी जाता हूँ वहाँ कुछ नहीं है। विचार करनेपर जगत् कुछ भी नहीं देखता। एक आत्मचैतन्यके सिवा और कुछ नहीं है।

२. (भगवान् नृसिंह प्रह्लादजीसे कहते हैं—) कहाँ तो यह सुकुमार शरीर और आयु तथा कहाँ उस उद्दण्डकी तेरे प्रति की हुई वे कठोर यातनाएँ। यह तो एक अपूर्व बात ही देखनेको मिली! वत्स! मुझे आनेमें जो देरी हुई उसे तुम क्षमा करना।

बगीचीवाले बाबूरामजी और उनके पुत्र नानकचन्द भी आपके परम भक्त हैं। रामघाट आश्रमके निर्माण और व्यवस्थामें इनका पूर्ण सहयोग रहा है।

श्रीबाईजी—ये एक बंगाली विरक्त महिला थीं। परमहंस रामकृष्ण की पत्नी श्रीशारदामणिजीकी शिष्या थीं। स्वयं सात-सात दिनतक समाधिस्थ रहती थीं। ये श्रीमहाराजजीके दर्शनार्थ ही रामघाट आयी थीं। उनसे पूछा गया कि आपने किस साधनसे यह स्थिति प्राप्त की है, तो बोलीं—**'गुरुमूर्त्तिः सदा ध्यानं गुरुमन्त्रं सदा जपेत्।'**

अजातिभिक्षु स्वामी श्रीउग्रानन्दजी—पं० भूदेवजी शर्मा कहते थे कि अच्युति मुनिजीका-सा विवेक, स्वामी उग्रानन्दजीका-सा वैराग्य और उड़ियाबाबाकी-सी उपरति कहीं देखनेमें नहीं आयी। इन मस्ताने वैराग्यकी मूर्त्ति श्रीउग्रानन्दजी और उपरतिकी मूर्त्ति श्रीमहाराजजीका मिलन सबसे पहले रामघाटमें ही हुआ था। यहाँ स्वाभाविक ही इन वैराग्यरसमूर्त्तिका कुछ परिचय प्राप्त करनेकी जिज्ञासा होगी। इनके जीवनकी एक विशेषता यह थी कि इन्होंने आरम्भसे जो रहनी स्वीकार-की उसकी उत्तरोत्तर उसी दिशामें प्रगति होती रही। सन्त श्रीहीरा-दासजी, स्वामी उग्रानन्दजी और स्वामी शिवानन्दजी—इन तीनोंने यह प्रतिज्ञा की थी कि हम अजातिभिक्षु रहेंगे। इस रहनीमें श्रीउग्रानन्दजी बहुत चमके। ये लक्ष्मणझूलासे काशी तक पैदल विचरते थे, सर्वदा वृक्षोंके तले ही रहते थे तथा केवल एक गुदड़ी और मिट्टीकी हाँडी रखते थे। इनका लक्ष्य था—

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

सर्वदा इस वेदान्त वाक्यकी गर्जना करते थे—'खुद खुदा है, न हमसे जुदा है।' यह भी गाते रहते थे—

'नुक्तेके हेर-फेरसे खुदासे जुदा हुआ।
नुक्ता न देखा गौरसे बस खुद खुदा हुआ॥'
'खुदा खान-ए-बदोशोंकी करे खुद कार सामानी।
नया मञ्जिल नया बिस्तर नया दाना नया पानी॥'

ये सदा एकान्तमें रहते थे। निष्किञ्चिनता ही इनका धन थी। और सादगी ही सभ्यता थी। ऐसा था आपका जीवन। एकबार इनकी गर्दन

घूमनी बन्द हो गयी। उस समय ये गाँवमें थे। वहाँके भक्तोंने प्रार्थना की कि हम एक ऐसा शीशा लायेंगे जिसे दिखानेपर गर्दन सहज हीमें हिलने-डुलने लगेगी। आप कृपया यहीं निवास करें। वे तो प्रार्थना करके शीशा लेने चले गये, परन्तु आपने प्रतीक्षा नहीं की तुरन्त अनूपशहर चले आये और मस्तीमें विचरते आगे बढ़ गये।

एक बार भृगुक्षेत्रमें श्रीबंगाली बाबाजीने, जिनके विषयमें आगे लिखा जायगा, इन्हें संग्रहणीका कष्ट देखकर एक मास वहाँ रुककर तक्रसेवन करनेकी सलाह दी। परन्तु आप शरीर और स्वास्थ्यकी परवाह न करके काशीकी ओर चले गये। ऐसे थे ये बेख्वाहिश बेपरवाह। इनकी भिक्षामें जो भी जो कुछ डाल देता उसे ही स्वीकार कर लेते थे। सँपेरे साँप पकाकर डाल गये। उसे खानेसे मुँहमें छाले पड़ गये। शरीर भी कुछ फट गया। परन्तु ये अपने नियममें अटल रहे। शरीर और संसारकी इन्हें कोई परवाह नहीं थी।

अपने प्रति इतने कठोर होनेपर भी दूसरोंके प्रति ये बड़े कोमल थे। यही इनके वैराग्यका स्वरूप था। एक मुसलमान वृद्धा माता इन्हें सर्वदा भिक्षा देती थी। उसने एक दिन भिक्षा दी और उदास खड़ी रही। आपने उसको उदास देखकर उसका कारण पूछा। उसने कहा, "आज हमारे यहाँ लड़कीका विवाह है। बारात पेड़के नीचे बैठी हुई है। ऊपर बादल मँडरा रहे हैं। यदि वर्षा आ गयी तो सब किया-कराया किरकिरा हो जायगा।" आपने कहा, "डरो मत, मैं यहाँ हूँ। जाओ विवाह करो, कुछ नहीं होगा।" इसी प्रकार एक कुष्ठीकी पत्नी दुखी होकर आयी। आपने उसका लाया हुआ दूध पिया और उसका कुष्ठ ठीक हो गया। ऐसे आप दयाकी मूर्त्ति भी थे।

स्वयं यद्यपि जाति-पाँतिका भेद नहीं मानते थे तथापि दूसरोंसे वर्णाश्रम धर्मका पालन करानेमें सतर्क रहते थे। लोग इनके पास जो प्रसाद लाते थे उसे आप बिलकुल नहीं छूते थे। ब्राह्मणद्वारा आगन्तुक भक्तोंको बँटवा देते थे। इन्हें वर्णसंकरता बिलकुल अभीष्ट नहीं थी। किसी ब्राह्मणने इनकी भिक्षामें मद्य डाल दी। आपने उसे तुरन्त फटकारा, "अरे! सात्त्विक ब्राह्मणवंशमें जन्म लेकर तुमने यह क्या किया। जिनका खान-पान स्वभावसे तमोगुणी है उनकी बात दूसरी है, तुम तो ब्राह्मण हो।" इस प्रकार शिक्षा-दीक्षामें शास्त्रमर्यादाका ध्यान रखते थे।

आप जङ्गलोंमें पेड़ोंके नीचे तो रहते ही थे। एक बार पासके एक गाँवमें चोरी हुई। गाँववाले चोरोंका पीछा करते दौड़ते चले आये। आप घोर एकान्तमें एक वृक्षके तले बैठे थे। ग्रामीणोंने अँधेरेमें पूरा ध्यान नहीं दिया। चोर समझकर कहा, "देखो, चोरी करके अब बाबाजीका स्वाँग बनाकर बैठा है।" ऐसा कहकर मार लगायी। सबेरा होनेपर मालूम हुआ कि ये तो उग्रानन्द बाबा हैं। इतनेमें दूसरे गाँववाले, जो आपमें परम श्रद्धा रखते थे, आये और उन गाँववालोंको मारनेके लिए दौड़े। परन्तु आपने उन्हें रोका और शरीर दिखाकर कहा, "इस बदमाशका प्रारब्ध ऐसा ही था; खबरदार, किसीसे कुछ मत कहना।" फिर तो सारे गाँवने आपसे रोकर क्षमाप्रार्थना की।

एक बार कुछ गाँववालोंने ठहरनेके लिए इन्हें ऐसा स्थान बता दिया जहाँ शेर आता था। रात्रिमें शेर आया, तब आपने उससे कहा, "भाई! दो शेर एक जगह नहीं ठहरते। कल मैं नहीं रहूँगा, आज तुम चले जाओ।" बस, वह चला गया।

इन वैराग्यकेशरीसे मिलनेपर श्रीमहाराजजीने प्रश्न किया, "सन्त कौन है?" आप बोले, "एक ओर यज्ञ हो रहा हो और दूसरी ओर गोहत्या हो रही हो, उस अवस्थामें जिसका उस सात्त्विक यज्ञसे राग नहीं है और अत्यन्त तमोगुणी गोहत्यासे द्वेष नहीं है, ऐसा समदर्शी ही सच्चा सन्त है।"

अन्तिम समयमें इन्हें संग्रहणी हुई थी और नाभिके ऊपर फोड़ा हो गया था। भक्तोंने चिकित्साके लिए लखनऊ ले जानेका आग्रह किया। परन्तु आपने मस्तीसे कहा, "हमें क्या चिन्ता, जिसका शरीर है वह चिन्ता करेगा। तुम कोई दवा-दारू मत करो। आपके जीवनका सार है—"**वैराग्यमेवाभयम्।**" शरीरसे वैराग्य ही परम वैराग्यकी कुञ्जी है। वह मिलता है ध्यानिष्ठासे। उनके वैराग्यको सन्तजन आजतक याद करते हैं। रुड़कीसे पाँच मील दक्षिणकी ओर नहरके किनारे मँगलौरमें इनकी समाधि है।

नरवर-विद्यालयमें

आजका समाज ऐतिहासिक दृष्टिकोणोंसे आक्रान्त है, नैमित्तिक विचारधाराओंमें डूबा हुआ है। वह अस्थियोंके आधारसे उनके कालकी खोजमें संलग्न है। खेद है कि उन्हीं मापदण्डोंसे वह मापना चाहता है इन

नित्यावतार सन्तोंको। जैसे आत्मदेव अनादि-अनन्तकालसे अपनी अनादि-अनन्त महिमामें जगमगाते हैं, अगुण-सगुण और आविर्भाव-तिरोभावके भेदसे रहित स्वयं सर्वका ताना-बाना होकर अपने अविकृत उल्लासमें अनन्त सृष्टिरूपसे आविर्भूत हैं, वैसे ही इस रहस्यमय रसोल्लासके मर्मको उद्घाटित करनेके लिए स्वयं सत्य ही सन्तरूपसे प्रकट होता है। अन्धोंको आँखें देनेके लिए अनन्त चैतन्य ही सन्त चैतन्यरूपसे प्रकट होता है। संसार मृगतृष्णासे भ्रमित पिपासुओंको नित्य तृप्ति देनेवाला आनन्दरस लेकर स्वयं आनन्दरस ही मानो धन्वन्तरि रूप धारणकर आया है। इसका कोई नैमित्तिक कारण नहीं है, यह उसकी अहैतुकी कृपा ही है। काल भगवान्‌की यह विशेषता है, उस अनन्त ब्रह्मका यह सगुण सौन्दर्य है, उस रससमुद्रका यह माधुर्य है, उस स्वमहिमाकी यह सौरभ है, उस आत्मसारका यह आविर्भूत रससार है और उस अनन्त आनन्दका यह अद्भुत प्राकट्य है। ये ही हैं अहैतुक कृपासिन्धु हमारे श्रीमहाराजजी। वे समदृष्टिके सतत भण्डार हैं, रसप्रदाता राजीवलोचन हैं, अभयदानदाता शरणागतवत्सल हैं, स्वर्गापवर्गप्रदायिनी जगदम्बा हैं, भारतके मूर्त्तिमान् सौभाग्य हैं, आर्य वैदिक संस्कृतिके मूर्त्तिमान् सार हैं, असंगताकी सर्वतोमुखी अधिकृत व्याख्या हैं और महत् प्रवृत्तिमें भी परमनिंवृत्तिरूप नित्यस्वरूपकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है।

पण्डितोंके साथ समागम—इस मधुमय पुरुषको श्रुति, युक्ति और प्रमाणोंसे सर्वतोभावेन जाँचकर परम विद्वान् वेदपाठी श्रीहीरानन्दजी ब्रह्मचारीने साङ्गवेदविद्यालय नरवरके संस्थापक बालब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजीसे आपकी चर्चा की। आपने बताया कि रामघाटमें श्रीउड़ियाबाबाजी पधारे हैं। उनमें यतिके ये श्रुत्युक्त सभी लक्षण पाये जाते हैं—'**निर्विकल्प समाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति। स संन्यासी स युक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः स ब्राह्मण इति।**'

यह सुनकर पं० जीवनदत्तजी अन्य कुछ विद्वानोंके साथ आपके दर्शनार्थ रामघाट आये और आपमें सुननेसे भी अधिक साधनसम्पत्ति पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि नाना प्रकारके पुण्य-पापमय कर्मकलापोंसे प्राप्त शुभाशुभ फलोंको भोगनेके लिए उत्पन्न हुए जीवोंको कल्याणपथपर अग्रसर करनेके लिए भगवदिच्छासे समय-समयपर इस कर्मभूमि भारतमें सन्तजन अवतीर्ण होते रहते हैं। उनको एक क्षणकी सङ्गति भी इस भयङ्कर भवसागरकी उत्तुङ्ग तरङ्ग-

मालाओंमें पड़कर डूबते-उतरते मानवसमाजको पार करनेके लिए सुदृढ़ नौकाके समान होती है—**क्षणमपि सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।**' ऐसे महापुरुषोंके सङ्गसे होनेवाले परम श्रेयका मूल्य आँका नहीं जा सकता। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी ऐसे ही जगदुद्धारक महापुरुषोंकी श्रेणीमें हैं। अपने अद्‌भुत और अभूतपूर्व गुणगणके कारण वे सर्वप्रिय हो गये हैं। आपने उनके अगाध गाम्भीर्ययुक्त व्यक्तित्वको श्रीमद्‌भागवतके इस श्लोकद्वारा चित्रित किया है—

'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥'

अर्थात् शास्त्रोंमें महापुरुषोंकी सेवाको मुक्तिका द्वार और स्त्री-सङ्गी कामियों-के सङ्गको नरकका द्वार बताया है। और महापुरुष तो वे ही हैं जो समान-चित्त, परम शान्त, क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचार सम्पन्न हैं।

पण्डितजी कहते हैं—"उन दिनों आप श्रीमद्भागवतके इन भगवद्वचनों के अनुसार अधिकार भेदसे कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों ही साधनोंका उपदेश करते थे—

'योगास्त्रतो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
नानिर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।'

अर्थात् मनुष्योंके श्रेयःसाधनकी इच्छासे मैंने तीन प्रकारके योगोंका वर्णन किया है—ज्ञान, कर्म और भक्ति। इनके सिवा और कहीं कोई मार्ग नहीं है। इनमें-से ज्ञान विरक्त पुरुषोंके लिए है, जो कर्मोंका त्याग कर देनेवाले होते हैं। किन्तु जिनका चित्त कर्मोंसे उपरत नहीं है और जो भोगोंकी कामना वाले हैं उनके लिए कर्मयोग है। तथा जो न तो भोगोंसे उपरत हैं और न उनमें अत्यन्त आसक्त हैं उन्हें भक्तियोग सफलता प्रदान कर सकता है।

आपके परिमित सरल और सरस शब्दोंमें ज्ञानकी बड़ी ठोस सामग्री भरी रहती थी। एकबार कुछ अँग्रेजी पढ़े पदाधिकारियोंने कहा कि आप

बड़े सिद्ध सुने जाते हैं, कोई चमत्कार दिखाइये। तब आप बोले, इससे अधिक और क्या चमत्कार दिखाऊँ कि मेरा शरीर जड़ होनेपर भी बोलता है, सुनता है, देखता है, चलता है, और नाना प्रकारके काम करता है। इस प्रकार स्वाभाविक, सरल, परिमित शब्दों द्वारा शास्त्रीय दुरूह अर्थके विवेचनकी आपकी बड़ी सुन्दर शैली थी।"

श्रीमहाराजजीसे आपका गहरा सम्बन्ध हो गया। यह सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत ही नहीं हुआ, सारा विद्यालय ही आपसे प्रेम मानने लगा। रामघाट और कर्णवासमें भी विद्यार्थी और अध्यापक आपके पास आते रहते थे। और आपसे आतिथ्यसत्कार पाते थे। इतना ही नहीं, ये लोग आपसे मिलने आते तो वेदमन्त्रों द्वारा षोडशोपचार पूजन भी करते थे। मैं जब-जब श्रीब्रह्मचारीजी महाराजके दर्शनार्थ गया आप देखते ही प्रफुल्लित हो जाते थे, और कहते थे, "ब्रह्मचारी! यह विद्यालय बाबाका ही है। देखो, यह कमरा यह स्थान बाबाकी ही यादगार है। उन्हींके भक्तोंने इन्हें बनवाया है। गणेशीलाल आदि उन्हींके भक्त हजारों रुपयोंकी सहायता करते हैं। खुर्जा निवासी बाबूलाल इसके संरक्षणका भार वहन करते हैं। यह सब बाबाकी ही पुण्य स्मृति है।"

श्रीमहाराजजी भी नरवरके विद्यार्थियोंको अपना ही समझते थे। उनमें उनका पूर्णतया अपनत्व था। कर्णवासके यज्ञमें काशीके धुरन्धर विद्वान् आये थे। उस समय महाराजजीने कुटियासे निकलते हुए कहा, "देख आज हमारे नरवरके विद्यार्थी अपने वेदपाठसे काशीके विद्वानोंको चकित कर देंगे।" जब सस्वर वेदपाठ आरम्भ हुआ, तब नरवरके विद्यार्थियोंका पाठ ऐसा सुन्दर हुआ कि काशीके वेदपाठी दंग रह गये। सभी विद्वद्मण्डली प्रफुल्लित हो गयी। श्रीमहाराजजी भी बड़े प्रसन्न हुए।

नरवर ही नहीं, आपके द्वारा और भी कई पाठशालाओंको सहायता प्राप्त होती थी। आप विद्यार्थियोंका माताके समान ध्यान रखते थे। अभी तक ऐसे विद्यार्थी मिलते हैं जिनके पास आपका दिया हुआ कम्बल है। रामघाटकी गङ्गा भागीरथी वेदाङ्ग-पाठशाला, मोतीरामजीकी पाठशाला, अनूपशहरकी सरस्वती संस्कृत-पाठशाला और कर्णवासकी श्रीपूर्णानन्द-पाठशाला आप हीके सहयोगसे चल रही थीं।

ब्रह्मचारीजीकी निःस्पृहता—बाल ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज और श्रीमहाराजजीमें जो पारस्परिक प्रेम था उसे कौन आँक सकता है। श्रीब्रह्मचारीजी पहले आर्यसमाजी थे, पीछे सनातनधर्मका

व्यापक दृष्टिकोण देखकर आपने उसे स्वीकार कर लिया। आप सनातन वैदिक धर्मके स्तम्भ थे। वेद और देववाणीकी अक्षुण्ण सेवाके लिये ही आपने साङ्गवेदविद्यालयकी स्थापना की थी। उसके द्वार पर लिखा है— **'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।'** आप स्वभावसे ही बड़े त्यागी और निःस्पृह थे। इनके प्रेमी एक जमींदारकी माताने अपने पुत्रसे कहा कि, "बेटा! मैंने लाख रुपये नहीं देखे। इनका ढेर कितना बड़ा होता है—यह मैं देखना चाहती हूँ।" उसने माँके सामने लाख रुपयोंका ढेर लगा दिया। फिर कहा, "अब इन्हें क्या रखना है, तुम इन्हें ब्रह्मचारीजीको दान कर दो।" और ब्रह्मचारीजीसे अपनी दानशीलताका गौरव प्रकट करते हुए कहा, "महाराजजी! आपने ऐसा दानी नहीं देखा होगा।" तब ब्रह्मचारीजीने यह कहकर कि मैंने ऐसा दानी नहीं देखा तो तुमने ऐसा त्यागी भी नहीं देखा होगा—वे रुपये अस्वीकार कर दिये।

आपकी इष्ट गायत्री थी। आप यावज्जीवन प्रतिदिन एक सहस्र गायत्री जप करते रहे। एकबार अनूपशहरमें श्रीरामचरितमानसका अखण्ड पाठ हो रहा था। उसके समीप ही आपके ठहरनेकी व्यवस्था की गयी। तब आपने कहा कि रामायण इतनी मधुर है कि बार-बार उसकी ओर चित्त जायगा। इसलिये जबतक मेरा गायत्री-जप पूर्ण न हो उतनी देरके लिए किसी अन्य स्थानकी व्यवस्था कर दो। वे जब गङ्गा-स्नानको जाते थे तब यह श्लोक बोला करते थे—

नराकारं भजन्त्येके निराकारं तथापरे।
वयं तु संसारतप्तानां नीराकारं भजामहे॥१॥

आप स्त्रियोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते थे और अपने विद्यार्थियोंको इस श्लोक द्वारा सर्वदा सतर्क करते रहते थे—**'विश्वामित्रपाराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनास्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैवमोहं गताः।'**२

---

१. कोई तो मनुष्याकार भगवान्‌का भजन करते हैं और कोई निराकार भगवान्‌का · परन्तु हम तो संसारतापसे तपे हुए पुरुषोंके लिए जो नीराकार भगवान् गङ्गाजी हैं उनका भजन करते हैं।

२. विश्वामित्र और पराशर आदि पत्ते और जलसे निर्वाह करनेवाले मुनिजन भी स्त्रीके मनोहर मुखकमलको देखकर मोहग्रस्त हो गये।

अपमानमें अक्षुब्ध—श्रीब्रह्मचारीजी बड़े निष्ठावान्, तपस्वी, सरल और सर्वहितकारी महापुरुष थे। नरवर विद्वानोंका गढ़ था। वहींपर षड्दर्शनाचार्य दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी भी रहते थे। ये सुप्रसिद्ध सन्त श्रीकरपात्रीजी महाराजके विद्यागुरु थे। श्रीमहाराजजीसे उनका बहुत प्रेम था। परन्तु पूज्य श्रीहरिबाबाजीके संकीर्त्तनमें सहयोग देनेके कारण आपसे उनका कुछ मतभेद हो गया और वे भरी सभामें श्रीमहाराजजीकी समालोचना करने लगे। एकबार श्रीमहाराजजी पाठशालामें पधारे। साथमें केवल आनन्द ब्रह्मचारी थे, और भक्तोंको पीछे छोड़ दिया था। वहाँ पण्डित स्वामी विश्वेश्वराश्रमजीको 'ॐ हरिः' कहकर आप नीचे बैठ गये। स्वामीजी स्वयं तख्तपर बैठे थे। उन्होंने अपनी ओरसे कोई आदर या प्रेम प्रदर्शित न करके बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें कहकर महाराजजीको फटकारना आरम्भ किया—'कीर्त्तन कराता है, शाङ्कर सम्प्रदायका साधु होकर उसके विपरीत आचरणका पोषक बनता है। रासमें लड़के नचाता है।' इत्यादि। आप अपनी स्वाभाविकी शाम्भवी मुद्रासे शान्त बैठे रहे। आपके शान्त रहनेसे वे और भी चिढ़ गये तथा आपको कुटियासे बाहर निकाल दिया। तब आप पुनः 'ॐ हरिः' कहकर रामघाट चले आये। इस समय पं० जीवनदत्तजी बाहर गये हुए थे। लौटने पर उन्हें सब हाल मालूम हुआ तो वे रामघाट आये और बोले, "महाराजजी! स्वामीजीसे जो जैसा कह देता है वे वैसा ही मान लेते हैं। उनका स्वभाव तो आप जानते ही हैं। उनके कथनका आप बुरा न मानें, क्रोध न करें।" आपने कहा, "पण्डितजी! वे तो ठीक ही कहते हैं। मैं भ्रष्ट हो गया हूँ। क्रोध तो मुझे किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, जिस दिन मुझे क्रोध आ जायगा उस दिन मेरा शरीर नहीं रहेगा।"

ऐसी ही एक अन्य घटना भी है। श्रीमहाराजजी रामघाटमें थे। एक दिन नरवरसे कुछ विद्यार्थियोंके साथ काशीके एक नैयायिक विद्वान् आये। वे कहने लगे, "स्वामीजी! आप तो बड़े सिद्ध महात्मा हैं। बहुत दिनोंसे मेरे मनमें एक शङ्का है। कई विद्वानोंसे बात हुई परन्तु उसका समाधान नहीं हुआ। मेरा ऐसा विचार है कि या तो ईश्वर है नहीं और है तो अत्यन्त भोगी और प्रशंसाप्रिय है। इसीसे उसके भक्त उसे छप्पन भोग लगाते हैं और तरह-तरहके स्तोत्रोंसे उसकी स्तुति करते हैं।" श्रीमहाराजजीने कहा, "पण्डितजी! आप तो बहुत बड़े

विद्वान् हैं, यदि आपकी शङ्का दूर नहीं हुई तो किसीकी नहीं होगी। मैं आपका क्या समाधान करूँगा। मैं तो यहाँ गाँवके अपढ़ लोगोंसे बातकर लेता हूँ।" तब विश्वबन्धुजी बोले, "यदि महाराजजीकी आज्ञा हो तो मैं पण्डितजीकी शङ्काका उत्तर दे दूँ।" पण्डितजी बोले, "हाँ, हाँ, आप ही कहिये।" विश्वबन्धुजीने कहा, "योगदर्शनमें ईश्वर-प्रणिधानको समाधि-सिद्धिका साधन बताया है—**'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'** और ईश्वर का लक्षण किया है, **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'** अतः ईश्वरका अपना तो कोई प्रयोजन है ही नहीं। भक्त जो ईश्वरकी स्तुति-पूजादि करते हैं उनसे तो उन्हींके पापोंका क्षय होता है और उसके परिणाम में समाधिकी प्राप्ति होनेसे विवेकख्याति द्वारा उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः ईश्वरप्रणिधानसे ईश्वरका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता उसके भक्तका ही कल्याण होता है।"

विश्वबन्धुजीके इस कथनकी पण्डितजीने प्रशंसा की। फिर श्रीमहा-राजजीसे बोले, "मैं एक विशेष कार्यसे आया हूँ। आपसे एकान्तमें कुछ बातें करनी हैं। श्रीमहाराजजी पण्डितजीको लेकर एकान्तमें चले गये। वहाँ वे बोले, "स्वामीजो ! आपकी बड़ी निन्दा हो रही है। आप शांकर सम्प्र-दायके साधु होकर वैष्णवोंके सङ्कीर्तनमें सहयोग देते हैं। यह तो ठीक नहीं है।" इसपर श्रीमहाराजजीने कहा, "पण्डितजी ! आपने लोगोंसे मेरी जितनी निन्दा सुनी है उससे तो मैं बहुत अधिक निन्दनीय हूँ। बेचारे लोग तो मेरे सब दोषोंको जानते नहीं हैं। परन्तु मैं भगवन्नामकीर्तनमें कोई दोष नहीं समझता। अतः उसके साथ तो मेरा सहयोग रहेगा ही।" बस; फिर पण्डितजी विफल मनोरथ होकर चले गये।

ऐसी ही घटना कर्णवासमें भी हुई। वहाँ श्रीलम्बे नारायण स्वामीका भण्डारा हो रहा था। उसमें इस प्रान्तके सभी बड़े-बड़े महात्मा आये हुए थे। नरवर पाठशालाके सभी विद्यार्थी और अध्यापक उपस्थित थे। सायङ्कालमें बहुत बड़ी सभा लगी हुई थी। उस समय पण्डित स्वामीने हरिनामसङ्कीर्त्तनको लेकर सबके सामने श्रीमहाराजजीसे अनेकों न कहने योग्य बातें कहीं। परन्तु श्रीमहाराजजीके चित्तपर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। हम लोगोंको क्षुब्ध देखकर आपने अपनी कुटियामें बुला लिया और पूछा कि तुम सबने मुझको क्या समझ रखा है। सब चुप रहे, तब आप बोले, "बेटा ! इस देहकी तो हम भी निन्दा करते हैं। यदि वे आत्माकी निन्दा करते हों तब तो वह उनकी ही निन्दा

हुई। इसलिए तुम लोगोंको क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।" श्रीमहाराजजीकी स्वरूप-दृष्टि थी। उनका जिसके साथ जैसा सम्बन्ध होता था उसे अन्ततक निभाते थे। समदर्शनमें विषय-दर्शनके लिए स्थान नहीं है। अतः सन्त-व्यवहारमें संसारका नाम-निशान भी नहीं रहता। इसीसे जिस समय पंडित स्वामीजीका नरवरमें निर्वाण हुआ उस समय प्रातःकाल ही आप उनके पास पहुँच गये। आप उन दिनों नरवरसे चार कोशकी दूरीपर थे। पता नहीं किस सूचनाके आधारपर आप रात्रिमें किस समय चलकर इतनी दूर नरवर आ गये। श्री पण्डित स्वामीका देहावसान होनेपर हमने देखा कि आपके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। आप गद्गद कण्ठसे कह रहे थे कि आज हमारी संन्यासी मण्डलीका विद्याभास्कर अस्त हो गया। फिर आपके ही तत्त्वावधानमें आपके ही संकल्पसे ब्रह्मीभूत पण्डित स्वामीका निर्वाणोत्सव बड़ी धूम-धामसे हुआ। उस उत्सवमें श्रीकरपात्री-जीने शास्त्रीय-अशास्त्रीय कीर्तनकी बात लेकर कटाक्ष किया। परन्तु आप तो जैसे-जैसे कटाक्ष हुआ वैसे-वैसे ही गङ्गाजलकी भाँति शीतल होते गये। रञ्चकमात्र भी मुखकान्ति नहीं बिगड़ी। पण्डित जीवनदत्तजी बहुत दुखी हुए। सबको दुःख और क्षोभ हुआ। परन्तु आपने सबको शान्त किया और करपात्रीजीसे स्वयं मिलकर आगेका कार्यक्रम निश्चित किया।

अजातशत्रु—इसी प्रकार जब वृन्दावनमें श्रीकृष्णाश्रमके उद्घाटनका उत्सव हो रहा था, श्रीकरपात्रीजी वृन्दावनमें ही थे उन्हें उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिए निमन्त्रित किया गया। उसपर श्रीकरपात्रीजीने कहा कि यदि बाबा मेरी दो बातें स्वीकार करें तो मैं उत्सवमें सम्मिलित हो सकता हूँ। (१) श्रीहरिबाबाजी सङ्कीर्तनके आरम्भमें ओंकारकी ध्वनि न करें, क्योंकि स्त्री और शूद्रोंको ओंकारके उच्चारणका अधिकार नहीं है और संकीर्तनमें तो सभी सम्मिलित होते हैं। (२) कथा या प्रवचनके समय वक्ताके आसन पर कोई ब्रह्मणेतर न बैठें।

उनका यह सन्देश पं० श्रीलालजी याज्ञिक लाये। ये ही उत्सवके मञ्चसञ्चालक थे। उनसे श्रीमहाराजजीने कहा, "भैया! सन्तके मुखसे जो कुछ निकलता है उसे रोकनेमें कौन समर्थ है। श्रीहरिबाबाजी जो भी करते हैं वह सब उचित ही है। जहाँतक आसनपर बैठनेकी बात है, सो मेरे विचारसे तो सभी सन्त पूजनीय हैं किसे छोटा या बड़ा कहें?

हमारे यहाँ तो सभी सन्त एक ही आसनपर बैठकर उपदेश करेंगे। करपात्री-से कहना कि मैंने तो उन्हें बालककी दृष्टिसे बुलाया था, न कि आचार्यकी दृष्टिसे। वे कितने ही बड़े हों, मेरी दृष्टिमें तो आज भी वही बालक हैं जो नरवर पाठशालासे मेरे पास आते थे।" पण्डित श्रीलालजीसे यह उत्तर सुनकर श्रीकरपात्रीजीने कहा कि मैं बाबाके लिए तो बालक ही हूँ, परन्तु मुझे शास्त्रकी मर्यादाका पालन तो करना ही होगा। अतः वे उत्सवमें सम्मिलित नहीं हुए।

परन्तु आप तो अजातशत्रु थे, आपके चित्तपर उनके निमन्त्रण स्वीकार न करनेसे कोई मलिनता नहीं हुई। दिल्लीका महायज्ञ समाप्त होनेके पश्चात् जब श्रीकरपात्रीजी वृन्दावन पधारे तो आप दण्डिस्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीको साथ लेकर उनसे मिलनेके लिए रमणरेती गये। वे उस समय कहीं बाहर चले गये थे। पाँच-सात दिन पश्चात् लौटे। तब आप पुनः रमणरेती जाकर उनसे मिले। रूँठे बालकको मनाना बड़ोंका काम ही है। आपके मिलते ही श्रीकरपात्रीजी पानी-पानी हो गये और फिर आपके साथ आश्रममें भी चले आये। तबसे उनका आश्रममें आपके पास आना-जाना, परस्पर सत्सङ्ग-परामर्श करना और प्रवचन करना बराबर चलता रहा।

एकबार श्रीकरपात्रीजीके साथ एकान्तमें आपका सत्सङ्ग हुआ। उसके पश्चात् आपने बाहर आकर कहा, "आज करपात्रीजीने बहुत अच्छी बात कही कि दुर्गापाठसे प्रकृतिकी आराधना होती है और गीतापाठसे पुरुषकी।" इसीसे जब श्रीकरपात्रीजी राजनीतिमें गये तो आपने उन्हें सलाह दी कि सबल होकर चलना अच्छा है।

आश्रितवात्सल्य—पं० शालग्रामजी अग्निहोत्री श्रीमहाराजजीकी सलाहसे ही अपना गाँव छोड़कर गङ्गातटपर नरौरा आकर रहने लगे थे। आपकी सन्निधिमें ही उन्होंने अग्न्याधान किया था। ये आपके अनन्य भक्त और सेवक थे। उनके पुत्र पं० अमृतराम शास्त्री भी जीवनके आरम्भसे ही आपके स्नेह-सलिलसे सराबोर होकर सर्वदा निश्चिन्त और निर्भय रहते थे। उनके संरक्षक और पथ-प्रदर्शक आप हीं थे। जन्मसे हीं उनपर आपकी अनुकम्पा थी। वे लिखते हैं कि एकबार मैं पत्नी और बच्चोंके सहित श्रीचरणोंके दर्शनार्थ कर्णवासको चला। रात हो गयी और हमारी बैलगाड़ीका पहिया टूट गया। श्रीप्रभुका नाम-कीर्त्तन और श्रीमहाराजजीका स्मरण करते हुए हम आकस्मिक सहायताकी प्रतीक्षा

करने लगे। रातको एक बज गया, तब एक व्यक्ति भागता हुआ आया। हम देखकर डर गये। फिर साहस बटोरकर उससे बातचीत की तो मालूम हुआ कि वह बिलौनाके धीरजराम हैं, अपनी खोयी हुई भैंस ढूँढ़ते हुए आये हैं। हमने भी उन्हें अपनी विपत्ति बतायी। उसी समय धीरजराम अपनी गाड़ी ले आये और फिर सब उसीमें कर्णवास गये। ये भी श्रीमहाराजजीके अनन्य सेवक थे। रातको तीन बजे हम श्रीचरणोंमें पहुँचे। आप समाधिस्थ विराजमान थे। उसी स्थितिमें आँखें बन्द किये ही बोले, "अमृतराम ! तू आ गया।" मैंने, 'हाँ, श्रीमहाराजजी' कहकर प्रणाम किया। तब प्रभुने मेरे सिरपर हाथ फेरते हुए कहा, "बेटा ! तेरी गाड़ीका पहिया टूट गया था। सो मैंने धीरजरामको भेजा था, वह मिला होगा।" मैंने कहा, "हाँ प्रभो ! धीरजराम ! भी साथ ही हैं, ये बैठे हुए हैं।" फिर आप बोले, "मैंने पञ्चदशीमें सुनाया था कि एक किसानको अपनी भैंसमें अनुराग था। उसीसे उसका मोक्ष हो गया। यह बात तुझे याद है न ?" मैं बोला, "सरकार ! ये भी भैंस खोजते हुए ही हमारे पास पहुँचे थे।" आपने कहा, "तभी तो मैं कहता हूँ कि जैसे वह किसान 'भैंस-भैंस' रटकर अपनेको भैंस ही समझने लगा था इसी प्रकार निरन्तर ब्रह्मचिन्तनसे जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।" फिर धीरजरामसे कहा, "जा, बेटा ! तेरी भैंस घरपर ही आ जायगी।" दूसरे दिन मैं बिलौना गया और धीरजरामजीसे पूछा कि तुम्हारी भैंस मिली या नहीं ? तो वे बोले, "जिसका ऐसा बढ़िया ग्वालिया है कि रातको चरानेके लिये ले जाय उसकी भैंस कहाँ जा सकती है ?" मैंने कहा, "भैया ! मैं तुम्हारी बात समझा नहीं।" धीरजराम बोले, "यार ! तुमने अब भी बाबाको नहीं पहचाना। ये ही तो जन्म-जन्मान्तरके ग्वालिया हैं। पहले गाय चराते थे, अब अभ्यासवश भैंस खोलकर ले गये। मुझे घर आते ही भैंस खड़ी मिली है। यदि चोर ले जाता तो घरपर क्यों बाँध जाता।" श्रीमहाराजजीने हम पति-पत्नी दोनोंको दीक्षा दी और कहा कि द्वैतमें ही अद्वैतका अभ्यास करो। हम प्रभुका चरणामृत पान करके निश्चिन्त हो गये।

श्रीलम्बे नारायणजीके भण्डारेमें मैं (अमृतराम) अन्य विद्यार्थियोंके साथ कर्णवास गया था। प्रातःकाल चार बजेके सत्सङ्गमें जानेके लिए तीसरी मञ्जिलसे काठकी सीढ़ी द्वारा उतरने लगा। अकस्मात् मेरा पैर डिग गया और मैं नीचे पक्के फर्शपर गिरा। गिरते समय मुखसे 'बाबा'

शब्द निकला। उनकी कृपासे मेरे चोट नहीं आयी। सभी कहते थे कि बाबाकी कृपासे ही यह बालक बचा है। श्रीमहाराजजीने कहा, "आधेय आधारपर गिरेगा तो चोटका क्या काम?" ब्रह्मचारी ऋषिजीने कहा कि पृथ्वी ही तो आधार है और जो ऊपरसे गिरेगा वह भूमिपर ही गिरेगा। उस आधारके सिवा और कहाँ गिर सकता है?" बाबाने हँसकर कहा, "यदि पृथ्वीपर गिरता तो चोट न आती? यह तो अपने आधार[1] पर गिरा था।" प्रभुके ये गूढ़ वचन सुनकर सब भक्त आनन्दमग्न हो गये।

बाबा जीयालालजीको भक्तगण बाबाका नादिया कहते हैं। उन्होंने लिखा है—श्रीमहाराजजी नरवरमें हैं—यह सुनकर मेरा मन उनके दर्शनोंको लालायित हुआ। मैं फतहपुरसे चल दिया। बीचमें गङ्गाजी पड़ती थीं। नाव आदि कुछ थी नहीं। सोचा कि यदि राजघाटके पुलसे होकर जाऊँगा तो आने-जानेमें दस मीलका चक्कर लगेगा। ऐसा सोच-कर मैंने पटेरोंका एक बोझ बाँधा और बाबाका स्मरणकर उसे गङ्गाजीमें छोड़ दिया। उसके सहारे मैंने गङ्गाजीको पार कर लिया। जब मैं बाबाके पास पहुँचा उस समय मेरे दाहिने हाथमें तो झोली और माला थीं, अतः फूल चढ़ाते-चढ़ाते मूर्च्छित होकर गिर गया। जब मैं सावधान हुआ तो बाबा मुझसे बोले, "तू क्या भजन करता है? बाबा (श्रीहरि-बाबाजी) से प्रेम कर, तेरा कल्याण तो हो गया।" इसके पश्चात् बाबाने मुझे भोजन कराया और तीसरे पहर लौंग-इलायचीका टिकट देते हुए कहा, "बेटा! जैसे आया है वैसे मत जाना।" यद्यपि मैंने बाबाको बेड़े द्वारा गङ्गाजी पार करनेका वृत्तान्त सुनाया नहीं था। और न सुनानेकी कुछ आवश्यकता थी। तथापि इन्होंने जान लिया। किन्तु बाबाके मना-करनेपर भी मैंने आलस्यवश यह सोचकर कि इतनी दूर कौन जाय, बेड़ेसे ही गङ्गाजी पार करनेका निश्चय किया। किनारेपर पहुँचा और बेड़ेको ठीक करके गङ्गाजीमें छोड़ दिया। परन्तु वह डूब गया। फिर मैंने उसे छातीके बराबर जलमें ले जाकर छोड़ा। परन्तु बार-बार प्रयत्न करनेपर

---

१. उस आधारपर जिसने सबको धारण किया हुआ है। सम्पूर्ण जगत् तो आधेय है, उसका आधार है परब्रह्म। श्रीमहाराजजी ब्रह्मस्वरूप ही हैं। अतः उनकी गोद ही मेरा आधार था। उस समय अपनी गोदमें धारण करके उन्होंने मेरी प्राणरक्षा की थी।

भी मैं सफल न हुआ। मानो उसने मुझे न ले जानेकी शपथ खा ली हो। आखिर, मैं निराश हो गया और बाबाकी आज्ञा शिरोधार्य कर राजघाटके पुलसे गङ्गाजी पार करके अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचा।

सत्सङ्ग—श्रीमहाराजजी नरोंमें वरेण्य हैं, आदरणीय पुरुषभूषण हैं और वास्तवमें पुरुषोत्तम ही हैं। उनका समय-समयपर विद्वान् और विद्यार्थियोंसे सत्सङ्ग होता ही था। यहाँ उसका कुछ उल्लेख किया जाता है।

आप कहा करते थे—

निद्रां सात्त्विकवस्तुसेवनतया स्वप्नं सदा जागरात्,
रोगान् जीर्णमिताशनाज्जहि सदा दैन्यं महाधैर्यतः।
अर्थानर्थपरिग्रहं त्यज वृथासंसर्गसन्त्यागतः,
स्त्रीवाञ्छां त्यज दोषदर्शनबलाद् दुःखं सुखात्मेक्षणात्॥

अर्थात् निद्राको सात्त्विक वस्तुओंके सेवनद्वारा, स्वप्नको सर्वदा जागृत रहकर, रोगोंको सुपाच्य और परिमित भोजनद्वारा, दीनताको अत्यन्त धैर्यसे, अर्थरूप अनर्थके संग्रहको व्यर्थ संसर्गके त्यागद्वारा, स्त्रीकी वासनाको उसमें दोषदर्शन करके और दुःखको आनन्दस्वरूप आत्मापर दृष्टि रखकर त्यागो।

प्र०—शरीर, वाणी, धन और अन्तःकरण किस प्रकार शुद्ध होते हैं?

उ०—झूठ, व्यभिचार और हिंसाके त्यागसे शरीर शुद्ध होता है, भगवन्नामजपसे वाणी शुद्ध होती है, दानसे धन शुद्ध होता है तथा धारणा और ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है।

प्र०—राग-द्वेष किन्हें कहते हैं?

उ०—जिस समय मनुष्य नीतिको भूल जाय, उसे सदाचारके नियमों का कोई ध्यान न रहे, तब समझना चाहिए कि वह राग-द्वेषके अधीन हुआ है। राग-द्वेषका मूल अहङ्कार है। अहङ्कारके आश्रित ही ममत्व और परत्वकी भावना रहती है। ममता ही राग है और परत्व ही द्वेष है।

प्र०—राग-द्वेष कैसे दूर किये जायँ?

उ०—पहले शुभ कर्मका आचरण और अशुभ कर्मका त्याग करे। त्यागद्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेपर साधक ईश्वरोपासनाका अधिकारी होता है। फिर उपासना परिपक्व होनेपर भगवान्का मिलन होता है।

भगवान्‌का मिलन होनेपर रागद्वेषकी निवृत्ति होती है तथा ईश्वर, जीव और जगत्‌का पूर्ण एवं यथार्थ ज्ञान होता है।

प्र०—राग-द्वेषका स्वरूप क्या है? ये कैसे पैदा होते हैं? इनकी निवृत्ति कैसे होती है? और इनके रहनेसे मनुष्यकी क्या गति होती है?

उ०—यदि किसी वस्तुमें मन ऐसा फंस जाय कि कैसे ही अपमान, निरादर या दुःख होनेपर भी न हटे तो इसे राग कहते हैं, जैसे कि गोपियोंका श्रीकृष्णमें था। जब किसी चीजसे चित्त ऐसा हट जाय कि उसमें दोष ही दोष दिखायी दें, गुण कोई मालूम न हो तो यही द्वेष है, जैसा कंसका श्रीकृष्णके प्रति था। राग-द्वेषकी उत्पत्ति गुण-दोष या स्तुति-निन्दाके चिन्तनसे होती है और राग-द्वेष ही संसारके कारण हैं, क्योंकि इनमें विषयोंका चिन्तन रहता है, इसलिए वे हर समय सामने खड़े रहते हैं। जो पूर्ण ज्ञानी या पूर्ण भक्त होता है उसमें राग-द्वेष जाते रहते हैं। इसके सिवा किसीकी निन्दा-स्तुति न करनेकी प्रतिज्ञा करनेसे भी इन दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष न रहनेसे चित्त हल्का हो जाता है और उसमें सत्त्वगुणकी प्रधानता हो जाती है। जिस किसीने राग-द्वेषमय जीवन बिताया है वह उन्नतिकी सुनहली पगडंडीपर चलनेसे वञ्चित रहा है। आवश्यकता है उद्दण्ड मनपर शासन करनेकी। निठल्ला आदमी ही दूसरोंके गुण-दोष देखता है। क्रोध पापका प्रधान कारण है, पापियोंका चिह्न क्रोध ही है। जिसमें क्रोध है वह चाहे कोई भी हो उसे पापी समझना चाहिए। राग-द्वेषमिश्रित क्रोध मनुष्यको उत्थानकी ओर जानेसे रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनोंके प्रति तो क्रोध करना ही नहीं चाहिए। तुम अभ्यासी बनो, त्यागी बनो, क्योंकि अभ्यासके बिना आगे नहीं बढ़ सकते। ज्यों ही अभ्यासमें प्रमाद करोगे त्यों ही चित्तमें नाना प्रकारके स्फुरण होने आरम्भ हो जायेंगे। अपनी सारी बुराइयोंको दूर करके सात्त्विक संसारमें उतरना होगा। भोग्य वस्तुके साथ अधिक प्रेम होनेसे चित्त नीचे गिरनेकी सम्भावना है—इस बातको अच्छी तरह याद रखो।

× × × ×

मैं दुर्बल हूँ, मैं पवित्र हूँ—यह मनकी दुर्बलताका लक्षण है। धैर्य और उत्साहसे कार्यमें तत्पर होना पवित्र मनका लक्षण है। विद्वान् होकर शान्त रहना अर्थात् वाद-विवाद न करना श्रेष्ठ पुरुषोंका लक्षण है।

विधर्म, परधर्म, धर्माभाव, उपधर्म और छलधर्म भी अधर्मकी तरह ही त्यागने योग्य हैं।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिए विषयी पुरुषोंके सङ्गका त्याग करे। कामोत्पादक पुस्तकोंके पठन-पाठन और श्रवणका त्याग करे तथा किसी भी अवस्थामें स्त्रियोंका स्मरण, दर्शन, स्पर्श या भाषण न करे।

सम्भाषणके चार दोष हैं और पाँच गुण हैं—(१) आज्ञा देनेके समान बोलना, (२) चिल्लाकर बोलना, (३) अश्लील शब्दका उच्चारण करना और (४) कटु भाषण करना—ये चार दोष हैं। तथा (१) हित, (२) मित, (३) शान्त, (४) मधुर और (५) प्रिय भाषण करना—ये पाँच गुण हैं।

श्रीमहाराजजीके भक्त नरवर विद्यालयकी सेवा आजतक पूर्ववत् करते आ रहे हैं।



: ८ :

कण्वास और भृगुक्षेत्रमें

आपका स्वरूप, सिद्धान्त और साधनक्रम

अनन्त सृष्टिके क्षण-क्षण और कण-कणका तथा प्रत्येक वस्तु और व्यक्तिका वास्तविक सार्वभौम स्वरूप भूमा सत्ता है। वही इन सार्वभौम सन्तसम्राट्के रूपमें आविर्भूत हुई है। ईश्वरानुग्रहसे जैसे यह मानव-शरीर मिला है वैसे ही जन्मसाफल्यकी अनुभूति मुझे इन सन्तसम्राट्के दर्शनसे हुई। सद्दर्शन और सन्तदर्शन दो नहीं, एक ही हैं। इनके चिन्मय स्वरूपका दर्शन और अनन्त परमशिवदर्शन भी दो नहीं, एक ही हैं। इस आनन्दमूर्त्तिका दर्शन और पूर्णानन्दकी प्राप्ति दो नहीं, एक ही हैं। अतः सच्चिदानन्दके अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य एवं लावण्यका महत् सरस उल्लास ही इस मधुपुरुष सन्तरूपमें प्रकाशमान है। वह अविकृत मधु ही इनके जीवनवृक्षसे अनवरत झरता है। जैसे अनन्त ब्रह्माण्डका सार एक आत्मा ही है वैसे ही सरस समरस माधुरीके एकमात्र सार आप सन्तशिरोमणि ही हैं। जैसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका मूल स्रोत आनन्द ही है वैसे ही आश्रित भक्तोंके अखिल अलौकिक रसास्वादके मूल स्रोत आप ही हैं। श्रीपूर्णानन्द-समुद्रके ज्वार और भाटा ही इस पूर्णानन्द तीर्थकी जागृति एवं समाधि हैं और आनन्द ही परमार्थ-पथिकोंके लिए इसका तट है।

श्रीमहाराजजी कहते हैं कि अन्वयदृष्टि या पूर्णदृष्टि तो व्यतिरेकके पश्चात् प्राप्त होती है। नेति-नेति इत्यादि वाक्योंसे सबका बाध हो जानेपर यह जो कुछ प्रतीत होता है वह उसके लिए आत्मसत्तासे भिन्न नहीं होता। प्रवृत्ति-निवृत्ति, साधन-साध्य और लौकिक व्यवहार सभी उसे अपनेसे अभिन्न प्रतीत होता है। बोध हो जानेपर यदि वह आत्मसत्तासे भिन्न किसी अन्यकी भी सत्ता देखता है तब तो वास्तवमें वह बोधवान् ही नहीं है। मेरे विचारसे तो यह बोधके अनन्तर किया जानेवाला स्वरूपानु-सन्धान और अभेद भक्ति एक ही हैं। किन्तु यह स्वरूपानुसन्धान साधनकालीन स्वरूपानुसन्धानके समान नहीं होता। उस समय तो केवल

निषेधवृत्तिका ही अभ्यास किया जाता है। किन्तु इस समय तो निषेध करने योग्य कोई वस्तु ही नहीं रहती। अपितु सारी वस्तुएँ अपना स्वरूप ही हो जाती हैं। आज-कल जो अधिष्ठान-अध्यस्त क्रमसे विचार किया जाता है जिज्ञासुजन इसीको सिद्धान्त मान बैठते हैं वस्तुतः यह प्रक्रिया है। इसीको सिद्धान्त मान बैठनेसे कर्म और उपासनासे द्वेष हो जाता है। हमें सोचना चाहिए कि यदि भगवान् निरुपाधिक ही हैं तो सोपाधिक कौन है? यदि वे लक्ष्यार्थ ही हैं तो वाच्यार्थ कौन है? और यदि वे द्रष्टा ही हैं तो दृश्य कौन है?

श्रीमहाराजजी इन दोनों स्वरूपानुसन्धानोंकी सुस्पष्ट अपरोक्षानुभूतिकी अद्वितीय मूर्त्ति हैं, वे अकथनीय रहस्यके अनुपम उद्घाटन हैं तथा अनन्त रसविहारसे मथित आनन्द नवनीत हैं। उनके जीवनमें अद्भुत विरोधसमन्वय है। एक ओर वे पूर्णतया निष्कम्प निःस्पन्द समाधियोगमें स्थित हैं तो दूसरी ओर लीलासे ही सैकड़ों प्रवृत्तियोंका भी सञ्चालन करते हैं। वे तत्त्वज्ञको किसी भी अवस्थाविशेष या वृत्तिविशेषके बन्धनमें बँधा नहीं देख सकते। एकबार तत्त्वज्ञके व्यावहारिक स्वरूपका वर्णन करते हुए ही उन्होंने कहा था—"उदासीनता और वैराग्यका भी बोधसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस किसीमें उदासीनता, वैराग्य और मस्ती पायी जाती है वह चित्तधर्मको लेकर है। बोधवान् अपनेको स्वयं ही जानता है। बोधवान्को मस्ती इसलिए नहीं कि उसे कुछ प्राप्त नहीं हुआ, बोधवान्को वैराग्य इसलिए नहीं कि उसे किसीमें राग नहीं और उदासीनता इसलिए नहीं कि उसमें प्रवृत्ति नहीं। मस्ती आना शुद्ध बोध नहीं, मस्ती चिदाभास को होती है, इसको साभास-बोध कहते हैं। मस्ती प्रसन्नतासे आती है और प्रसन्नता गुणोंमें (सत्त्वगुणमें) होती है तथा वह प्रसन्नस्वरूप है। उसमें इच्छा नहीं, इसलिए निरिच्छा भी नहीं, वह निरिच्छास्वरूप है, निरिच्छागुणवाला नहीं। उसमें ग्रहण नहीं, इसलिए त्याग भी नहीं; उसमें राग नहीं, इसलिए वैराग्य भी नहीं। उसमें अज्ञान नहीं, इसलिए ज्ञान भी नहीं। उसमें क्रिया नहीं, इसलिए वह निष्क्रिय भी नहीं। वह सगुण नहीं, इसलिए निर्गुण भी नहीं। उसमें दुःख नहीं, इसलिए आनन्द भी नहीं। उसमें द्वन्द्व नहीं, इसलिए वह निर्द्वन्द्व भी नहीं। अतः चित्तधर्मके साथ बोधका कोई सम्बन्ध नहीं है, वह सत्तास्वरूप है। जिसे मस्ती है उसे निषेधवृत्ति करके सत्तामें आनन्द आता है; वह जिज्ञासुका आनन्द है, बोधवान्का नहीं,

क्योंकि जिज्ञासुने अपनी अस्मिताको पूर्णतया मिटाया नहीं है, इसलिए उसे आनन्द है।"

उनका कथन है कि महापुरुष अपने स्वरूपभूत समष्टि चैतन्यसे अभिन्न हो जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति किसी एक क्षेत्र या समाजमें सीमित नहीं रहती। उनकी दृष्टि सार्वभौम होती है। उनकी सर्वतोमुखी प्रगति होती है, उनमें सर्वाङ्ग-सुन्दरता पायी जाती है और उनका सभी जीवोंको शान्तिमय जीवन-का पथ प्रदर्शित करनेका स्वभाव होता है। अतः यह निर्विवाद है कि ऐसे महापुरुष आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों दृष्टियोंके भीतर छिपी हुई शक्ति, सौन्दर्य और शान्तिका अनावरणकर मानवमात्रको उनके अधिकारानुसार मुक्तहस्तसे वितरित करते हैं। इन तीनोंका साङ्गो-पाङ्ग विकास ही सर्वतोमुखी प्रगति है। इन शक्ति, सौन्दर्य और शान्तिका केन्द्र कहाँ है, जिसे अपनानेपर सरलतासे अनन्तमात्रामें इनकी सर्वत्र प्राप्ति हो जाय—इसके लिए कर्म और उपासनाके माध्यमसे आपने इनके द्वारका उद्घाटन किया। गीताजीमें कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथः॥[1]

हाँ, यह अवश्य है कि कर्म और उपासना तो उनके अनुग्रहके माध्यम थे, फलप्रदाता तो वे स्वयं ही थे। इससे सकाम साधकोंमें यह दृढ़ विश्वास था कि कामनापूर्त्तिके लिए वाञ्छाकल्पतरु तो विद्यमान हैं हीं, उन्हींका आश्रय लो। फिर कर्म और उपासनाका परिपाक होनेपर शक्ति, सौन्दर्य और शान्तिके सगुण ब्रह्ममय स्रोतका उद्घाटन होता था। इसके लिये आपने देवी और गायत्रीकी उपासना द्वारा प्रकृतिकी आराधना तथा शिवार्चन एवं गीतापाठ आदिके द्वारा पुरुषकी आराधना करायी।

इस प्रकार प्रकृति और पुरुषकी उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जिन साधकोंका चित्त ऐहिक आमुष्मिक भोगोंसे उपरत हो जाय और जिनके चित्तमें परमार्थतत्त्वकी जिज्ञासा जाग्रत हो उन्हें आपने

---

१. इस कर्मके द्वारा तुम देवताओंको प्रसन्न करो और वे देवगण तुम्हें प्रसन्न करें। इस प्रकार आपसमें एक-दूसरेको प्रसन्न करते हुए तुम परम निःश्रेयस प्राप्तकर लोगे।

विचारमार्गमें प्रवृत्त किया। आपका यह स्पष्ट कथन था कि जो अण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है। इसलिए जो पिण्ड सामने विद्यमान है उसका सब प्रकार अनुसन्धानकर उसकी महिमाका अनावरण करे। इसके लिए पहले जीवनका शोधन और विकारोंका परिमार्जन करे। फिर स्वयं भगवान् शङ्कराचार्यने जो अनन्त केन्द्रस्थान तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा दिखाया है उसपर दृष्टि ले जाय। उस अनन्त निधिको अपनावे, जिसे जान लेनेपर सभी कुछ जान लिया जायगा और जिसे पा लेनेपर सभी कुछ पा लिया जायगा।

उसके ऊपर आप प्रतिष्ठित थे। आप सबके लिए अलख-भण्डार थे तथा अनन्त वैभवशाली और आश्रितप्रतिपालक थे। मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषसंश्रयका रस क्या है—यह आपने स्वयं होकर दिखाया। हमारे गुरुभाई स्वामी अद्वैतानन्दजी आपके विषयमें गाते थे—'**घटता नहीं एक पाई, बढ़ता रहे दिन-रात।**' ऐसी थी आपकी अलौकिक उदारता। यह बात केवल पैसेके लिए ही नहीं थी, प्रत्युत अनन्तशक्ति, सौन्दर्य, माधुर्य आदि भी अनन्त स्वरूप मधुरमूर्ति श्रीमहाराजजीके आश्रयसे, शिवके जटाजूटसे गिरनेवाली श्रीगङ्गाजीकी अनन्त धाराओंके समान निरन्तर प्रवाहित होती रहती थीं। आप कर्मद्वारा—'**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्**' (शास्त्रकी सार्थकता कर्ममें ही है) इस वाक्यकी महिमाका उद्‌घाटन करते थे और जिज्ञासुओंको ब्रह्मविद्या प्रदान करके वेदान्तशास्त्रोंसे अपनी स्वमहिमाकी स्मृति दिलाते थे। इस प्रकार आपके यहाँ सर्वतोभावसे सर्वभूतहितकी साधना दिखायी देती थी। यही आपके सर्वात्मविहारका पवित्र सङ्गीत था—करुणावरुणालय गुरु भगवान्‌की अहैतुकी कृपामाधुरी थी। उनकी महाशक्ति निर्बलोंकी बल थी, उनकी दया दीनोंका धन था, उनकी कृपा जीवमात्रकी रस थी, उनका सौन्दर्य प्रेमियोंका प्रेमास्पद था और उनकी शान्ति परमशान्तिपिपासुओंका पीयूष था। आप अगुण-सगुण दोनों हीके साक्षात् निधि थे और स्वावलम्बके सरस समरसका पान करानेवाली जगदम्बा थे। किन्तु उन्हें अपने लिए कुछ भी अपेक्षित नहीं था, क्योंकि '**आप्तकामस्य का स्पृहा।**'

आप ऐसे कलाकार थे कि अपने सौन्दर्यको सर्वदा छिपाते रहे। यही कलाका सौन्दर्य भी है और यही उसकी विशेषता भी। पहले जङ्गलोंमें वनदेवी और वनदुर्गाको गोदमें छिपाया फिर भवाटवीके विविध वैचित्र्यमें

ढक दिया। आप साक्षात् भोलानाथ ही थे, आपने नाग-नागिनी धारण की हुई थीं।

कर्णवासमें

यह सन् १९१५ की बात है। पूज्य श्रीमहाराजजी आनन्दमें झूमते नरवरसे कर्णवास पधारे। उस समयके आपके जीवनका चित्रण इस श्लोक द्वारा किया जा सकता है—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः।
न वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः॥[1]

आपने स्वयं अपनी स्थिति-गतिका उल्लेख इस श्लोकसे किया था—

प्रशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥[2]

इस प्रकार यदि आप परास्वरूपस्थितिमें रमे हुए थे तब तो आपको जाग्रत्कालमें भी समाधिस्थ ही कहना चाहिए, क्योंकि—

तत्त्वावबोध एवैकः सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न च तूष्णीमवस्थितिः॥[3]

आप अहर्निश झाड़ीमें रहते थे। श्रीसरोजनी माँने बताया था कि यह दिव्य भूमि है। झाड़ियोंमें मैंने सूर्यके समान तेजस्वी सन्तोंके दर्शन किये हैं। मन सूक्ष्म होनेपर जब शुद्ध सत्त्वप्रधान होगा तभी ऐसे सिद्ध महापुरुषोंके दर्शन हो सकेंगे। जीवाराम पाठशालाके विद्यार्थी ब्रह्मचारी जोरावरजीने आपके लिए झाड़ियोंमें एक गुफा और कुटिया बना दी थी। आप उस दिव्य ब्राह्मी भूमिमें अपनेको लोकदृष्टिसे प्रच्छन्न रखते हुए आठ-दस साल रहे हैं। वहाँ भी आपने घोर तपोमय और पुरुषार्थमय

---

१. ब्रह्मभावमें स्थित जितेन्द्रिय यति न तो हाथ-पैरोंसे चञ्चल होता है, न नेत्रोंकी चञ्चलतासे युक्त होता है और न वाणी द्वारा चञ्चल होता है।

२. जिसमें सम्पूर्ण सङ्कल्प शान्त हो गये हों और जो जाग्रत् एवं निद्रा दोनों अवस्थाओंसे शून्य हो ऐसी जो शिलाके समान अचल स्थिति है, वही श्रेष्ठ स्वरूपस्थिति होती है।

३. सम्पूर्ण आशारूप तिनकोंके लिए अग्निके समान जो एकमात्र तत्त्वबोध है वही समाधि शब्दसे कहा जाता है, चुपचाप बैठ जाना नहीं।

जीवन व्यतीत किया था। आपका ऐसा विचार था कि साधुको इस प्रकार रहना चाहिए कि कोई पहचान न सके कि यह साधु है। श्रीमहाराजजी कहते थे कि एक महात्मा इस प्रकार रहते थे कि लोग उन्हें मूर्ख समझकर तरह-तरहसे तङ्ग करते रहते थे। ऐसी स्थितिमें उन्हें कई वर्ष व्यतीत हो गये। एकबार वहाँ विद्वानोंमें परस्पर शास्त्रार्थ हुआ। ये महात्मा भी सुनते रहे। ये स्वयं न्यायके धुरन्धर पण्डित थे। शास्त्रार्थमें एक विद्वान् न्यायकी एक पंक्ति अशुद्ध बोल रहे थे। इनसे उनका वह अशुद्ध उच्चारण सुना नहीं गया। अतः बोल उठे कि आप तो अशुद्ध बोल रहे हैं, यह इस प्रकार होना चाहिए। यह सुनकर सब दङ्ग रह गये और कहने लगे, "अरे! हम तो इन्हें मूर्ख समझते थे, ये तो बड़े विद्वान् हैं।" इस प्रकार उन्हें अपने दुर्व्यवहारके लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने उनसे क्षमा याचना की। उधर महात्माजीको भी अपनी भूल जान पड़ी। वे सोचने लगे, 'मुझसे भूल हुई जो मैंने अपनी योग्यता प्रकट कर दी। गुप्त जीवनमें जो वैराग्यका रस मिलता था वह कुछ दूसरी ही बात थी। अब यहाँ रहना ठीक नहीं।' बस, प्रतिष्ठासे दूर रहनेकी दृष्टिसे वे उस प्रान्तको छोड़कर चले गये।

परन्तु जो गुप्त रूपसे रहते हैं वे सन्तोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन कभी नहीं करते। इस विषयमें श्रीमहाराजजी एक प्रसङ्ग सुनाते थे। फर्रुखाबाद की ओर एक मौज बाबा नामके सन्त रहते थे। वह घरोंमें लोगोंकी छोटी-मोटी टहल भी कर देते थे। एक स्त्रीके कोई सन्तान नहीं थी। उसे किसी प्रकार पता लग गया कि ये सिद्ध सन्त हैं। एक दिन उसने उनसे अपना अभिप्राय प्रकट किया। झट वे बोले, "बस, बस, यहींतक मौज है, आगे नहीं।" ऐसा कहकर वे उस स्थानको छोड़कर चले गये।

अद्भुत स्वप्न

आपके आन्तरिक वैराग्यकी रसपुष्टि और विचारधारा ऐसी ही थी। अब तनिक उनकी नियमनिष्ठा और वैराग्यकी गम्भीरता भी देखिये। उनके जीवनकी यह विशेषता थी कि उनकी जैसी स्थिति जाग्रत्‌में थी वैसे ही स्वप्नमें भी रहती थी। एक दिन आपने स्वप्नमें देखा कि आप श्रीगङ्गाजीकी रेतीमें बैठे हैं। मध्याह्नका समय हुआ, इसलिये आप भिक्षा माँगनेके लिए चल दिये। कुछ दूर चलनेपर आपको एक दिव्य नगर दिखायी दिया। उसके द्वारपर पोशाकें पहने चौकीदार पहरा

लगा रहे थे। आप उनसे पूछकर भीतर गये तो सारा नगर चाँदीके महलोंसे जगमगा रहा था। उन महलोंके किवाड़ सोनेके थे और उनमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। आपने निरपेक्ष भावसे एक द्वारपर '**नारायण हरिः**' बोला। सुनते ही भीतरसे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित एक देवाङ्गना आती दिखायी दी। उसने बड़े विनीत भावसे भीतर पधारकर भोजन करनेकी प्रार्थना की। किन्तु आपने उसकी ओर दृष्टिपात न करते हुए कहा, "देवि ! थोड़ी भिक्षा दे दो। मेरा नियम भिक्षा ले जाकर मंगलमय भगवान्‌को भोग लगाकर अपने स्थानपर ही प्रसाद पानेका है।" इसपर भी जब उसने भीतर चलनेका ही आग्रह किया तो आप आगे चल दिये। परन्तु फिर तो आप जिस घरके द्वारपर होकर निकलते वहाँ वैसी ही देवाङ्गनाएं सुवर्णके थालों-में भोजन लिए दिखायी देतीं और आप जैसे उनकी उपेक्षा करके आगे बढ़ते वैसे-वैसे ही वे आपके पीछे लग जातीं। अब जहाँ भी आपकी दृष्टि पड़ती वहीं सुवर्णके थाल लिये दिव्य ललनाएँ दिखायी देतीं। इस प्रकार अपनेको उनसे घिरा देखकर आप बहुत घबराये और उनसे छुटकारेका कोई उपाय न देखकर रोने लगे। रोते-रोते ही आपकी निद्रा भङ्ग हुई। उस समय आपको इतना अश्रुपात हुआ कि आपकी गुदड़ी भींग गयी। वास्तवमें इसी-का नाम सच्ची लगन है। जाग्रत-अवस्थामें कनक और कामिनीके जालसे बचनेवाले शूरवीरोंकी संख्या भी अधिक नहीं है। वे भी जितने मिलते हैं उनमें भी ऐसे कितने हैं जिनमें स्वप्नावस्थामें भी वैसी ही सावधानी बनी रहे। परन्तु सच्चे साधककी पहचान तो यही है कि उसकी जो दृष्टि जाग्रत् में हो वही स्वप्नमें भी रहे। जिस समय ऐसी दृष्टि प्राप्त हो उसी समय साधनकी सफलता समझनी चाहिए।

तपस्या और प्रेतोद्धार

शास्त्रमें संन्यासीके लिए विधि है कि उसे केवल आठ ग्रास भोजन करना चाहिए—

अष्टग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशा वनवासिनाम्।
द्वात्रिंशद्गृहस्थानां यथेच्छं ब्रह्मचारिणाम्॥[1]

अतः इस नियमके अनुसार कर्णवासके पास आहरनपुर गाँवमें रहकर

---

१. संन्यासीको आठ ग्रास खाने चाहिए, वानप्रस्थोंको सोलह तथा गृहस्थोंको बत्तीस और ब्रह्मचारियोंको यथेच्छ भोजन करना चाहिए।

आप दिनभरमें केवल आठ ग्रास ग्रहण करने लगे। माधूकरीमें आपको जो रोटियाँ मिलतीं उन्हें मलकर आप पानीमें भिगो देते और उनके कुक्कुडाण्डके समान आठ गोले बना लेते। कुछ महीने इस प्रकार रहकर फिर चन्द्रायण व्रत आरम्भ किये। इन दिनों आपकी उपरति इतनी बढ़ गयी थी कि हाथका ग्रास हाथ हीमें रह जाता था। बहुत कहने-सुननेपर उसे मुँहमें रखते। किन्तु कई बार वह बहुत देर तक मुँहमें ही रह जाता, चबानेका ध्यान ही न आता। इस प्रकार बहुत देरमें एक-आध कौर खा पाते। परन्तु विधाताने मुखकमलका ऐसा निर्माण किया था कि जब देखो तब मालूम होता मानो उसपर प्रसन्नता खेल रही है। निरन्तर हँसमुख ही जान पड़ते थे—स्पष्ट रसमें चूर दिखायी देते थे।

एक बार कर्णवासकी झाड़ीमें आपको एक प्रेत मिला। वह बोला कि मैं कुश्ती लड़ूँगा। आपने उत्तर दिया, "बेटा! हम तो साधु हैं, किसीसे कुश्ती नहीं लड़ते।" एक बार आपने सुनाया था कि दो साधु आपसमें कुश्ती लड़ रहे थे। उन्हें देखकर स्त्रियाँ कहने लगीं, "देखो, बहिनो! दो मुर्दे लड़ रहे हैं।" सचमुच शरीर-दृष्टिसे तो साधु मुर्दा ही है। परन्तु प्रेतने आपकी बात नहीं मानी। तब आपने उसकी ओर ऐसी दृष्टिसे देखा कि वह चिल्लाने लगा, "बाबा! मेरा उद्धार करो।" आपने कहा, "श्रीगङ्गाजीमें स्नान कर और आजसे प्राणियोंको कष्ट देना छोड़ दे। ऐसा करेगा तो तेरा उद्धार हो जायगा।" तब वह आपको प्रणाम करके चला गया।

नयी कुटिया

इस प्रकार कई वर्षों तक झाड़ीमें रहकर फिर आप पं० किशोरीलालके बागमें चले आये। उस समय देवीजीका पण्डा चण्डीप्रसाद, गोशालाका रसोइया सोहनलाल और रामस्वरूप नामका एक बढ़ईका लड़का—ये तीन भक्त ही अधिकतर आपके पास आते थे। इनमें-से रामस्वरूपने आपके लिए एक छः फुट लम्बी, दो फुट चौड़ी और एक फुट ऊँची चौकी बना दी थी। उसमें दो-दो अंगुलके अन्तरसे लकड़ीकी पट्टियाँ जड़ी हुई थीं। आप उसीपर गुदड़ी डालकर लेटते थे। वह चौकी अब भी विद्यमान है। उसे देखकर आश्चर्य होता है कि उसपर आपको कैसे नींद आती होगी। आपको सोना भी क्या था? यह तो एक भक्तका मन रखना था, उसके प्रेमकी स्वीकृति थी। जिस कुटीमें आप रहते थे उसमें कोई

झरोखा भी नहीं था। अतः न प्रकाश आता था न वायु। किवाड़ोंपर भी टीन जड़ा हुआ था। किशोरीलालजी उस समय बालक ही थे। आप भी बालकोंके साथ बातें करते हुए बालवत् क्रीडाएँ किया करते थे। साथ ही उनकी दैनिक चर्या पूछते और उनमें शुभ संस्कार डालनेका प्रयत्न करते थे।

श्रीकिशोरीलालजी लिखते हैं कि एक दिन मैंने कहा, "बाबा! हनुमान्जी बड़े अच्छे हैं। आज मदरसेमें मेरी दावात खो गयी थी। मैंने उसके लिए एक पैसेका प्रसाद बोला तो वह तुरन्त मिल गयी।" इस पर आप बोले, "भैया! हनुमान बाबा तो ऐसे ही हैं। पर तुम्हें उनसे ऐसी ओछी बात नहीं कहनी चाहिए। देखो, एक सेठका नौकर क्या अपने मालिकसे एक लोटा जल लानेके लिए कहता है? कदापि नहीं। परन्तु यदि वह बीमार पड़ जाय तो सेठ स्वयं ही उसके लिए जल गर्म करवायेगा, डाक्टर-वैद्य बुलवायेगा और उसे जल्दी-से-जल्दी अच्छा करनेका प्रयत्न करेगा। इस प्रकार जब एक नौकर साधारण सेठपर अपनी आज्ञा नहीं चला सकता तो जो सारी सृष्टिके स्वामी हैं उनको तुम आज्ञा कैसे दे सकते हो? भैया! जो अपने स्वामीपर आज्ञा चलाना चाहता है वह सेवक तो वास्तवमें सेवक है ही नहीं। और जो स्वामी अपने सेवककी आवश्यकताका ध्यान नहीं रखता वह सच्चा स्वामी भी नहीं है। इसलिए तुम्हें अपने इष्टदेवसे कभी अपने किसी कष्टकी बात नहीं कहनी चाहिए। वे तो तुम्हें हर समय देखते ही रहते हैं। इसके सिवा किसीसे कुछ माँगना—यह ब्राह्मणका काम भी नहीं है। किसी ब्राह्मणको माँगते देखकर मुझे तो बड़ा कष्ट होता है। कष्ट पड़े तब भी किसीके आगे दीन नहीं होना चाहिए। यदि दीन बनना ही हो तो दीनानाथके आगे बने—

'जग जाँचिये कोऊ न जाँचिये तो जाँचिये जानकि जानहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे॥'

इसी प्रकार आप हम बालकोंको अनेक प्रकारसे उपदेश दिया करते थे। मानो आपने स्वयं ही हमारे जीवननिर्माणका उत्तरदायित्व ले लिया हो। और हुआ भी ऐसा ही। जीवनभर हमारे सिरपर आपका वरदहस्त रहा और हमें आपके संरक्षणमें विपत्ति-सम्पत्तिका कोई भेद मालूम नहीं हुआ। हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि हमारा सारा जीवन उनकी छत्रच्छायामें बीता है और आगे भी बीतेगा। आप कहा करते थे कि

जिसे मैं एकबार पकड़ लेता हूँ उसे कभी नहीं छोड़ता। कहा भी है—**अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।'**

कुछ स्वप्नोंकी चर्चा

मैंने पहले ही निवेदन किया था कि श्रीमहाराजजी ऐसे अद्वितीय कलाकार हैं जैसा कि स्वयं ब्रह्म, जिसने अपनेको छिपाकर इतना बड़ा विचित्र जगत् दिखा दिया। जो **'अजायमानोवहुधा व्यजायत'** अर्थात् बिना उत्पन्न हुए ही अनेक रूपसे उत्पन्न हुआ है। कलाकी विशेषता भी इसीमें है कि सौन्दर्यको प्रकट करते हुए कलाको छिपा ले। पण्डित सुन्दरलालजी कहा करते थे कि बाबा अद्भुतकर्मा हैं। वे भीतरसे जिन्दा करते हैं और ऊपरसे मारते हैं। करें स्वयं आप और नाम करायें किसी औरका। इसी प्रकार अपनी सिद्धावस्थामें स्वप्न और निद्राको जीत लेनेके बाद भी यदि कोई हितानुभूति कहनी होती तो 'मैंने यह स्वप्न देखा है, याद रखना' इस प्रकार कहते। उनके जीवनमें यह बात स्पष्ट पायी जाती थी—**'शेते सुखं यस्तु समाधिनिष्ठो जागर्त्ति को वा सदसद्विवेकी'** अर्थात् जो समाधिनिष्ठ है वही सुखपूर्वक सोता है और जो सत् असत्का विवेक करनेवाला है वही जागता है।

एकबार आपने मुझसे यह स्वप्न लिखकर रखनेको कहा था—'बेटा! मैंने आज स्वप्नमें कस्तूरबा गान्धीको देखा है। मैं विचरते-विचरते जा रहा था। उन्होंने पुकारा, "स्वामीजी! तनिक यहाँ आइये।" मैं पहुँचा तो उन्होंने प्रणाम किया। मैंने पूछा, "आप यहाँ कैसे आयीं?" वे बोलीं, "मैं गाँवोंमें सफाई-सप्ताह मना रही हूँ। स्वामीजी! यह आप खूब याद रखें—**'न शौचं तुलयात्।'** मैंने उनसे पूछा, "इसका क्या आशय है?" तब उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की—सुन्दरताकी तुलना मत करो। अपनेको सुन्दर मत देखो। भला, सुन्दरता है क्या चीज, जिसके पीछे लोग फूले फिरते हैं। वे स्वयं अपनेको सुन्दर मानकर दूसरोंके साथ उसकी तुलना करते हैं। रूप-रेखा, गोरे-काले या रङ्ग-बिरङ्गेपर मोहित होते हैं। इस भ्रमित दृष्टिने अनेक बन्धनोंमें मन और आँखोंको बाँध रखा है। अपनी सुन्दरतासे वैराग्य ही सन्मार्गमें उतरनेकी कुञ्जी है—**'शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः'** इस योगसूत्रके अनुसार शौचसे अपने शरीरमें असङ्गता आती है और अन्य सम्पूर्ण संसर्गोंसे चित्त हट जाता है।

एक दिन आपने एक दूसरा स्वप्न सुनाया। बोले—बेटा ! मैं तो आज स्वप्नमें इन श्लोकोंपर विचार कर रहा था—

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदेकरूपा न भिद्यते ।।
स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनान्तरे ।।
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागतेष्वनेकधा ।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ।।

अर्थात् चैत्रादि मास, प्रभव आदि वर्ष, कृत आदि युग और ब्राह्म आदि कल्पोंसे स्वरूपज्ञानमें कोई भेद नहीं है। स्वयंप्रकाश चैतन्य एक ही है। इतनी कालधारा बहनेपर भी, इतना अवस्थात्रयरूप वैचित्र्य आविर्भूत-तिरोभूत होनेपर भी स्वयंप्रकाश चैतन्यमें कोई अन्तर नहीं आता। उसके निरतिशय आनन्दका भान होनेपर क्षणिक साधनोंके पारतन्त्र्य आदि दोषोंसे दूषित वैषयिक सुखोंकी स्पृहा नहीं रहती। नित्य-निरतिशय आनन्द है—इतनेसे ही आँखें उलट जाती हैं। फिर प्रकाश होनेपर तो कहना ही क्या है ? तथा स्वरूपसे पूर्णतया उसकी प्राप्ति हो जानेपर तो किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं रहती। फिर वह किसकी कामना करे ? बस, इतना ही ज्ञान है।

मैंने एक दिन पूछा, "महाराजजी ! एक महात्मा कहते हैं कि तुम जितने जाग्रत्में सावधान और साधननिष्ठ रहते हो उतनी ही सावधानी तुम्हें स्वप्नमें रहनी चाहिए। जो स्वप्न हो चुका है उसे फिर लौटा लाओ और उसके विकारोंका शोधन करो-सो, क्या ऐसा हो सकता है ?" आपने कहा, "इसके लिए अलग साधनकी आवश्यकता नहीं है। जाग्रत्में जैसा साधन किया जाता है स्वप्नमें भी उसीका रंग चढ़ जाता है।"

एक दिन आपने एक स्वप्न सुनाया कि मुझसे एक महात्मा पूछ रहे हैं कि ज्ञानीका क्या कोई कर्त्तव्य है, तब मैंने कहा, "ज्ञानी और कर्त्तव्य ?" फिर उन्होंने पूछा, "तो फिर आप अभ्यास करनेके लिए क्यों कहते हैं ?" मैंने कहा, "मैं अभ्यास क्या बताता हूँ ? यह तो मेरा एक शौक है, क्योंकि अपने आत्मासे तो प्रेम होता ही है, यह कर्त्तव्य नहीं है।"

एक दिन आप उठकर बैठ गये। उस समय आपके नेत्रोंमें आँसू छलक रहे थे। बोले, "मैंने बड़ा ही भयानक और दारुण दृश्य देखा है।

अकाल पड़ रहा है, लोग भूखसे आतुर होकर रो रहे हैं।" इस दृश्यने उनके करुणामय हृदयको आर्त्त कर दिया था। इतना ही नहीं वह पिघलकर जाग्रत्कालमें भी प्रवाहित हो रहा था। कैसे दीनदयालु हैं आप? कैसी गहरी आर्त्तत्राणपरायणता है? बच्चोंके करुण-क्रन्दनसे आर्त्त मातृ-हृदय ही मानों आपका हृदय है।

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहै न जाना।।
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख दुखी सन्त सुपुनीता।।

आपका आतिवाहिक देह था। उसमें अनन्त सृष्टि प्रतिफलित होती थी। आप तो करुणासागर भगवान् ही थे। स्वप्नरूपसे ही विश्वकी घटनाओंका वर्णन करते थे। आपके इस कथनके कुछ ही दिन पश्चात् बङ्गाल का अकाल पड़ा। सब ओर त्राहि-त्राहि होने लगी। आप अन्धाधुन्ध सर्वस्व लुटाते थे। कहते थे कि अन्नके अधिकारी तो प्राणिमात्र हैं। इसमें अधिकारी, अनधिकारी या पात्र-अपात्रका प्रश्न ही नहीं है। गङ्गाजी और गङ्गाजीके जलचरोंको भी खूब दूध और मिठाई खिलाते थे, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? आपकी स्वात्मरूपसे सार्वभौम आराधना थी, आप तो मूर्तिमती अद्वितीय उदारता ही थे, अनुपम करुणासागर थे और दयाके भोले भण्डारी थे। अनन्त आत्माका ही इस आनन्दमूर्त्तिरूपसे आविर्भाव हुआ था। इस रूपमें अनन्तका हृदय ही आविर्भूत हुआ था। उस आदर्शमें सभी कुछ प्रतिबिम्बित हो रहा था।

पूज्य स्वामी निर्मलानन्दजी

ये अपने ढङ्गके अद्वितीय सन्त हैं। सरलताकी मूर्ति तथा तितिक्षा और वैराग्यके मूर्तिमान् आदर्श हैं। अयाचित वृत्ति आपका आन्तरिक व्रत है। आप देवत्रय मन्दिरके संस्थापक और सञ्चालक होते हुए भी अयाचित वृत्तिका निर्वाह करते हैं। यह आपकी बहुत बड़ी विशेषता है। दिये हुए वचन और समयका निर्वाह करनेमें आप सर्वदा सतर्क रहते हैं। कुछ भी हो जाय आप जो समय दे देंगे उसपर पहुँच जाना आपके जीवन और व्यवहारकी सुन्दरता है। आयु जैसे-जैसे बढ़े वैसे-वैसे ही बालवृत्ति बढ़ती जाय—यह बात यदि किसी सन्तमें देखनी हो तो आपमें देखी जा सकती है। आपके जन्मदिवसमें हम यही देखनेके लिए सम्मिलित होते हैं कि आप कितनी बाल्यावस्थामें हैं। आपका आविर्भाव वंग देशमें हुआ था। आप प्रत्येक शास्त्रीय विषयकी स्वयं ही सटीक व्याख्या करते

हैं। बीचमें प्रश्न करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। आप शास्त्रोंके मूलका ही विशेष आदर करते हैं, आचार्योंके भाष्य या टीकाओंको उतना नहीं मानते। गायत्री, वेदान्तप्रक्रियाके चिदाभास और अन्तःकरणभेद तथा यज्ञ-शालाके निर्माणकी प्रक्रियाके विषयमें आपके अपने निजी विचार हैं। आपने निर्मलवाणी नामकी पुस्तकमें अपने सभी विशिष्ट विचारोंका विश्लेषण किया है।

पूज्य श्रीमहाराजजीके विषयमें आपने श्रीज्ञानाश्रम स्वामीसे सुना था। सबसे पहले आप दोनोंका मिलन रामघाटमें हुआ। परस्पर वार्तालाप करते हुए भिक्षाका समय हो गया। तब श्रीमहाराजजी अपने एक भक्तको आपकी भिक्षाके लिए संकेत करने ही वाले थे कि आपने उन्हें यह श्लोक बोलकर रोक दिया—

यत्यन्नं यतिपात्रस्थं यतिना चोदितं च यत्।
तदन्नं तु यतिर्भुक्त्वा व्रतं चान्द्रायणं चरेत्॥[1]

आप बोले कि आपके द्वारा प्रेरित भिक्षा ग्रहण करके कौन चान्द्रायण व्रत करेगा। इससे यह निश्चय हुआ कि स्वामीजी मन, वचन और कर्मसे यतिधर्म पालनमें संलग्न रहते हैं।

श्रीमहाराजजी आपके वैराग्य और संयमकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। एक बार आपने मौन लेकर अजगरवृत्ति अपनायी। उसमें यदृच्छालाभसन्तुष्ट होकर रहना होता है। इस व्रतको धारणकर आप अपने साधन-भजनमें संलग्न रहने लगे। पहले अन्नका अभाव रहा, किन्तु तीन दिन पश्चात् स्वयं ही नियमसे भिक्षा आने लगी। उस व्रतकालमें आपको एक बार पेचिशका घोर कष्ट हुआ। परन्तु आपका तो निश्चय था—**'सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्'** (सब दुःखोंको उनका कोई प्रतीकार न करके सहन करना)। अतः न कोई औषधि ली और न उपचार किया। तक्रके लिए भी किसीको संकेत नहीं करने दिया। आप रोटीको मलकर पानीमें भिगो लेते और उसे छानकर पानी पीते रहे। कष्ट बराबर बढ़ता रहा, परन्तु आपने कोई परवाह नहीं की। एक ब्रह्मचारीने एक भक्तको सूचित करना चाहा, परन्तु आपने उसे ऐसा करनेसे रोक दिया। बोले—"खबरदार, किसी

---

१. यतिके अन्न, यतिके पात्रमें रखे अन्न और यतिकी प्रेरणासे मिले हुए अन्नको खा लेनेपर यतिको चान्द्रायण व्रत करना चाहिए।

से कुछ मत कहना। साधुको 'भगवदाश्रित होकर रहना चाहिए; किसी भी संकेतसे अपनी आवश्यकता प्रकट नहीं करनी चाहिए। भगवन्निर्भरतामें ही आनन्द है। देखो, विश्वम्भर भगवान् क्या करते हैं ? उनसे कोई बात छिपी नहीं है। जब भगवान्‌से भी नहीं माँगना है तो मनुष्यकी तो बात ही क्या है ?'' बस, आप तो अपने घोर तप और तितिक्षामें ही तत्पर रहे। फिर बिना किसी प्रेरणाके स्वयं ही तक्र आने लगा। तब आपने उक्त ब्रह्मचारीसे कहा, "देख, भगवान्‌की कैसी कृपा है, कैसी देख-रेख है ?" आपकी आजतक ऐसी ही अयाचित वृत्ति है और महान् तितिक्षा एवं संयम हैं। किन्तु दीन-दुखियोंपर आपकी बड़ी दया है। इसीसे आपने देवत्रय मन्दिरमें एक धर्मार्थ अस्पताल खुलवाया है।

श्रीमहाराजजी और स्वामीजीने साथ-साथ श्रीज्ञानाश्रम स्वामीके यहाँकी यात्राएँ की थीं। श्रीमहाराजजी कहते थे कि यदि दो साधु साथ-साथ विचरें तो उनमें-से एकको दूसरेकी छायाकी तरह रहना चाहिए। अतः निश्चय हुआ कि मार्गमें एक नेता रहे और दूसरा छायाकी तरह उसके पीछे चले। स्वामीजी नेता रहे और श्रीमहाराजजी अनुयायी। महाराजजी कुछ भी नहीं बोलते थे। यदि मार्ग भूल जायँ तो भी न बतावें। बस, पीछे-पीछे चलते रहे। भूख-प्यास लगे तब भी न बोलें। जब स्वामीजी जल पियें तभी आप भी पियें। एक जगह मार्गमें बहुत गोखरू (काँटे) पड़े, फिर भी उसी मार्गसे चलते रहे; उसे बदला नहीं। इस प्रकार विचरते और भटकते बरुआ-घाट पहुँचे। यह वृत्ति पारस्परिक विश्वास और स्नेहको पुष्ट करनेवाली है तथा विचरणके रसकी अभिवृद्धि करनेवाली।

आप दोनों ही अद्वैतवादी हैं। परन्तु श्रीस्वामीजी अपनी प्रक्रियाका प्रतिपादन मूल शास्त्रग्रन्थोंके आधारपर करते हैं। आपका कथन है कि समाधिके बिना अप्रतिबद्ध अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता तथा सप्तम भूमिका प्राप्त हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञको महाप्रस्थानके समय सप्तम भूमिका अवश्य प्राप्त हो जानी चाहिए, भले ही वह एक क्षणके लिए ही हो। आप श्रुतिप्रतिपादित सत्य और अहिंसाका भी जोरदार समर्थन करते हैं। वैदिकी हिंसाको हिंसा नहीं मानते। प्राणायामका आप साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन करते हैं और उनके अनुभूत प्रयोग भी बतलाते हैं। आप निष्काम कर्मके पुजारी हैं। अपनेको किसी मानवगुरुका शिष्य नहीं मानते, केवल अनादि गुरु भगवान् शिवको ही अपना गुरु मानते हैं और

उनके प्रतिनिधिरूपसे ही दूसरोंको दीक्षा देते हैं, स्वयं किसीके गुरु नहीं बनते।

श्रीस्वामीजी और हमारे महाराजजीका लगातार एक-सा प्रेम-सम्बन्ध रहा। इन दोनोंके भक्त भी दोनों महापुरुषोंको समानरूपसे मानते हैं।

विरक्त सन्त और सत्सङ्ग

बेख्वाहिश बेपरवाह, कूटस्थ, स्वामी विवेकानन्द, हरिहरानन्द और बाबा सङ्कर्षणदासजी आदि विरक्त सन्त श्रीमहाराजजीके सत्सङ्गमें आते रहते थे। एक बार कूटस्थ बाबा जङ्गलमें जा रहे थे। सामनेसे शेर आ गया। आपने अपना डण्डा भूमिमें गाड़कर उसपर अपना दाढ़ीवाला चिबुक टेककर कहा, "देख, यह शरीर तेरा आहार है; भूख हो तो खा जा, नहीं तो रास्ता छोड़ दे।" शेर छलांग मारकर एक ओर चला गया और आप आगे बढ़ गये। ये निर्भयताकी मूर्त्ति थे, कूटस्थ आत्मामें इनकी गहरी निष्ठा थी। शरीरकी ओरसे बेपरवाह थे, किसी प्रकारकी इच्छा नहीं थी और निर्द्वन्द थे।

बाबा सङ्कर्षणदासजी, जिनका आगे चलकर वृन्दावनमें रामबाग नामका स्थान बना, उन दिनोंमें श्रीबदरीनारायणसे काशीतक विचरते रहते थे। ये अरवी भूनकर खाते थे और मट्ठा पीते थे। यही आपका फलाहारी भोजन था। आप निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहते थे। युगल-सरकार श्रीसीतारामजीकी उपासना थी। श्रीमहाराजजीसे आपका घनिष्ठ सम्बन्ध और प्रेम था। आप कहते थे कि ये साक्षात् उद्धवजीके अवतार हैं। ये भगवत्पार्षद ही अवतीर्ण हुए हैं। इनकी वृहस्पति-जैसी बुद्धि है, विगतस्नेह रहना ही इनका स्वरूप है और श्रीवृहस्पतिजीके शब्दोमें यही मोक्षकी विधि है—**'सर्बत्र विगतस्नेहः विधिर्मोक्षस्य पुत्रक।'** इनमें अनेकों प्रकारकी सिद्धियाँ हैं, तथापि ये उनसे काम नहीं लेते। मन्त्र-तन्त्र शास्त्रके भी ये अच्छे ज्ञाता हैं। उनके अनेकों प्रयोग इनके अनुभूत हैं। मैं इनके घर भी गया हूँ। महान् वैभवशाली घर है, क्या किसी राजा-महाराजाका होगा और अत्यन्त आचार-विचार सम्पन्न है।

मैंने प्रार्थना की कि उसका पता बताइये, हमारे लिए तो वह तीर्थ स्वरूप है, मैं वहाँ जानेके लिए लालायित हूँ। किन्तु अनेकों बार प्रार्थना

करनेपर भी उन्होंने बताया नहीं। कहा कि मैंने बाबाको यह वचन दिया है कि किसीको बताऊँगा नहीं। उन महापुरुषसे मैं वचनबद्ध हूँ, और कोई बात नहीं है।

यहाँ कुछ सत्सङ्गकी बातें भी लिखी जाती हैं। श्रीमहाराजजी कहते हैं—

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥'[1]

यह श्लोक भक्त और जिज्ञासु दोनों हीके लिए है। भगवान्‌के नाम रूप, गुण और लीलाओंका कीर्तन एवं श्रवण करना—यह भक्तका अभ्यास है। तथा 'संसार क्या है? मैं क्या हूँ?' इसपर विचार करना ज्ञान-मार्गीका अभ्यास है। उसकी दृष्टिमें वही सर्व है और वही सर्वातीत है। अन्तर्मुख दृष्टिसे वह सर्वातीत है तथा बहिर्मुख वृत्ति होनेपर वही सर्वरूप है। इसीको वेदान्तियोंका ब्रह्माभ्यास कहते हैं। किन्तु इसमें अन्वय अभ्यास तो वही कर सकता है जिसे स्वरूपका बोध हो गया हो। जो अतत्त्वज्ञ है वह इस अभ्यासका अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार कोई बहुत बड़ा धनी हो और उसकी जगह-जगह बहुत-सी कोठियाँ हों एवं अनन्त धन-धान्य हो तो वह किसी भी स्थानपर रहे उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका अभिमान बना ही रहता है। वह जानता है कि मेरी सम्पत्ति सर्वत्र है। इसको आवश्यकता नहीं कि वह सारी सम्पत्ति उसके सामने ही रहे। इसी प्रकार जिसका यह दृढ़ निश्चय है कि सारा प्रपञ्च मेरा ही स्वरूप है उसके लिए गोलोक, वैकुण्ठ और स्वर्ग नरक सब उसीका स्वरूप है। उसीका नहीं, वस्तुतः वही है। हाँ, साधकको तो निषेधका ही आश्रय लेना चाहिए। परन्तु उसीमें रह जाना बहुत बड़ी कमी है। इससे न तो पूर्णता होती है और न राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव ही हो पाता है। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब बोधकी दृढ़ता हो जाती है तो स्वयं ही उसकी दृष्टिमें सारा प्रपञ्च आत्मस्वरूप हो जाता है। गढ़मुक्तेश्वरमें मुझसे एक महात्माने कहा था कि एक बार जब वे हरिद्वारमें थे श्रीपूर्णाश्रम स्वामी वहाँ आये। उन दिनों ऐसा कठोर शीत

---

१. ब्रह्मका ही चिन्तन, ब्रह्मकी ही चर्चा और आपसमें ब्रह्मका ही बोध कराना—यह जो एक ब्रह्ममें ही तत्पर रहना है, इसीको बुद्धिमान् लोग ब्रह्माभ्यास मानते हैं।

था कि सब लोग बहुत कपड़े पहननेपर भी ठिठुर जाते थे परन्तु लोगोंने देखा कि स्वामीजी दिगम्बर होनेपर भी सर्वथा निश्चल थे। उनके शरीरमें रोमाञ्च भी नहीं देखा जाता था। कुछ महात्माओंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योमस्त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणतां बिभ्रङ्गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ।।[1]

अतः मुझे इस बातकी भ्रान्ति त्रिकालमें भी नहीं होती कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि कोई भी द्वन्द्व मुझसे भिन्न है। मैं चिदाकाश हूँ—इस बातका मुझे निरन्तर अनुभव रहता है।

प्रश्न—इससे तो यह जान पड़ता है कि जिनमें तितिक्षाकी कमी देखी जाती है उनमें बोधकी भी कमी रहती है ?

उत्तर—बोधमें कमी न हो तो भी बोधनिष्ठामें तो कमी माननी ही पड़ेगी। ब्रह्मनिष्ठमें तितिक्षाका होना स्वाभाविक है। देखो, जिस प्रकार यह शरीर मुझसे भिन्न है उसी प्रकार प्राण और मन भी तो मुझसे भिन्न ही हैं। परन्तु जिस प्रकार शरीरके अवयवोंको हम इच्छानुसार काममें ला सकते हैं उस प्रकार मन और प्राणपर हमारा शासन नहीं है। प्राण और बुद्धि अपने अधीन न होनेके कारण हम उनके अधिपति होनेपर भी उस आधिपत्यको खो बैठे हैं। सनकादि और आधुनिक बोधवानोंके बोधमें कुछ भी अन्तर नहीं है। किन्तु सनकादि महर्षियोंको एक क्षणके लिए भी स्वरूपविस्मृति नहीं होती। इसीसे उनकी यथेच्छ गति है। उनके शरीर दिव्य हैं। भगवान् श्रीकृष्णने जो रासलीलाकी थी वह क्या बिना मन और प्राणपर आधिपत्य हुए होनी सम्भव थी। इसी प्रकार श्रीपूर्णाश्रमजीके समान जो कोई दिव्य देहधारी योगी उत्पन्न हो जाते हैं उनमें हम लोगोंकी अपेक्षा अधिक तितिक्षा देखी जाती है। किन्तु यदि

---

१. तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम पवन हो, तुम अग्नि हो, तुम जल हो, तुम आकाश हो, तुम पृथ्वी हो और तुम ही आत्मा हो। इस प्रकार तुम्हारे प्रति इस परिच्छिन्न वाणीका व्यवहार होनेपर हमें ऐसा कोई तत्त्व ज्ञात नहीं है जो तुम नहीं हो।

हमें वस्तु लक्षित हो गयी है तो बोधमें तो उनके और हमारे बीचमें कोई अन्तर हो नहीं सकता।

प्रश्न—बोध हो जानेपर राग-द्वेष आदि मनके विकार रहते हैं या नहीं ?

उत्तर—'वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥'[1]

इस कारिकासे यह सिद्ध होता है कि बोध राग-द्वेषकी निवृत्ति होनेपर ही होता है। जिसे यह अनुभव होता है कि मेरे अन्दर राग-द्वेष है उसे कभी बोध नहीं समझना चाहिए। बोधवान्‌की दृष्टिमें तो राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होता है। जब उसकी समष्टि-दृष्टि हो गयी तो उसे राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं ? राग-द्वेष तो मनके विकार हैं और उसके मनका तो विवेककालमें ही सर्वथा अभाव-सा हो जाता है।

प्रश्न—सुना जाता है कि राग-द्वेष तो मनके धर्म हैं, उनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञानीके राग-द्वेष निवृत्त हो ही जायँ।

उत्तर—'रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन' इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि मन तुमसे अलग है। यदि उसका पृथक्त्व ठीक-ठीक अनुभव होगा तो मन तो निःसत्त्व हो जायगा। फिर उसमें राग-द्वेष होंगे कैसे ? राग-द्वेष तो अविवेकसे ही होते हैं। जब विवेक होनेपर मन निःसत्त्व और जड़ हो गया तो उसमें राग-द्वेष कैसे होंगे। राग-द्वेष तो न भक्तको हो सकते हैं और न ज्ञानीको, क्योंकि भक्त प्रत्येक विधानमें भगवान्‌का आदेश देखता है और ज्ञानी प्रारब्धभोग। इसलिए दोनों हीमें राग-द्वेषकी सत्ता नहीं रहती।

प्रश्न—भगवन् ! द्वेषकी अपेक्षा भी रागका छूटना कठिन जान पड़ता है ?

उत्तर—रागकी निवृत्ति केवल विवेकसे नहीं होती। विवेकसे तो राग-द्वेषकी निवृत्तिकी कुञ्जी मिल जाती है। इसकी पूर्ण निवृत्ति तो भगवत्प्रेम और आत्मप्रेमसे ही होती है। भगवान् या आत्मामें राग

---

१. जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन वेदके पारगामी मुनियोंको ही इस प्रपञ्चातीत अद्वितीय निर्विकल्प तत्वका साक्षात्कार होता है।

होनेसे लौकिक राग निवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार लोहेके शस्त्र बिना लोहा नहीं कटता उसी प्रकार रागरूप शस्त्रके बिना राग नहीं कटता।

× × × ×

कर्णवासमें गङ्गाजीके किनारे एक पक्की गुफा है। उसमें बाबा जयरामदासजी रहते थे। आपको विरक्त सन्तोंसे मिलनेका शौक तो था ही। उनसे मिलनेपर आपने पूछा, "कृपया आप अपना अनुभव बताइये। साधु होनेसे आपको क्या लाभ हुआ?"

जयरामदासजी सीधे-सरल सन्त थे। उन्होंने सीधा उत्तर दिया—"सांसारिक झंझटोंसे बच गया। केवल एक घण्टा भिक्षाके लिए निकलना पड़ता है, शेष तेईस घण्टे तो मैं शाहंशाह हूँ। प्रार्थना, भजन, ध्यान, तप कुछ न कुछ होता ही है। इससे अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता।

इन्हीं दिनों आपको प्रथम बार ब्रह्मचारी शरच्चन्द्र मिले। ये पहले वारीसालमें वकील थे। आगे चलकर ये श्रीस्वामी पूर्णानन्द गिरि नामसे प्रसिद्ध हुए। ऋषिकेशमें मुर्दाघाटपर इनका 'शिवालय' नामका स्थान है, जिसे बंगाली मन्दिर भी कहते हैं। अनूपशहरके स्वामी निर्वाणानन्द इन्हींके शिष्य हैं। इनके शिष्योंमें स्वामी ज्ञानानन्द, महामण्डलेश्वर स्वामी निर्दोषानन्द और स्वतन्त्रानन्द तथा असंगानन्द अनन्तानन्द एवं विज्ञानानन्द आदि कई उच्चकोटिके अनुभवी और विद्वान् सन्त हुए हैं। श्रीमहाराजजीने उनसे पूछा, "साधु होनेके पश्चात् क्या करना चाहिए?" वे बोले, "बिना माँ शक्तिकी उपासना किये कोई परमपिता परमेश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता। गायत्री भी शक्ति है। अतः गायत्रीका अनुष्ठान और गायत्रीकी आराधना भी परम पिताकी प्राप्तिके साधन हैं।"

अपनी बात

मैंने अपने एक मित्रको लिखा था कि मैं आज-कल गङ्गातटपर जीते-जागते गुरुभगवान्के चरणोंमें रहता हूँ। मैं तो केवल सुनता था कि समग्र वैराग्य, यश और श्रीवाले भगवान् हैं। तुम विश्वास करना, मैंने इसका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ यहाँ आकर ही पाया है। इनके वैराग्यका तो कहना ही क्या है। अनन्त वैभव मूर्त्तिमान् होकर चारों ओरसे घेरे रहते हैं तथा अनन्त सौन्दर्य, लावण्य एवं माधुर्य अपनी मधुर मुसकान और सरस वाग्विन्यासके सहित सामने आते हैं, फिर भी ये नारायणके समान निर्लेप

हैं। परन्तु अपनी दृष्टिके चमत्कारसे ये सुन्दरको भी सुन्दर करनेवाला जीवन प्रदानकर अनुगृहीत कर देते हैं। इस निरिच्छ महापुरुषकी सारी व्यवस्था प्रकृति महारानी स्वयं करती हैं। उन्हें कहने, सुनने या संकेत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। उनकी उदार कीर्त्ति दशों दिशाओंमें फैली हुई है। घरमें मेरे सामने यह प्रश्न आता था कि माँ-बाप क्यों विवाह कर देते हैं। तब अपने-आप उत्तर मिलता था कि इन लोगोंने इससे बढ़कर कोई सुख नहीं देखा। जहाँतक इन्हें सुख मिला है वहींतक ये अपनी सन्तानको ले जाते हैं, क्योंकि अपनी अनुभूत पूँजी ही अपने शिष्य या पुत्रको दी जाती है। परन्तु भाई ! विश्वास करना, मैं विचरता-विचरता यहाँ आया और यहाँ श्रीमहाराजजीके पास रहकर और उनके दर्शनकर यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि निरतिशय आनन्दकी निरुपम सौन्दर्य-माधुर्यलहरी इनके रोम-रोमसे लहरा रही है। यहाँ विषयनिरपेक्ष नित्यानन्दने नित्यमोहिनी मूर्त्ति धारणकर अगणित जीवोंको पागल कर रखा है। अनेकोंकी दृष्टियोंके द्वारा पान किये जानेपर भी इनकी माधुरीमें कोई न्यूनता नहीं आती, प्रत्युत अक्षुण्ण प्रसन्नताकी मधुधारा अनवच्छिन्नरूपसे अनवरत बहती रहती है। अब मालूम हुआ कि यहाँ है वह आनन्द जो बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है। ये ही आनन्दकी पराकाष्ठा हैं। इनके रूपमें ही दृश्यनिरपेक्ष प्रदीप्त आनन्द प्रस्फुट क्रीडा कर रहा है। जैसे आशुतोष भगवान् शङ्करके रोम-रोमसे आनन्द झरता है वैसे ही यहाँ भी झर रहा है। ये सहस्र-सहस्र अमृतधाराओंमें स्वयं आन्तरिक स्नान करते हुए अगणित प्राणियोंको अपने कृपाकटाक्षकी अमृतप्रदायिनी आनन्दधाराओंसे आप्लावित करते हैं। पद-पदपर इन्हें आलिंगन करनेको हृदय उतावला हो जाता है। अगणित रसनाएँ इनके चरणकमलपरागका आस्वादन करनेके लिए लालायित रहती हैं। अब यहाँ आकर मुझे मालूम हुआ कि महत्पदरजोभिषेकसे ही जीवोंको भक्ति प्राप्त होती है। अब तो स्पष्ट अनुभव होता है कि हमारे लिए और कोई द्वार है ही नहीं। सारी आयु शरीर और चित्त आदिका मार्जन करते हुए ही बीत गयी। परन्तु यह ध्यानमें नहीं आया कि ये पञ्चभूतोंके विकार पवित्र कैसे होंगे। सच्ची समझदारी तो यही है कि पवित्रको पवित्र जान ले और जो देहादि सदा अपवित्र हैं उन्हें अपवित्र देख ले। इतना ही नहीं, इन्होंने तो भीतर बाहरसे इनकी काया ही पलट दी। भीतर श्रद्धा-भक्तिमयी मूर्त्तिका आविर्भाव किया और उसमें विचारमयी बुद्धिको

प्रदीप्तकर कृपासिन्धु नामकी चातक-रटन चालू कर दी। तब यह मालूम हुआ कि गुरु तो साक्षात् ब्रह्म ही हैं। इन्होंने इसे इस आधि-व्याधिसंक्रान्त यातनाशरीरसे निकालकर तथा काम-क्रोधादिसे विभ्रान्त मनोमय शरीरसे उबारकर यह नया भावमय शरीर प्रदान किया है। इस शरीरकी नस-नाड़ियोंमें श्रद्धा-भक्तिकी रसधाराका सञ्चार किया और उसके दिव्यचक्षु एवं ज्ञानचक्षु खोलकर सच्चे मानव जीवनमें प्रतिष्ठित कर दिया। इस नवजात शिशुके पालन-पोषणका भार भी उन्होंने स्वयं ही वहन किया। भक्तिरसामृतसिन्धुमें स्नान कराते, ज्ञानामृतरसका पान कराते और विज्ञानरसायनका आस्वादन कराते हुए ये अनपायी आनन्दका अर्क पिलाकर निरन्तर पुष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार ये ही इस नवजात भावरसमूर्त्तिका पालन-पोषण करनेवाले विष्णु हैं। इस शिशुको अभिवर्धनसे वञ्चित करनेवाली डाकिनी, शाकिनी और पिशाचिनी आदिको नष्ट करके सुरक्षित रखनेवाले त्रिशूलधारी त्रिनयन त्रिपुरारि भी ये ही हैं। ये केवल मेरे लिए ही नहीं जिन-जिनने भी इनके द्वारपर सिर झुकाये हैं उन सभीके लिए ऐसे ही हैं। ये ऐसे कृपानिधि हैं कि जन्म-जन्मान्तररूप नदीधारामें कीट, पतङ्ग एवं बिच्छूकी तरह बहनेवाले अगणित प्राणियोंके स्वाभाविक दोषरूप डंकोंका विचार न करके ये उन्हें परम निवृत्तिरूप आनन्दतटमें फेंक देते हैं। ऐसी जगह फेंकते हैं जहाँसे उन्हें फिर लौटना न पड़े।

मेरी यह जिज्ञासा और खोज थी कि वह दृष्टि कहाँ और कैसे मिले जिससे मैं कण-कणमें उस अविकृत वस्तुके सौन्दर्यका दर्शन कर सकूँ। आपने ही उसकी कुञ्जी दी और बताया—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

आपने इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया—शरीरादि उपाधिके उत्क्रमण करनेपर अर्थात् भिक्षादिके उद्देश्यसे जानेपर, 'ध्यान करता हुआ-सा, गमन करता हुआ-सा' इस न्यायसे स्वयं उत्क्रमण करते हुए—जाते हुएके समान, उपाधिके स्थित होनेपर स्थितके समान और भोग करनेपर भोग करनेवालेके समान गुणान्वित गुणोंसे अर्थात् सत्त्वादि गुणोंके विकार सुख, दुःख, काम, क्रोध, भय, मोह आदिसे अन्वित होनेपर स्वयं भी गुणोंसे अन्वितके समान, प्रतीत होनेवाले, किन्तु स्वभावसे निष्फल, निष्क्रिय, निर्विकार, निर्विकल्प चिदेकरस आनन्दघनस्वरूप आत्माको ज्ञानचक्षुवाले

देखते हैं। प्रत्यग्भावको प्राप्त हुई शुद्ध बुद्धिवृत्ति ही ज्ञान है, वही रूपादिके ग्रहणमें चक्षुके समान स्वरूपके ग्रहणमें चक्षु है, उस ज्ञान-चक्षुसे सम्पन्न शुद्ध मनवाले अविक्रिय यति ही देखते हैं। आहारादि सब कर्मोंमें ही सर्वदा अपने स्वरूप आत्माको निष्फल निष्क्रिय, नित्य शुद्ध एवं सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित परिपूर्ण ही देखते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है। विमूढ़ अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट आशायुक्त मनवाले, दुर्बुद्धि, बहिर्मुख, सत्यासत्यके विवेकसे रहित, वैराग्य-संन्यास, शम-दमादि साधन-सम्पत्तिसे तथा तीव्र मुमुक्षासे रहित एवं सद्गुरुकी उपसत्तिसे सम्पादित विवेकज्ञानसे शून्य पुरुष 'मैं ही यह सब हूँ' इस वाक्यके अनुसार आत्माको नहीं देखते। किन्तु कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, मैं मारा गया, मैं मरता हूँ तथा मेरा यह नष्ट हो गया—इस प्रकार देखते हैं।

मैंने आपके मुखसे यह व्याख्या सुनी और यह मेरे चित्तको जँच गयी। परन्तु फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। तब भीतरसे आवाज आयी कि चिन्ता क्यों करता है? देख, किसके चरणसान्निध्यमें है। करुणावरुणालयके पास रहकर क्या तू कङ्गाल रह सकता है? तनिक धीरज रख, श्रीमुखकी ओर चकोरके समान टकटकी लगा, श्रीयुगलचरणचञ्चरीक बन और देख। सब कुछ मिल गया, फिर भी अधीर! करुणावरुणालय अन्तर्यामी हैं, अलख भण्डारी हैं। उनके यहाँ देरीका क्या काम?

इसके पश्चात् जब रामघाटमें सायङ्कालमें गङ्गातटपर ध्यानस्थ होकर बैठा तब अकस्मात् मेरा चित्त स्वयं ही समाहित हो गया। शरीर भित्तिके समान अलग रखा दिखायी देने लगा। ऐसा अनुभव हुआ मानो छिलकेके समान इस शरीरको किसीने उतार दिया। चित्त अचित्त हो गया तथा तापत्रयात्मक सङ्कल्पोंका भी व्यवधान नहीं रहा। तब यह मालूम हुआ कि यह पञ्चकोशस्थ शरीर ही सारे जञ्जालकी जड़ है। आपने इसे उतारकर स्पष्ट दिखा दिया कि इस उपाधिके उतर जानेपर सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तता सरल ही है। चित्तवृत्तियाँ शान्त हो गयीं। उस समय मालूम हुआ कि प्रशान्तवृत्तिक योगीको जो परमानन्द प्राप्त होता है वह क्या है? निर्विकल्प चित्त और निःसङ्ग प्रज्ञाका क्या रस है—कुछ कहते नहीं बनता। उन्होंने इसे छकाया। तब यह अनुभव हुआ कि हमारे गुरुदेव इस रसको पीते हैं और पिलाते हैं। वे प्रियतमके रङ्गमें रँगे हैं और रँगते हैं तथा स्वयं ही प्रियतम हैं। इस प्रकार जिस-जिसने जिस-जिस रङ्गकी इच्छा की उसे वही भरपूर दिया। अपनानेकी पद्धति बतायी। क्या कहें,

उन्होंने तो स्वयं अपनेको ही दे दिया। सच्ची बात तो यह है कि ये एक गिलास जलमें बिक जानेवाले करुणावरुणालय सरकार सदाशिव हैं।

फिर आपने हमारा प्रथम विद्याभ्यास इस श्लोकसे आरम्भ किया— **'पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम्।'** 'शरीर' शब्दसे पञ्चकोशात्मक शरीर ग्रहण करना चाहिए, केवल स्थूल शरीर ही नहीं इससे अतिरिक्त जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है। इसमें उपादेय दृष्टि त्यागकर हेय दृष्टिद्वारा इसे अलग करो। यही परम निवृत्तिका सोपान है। इस प्रकार अधिक क्या कहें, मेरे ही नहीं, अनेकों गाँठके पूरों किन्तु नेत्रोंके अन्धोंके दिव्यचक्षु और ज्ञान-चक्षु आपने ज्ञान-विज्ञान शलाकासे खोल दिये। फिर तो नेत्रोंसे रूपके समान यह स्पष्ट दिखायी देने लगा कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च और स्वयं मैं एक विशुद्ध ब्रह्म ही हैं। इससे यह बात स्पष्ट अनुभवमें आ गयी कि जो ज्ञान, अज्ञान और उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका रहस्य खोलते हैं वे स्वयं भगवान् ही हैं। इनकी भगवत्ताका तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिवस्वरूपताका वास्तविक रहस्य खुल गया। कैसे उदार हैं ये कि स्वयं अकुलाकर अपने जन्म-जन्मान्तरसे श्रीचरणाश्रितोंको पुकारते हैं।

गुरु और गुरुपूर्णिमा

बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

प्रत्येक आस्तिक मानव क्या चाहता है? हमको ऐसा भगवान् चाहिए जो कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथा-कर्तुं समर्थ हो। अर्थात् ऐसा भगवान् चाहिए जिसका हम हर दुःख-दर्दमें मुँह ताकें, जिसके आगे हर आवश्यकतामें हाथ पसारें और जो हमारे दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति करके हमें परमानन्दकी प्राप्ति करा दे। देखिये, भगवान् श्रीकृष्ण अपने गुरुके मृतक पुत्रोंको लौटा लाये। प्रार्थना करनेपर उन्होंने अपने भक्तोंको द्विभुज, चतुर्भुज आदि रूपोंमें दर्शन दिये। इसीसे आजतक हम उन्हें भगवान् मानते हैं। ऐसा न होता तो वे भी गप हाँकनेवाले प्रगल्भी अर्जुन-जैसे ही सिद्ध होते, जो द्वारिकावासी ब्राह्मणके पुत्रको मृत्युसे नहीं बचा सका। इस प्रकार जो हमारा कार्य सिद्ध करा दें वही हमारे भगवान् हैं। देखो, भगवान् व्यासने महाभारतके अन्तमें मृतक वीरोंको उनके सम्बन्धियोंकी सान्त्वनाके लिए एक रातको स्वर्गसे आवाहन करके बुला दिया था।

उन्होंने तरह-तरहसे समझाया, पर सम्बन्धियोंका सन्ताप निवृत्त नहीं हुआ। अतः जिस-किसीमें भी ऐसी कोई अलौकिक शक्ति होती है उसीको हम भगवान् मानते हैं। केवल बौद्धिक तर्क और युक्तियोंसे कोई किसीको ईश्वर माननेके लिए तैयार नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति साधारणतया उसीको भगवान् मानता है जो नवीन जीवन प्रदान करनेवाला हो, उसका पोषक या रक्षक हो तथा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति कर देता हो। यही नहीं जो भयंकर स्थितियोंमें साथ देता हो, इस जीवनमें स्वर्गकी प्राप्ति करा देता हो और नरकमें ले जानेवाले दुर्दान्त दैवको हटा देता हो। ऐसा वाञ्छाकल्पतरु यदि ब्रह्मज्ञानसे युक्त हो तब तो कहना ही क्या है? यह है दुःख-दर्दोंसे जर्जरित हृदयोंकी माँग। समस्याओंसे घिरे हुए, जलनसे जर्जरित दीनोंको तो दीनबन्धुकी ही चाह होती है। उसे किसी भी नामसे कहें—इसमें कोई आपत्ति नहीं। ये हिले हुए हृदयोंको ढाढ़स बँधाकर बैठाते, जले हुए जीवनको मृतकसञ्जीवनी पिलाकर सजीव करते तथा निराशासे म्लान मुख-मण्डलोंको हर्षकी किरण देते हैं। कहना न होगा कि इन नित्यावतार गुरुदेव में सभी आश्रितोंके प्रतिपालनका सामर्थ्य विद्यमान होता है। इनके विषयमें कहा जा सकता है कि **"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान यथारथ॥"** इन्हें आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चारों प्रकारके भक्त हर समय घेरे रहते हैं। किन्तु यह स्पष्ट देखनेमें आया कि **'दाता एक राम, भिखारी सारी दुनिया।'**

इसलिए इन वाञ्छाकल्पतरु गुरुदेवका पूजन करनेके लिए प्रतिवर्ष आषाढ़ी पूर्णिमाको बड़ी धूमधामसे गुरुपूर्णिमा मनायी जाती थी। **'गुरु पितु मातु महेश भवानी। प्रणवहुँ दीनबन्धु दिनदानी॥'** इस उक्तिके अनुसार ये गुरु, पिता, माता, महेश्वर, जगदम्बा भवानी, दीनबन्धु और दिन-दिनके दाता सभी कुछ थे। इसी दृष्टिसे जब गुरुपूर्णिमा आती तो सभी भक्तजन बड़े उत्साहसे आपका पूजन-अर्चन करनेके लिए आते थे। गोवर्धन-पूजाके लिए जैसे श्रीबालकृष्णके आदेशसे सभी व्रजवासी नर-नारी उत्साहमें भरकर बड़ी सज-धजके साथ थालोंमें तरह-तरहके व्यञ्जन लेकर गोवर्धनकी तलहटीमें एकत्रित हुए थे वैसे ही जब आषाढ़ी पूर्णिमा आती तब श्रीमहाराजजीके अधिकांश भक्त उनकी सन्निधिमें एकत्रित हो जाते थे। एक चौकीपर सुन्दर आसन बिछा दिया जाता था। उसपर आप कृपाकटाक्ष-कान्तियोंको बिखेरते हुए सिद्धासनसे विराज जाते

थे। उस समय आपके रोम-रोमसे प्रसन्नता प्रस्फुटित होने लगती थी तथा आपकी मधुर मुसकान सभी भक्तजनोंके चित्तोंको चुरा लेती थी। आप उनकी बालोचित पत्र-पुष्प एवं फल आदिकी पूजाको स्वीकार करते थे और **'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्योददाम्येतद्व्रतं मम'** के अनुसार अपने इन शरणागतोंको आप अभयदान कर देते थे। आपका वह चन्दनचर्चित मुखारविन्द, वह विल्वपत्राङ्कित परमशिव-विग्रह, जो भक्तोंके लिए साक्षात् प्रेमरससागर ही था, देखते ही बनता था। उस समय भक्त यही प्रार्थना करते थे—

'नाथ भक्ति तव सब सुखदायिनि। देहु कृपा करि सो अनपायिनि॥'

इसके उत्तरमें उनकी कृपारसमयी मुसकान मानो कह रही थी— **'सफल मनोरथ होहिं तिहारे।'** इस समय भक्तोंके उल्लास और उत्साहका क्या कहना। वे सब एकस्वरमें कहने लगते थे—

'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। प्रभु प्रताप दुर्लभ कछु नाहीं॥'

भक्तोंका यह स्पष्ट अनुभव था—

'ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोर्पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥'

कभी **'श्रीगुरवे नमः'** इस मन्त्रका संकीर्तन होता था और कभी **'न गुरोरधिकम्'** इस मन्त्रका। एक ओर महामन्त्रका अखण्ड संकीर्तन चलता रहता था। अपूर्व आनन्द छा जाता था। आनन्दमूर्त्ति श्रीमहाराजजीको देख-देखकर भक्तोंके नेत्र तो अतृप्त ही रह जाते थे। यह स्पष्ट मालूम होता था कि स्वयं श्रीपूर्णेश्वर महादेव ही कैलाससे पधारकर सहज समाधिमें विराजमान हैं। उस समयके आनन्दको क्या कहा जाय—**'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'** वाली बात है। इतनी भीड़ होती थी कि व्यक्तिगत पूजाका तो अवकाश ही नहीं था। इसलिए एक-एक गाँवकी टोली मिलकर पूजन करती थी। अपने-अपने इष्टके अनुसार आपमें भक्तोंके विचित्र भाव थे। अतः भक्तगण अलग-अलग सभी देवताओंकी आरतियाँ गाते थे। अनेकों महापुरुषोंका ऐसा मत था कि इतने विशालरूपमें किन्हीं महात्माका पूजन होते नहीं देखा गया।

किन्तु विशेषता यह थी कि हजारों भक्त एकत्रित होनेपर भी आप अलग-अलग सभीका ध्यान रखते थे; जैसा कि भगवान् रामके विषयमें कहा है—

'अस कपि कोउ न सेना माहीं । राम कुशल जेहि पूछा नाहीं ॥'

इतने बड़े परिकरकी वे रात-दिन देख-भाल करते थे। माताके समान खिलाते, पिताके समान रक्षा करते; बृहस्पतिके समान शिक्षा-दीक्षा देते और भोला शंकरकी भाँति सर्वस्व दान करते थे। इस प्रकार मानो परम-पिता परमेश्वर ही अपने अभिन्न अंश जीवोंका प्रतिपालन करनेके लिए आविर्भूत हो गये थे। पतित और दीनोंपर तो आप बड़ी कृपा करते थे। उनके हृदयका संकोच निकालकर, उनकी पश्चात्तापकी अग्नि बुझाकर और उनपर आनन्दामृत छिड़ककर उन्हें सदाके लिए अपना लेते थे। प्रभो ! आपने सब कुछ प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। आपका पतितपावन नाम ध्रुव सत्य है। इसलिए सभी मिलकर गाते हैं—**"दीनदयालु विरद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥" 'दीनबन्धु दीना नाथ । मेरी डोरी तेरे हाथ ॥'**

इससे स्पष्ट जान पड़ता था कि ये विश्वप्रेमकी महती मूर्त्ति हैं, आत्मप्रेमकी अधिकृत व्याख्या हैं और आत्मानन्दके मूर्त्तिमान् वैभव हैं। मालूम होता था कि कृपासमुद्र अपनी मर्यादा तोड़कर सबको डुबाता जा रहा है। अनुभव होता था कि भगवान्‌की माया तो जीवको फँसानेवाली है, किन्तु गुरुकृपा उसे मुक्त कर देती है। भगवान् निरपेक्ष द्रष्टा हैं, किन्तु गुरु सर्वहितस्रष्टा हैं। सचमुच जीव, जगत् और ईश्वर भी जबतक गुरुकृपाके भाजन न हों, अपूर्ण ही हैं। उनकी पूर्ण दृष्टि ही इनके पूर्ण सौन्दर्यका उद्घाटन करती है। यह सन्त, भक्त और विरक्तोंकी अनादि कालसे अनुभूति है कि गुरु ही भगवान् हैं, नहीं, नहीं वे भगवान्‌से भी बढ़कर हैं। कविजन जब पाषाणोंमें सामगान सुनते हैं, नदीकी धाराओंमें श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराणोंका अवलोकन करते हैं तथा वनस्थलीकी वृक्षावलियोंमें विस्पष्ट दिव्य वाणियाँ सुनते हैं, तब यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि गुरु-कृपा सान्तमें अनन्तका, शवमें शिवका, जड़में चैतन्यका और अपूर्णमें पूर्णका दर्शन करा दे। अजी ! अजर-अमर काव्यके अनन्त सौन्दर्यका रसपान करनेवाले, भक्तोंको रूपरससागरमें डुबा-डुबाकर अनन्त गुणगणनिलयके नित्य सौन्दर्य, माधुर्य और सौशील्यका आस्वादन करानेवाले तथा कर्मियोंके हृदयमें देवताओंके कृपा-कटाक्षकी महिमा अङ्कित करनेवाले तो श्रीगुरुदेव ही हैं। यह है गुरुदेव श्रीपूर्णेश्वर महादेवकी महती देन।

हाथरसके भक्त

पं० गयाप्रसादजी—पं० गयाप्रसादजी परम विद्वान्, विनयशील और भक्तहृदय महापुरुष हैं। ये पहले हाथरसमें ही रहते थे। इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, परन्तु आपका परमधन तो सन्तोष ही था। आप भगवदिच्छामें प्रसन्न रहते थे, साक्षात् सुदामाजीके ही स्वरूप थे। श्रीमहाराजजीमें इनकी अटूट श्रद्धा थी और बाल-गोपाल भगवान्में अनन्य अनुराग था। किसीको श्रद्धाका स्वरूप देखना हो तो इन्हींमें देखे। एकबार श्रीरासबिहारी ठाकुरजीने कहा कि व्रजवास तो आप जैसोंके लिए ही है। बस, तभ से आप हाथरस छोड़कर गोवर्धनमें रहने लगे। आप तेरह-चौदह वर्षसे निरन्तर मौन रहते हैं। मैंने एकबार पूछा था कि आप मौन क्यों रहते हैं। तब आपने बताया कि निरन्तर नाप-जप होता रहे—इसलिए। अब आप गोवर्धन छोड़कर कहीं नहीं जाते। स्त्रियाँ आपके पास नहीं जा सकतीं। आप भावकी मूर्त्ति हैं, व्रजरजमें आपकी अटूट निष्ठा है। श्रद्धाकी सरसता आपमें स्पष्ट झलकती है। जिन्हें साधनकी तत्परता देखनी हो उन्हें इनके सान्निध्यमें जाना चाहिए। आपने एक गुरुपूर्णिमाके अवसरपर बताया था कि **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।'** (गीता १७।६५) का रहस्य यही जान पड़ता है कि उपासनामें गुरुदेव ही सर्वस्व हैं। मेरे लिए तो यही परम आश्वासन है कि उन्होंने मुझे कृपादृष्टिसे देख लिया। ऐसा होनेपर अब मेरा सब प्रकारका कल्याण होना सुनिश्चित है। श्रीमहाराजजीने कहा था कि भगवान् जब हमसे भजन-साधन करावें तभी उनकी कृपा समझनी चाहिए। बस, अब मैं तो यही देखता हूँ कि **'मो पै करहिं सनेह विशेषी।'**

श्रीवंशीगोपालजी तिवारी—श्रीतिवारीजीसे मैंने पूछा था कि आप श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें कैसे आये? तब उन्होंने बताया कि मेरे गायत्री के गुरु चित्रकूटनिवासी बाल-ब्रह्मचारी श्रीसुरैयाजी थे। मैंने सुना था कि वे मकरोंसे खेलते हैं। मैं उनके पास गया और उनसे कहा कि चलिये मकर-घाटपर मन्दाकिनी-स्नान कर आवें। हम वहाँ पहुँचे तो ब्रह्मचारीजीने मन्दाकिनीमें छलांग लगा दी। उन्हें चारों ओरसे आकर मकरोंने घेर लिया। वे कहने लगे, "आइये दशरथजी महाराज! लखनलालजी महाराज! रामजी महाराज!" इत्यादि। उन्हें मकरोंसे घिरा देखकर मैं तो रोने लगा। परन्तु उनका यह खेल देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। थोड़ी

देरमें ही वे बाहर आये और मुझसे स्नान करनेका आग्रह करने लगे। मेरा साहस न हुआ। तब उन्होंने मुझे उठाकर मन्दाकिनीमें फेंक दिया। मुझे यह चेत नहीं रहा कि फिर क्या हुआ। जब चेत हुआ तब देखा कि ब्रह्मचारीजी मेरा शरीर पोंछ रहे हैं। इसी प्रकार एकबार मैं उनके आश्रमके कुएसे जल खींच रहा था। तब मैंने देखा कि मेरी रस्सीके साथ साँपोंका एक जोड़ा लिपटा हुआ आ रहा है। देखते ही मैं हा-हाकार करने लगा। तब ब्रह्मचारीजी आये और बोले, "जा चमर्रा तुझे चाम ही दीखता है, यह तो राम हैं।" फिर आपने रस्सी खींचकर दोनों साँपोंको छुड़ाया और उन्हें अपनी पीठपर इधर-उधर डाल लिया। एकबार उन्होंने मुझे अपने साथ ध्यानमें बैठाया। उस समय मेरे मनमें बागला कालेजका चिन्तन होने लगा। तब आप बोले, "अरे! भजन करता है या बागला कालेजमें घूमता है। भजनका अर्थ है 'भज न' अर्थात् कहीं भगे नहीं।" उन्हीं समर्थ गुरुने मुझे आज्ञा की थी कि तुम श्रीउड़िया बाबाजीकी शरणमें जाओ। बस, वहीं सत्सङ्ग करना और कहीं मत जाना। यहाँ आकर मैंने देखा कि बाबाको तो सभी प्रकारकी प्रकृतिके लोग घेरे रहते हैं। परन्तु ये सदाशिवकी भाँति सर्वदा सहज समाधिमें ही रहते हैं। मुझे शिवरूपसे इनके दर्शन भी हुए हैं। एकबार कर्णवासमें दुर्गा नवमीके अवसरपर दुर्गा-मन्दिरमें इनकी सन्निधिमें 'जय दुर्गे जय दुर्गे दुर्गे जय दुर्गे जय श्रीदुर्गे' यह सङ्कीर्तन आरम्भ हुआ। कीर्तन आरम्भ होते ही मैंने नेत्र मूँद लिये। जब नेत्र खोले तब देखा कि श्रीमहाराजजी अपने आसनपर नहीं हैं। उनके स्थानमें सिंहवाहिनी दुर्गाजी विराजमान हैं। मैं आश्चर्यचकित हो बड़ी देरतक उनके दर्शन करता रहा। फिर अकस्मात् वे अन्तर्धान हो गयीं और श्रीमहाराजजी दिखायी देने लगे। मैं मन्त्रमुग्ध-सा हुआ वह सब लीला देखता रहा। यहाँ तक कि सङ्कीर्तन समाप्त होनेपर सब लोग चले गये और मुझे कुछ भी पता नहीं चला। ऐसी थी उनकी अद्भुत लीला। देखिये शास्त्र कहता है—

बिनु पग चलहि सुनहि बिनु काना। बिनु कर कर्म करहि विधि नाना॥

आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बाणी वक्ता बड़ जोगी॥

तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। गहहि घ्राण बिनु बास असेषा॥

अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

इस सबका तात्पर्य यही है न कि ब्रह्मका सब काम दुबका-चोरीका है। भोग लगाया या नहीं—क्या पता ? केवल मन-मोदक खा लिया कि भोग लगा लिया। किन्तु कहते हैं कि आँख न होनेपर भी वह देखता अवश्य है, घ्राण इन्द्रिय तो नहीं है, परन्तु वह गन्ध सब लेता है। यह सब अलौकिक करनी तो अवश्य है, परन्तु उसकी प्रसन्नता स्पष्ट न दीखनेसे रहा सब ठन-ठनपाल ही। यह सब मन मारकर लीक पीटना ही तो हुआ, केवल रस्म-रिवाजकी ही बात तो हुई। इसमें क्या रखा है ? इन्द्रियाँ तो बेकार ही रहीं, आँखें तो अकुलाती ही रहीं और हृदय होते हुए भी धरा ही रहा। यह करनी अलौकिक भले ही हो, परन्तु सचाई तो यह है कि हाथ मलते रह जाना पड़ता है। मन मसोसकर मरना पड़ता है। इस वर्णनसे तो मालूम होता है कि यह अत्यन्त कूट स्वार्थी ब्रह्मकी बात है। इसलिए उसकी अलौकिक करनी होनेपर भी जीव तो सबके सब दुःखालयमें ही रहनेवाले हुए। ऐसी स्थितिमें यह दुःख कैसे मिटे। जैसे ब्रह्म-रामसे नाम-ब्रह्म बड़ा है, उससे भी बढ़कर सबको बृहत् आनन्दकी स्पष्ट अनुभूति करानेके लिये प्रत्यक्ष ब्रह्म श्रीगुरुमूर्त्ति प्रकट हुई है। यह तो आननसहित सकल रसभोगी है। यहाँ **'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः'** का परम्परागत गोत नहीं गाना पड़ता। हाँ, खूब दिल खोलकर भोग बनाओ और वे खूब चावसे रसवैचित्र्य और पाकवैचित्र्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भोग लगा रहे हैं। उनका मुखारविन्द, जो भावग्राही है, प्रस्फुट प्रसन्नताका आनन्दमय रस बिखेर रहा है। आप जैसे-जैसे भोग लगाते हैं भक्तगण देख-देखकर कृपाकटाक्षोंके रस तथा प्रफुल्लित मुखकमलके मधुका घूँट-घूँटमें आस्वादन करते जाते हैं। तब यह मालूम होता है कि ये सर्वरसबिहारी भी हैं। इतना ही नहीं, उनका अधरामृत-सिक्त प्रसाद पाकर भक्तगण अपनेको धन्य-धन्य मानते हैं कि ये अनन्त होकर भी हमारा भोग स्वीकार कर रहे हैं, अनेक रूप धारकर भक्तोंके हृदय और जीवनमें भी रसका सञ्चार कर रहे हैं। बस, नेत्र मिलनेका परम लाभ मिल गया, इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष ब्रह्मका आस्वादन हो गया। और हृदयकी भी सार्थकता हो गयी। ऐसी है यह कृपामयी गुरुमूर्त्ति। इससे मालूम हुआ कि निर्गुण ब्रह्म अधूरा है, उसकी पूर्णता सगुण सौन्दर्यके साथ होनेपर ही है। इसीलिये निर्गुणमें सगुणकी चित्रणा है। ब्रह्मरूपी सिक्केके ये दो पक्ष हैं। जब तक **'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा'** की अनुभूति नहीं होगी तबतक अधूरे ब्रह्ममें ही लटकना पड़ेगा। किन्तु यहाँ गुरुपद रज-

प्रपन्न भक्तको तो गुरुदेवकी कृपालुता, सगुण साकारके सौन्दर्य, लावण्य और माधुर्य तथा निर्गुण निराकारकी अलौकिक करनीके रहस्य सभी सहज स्वभावसे करतलगत हो जाते हैं। यही पूर्ण गुरुकी अनुकम्पा है, यही श्रीमहाराजजीकी अनन्त लीलाका रहस्य है और यही सर्वात्मबिहारीकी सरस माधुरी है। इसीसे गाया है—**'न गुरोरधिकम् न गुरोरधिकम् न गुरोरधिकम् न गुरोरधिकम् ।'**

श्रीतिवारीजी पहले बागला हाईस्कूल हाथरसमें अध्यापक थे। आपका हृदय और गुरुनिष्ठा तो उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट हो जाते हैं। आप अत्यन्त भजननिष्ठ भगवत्प्रेमी सज्जन हैं। ज्योतिषका भी आपको अच्छा अनुभव है। आपकी धर्मपत्नी माता श्रीअन्नपूर्णादेवी भी आप हीकी भाँति परम भक्ता और श्रीमहाराजजीमें अनन्य अनुरक्ता हैं। इन्हें श्रीमहाराजजीके विषयमें अनेकों चमत्कारपूर्ण अनुभव हुए हैं।

श्रीरामदत्तजी वैद्य व्रजवासी—आप भी हाथरसके ही रहनेवाले हैं। अब सब कार्य छोड़कर आप श्रीवृन्दावन-आश्रममें ही निवास करते हैं। वहाँकी सब व्यवस्था आपके द्वारा ही होती है। पहले किन्हीं अन्य सन्तसे दीक्षा लेकर ये प्राणायामका अभ्यास करते थे। उससे इनकी निद्रा बहुत कम हो गयी। उसके कारण शारीरिक और मानसिक स्थितिमें बहुत विकृति आ गयी। तब आपने श्रीमहाराजजीको अपनी मनोव्यथा सुनायी। श्रीमहाराजजीने आपको प्राणायाम छोड़कर श्रीमद्भागवतके एक सौ आठ मासिक पारायण करनेका आदेश दिया। उससे आपका कष्ट निवृत्त हो गया और श्रीवृन्दावनबिहारीके प्रति आन्तरिक स्नेह जाग्रत् हुआ। आपका कथन है कि मेरे जीवनमें ऐसी परिस्थितियाँ कई बार आयीं जब किसी व्यक्तिके व्यवहारसे असन्तुष्ट होकर उसे बुरा-भला कहनेका तथा किसीकी निन्दा-स्तुति करनेका सङ्कल्प होता, परन्तु उसी समय मुझे श्रीमहाराजजीका यह उपदेश स्मरण हो आता कि—

'तेरे भावै कछु करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठि कै, अपनो भवन बुहार ।।'

और मेरी वह दुर्भावना निवृत्त हो जाती। इस प्रकार अनेकों बार मैं दुर्व्यवहार करनेसे बच गया हूँ।

इनकी ही भाँति इनके पुत्र शिवदत्त और कृष्णदत्त भी श्रीमहाराजजी के चरणोंमें प्रेम रखते हैं और सब प्रकारसे आश्रमकी सेवामें तत्पर

रहते हैं। शिवदत्त वैद्य हैं। एकबार किसी व्यक्तिने रद्दी कागजके साथ श्रीमहाराजजीका एक चित्र भी इन्हें दिया और कहा कि यही हैं न तुम्हारे बाबा। तब इन्होंने कहा, "भैया! तुमने बड़ी कृपा की, मैं आजन्म तुम्हारा ऋणी रहूँगा और बिना कुछ लिए तुम्हारी चिकित्सा करूँगा।"

पं० जनार्दनजी चतुर्वेदी—ये परम भागवत हैं। भगवान श्रीश्याम-सुन्दरके रसिक भक्त हैं और श्रीमद्भागवतके प्रौढ़ वक्ता। इनके भागवत सप्ताहमें यह विशेषता है कि अर्थ कहनेमें ये मूलका प्रायः कोई शब्द नहीं छोड़ते और मूलका पाठ भी स्वयं ही करते हैं। यह सब होते हुए भी कथाकी रोचकता और गम्भीरतामें कोई अन्तर नहीं आता। श्रीमहाराजजीमें इनका अनन्य अनुराग है। ये लिखते हैं—यद्यपि मैंने उनके साथ लौकिक या पारमार्थिक किसी प्रकारके लाभका सम्बन्ध नहीं रखा तथापि उनकी कृपासे मुझे अनेकों लाभ बिना प्रार्थना किये ही हो जाते थे। जब कभी कोई विकट स्थिति आती और मैं इनके दर्शनोंको जाता तो उनके सामर्थ्यसे खेल-खेलमें ही वह समस्या निवृत्त हो जाती। जब किसी भयानक परिस्थितिके उपस्थित होनेपर मैं उनके चरणोंमें उपस्थित होता तो प्रणाम करते समय सर्वप्रथम बिना पूछे जो वाक्य वे बोलते वही मेरी समस्याके सुलझानेका सर्वोत्तम उपाय होता। उसीसे वह परिस्थिति सुधर जाती। श्रीमहाराजजीमें मैंने तीन सिद्धियाँ देखीं—(१) परचित्ताभिज्ञता—वे दूसरोंके मनकी बात जान लेते थे। (२) शक्तिप्रेरणा—अपनी शक्ति दूसरोंमें प्रविष्ट कर देना। (३) यत्काम तदवससायिता—जिस वस्तुका संकल्प हो उसीका उपस्थित हो जाना। श्रीमहाराजजीकी अनुकम्पासे ही इनको नन्दलाल नामका एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बहुत ही सात्त्विक स्वभावका है और इन्हींकी भाँति श्रीमहाराजजीके चरणोंमें प्रेम रखता है।

श्रीशङ्करलालजी—हाथरसके भक्तोंमें ये सबसे पहले श्रीमहाराजजीको मिले थे। पहले ये कपड़ेकी दूकान करते थे, किन्तु वैद्यकमें भी इनकी अच्छी गति थी। मुख्यतया रोगका निदान करनेमें तो ये बड़े ही कुशल थे। सबसे वयोवृद्ध होनेके कारण सभी भक्त इनका आदर करते थे और इन्हें 'भाईसाहब' कहकर सम्बोधन करते थे। पहले इन्होंने स्वामी आत्मानन्दजीसे योगदर्शन पढ़ा था। अतः जिस समय श्रीमहाराजजीको मिले इनकी योगमें ही निष्ठा थी। इन्होंने आपसे प्रश्न किया कि गुरुका

क्या लक्षण है ? तब श्रीमहाराजजीने तत्काल ही इनकी निष्ठा के अनुरूप उत्तर दिया—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्याद्वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात् स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ।।[1]

ये लिखते हैं कि मैंने कई रात पास रहकर देखा कि रात्रिमें श्रीमहाराजजी हर समय बैठे ही रहते थे, सोते नहीं थे । तब मैंने पूछा कि श्रीमहाराजजी ! आप सोते क्यों नहीं हैं, वे बोले, "बेटा ! जब सत्त्व बढ़ जाता है तब निद्रा नष्ट हो जाती है । निद्रा तो तमोगुण है ।" एक दिन स्कूलके कुछ छात्र बागमें आये । उन्होंने आपसे कहा, "महाराज ! हँसनेसे बहुत लाभ होता है । शरीरमें रक्त बढ़ता है और इससे बलकी वृद्धि होती है । इसमें आपकी क्या सम्मति है ?" इसपर श्रीमहाराजजी बोले, "भैया ! हमारे यहाँ तो लिखा है—

चक्षुर्भ्यां हसते विद्वान् दन्तौष्ठैश्च मध्यमाः ।
अधमा अट्टहासेन न हसन्ति मुनीश्वराः ।।

अर्थात् विद्वान् केवल नेत्रोंसे हँसता है, सामान्य पुरुष दाँत और ओठोंसे हँसते हैं तथा निम्नकोटिके पुरुष खिलखिलाकर हँसते हैं, परन्तु मुनीश्वर तो कभी नहीं हँसते ।"

श्रीमहाराजजीमें अन्तर्यामित्वका भाव विशेष रूपसे देखा जाता था । लोगोंके मनोभावको जानकर आप बिना पूछे ही उत्तर दे देते थे ।

श्रीगणेशीलालजी—श्रीमहाराजजीके भक्तोंमें आर्थिक दृष्टिसे सबसे अधिक सेवा इनकी कही जा सकती है । ये पहले बहुत सामान्य स्थितिके थे, परन्तु अब अच्छे धनाढ्य हैं । यह सब ये श्रीमहाराजजीका ही कृपा-प्रसाद मानते हैं । परन्तु इससे भी बढ़कर है इनकी सदाचारनिष्ठा । इनकी कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंमें समान रूपसे श्रद्धा है । इनका कथन है कि जब श्रीमहाराजजी आसनपर बैठे होते तब कई बार उनके मुखमण्डलके चारों ओर एक शान्तिमयी श्वेत प्रभाका गोलाकार मण्डल दिखायी देता था । वह ऐसा लगता था मानो चन्द्रज्योत्स्नामें मोती कूट-कूटकर भर दिये हों । बाबामें मैंने सबसे बड़ी विशेषता यही

१. जिसकी दृष्टि बिना दृश्यके स्थिर है, प्राण बिना निरोध किये स्थिर हैं और चित्त बिना अवलम्बके स्थिर है, वही गुरु है, उसीकी सेवा करनी चाहिए ।

देखी कि उनका किसीसे विरोध नहीं था। प्राय: अच्छे-अच्छे लोगोंमें भी थोड़ा-थोड़ा राग-द्वेषका भाव देखनेमें आता ही है। उनके पास रहनेपर शीत-उष्ण, भूख-प्यास एवं भूमिशयन आदि कुछ बाधा नहीं पहुँचाते थे। देहकी भी विशेष परवाह नहीं रहती थी। घरकी सुधि भी भूल जाते थे। उनके दर्शनोंके लिए सबको चटपटी लगी रहती थी। जाते एक दिनको, परन्तु चार-छ: दिन रहे बिना चित्त लौटना नहीं चाहता था। उनके पास पहुँचनेपर शङ्काओंका स्वत: समाधान हो जाता था। उन्हें किसी पद्धति या सम्प्रदायविशेषका आग्रह नहीं था। वे जिसे जैसा अधिकारी समझते थे उसके लिए उसी मार्गका विधान कर देते थे। उनकी-जैसी अनुभवपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी वाणी सुननेको नहीं मिली। उनमें कभी क्रोध नहीं देखा गया। कोई कैसा भी अपराध करे उनकी ओरसे क्षमामें कमी नहीं होती थी। मुझे उनसे कभी भय नहीं होता था। एकबार माता सरोजनीने मुझसे कहा कि बाबा तुमसे बहुत नाराज हैं, जल्दी ही जाकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करो। वे भयभीत-सी हो रही थीं। उनकी बात सुनकर मैं हँसने लगा। इसपर वे विस्मित-सी हुईं। तब मैंने उन्हें बताया कि बाबाका मेरे प्रति इतना अभय दान है कि वे मुझे कितना ही डरावें मैं भयभीत नहीं हो सकता। मैं उनसे भयभीत हो जाऊँ—यह उनके वशकी बात नहीं है।

श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे इन्होंने कई यज्ञानुष्ठान कराये। कर्णवासमें गायत्री-पुरश्चरण, अभिषेकात्मक महारुद्रयाग और महारुद्रयाग तथा हाथरसमें गोपाल-पुरश्चरण कराया। इन सभीमें ये प्रत्येक कार्य श्रीमहाराजजीकी अनुमतिसे ही करते थे। गोपाल-पुरश्चरणके समय ये उनसे कई बातें पूछ नहीं सके और वे गढ़मुक्तेश्वरकी ओर चले गये थे। तब इन्हें बड़ी घबराहट हुई। उसी रात्रिमें इन्हें स्वप्नमें उनके दर्शन हुए और उन्होंने इनके सभी प्रश्नोंके उत्तर दे दिये। दूसरे दिन तो पं० किशोरीलाल श्रीमहाराजजीके पाससे आये और अपने साथ इनका एक लेखबद्ध सन्देश लाये। उसमें छोटी-बड़ी सभी बातोंकी व्यवस्था लिखी थी। जैसे कोई वृद्ध पुरुष अपने अनजान बालकको समझाता है वैसे ही सब बातें समझायी गयी थीं इस प्रकार स्वप्न और प्रत्यक्ष दोनों ही प्रकारसे इनका समाधान हो गया।

ये लिखते हैं—वे पूर्ण आत्मनिष्ठ, भेदभावशून्य और साक्षात् प्रेमकी मूर्त्ति ही थे। ऐसा भला कैसे हो सकता था कि लगातार जीवनपर्यन्त

उनके चित्तमें कभी किसीके प्रति लेशमात्र भी घृणा या द्वेषका भाव देखनेमें न आवे। विभिन्न विचारके लोगोंकी, जिनमें परस्पर विपरीत भाव भी रहता था, बाबामें पूर्ण श्रद्धा थी। और बाबा उनपर समान रूपसे प्रेम करते थे। यह अच्छी तरहसे मालूम है कि जो लोग बाबाके निजजनोंको सताते थे उनकी वैसी प्रवृत्तिको जानते हुए भी वे उनपर अपने भक्तोंके समान ही प्रेम रखते थे।

यहाँ इनके यज्ञोंका कुछ विवरण देना अप्रासंगिक न होगा। इन्होंने सं० १९८४ में गायत्री-पुरश्चरण कराया था। उसके आचार्य थे काशीके सुप्रसिद्ध कर्मकाण्डी पं० मोतीदत्तजी। चौबीस विद्वान् जापक थे। प्रत्येक जापक तीन सहस्र गायत्री जपते थे। उत्सवकी समाप्तिपर पण्डितस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी तथा पं० जीवनदत्तजी आदि नरवर-महाविद्यालयके विद्वान् पधारे थे। महारुद्रयाग सं० १९९१ वि० के माघमासमें वसन्तपञ्चमी से आरम्भ हुआ था। इसके व्यवस्थापक थे पं० जीवनदत्तजी और अध्यक्ष थे दण्डिस्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी। आचार्य थे काशीके परम विद्वान् महा-महोपाध्याय पं० विद्याधरजी तथा ब्रह्मा थे ऋषिकेशके प्रख्यात वेदपाठी पं० बालकराम अग्निहोत्री। इसके सिवा काशी, ऋषिकेश एवं नरवर आदि स्थानोंके पचास विद्वान् यज्ञके ऋत्विक् थे। इस महोत्सवमें श्रीहरिबाबाजी एवं ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी आदि और भी कई महापुरुष पधारे थे। नित्यप्रति एक सहस्र व्यक्तियोंका भोजन होता था। यज्ञमें खान-पान और दान-दक्षिणाकी व्यवस्था बहुत उदारतासे की गयी थी। सभी पण्डितोंका कथन था कि ऐसी व्यवस्था तो राजा-महाराजाओंके यहाँ भी नहीं होती। अभि-षेकात्मक रुद्रयाग सं० १९९८ के चातुर्मास्यमें गुरुपूर्णिमासे श्रीकृष्णजन्माष्टमी तक हुआ। इस यज्ञके आचार्य भी काशीवासी पं० मोतीदत्तजी ही थे। भगवान् शङ्करपर कई सहस्र विल्वपत्र रामनाम लिखकर चढ़ाये जाते थे। इनकी कुल संख्या सवा लाख होती थी। इसके सिवा वेदमन्त्रोंद्वारा भगवान्-का अभिषेक किया जाता था। इस यज्ञमें भी दान-दक्षिणा आदिकी बहुत अच्छी व्यवस्था थी।

गणेशीलालजी प्रायः दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि नहीं देते, दोष अपने ही देखते हैं और गुणोंको भगवान्की देन मानते हैं। इस चौपाईपर इनकी अच्छी निष्ठा है—**'गुण तुम्हार समझे निज दोषू।'** ये शास्त्रीय

व्यवहारके बड़े पक्षपाती हैं। बिना समाधिके ज्ञान नहीं मानते। इनके चित्तपर श्रीमहाराजजीका यह वाक्य अंकित है कि सुषुप्तिमें जीवात्मा प्रकृतिके अधीन रहता है और समाधिमें जीवात्माके अधीन प्रकृति रहती है। जब अफसर फौजके अधीन रहता है तब फौज उसे मार डालती है और जब फौज अफसरके अधीन रहती है तो अफसर उससे जो चाहे वही काम ले सकता है। श्रीमहाराजजीने इनके संस्कारोंके अनुसार इन्हें रामपञ्चायतनकी उपासना बतायी थी। आज-कल ये श्रीमहाराजजीके ट्रस्टके अध्यक्ष हैं। इनके रामचरण और रामगोपाल नामके दो पुत्र हैं। ये भी पिताजीके पथके ही अनुयायी हैं। इनके सिवा श्रीनिवास और युगलकिशोर नामके दो भानजे हैं। इनके पिताका छोटी आयुमें ही देहान्त हो गया था अतः इनका पालन-पोषण भी इन्हींके द्वारा हुआ था। ये भी श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त और सेवक हैं तथा सब प्रकारसे उनके आश्रमकी सेवा करते हैं।

श्रीराधेश्याम संक्सेरिया—इनके पिता श्रीकन्हैयालालजीने मरते समय इनका हाथ श्रीमहाराजजीके हाथमें पकड़ाकर प्रार्थना की थी कि यह बालक आपका ही है, इसपर सदैव कृपा-दृष्टि रखें। अतः इनका बाल्य-कालसे ही श्रीमहाराजजीमें अनुराग रहा है। ये लिखते हैं कि मैंने श्रीमहाराजजीसे कहा था कि मनमुखी मन्त्र जपनेसे सिद्धि नहीं मिलती। तब आप हँसकर बोले, "तेरा मेरे प्रति जो भाव है वह क्या कम है, उसीसे सब कुछ हो जायेगा।" श्रीमहाराजजीके सत्सङ्गसे मुझे यह विशेष लाभ हुआ कि मेरे हृदयमें हर्ष-शोकादि जैसे पहले व्यापते थे वैसे अब नहीं व्यापते। अब तो कैसी ही परिस्थिति आ जाय, उनकी कृपासे धैर्य और शान्ति बनी रहती है। श्रीमहाराजजीमें मुझे सबसे बड़ी विशेषता यही जान पड़ी कि वैराग्यवान् होनेपर भी उनमें अपनत्वका भाव विशेष था। वे किसीको भी दुःखमें पड़ा नहीं देख सकते थे। उनमें सेवाभाव भी बहुत था। अपने बड़प्पनको त्यागकर वे किसी भी प्रकारकी सेवा करनेको तैयार रहते थे। उनमें अपनी सेवा करानेकी वासना तनिक भी नहीं थी। बड़ीसे-बड़ी समस्या जो हमसे नहीं सुलझती थी, उनकी कृपासे बातकी-बातमें सुलझ जाती थी। उनमें एक बहुत बड़ा गुण यह था कि चाहे कैसी भी विषम परिस्थिति हो उन्हें क्रोध कभी नहीं आता था। वे सदैव शान्त और अविचल भावसे स्वरूपनिष्ठामें स्थित रहते थे। वे भक्तोंके लिए भक्त और ज्ञानियोंके लिए ज्ञानी थे। उनकी

दृष्टिमें ज्ञान और भक्तिका समान आदर था और प्रसङ्गानुसार वे दोनों ही का जोरदार प्रतिपादन करते थे।

श्रीमहाराजजी जब हाथरस पधारते थे तो उनका आगमन ही उत्सवका रूप धारण कर लेता था। तथापि उनके तत्त्वावधानमें चार उत्सवोंका आयोजन इनके यहाँ हुआ था। इन उत्सवोंमें अखण्ड नामसंकीर्तन कथा, सत्सङ्ग प्रवचन, साधु-ब्राह्मणोंकी सेवा, नगर-कीर्तनका आनन्द रहा। प्रथम उत्सव श्रीरामनवमीके उपलक्षमें हुआ। उसके अन्तमें जो नगर-कीर्तन हुआ उसकी शोभा बड़ी ही अलौकिक थी। उसमें सहस्रों नर-नारी कीर्तनानन्दमें उन्मत्त हो गये थे उसमें परिकर सहित श्रीमहाराजजीके अतिरिक्त पूज्य श्रीहरिबाबाजी, बाबा रामदासजी, बाबा रघुनाथदासजी; श्रीजयरामदासजी 'दीन' और स्वामी कृष्णानन्दजी बम्बईवाले आदि और भी अनेकों महापुरुष पधारे थे।

दूसरे उत्सवमें इनका एकमात्र पुत्र, जिसकी आयु केवल एक वर्षकी थी, चेचककी बीमारीसे जाता रहा। जब उसके मृत कलेवरको यमुनाजीमें प्रवाहितकर ये सायङ्कालमें श्रीमहाराजजीके पास पहुँचे तब इन्होंने पूछा कि आपने उत्सव क्यों बन्द कर दिया। आप बोले, "मैंने बन्द नहीं किया, लोगोंके चित्त खिन्न हो गये, इसलिए वे स्वयं चले गये।" नगरमें ऐसा अपवाद होने लगा कि अच्छा उत्सव हुआ, लड़का ही मर गया। जब आपसे यह बात कही गयी तब आप बोले, "लड़का मर गया तो कोई बात नहीं एक वर्षके भीतर फिर यही लड़का तुम्हारे यहाँ जन्म लेगा।" आपकी यह बात सर्वथा सत्य हुई। एक वर्षके भीतर पुत्रकी उत्पत्ति हुई और वह अभीतक जीवित है कुछ समय बीत जानेपर इन्होंने श्रीमहाराजजीसे पूछा कि आपकी उपस्थितिमें ऐसा विघ्न क्यों हुआ? कई बार आग्रहपूर्वक पूछनेपर आप बोले, "श्यामलाल खण्डेलवालके पुत्र मोहनलालकी तुझमें प्रीति और मुझमें श्रद्धा थी। उसकी आयु प्रायः बाईस सालकी थी। वह हरिबाबाजी तथा और भी बड़े-बड़े महात्माओंके दर्शन करना चाहता था। परन्तु पिताकी आज्ञा न मिलनेके कारण वह कहीं जा नहीं पाता था वह सन्तसेवामें रुपया भी खर्च करना चाहता था। किन्तु पिताके अनुदार स्वभावके कारण उसकी यह लालसा भी पूरी नहीं हो पाती थी। एकबार वह लड़का तुम्हारे साथ एतमादपुर मेरे दर्शनोंके लिए गया था। चलते समय उसने मुझसे बड़े प्रेमसे पूछा था

कि महाराजजी अब मुझे आपका दर्शन कहाँ होगा। उस समय मेरे मुखसे निकल गया—

करे खान-ए-बदोशोंकी खुदा खुद कार सामानी।
नयी मंजिल नया खाना नया दाना नया पानी॥

दैवयोगसे वहाँसे लौटनेके एक सप्ताह पश्चात् ही ज्वरसे उसकी मृत्यु हो गयी। उसका मुझमें राग था, सन्त-महात्माओंके दर्शनोंकी लालसा थी और तुम्हारे प्रति प्रीति थी ही। अतः उसीने मरकर तुम्हारे यहाँ जन्म लिया। वह सन्तसेवामें खर्च करना चाहता था, इसीसे उसके निमित्त तुमने यह उत्सव किया और जिन-जिन महात्माओंके वह दर्शन करना चाहता था उन्हें बुलाकर उनके दर्शन भी कर लिये। इस सङ्कल्पके पूर्ण होते ही वह शरीर छोड़कर चला गया।"

राधेश्यामजी बड़ी उदार प्रकृतिके हृदयशील पुरुष हैं। सेवा करनेमें ये किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं करते। ये श्रीमहाराजजीकी प्रत्येक लीलाका निर्दोष दृष्टिसे आस्वादन करते हैं। उनके प्रति इनका भाव और सेवा उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये हैं। कभी ढील नहीं आयी। इनके साथ रहनेसे सेवाका महत्त्व, भावकी गम्भीरता और गुरुदेवके स्वागत-सत्कारका भाव जाग्रत् होता था। ये कहा करते थे—**'सेवक-सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू।'** इनके जीवनकी निष्ठा और रस इसीमें है—**'प्रिय-राजीमें ही राजी हैं।'**

श्रीजगन्नाथ जालान—ये जानकीप्रसाद बागलाके भानजे हैं। श्रीमहाराजजीमें इनका बाल्यकालसे ही प्रेम रहा है। ये लिखते हैं कि मैं अभी बच्चा ही था। उस समय मेरी रुचि भगवान् शङ्करकी उपासनामें थी। सन् १९३३ की बात है, मैंने एक दिन रात्रिमें स्वप्न देखा कि हाथमें बीणा लिये श्रीनारदजी आये हैं और कह रहे हैं, "आज तुम्हारे यहाँ भगवान् शङ्कर भिक्षुकके रूपमें आयेंगे। तुम किसी अभ्यागतका अनादर मत करना।" मैंने स्वप्नमें ही उनके पूजनकी तैयारी की और उनके शुभागमनकी प्रतीक्षा करने लगा। मनमें बड़ी प्रसन्नता और उल्लास था कि आज मुझे भगवान् शङ्करके साक्षात् दर्शन होंगे। पहले एक बुढ़िया आयी। उसे तुरन्त उसकी इच्छानुसार सब सामान दिया। उसके पश्चात् भिक्षुकके रूपमें भगवान् पधारे। मैं उनके चरणोंमें गिर गया और बोला कि आप स्वयं भगवान् हैं, भीतर पधारिये। उन्होंने

कहा, "नहीं भाई ! मैं तो भिक्षुक हूँ।" तथापि मेरे प्रेमपूर्ण आग्रहसे वे भीतर आ गये। मैंने उन्हें एक सुन्दर आसनपर विराजमान कराया और पूजा की। फिर जब चरणोंमें प्रणाम किया तो देखा कि उनका स्वरूप दिव्य हो गया है। उनके श्रीअङ्गके चारों ओर प्रकाशपुञ्ज है, मस्तक, कण्ठ और भुजाओंमें सर्प हैं तथा हाथमें एक विशाल त्रिशूल है। उस रूपको देखकर मैं डर गया। मेरे नेत्र बन्द हो गये और मैंने प्रार्थना की कि आपके इस रूपको देखकर मैं भयभीत हो रहा हूँ। इन सर्पोंसे मुझे डर लगता है। तब वे मुसकराये और वे सर्प तत्काल अदृश्य हो गये। उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखकर कहा, "तू क्या चाहता है" मैंने इतना ही कहा कि आपके चरणोंमें मेरा प्रेम हो। वे बोले, "आजसे तीसरे दिन तुम्हें एक ऐसे महात्मा मिलेंगे जो मेरे ही स्वरूप हैं। उनकी सेवा करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा।' इतना कहकर वे अन्तर्धान हो गये। फिर मेरा स्वप्न भङ्ग हो गया। मुझे उसकी पूरी स्मृति बनी रही। अब मैं उत्सुकतापूर्वक तीसरे दिनकी प्रतीक्षा करने लगा। यह बात किसीपर प्रकट नहीं की। ठीक तीसरे दिन पिताजी बोले, "आज एक महात्मा आये हैं; चल, तुझे दर्शन कराऊँ।" उनके साथ विष्णुदयालके बगीचेमें जाकर श्रीमहाराजजीके दर्शन किये और शिवबुद्धिसे चरणोंमें प्रणाम किया। आपने मुझसे कहा, "तू कोई प्रार्थना सुना।" मैंने यह प्रार्थना सुनायी—**'शरणागतपाल कृपालु प्रभो, हमको एक आश तुम्हारी है।'** तब आपने मुझे प्रसादमें दो पेड़े दिये और बहुत प्यार किया। धीरे-धीरे उनके श्रीचरणोंमें मेरी श्रद्धा-भक्ति बढ़ती गयी। अब तो ऐसी दशा हो गयी कि आपके दर्शनोंके बिना मुझसे रहा नहीं जाता था। पिताजी मेरी इस प्रवृत्तिसे अप्रसन्न थे और मुझे पीटते भी थे। तथापि किसी न किसी प्रकार मैं उनके पास चला ही जाता था। एक बार श्रीगणेशीलालजी गुरुपूर्णिमाका पूजन करनेके लिए रामघाट जा रहे थे। मैंने भी जाना चाहा। किन्तु पिताजीने मुझे बाँधकर उल्टा लटका दिया और खूब मार लगायी। कहने लगे, "साधुओंके पास क्यों जाता है; साधु हो जायगा।" उस दिन रात्रिमें श्रीमहाराजजीने दर्शन दिया और बोले, "बेटा ! तू डरना मत, मैं तो सदैव तेरे साथ हूँ, कल चले आना।" मैं दूसरे दिन मौका पाकर रामघाट पहुँच गया और रोने लगा। इसपर श्रीमहाराजजीने मुझे बहुत प्यार किया। ऐसा प्यार तो जीवनमें कभी नहीं मिला। मेरा सारा दुःख जाता रहा। मैंने प्रार्थना की कि महा-

राजजी ! मुझे शङ्करजीका मन्त्र बता दीजिये। आप बोले, "शङ्करजीकी कृपा तो तेरे ऊपर है ही, अब तू भगवान् कृष्णकी उपासना किया कर।" आपने कुछ ऐसी रहस्यपूर्ण बातें कहीं कि मेरी श्रीमहाराजजीमें ही इष्टबुद्धि हो गयी और मैं भगवद्भावसे उन्हींकी उपासना करने लगा।

एकबार बाँधपर बड़ा विशाल उत्सव हुआ। तब एक दिन मनमें ऐसी भावना उठी कि श्रीमहाराजजी तो सर्वसमर्थ हैं, वे मुझे श्रीकृष्णरूपमें भी दर्शन दे सकते हैं। यह सोचकर मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे श्रीकृष्णरूपमें दर्शन दें। वे बोले, "तू बड़ा मूर्ख है। भजन कर, भजन करनेसे ही भगवान्का दर्शन होता है।" पर मैं तो उन्हींमें भगवद्भाव रखता था। अतः अपनी टेकपर अटल रहा और निश्चय कर लिया कि जबतक ये मुझे कृष्णरूपमें दर्शन नहीं देंगे मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। श्रीमहाराजजीका यह स्वभाव था कि यदि किसी कारणसे कोई भोजन नहीं करता था तो वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते थे और किसी न किसी प्रकार उसे भोजन कराते ही थे। दूसरे दिन आपने श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारसे कहा, "भैया ! यह भी मारवाड़ी बालक है, तुम इसे समझा दो, यह ऐसा हठ छोड़ दे।" हनुमान प्रसादजी मुझे समझाने लगे कि महात्माओंसे ऐसा हठ नहीं करना चाहिए। यह तो तुम्हारी निष्ठापर निर्भर है। भजन करो, भजनसे ही भगवद्दर्शन हो सकता है। पर इन बातोंसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। मैंने उनसे कहा, 'भाईजी ! श्रीमहाराजजीसे मेरा आन्तरिक भाव-सम्बन्ध है। वे निश्चय ही मेरी अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं। इस बीचमें आप कुछ न कहें।' तब उन्होंने हँसते हुए श्रीमहाराजजीसे कहा, "यह तो बड़ा हठी है। समझता नहीं, इसे तो आप ही समझा सकते हैं।" तीसरे दिनकी बात है। रात्रिके दो बजेका समय था। मैं सदाकी भाँति श्रीमहाराजजीके तख्तके पास चरणोंकी ओर बैठा था। वे एकाएक उठ बैठे और बोले, "तू हठ क्यों नहीं छोड़ता। अच्छा, अब नेत्र बन्द कर ले।" उसी क्षण मेरे नेत्र बन्द हो गये और सामने ही मुरली बजाते हुए श्रीकृष्णके दर्शन हुए। उसके पश्चात् श्रीकृष्णरूपमें आपके दर्शन हुए। मेरी भावना पूर्ण हो गयी। मैं चरण पकड़कर बहुत देर तक रोता रहा। शरीरका अनुसन्धान नहीं रहा। श्रीमहाराजजीने मुझे उठाया और प्रसाद दिया।

हाथरसके कुछ भक्तोंकी यहाँ चर्चा की गयी। इनके अतिरिक्त और भी कई भक्त श्रीमहाराजजीके अनन्य सेवक रहे हैं। श्रीजानकीप्रसाद

बागला बड़े ही शीलसम्पन्न और सौम्य प्रकृतिके सज्जन थे। ये व्यवस्था आदिके कार्योंमें बड़े कुशल थे और हर समय प्रसन्न-वदन रहते थे। श्रीहरचरणदासजी सादाबादवाले अच्छे कुशल हलवाई थे। ये श्रीमहाराज-जीके भण्डारी थे। जब कोई भण्डारा होता था तो भट्टीका सारा कार्य इन्हींके जिम्मे रहता था। गणेशीलाल माहेश्वरी भी बहुत दिनोंसे श्रीमहाराजजीकी सेवामें तत्पर रहे हैं। इन्होंने आश्रमके ट्रस्टको हाथरसमें कुछ भूमि दी है। जो उड़ियाबाग कहलाती है, अब उसपर कुछ दूकानें बन गयी हैं। वेणीप्रसाद और काशीराम माहेश्वरी ये दोनों भाई भी अच्छे प्रेमी भक्त हैं। अब ये कलकत्तेमें रहने लगे हैं। बाबूलाल शर्मा और उनके पुत्र रमेशचन्द्र तथा बागला कालेजके भूतपूर्व प्रिंसीपल देवीदयालजी भट्ट आदि और भी कई महानुभाव आपके भावभोने भक्त रहे हैं। श्रीमहाराजजी जिस बागमें ठहरते थे वह विष्णुदयालका बगीचा कहलाता है। उसके मालिक श्रीगौरीशङ्करजी और उनकी मौसी, जिनसे श्रीमहाराजजी तथा उनके भक्त 'मौसी' कहकर ही बोलते थे, आपके बड़े प्रेमी भक्त थे। ये मेरे इस ओर आनेसे पहले ही दिवंगत हो चुके हैं। इसलिये उनके विषयमें और कुछ लिखनेमें असमर्थ हूँ।

स्वामी श्रीलम्बेनारायणजीका भण्डारा

कर्णवासके एक सुप्रसिद्ध सन्त थे श्रीलम्बेनारायणजी। ये मूलतः खाँड़ा जिला आगराके निवासी थे। खाँड़ेमें पं० चोखेलाल, घूरेलाल आदि कुछ सत्सङ्गियोंकी एक मण्डली थी। वे लोग अद्वैत वेदान्तपर अच्छा विचार करते थे। समय-समयपर ज्ञान-यज्ञ नामसे विशेष सत्सङ्ग समारोह भी करते थे। आप उनके नेता थे। इनका विरक्ताश्रमका नाम नारायण स्वामी था। परन्तु शरीर कुछ लम्बा होनेके कारण 'लम्बेनारायण' नामसे ही प्रसिद्ध थे। श्रीमहाराजजी और स्वामी निर्मलानन्दजीसे इनका बड़ा प्रेम था। राजयक्ष्माके रोगसे इनका देहावसान हो गया। इनके प्रधान सेवक थे ब्रह्मचारी जयजयराम। इन्होंने उस संक्रामक रोगमें भी इनकी बड़ी तत्परतासे सेवा की। इस विषयमें जब मुझसे बात हुई तो इन्होंने कहा कि यदि अपने शरीरमें रोग हो जाय तो क्या उसे छोड़कर भाग जाते हैं। हमारा और हमारे महाराजजीके शरीर क्या दो थे? उनका देहावसान होनेपर इनका विचार संन्यास ग्रहण करनेका हुआ। अतः अब श्रीलम्बे-नारायण स्वामीका भण्डारा और इनका संन्यास ये दो आयोजन करने

थे। पूज्य स्वामी निर्मलानन्दजी महाराजने यह सूचना दिल्लीमें श्रीमहाराजजीके पास भेजी। वे वहाँसे कुछ अन्य स्थानोंमें होते कर्णवास पहुँचे और शिवरात्रिके आस-पास इस उत्सवकी योजना की।

श्रीलम्बेनारायणजीका निर्वाणोत्सव बड़ी धूम-धामसे हुआ। खाँड़ेके सब भक्त भी उसमें सम्मिलित हुए और उसी ओरके पं० चतुर्भुजजीने श्रीमद्भागवतका सप्ताह किया। अच्छा विशाल भण्डारा हुआ। आसपासके सभी सन्त उसमें सम्मिलित हुए। नरवरके सब अध्यापक और विद्यार्थियोंके साथ पं० जीवनदत्तजी तथा पण्डित स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी भी पधारे। सायङ्कालमें सन्त-समागम और विचारगोष्ठी होती थी। उसमें श्रीपण्डित स्वामीने सार्वजनिक रूपसे श्रीहरिबाबाजीके सङ्कीर्तन और श्रीमहाराजजीकी समालोचना की।

शिवरात्रिको रुद्राभिषेक हुआ और रात्रिमें अखण्ड संकीर्तन करते हुए जागरण किया गया। उसमें एक मण्डली विरक्त महात्माओंकी भी थी, जिसमें श्रीपल्टू बाबा, दण्डी स्वामी सियाराम और बाबा रामदास आदि कुछ सन्त सम्मिलित हुए। ब्रह्मचारी जयजयरामके संन्यासका सब कृत्य पं० करुणाशङ्करजीने कराया और संन्यासकी दीक्षा पण्डित स्वामीजीने दी। ये श्रीलम्बेनारायणजीके सेवक थे, अतः उन्हींके नामानुसार इनका नाम दण्डिस्वामी नारायणाश्रम रखा गया। इनकी श्रीमहाराजजीके प्रति बड़ी श्रद्धा और पूज्य बुद्धि रही है। ये आपके विषयमें लिखते हैं—पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज (श्रीमहाराजजी) निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित रहते थे। उनकी किसी भी वस्तुकी स्पृहा नहीं थी। जैसे पत्थरकी शिलाके ऊपर कितना ही जल बहने लगे अथवा बिलकुल न रहे, वह ज्योंकी त्यों रहती है उसी प्रकार कितनी ही विभूति आ जाय वह उन्हें स्पर्श नहीं कर सकती थी। वे उसमें आसक्त नहीं हो सकते थे। वे जैसे पहले थे वैसे ही विभूतियोंके आनेपर भी रहे, कभी स्वरूपसे चलायमान नहीं हुए। अब भी वे वैसे ही हैं। हम उनके सम्बन्धमें क्या लिख सकते हैं। उनकी महिमा अनन्त है।

श्रीजयदयालजीका सत्सङ्ग

गीताप्रेस गोरखपुरके संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रतिवर्ष ऋषिकेशमें सत्सङ्ग होता था। संवत् १९९६ वि० में हरिद्वारका कुम्भ होनेके कारण वहाँ स्थानका सङ्कोच था। इसलिए यह प्रश्न हुआ कि

इस वर्षका सत्सङ्ग कहाँ किया जाय। इन दिनों श्रीमुनिलालजी कर्णवासमें ठहरे हुए थे। उन्होंने श्रीगोयन्दकाजीको यह सुझाव दिया कि इसके लिए कर्णवास बहुत उपयुक्त स्थान है। उनके अनुरोधसे वे श्रीघनश्यामदास जालानके साथ कर्णवास आये और उन्हें स्थान बहुत उपयुक्त जान पड़ा। तभी बाँधपर जाकर उन्होंने इस अवसर पर कर्णवास विराजनेके लिए पूज्य श्रीमहाराजजी और हरिबाबाजीको आमन्त्रित किया। सत्सङ्गकी व्यवस्था श्रीमुनिलालजीको सौंपकर उनकी सहायताके लिए रघुवीरजीको भेज दिया गया और जहाँ-तहाँ पत्रोंद्वारा इसकी सूचना भेज दी।

कर्णवासकी सब धर्मशालाएँ सत्सङ्गियोंके ठहरनेके लिए माँग ली गयीं। श्रीजयदयालजी डिबाईवाली कुञ्जमें ठहरे और सीतामऊके राजा साहब सीताबाईकी धर्मशालामें। पक्के घाटपर भण्डारेका प्रबन्ध रहा और सत्सङ्ग होता था बुधऊ माताके स्थानपर। इस अवसरपर दूर-दूरसे अनेकों सत्सङ्गी एकत्रित हुए। श्रीमहाराजजी पूरे सत्सङ्गमें रहे। सायङ्कालमें जो गङ्गाजीकी रेतीमें सत्सङ्ग होता था उसमें आप नियमसे सम्मिलित होते थे। इस अवसरपर दिल्लीके भक्त गुलराजजी आदिके साथ बङ्गाली बाबाजी भी आये और दैवीसम्पद्-मण्डलके स्वामी श्रीभजनानन्दजी भी। स्वामी श्रीभजनानन्दजी आज-कल परमार्थनिकेतन ऋषिकेशके महामण्डलेश्वर और दैवीसम्पद्-मण्डलके प्रधान हैं। उनका बहुत पहलेसे ही श्रीमहाराजजीके प्रति बड़ा गम्भीर भाव रहा है। वे उन दिनोंका अपना संस्मरण लिखते हुए कहते हैं—'मेरे जीवनके दो ही पथप्रदर्शक रहे हैं—एक श्रीउड़ियाबाबाजी और दूसरे स्वामी एकरसानन्द सरस्वती। समय-समयपर दोनों ही महा-पुरुषोंने मुझे मार्ग दिखाया था। वैसे तो अनेकों बार श्रीउड़ियाबाबाजीके चरणोंमें रहनेका सौभाग्य मिला। परन्तु एक वर्ष कर्णवासमें, जिस समय श्रीजयदयाल गोयन्दका भी गर्मियोंमें वहाँ सत्सङ्ग करा रहे थे, मुझको प्रायः एक मास श्रीमहाराजजीके पास रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। कभी-कभी वे मुझे प्यारसे बुलाते थे। यद्यपि उस समय सभी लोग मुझे 'भजनानन्दजी' कहते थे, परन्तु बाबा जब मुझे 'भजनलाल' या 'भजना' कहकर बुलाते तब मुझे भगवान् रामके स्वभावकी यह चौपाई स्मरण हो आती थी—

राम विलोकनि बोलनि चलनी।
सुमिरि सुमिरि सोचनि हँसि मिलनी॥

मुझे तो बाबा साक्षात् भगवान् ही प्रतीत होते थे। उपनिषद्का 'अणो-

रणीयान् महतो महीयान्' यह मन्त्र उनके जीवनमें सार्थक प्रतीत होता था। वे छोटे-से-छोटे कामको यहाँतक करते थे कि अपने हाथसे परोसकर सबको भोजन कराते थे और जब आसनपर बैठते तथा हम लोग पूजन करनेके लिए जाते तो साक्षात् विराट् भगवान् ही जान पड़ते थे। मैं बराबर एक मास कर्णवासमें ठहरा। उस समय बाबाकी सन्निधिमें मुझे जैसा सुख प्राप्त हुआ वैसा माता-पिताके पास रहकर भी नहीं मिला। बाबाके प्रति मेरे ही नहीं, सभीके ये ही भाव थे। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता था कि बाबा विराट् भगवान्का पूजन कर रहे हैं।

कुछ विचित्र अनुभव

बिजौलीवाले पं० गङ्गासहायजी सन् १९२६ के फरवरी मासमें रामघाट आये थे। तभी पहली बार इन्हें श्रीमहाराजजीके दर्शन हुए। उसके पश्चात् भी ये बराबर आते-जाते रहे। दो-तीन बार श्रीमहाराजजीकी कृपासे ही इन्हें रोगसे छुटकारा मिल गया। इससे इनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। ये लिखते हैं कि श्रीमहाराजजीने मुझे श्रीरामजीकी उपासना का आदेश देते हुए कहा कि तुम अपने हृदयसिंहासनपर श्रीरघुनाथजीको बिठाकर उनका मानसिक पूजन किया करो। उनके सिरसे चरणोंतक अपने मनको छः मिनटतक घुमाओ तथा श्रद्धापूर्वक अपने अन्तःकरणमें उनका दर्शनकर फिर उनके चरणकमलोंमें ही अपने मनको जोड़ दो। इसी प्रकार बारह सेकेण्डसे २ मिनट २४ सेकेण्डतक मनको जोड़े रखना 'धारणा' कहलाता है। जब मन २ मिनट २४ से० से लेकर २८ मि० ४८ से० तक स्थिर रहने लगे तो इसे ध्यान कहते हैं। इससे अधिक काल होनेपर मन भगवान्में लीन होने लगता है। अर्थात् फिर ध्येय और ध्याता एक हो जाते हैं। इसके पश्चात् निर्विकल्प समाधि होती है।

जब यह ध्याता ध्यानमें ध्येयरूप हो जाय।
पूरा जानो ध्यान तव यामें संशय नायँ॥

ध्येय रूप होना यही, भिन्न ज्ञान नहिं होय।
क्षीर-नीर जब मिलत हैं, सूझत नाहिन दोय॥

आपने दृढ़ सिद्धासनकी महिमा बताते हुए कहा—इससे मुख्यतया पाँच लाभ होते हैं—(१) शरीर हलका हो जाता है। (२) वात, पित्त, कफ साफ हो जाते हैं। (३) मल-मूत्र कम हो जाते हैं। (४) वाणीके

दोष दूर हो जाते हैं। (५) तन, मन, वाणी और बुद्धिकी स्थिरता होती है।

फिर आपने ध्यानके विघ्न बताये—(१) लक्ष्यसे अलग रहना, (२) आलस्य, (३) भय, (४) अन्धकार, (५) विक्षेप, (६) तेज, (७) कम्प, (८) शून्यता, (९) स्त्री-सङ्ग, (१०) कुसङ्ग, (११) मार्ग चलना, (१२) प्रातः-स्नान, (१३) अग्निसेवन; (१४) उपवास, (१५) अधिक भोजन, (१६) अधिक श्रम, (१७) सांसारिक नियमोंमें बँधना, (१८) ब्रह्मचर्यका अभाव। साथ ही यह भी बताया कि ध्यान करके सोना नहीं चाहिए। इससे गर्मी बढ़ जाती है और स्वप्नदोष हो जाता है। ये सब ध्यानके विघ्न हैं; इनसे बचना चाहिए।

तब श्रीमहाराजजीके आदेशानुसार मैं साधन करने लगा। उसीमें एक दिन मुझे अर्धरात्रिमें ध्यान करते समय श्रीसीता और लक्ष्मणजीके सहित भगवान् रामके साक्षात् दर्शन हुए। दूसरे दिन यह बात सुनानेके लिए मैं रामघाट श्रीमहाराजजीके पास गया। सुनकर वे बोले, "बेटा! साक्षात् दर्शनसे भी ध्यानमें दर्शन होना अधिक लाभदायक है। ध्यानावस्थामें ही अपने इष्टदेवसे वार्तालाप भी होना चाहिए। साक्षात्कार तीन प्रकारका होता है—इष्टदेवका प्रत्यक्ष दर्शन, स्वप्नदर्शन और तल्लीनता। इनमें स्वप्नदर्शन अधम, प्रत्यक्ष दर्शन मध्यम और तल्लीनता उत्कृष्ट है। तल्लीनताके पश्चात् साधक जगत्को स्वप्नवत् देखता है। जबतक ऐसा शुभ दिन प्राप्त न हो तबतक कष्ट सहन करके श्रद्धा और धैर्यके साथ भजन-साधन करना चाहिए जपके साथ ध्यान, मानस-पूजा और प्रार्थना भी करनी चाहिए।

पीछे इनके ध्यानमें कुछ विघ्न आने लगे। तब ये श्रीमहाराजजीके दर्शनार्थ बाँधपर गये। परन्तु आप वहाँसे जा चुके थे। ये ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गङ्गातटपर साँकरेके पास किरतौली गाँव पहुँचे। वहाँ रात्रिमें इन्होंने तीन बार ऐसा स्वप्न देखा कि श्रीमहाराजजी कह रहे हैं, "मैं गङ्गाके दूसरे तटपर झोंपड़ीमें हूँ, यहाँ आकर अपने साधनके विषयमें पूछ लो।" पारसे आनेवाले लोगोंसे पूछनेपर इन्हें मालूम हुआ कि वहाँ कोई महात्मा नहीं हैं, अतः ये उस पार नहीं गये। फिर महाराजजी ही इस तटपर चले आये और उन्होंने कहा कि तू उस आदमीके कहनेमें आकर मेरे पास नहीं आया, मैं तो झोंपड़ी हीमें था। फिर ये तीन दिन वहीं उनके साथ रहे और इससे इनका ध्यानका विघ्न निवृत्त हो गया। उस समय

आपने यह भी कहा कि मुझमें अधिक प्रेम होने और ध्यान करनेसे मेरा पता लग सकता है।

विजोलीके पास ही एक गाँवका रहनेवाला रामसिंह नामका एक जाट है। यह पहले पलटनमें सिपाही था। वहाँसे छोड़कर भजन करने लगा। श्रीमहाराजजी तो उस प्रान्तमें प्रसिद्ध थे ही। यह भी उनके पास आने लगा। एक बार इसने मनमें निश्चय किया कि यदि श्रीमहाराजजी मुझे माला नहीं देंगे तो मैं प्राण त्याग दूँगा। महाराजजी तो अन्तर्यामी थे, उन्होंने तुरन्त माला दे दी। एक बार रामसिंह नामके किसी दूसरे सैनिकको खोजते हुए पुलिसवालोंने इससे पूछा तो इसका भी वही नाम, वही जाति और पूर्व जीवनमें सैनिक सेवा होनेके कारण इसे गिरफ्तार कर लिया। यह बरेली जेलमें जाकर रोने लगा। वहाँ इसे तुलसी और पीपलका वृक्ष मिल गया। उन्हें सींचते हुए यह श्रीमहाराजजीका स्मरण करता रहा। श्रीमहाराजजी प्रायः नित्य ही इसे स्वप्नमें दर्शन देते और कहते कि बेटा ! मैं तुझे ढुँढ़वा रहा हूँ, मुझे तेरी चिन्ता है। इसका कथन है कि जेलमें श्रीमहाराजजी मुझे जितना प्यार करते थे उतना प्रत्यक्षमें भी नहीं किया। एक दिन इसने जेलसे श्रीमहाराजजीके नाम एक कार्ड लिखा। उसमें अपने पकड़े जानेकी सारी बात लिख दी। उसे पढ़कर श्रीमहाराजजी ने रामघाटवाले प्यारेलाल वैद्यजीको भेजा। उनके आते ही इसे सम्मानपूर्वक छोड़ दिया गया।

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीकी माताजी भी श्रीमहाराजजीके पास रहने लगी थीं। एक दिन कर्णवासमें ही उन्होंने मुझे बताया कि मैंने एक दिन प्रत्यक्ष देखा कि श्रीमहाराजजी त्रिशूल धारण किये शिवरूपसे श्रीजगदम्बाके सहित वृषभारूढ़ हुए जा रहे हैं और अन्य देवगण हाथियोंपर बैठे जा रहे हैं। इनका देहावसान भी श्रीमहाराजजीके निर्वाणोत्सवके दिन वृन्दावन-आश्रममें ही हुआ था। उसके एक दिन पहले इन्होंने मुझसे कहा था कि स्वप्नमें श्रीमहाराजजी चट्टी पहने हुए आये हैं और कह रहे हैं कि 'मैया ! चलो।' दूसरे दिन भण्डारेके पश्चात् अकस्मात् इनका देहान्त हो गया। ये मध्याह्नमें विश्राम करनेके लिए लेटी थीं। जब दरवाजा खोला तो देहावसान हो चुका था। इन्होंने अखण्डानन्दजीसे ही संन्यास-दीक्षा भी ले ली थी।

विरक्त सप्ताह

सम्वत् १९४१ वि० माघ शु० ११ को स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीने

संन्यास लिया। उसके पश्चात् फाल्गुन मासमें वे बाँधपर श्रीमहाराजजीके पास चले आये और फिर अधिकतर उनके साथ ही रहने लगे। उस वर्षका चातुर्मास्य श्रीमहाराजजीने कर्णवासमें किया। इस बीचमें स्वामी प्रबोधानन्द और मैं भी विरक्ताश्रममें दीक्षित हो चुके थे। हम सबका प्रथम चातुर्मास्य यही था। श्रीमुनिलालजी पूर्वाश्रममें स्वामी अखण्डानन्दजीकी भागवत सुन चुके थे। उनका सङ्कल्प हुआ कि श्रीमहाराजजीको उनका भागवत-सप्ताह सुनाया जाय। इन्होंने श्रीमहाराजजी और स्वामीजीसे इसके लिए प्रार्थना की। दोनों हीने स्वीकृति दे दी। अतः पक्के घाटपर श्रीगनेशीलालजीकी यज्ञशालामें इसका आयोजन हुआ। पूज्य स्वामीजी भागवतके अद्वितीय वक्ता हैं। संन्यास लेनेपर उनका यह प्रथम सप्ताह हुआ। आपकी प्रवचनशैली बड़ी ही स्वाभाविक, विवेचनात्मक और मनोमुग्धकारिणी है। सभीको बड़ा आनन्द हुआ। इस सप्ताहके मुख्य श्रोता थे श्रीमुनिलाल। श्रीमहाराजजी और स्वामी निर्मलानन्दजीने पूरा सप्ताह सुना। मूलका पाठ पं० तुलसीरामजीने किया और दो-तीन पण्डित जापक रहे।

मुनिलालजीकी आर्थिक स्थिति बहुत सामान्य थी। वे अधिक खर्चा नहीं कर सकते थे। इसलिए इस सप्ताह-यज्ञमें विशेष धूमधाम या आडम्बर नहीं था। जैसे श्रीमहाराजजीके भण्डारमें सब लोग भोजन करते थे उसी प्रकार करते रहे। यजमानकी ओरसे केवल दक्षिणा और अन्तिम भण्डारा ही हुआ। वक्ता तो विरक्त सन्त थे। उन्होंने निष्काम भावसे ही श्रीमहाराजजीको कथा श्रवण करायी। इस प्रकार अर्थव्ययका सङ्कोच रहनेके कारण लोग इसे 'विरक्त सप्ताह' कहने लगे।

गङ्गा पूजन

श्रीमहाराजजी स्नानके लिए नित्यप्रति देवत्रय मन्दिरके घाटपर जाया करते थे। वर्षाऋतु थी, अतः गंगाजीमें बाढ़ आयी हुई थी। आप जब गंगास्नान करते थे तब पहले अपनी रुद्राक्षकी माला किसीको सँभला दिया करते थे। एक दिन ध्यान न रहनेके कारण आप माला देना भूल गये और गंगाजीमें गोता लगा दिया। बाहर आनेपर शरीर पोंछकर वस्त्र धारण कर लिये और पूछा, "अरे! मेरी माला किसके पास है? लाओ।" सब एक-दूसरेकी ओर देखने लगे और किसीसे कोई प्रत्युत्तर न मिलनेपर सबने कहा कि आज तो आपने किसीको भी माला

नहीं दी। आप बोले, "अरे! "मैं भूल गया। मालूम होता है, आज तो माला गङ्गाजीमें बह गयी।" सोचने लगे कि आज गङ्गाजीको अच्छा खेल सूझा। फिर हँसकर बोले, "अच्छा गङ्गामैया! जबतक तू मेरी माला नहीं देगी मैं तुझे दूध नहीं पिलाऊँगा।" यह कहकर और गङ्गाजीकी ओर देखकर आप चले आये।

धीरे-धीरे शरद्‌ऋतु आ गयी। आप नित्यप्रति परिकरसहित वहाँ स्नान करते रहे। साथमें अनूपशहरके छोटेलाल मास्टरका एक गूँगा लड़का भी स्नान कर रहा था। पहले गोतेमें ही उसके हाथमें वह रुद्राक्षकी माला आ गयी। उसने तुरन्त वह श्रीमहाराजजीके सामने पेश कर दी। श्रीमहाराजजी देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "अरे! गङ्गाजीने माला लौटा दी!" मालामें कोई कीचड़ आदि भी नहीं लग रहा था। मालूम होता था, जैसे वह धरोहरके समान सुरक्षित रखी थी और अब लौटा दी। आश्चर्य यही हुआ कि इतनी बाढ़ आती रही और कहीं कोई वृक्षकी जड़ आदि भी नहीं थी, जिसमें अटक जाती। फिर कैसे इतने दिनों पश्चात् प्रवाहमें ही माला मिल गयी। इससे यही जान पड़ता है कि यह सब श्रीगङ्गाजीकी आपके साथ विनोदमयी लीला ही थी। और आपने भी यह दिखा दिया कि गङ्गाजी मेरा कितना ख्याल रखती हैं, कितना प्यार करती हैं और कैसे खेल खेलती हैं।

श्रीमहाराजजीसे किसीने पूछा कि गङ्गाजी क्या हैं, तो आपने कहा, "यह स्वतः सिद्ध ब्रह्मस्वरूपा हैं।" आपने वह माला फिर उस लड़केको ही दे दी और गङ्गाजीसे कहा, "मैया! अब मैं तुम्हें खूब दूध पिलाऊँगा।" बस, एक नावपर मनों दूध ले जाकर श्रीगङ्गाजीका पूजन किया गया। बड़ी धूमधामसे **'कलिमलहारिणी गंगे, पतितपावनी गंगे'** इस ध्वनिका कीर्तन हुआ और सुबोधचन्द्र आदि पण्डितोंने गङ्गालहरी स्तोत्रका स्वरपूर्वक पाठ किया।

इस समय श्रीमहाराजजीकी छटा देखते ही बनती थी। प्रसन्नताकी ज्योति आपके मुखारविन्दपर लहरा रही थी। श्रीकरकमलोंसे गङ्गासागरके द्वारा शर्करा और मधुमिश्रित दुग्धकी धारा श्रीगङ्गाजीमें छोड़ रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि श्रीगङ्गाजी आपके मुखारविन्दकी छबि निहारते हुए बड़े औत्सुक्यसे उस धाराको पान कर रही हैं। लहराती धाराओंसे श्रीगङ्गाजीकी प्रसन्नता स्पष्ट जान पड़ती थी। इस समय गङ्गाजी, भक्तवृन्द और श्रीमहाराजजी इन तीनों हीकी प्रसन्नता मानो

त्रिवेणी होकर प्रवाहित हो रही थी। आपके चन्दनचर्चित विशाल भालपर रोलीका तिलक देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव अपनी शीतल ज्योत्स्ना बिखेर रहे हैं। कण्ठमें श्वेत पुष्पहार मानो श्वेत नागेन्द्रहार ही था। श्रीगङ्गाजीकी हर-हर ध्वनि ऐसी जान पड़ती थी मानो बलिहारी-बलिहारीकी ध्वनि आ रही हो। ये साक्षात् निराकार जगदम्बा ही हैं। श्रीमहाराजजी जैसे सान्द्रीभूत शिव हैं वैसे ही ये द्रवीभूत ब्रह्म हैं। क्या कहें, श्रीधाराजी अनेक मुख धारणकर दुग्धपान कर रही हैं, और आप सहस्र-सहस्र दुग्धधाराएँ छोड़ रहे हैं। दोनों मिलकर एक हो रहे हैं। यह दूध है या गङ्गा—गङ्गा है या दूध कुछ कहनेमें नहीं आता, दोनों धाराएँ प्रेमालिंगनमें मिलकर एकमेक हो रही हैं, क्योंकि यह तो प्रेमामृत की रसीली धारा है, दुग्ध तो कहनेमात्रको है। अब भागीरथी गङ्गा नहीं रहीं, दुग्धगंगा ही हो गयीं। गंगापूजनके उल्लासके साथ आप भक्तवृन्दके लिए आनन्दवृष्टिके साथ प्रसादी मोदकोंकी वृष्टि भी करते जा रहे हैं। धन्य हैं करुणासिन्धो गुरुदेव !

इस प्रकार आप जब-जब गंगा या यमुनाके तटपर रहते थे तब-तब प्रायः सर्वदा ही उनका पूजन और दुग्धाभिषेक कराते थे।

ध्यान दो

अब प्रसंगप्राप्त श्रीमहाराजजीके कुछ उपदेश भी दिये जाते हैं—

भजन निरन्तर होना चाहिए। यदि उसमें एक दिनका भी व्यवधान होगा तो कई दिनोंकी संचित पूँजी नष्ट हो जायगी। इसलिए नियमित भजनमें कभी त्रुटि नहीं आने देनी चाहिए। यदि भगवान्का चिन्तन करते हुए हमें संसारकी चीजें अच्छी लगती हैं तो समझना चाहिए कि अभी हम अपने लक्ष्यसे कोसों दूर हैं। जब संसारकी बढ़ियासे बढ़िया चीजको देखकर हमें घृणा हो तभी समझना चाहिए कि कुछ भगवदनुराग हुआ। भगवद्भक्त को तो सभी चीजें तुच्छ दिखायी देनी चाहिए। भक्ति और ज्ञानकी प्रतिक्षण वृद्धि होती रहती है, परन्तु हमें मालूम नहीं होती। एकमाला जपनेपर भी भक्ति बढ़ती है। यदि कहो कि ऐसा मालूम क्यों नहीं होता, तो इसका कारण यह है कि जीव अत्यन्त भूखा है। इसलिए थोड़ा भजन करनेपर उसका उसपर प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे कोई अत्यन्त भूखा हो तो दो-चार ग्रास खानेपर उसकी भूख शान्त नहीं होती। जब दिन-रात भजनकी रगड़ हो तभी कुछ हो सकता है। दिन-रात भजन करना तो मानो रात-दिन

विषयोंसे युद्ध करना है। हम हँसना-रोना भी तो नहीं जानते। यदि हमें हँसना-रोना आता तो हम प्रभुके लिए हँस-रोकर उन्हें प्राप्त कर लेते और इस प्रकार हमारा काम बन जाता।

भजन करनेवालेका जबतक राग नहीं होगा तबतक उससे सच्चा भजन नहीं हो सकता। किन्तु राग पहले ही नहीं होता। अतः आरम्भमें तो नियमसे ही भजन करना चाहिए। ऐसा करते-करते ही भजनमें राग होता है। किन्तु ऐसा भी तभी होता हैं जब आदरपूर्वक नियमका पालन किया जाय। बेगार समझकर जैसे-तैसे कुछ कर लेनेसे कुछ नहीं होगा। भजन श्रद्धापूर्वक सत्कारसहित निरन्तर और दीर्घकालतक होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिए कि भजनके नामपर बेगार ही टाली जाती है।

जब भजनका राग होता है तब सब विषय विषवत् हो जाते हैं। जबतक किसी काममें लगन नहीं होती तबतक कुछ नहीं हो सकता। सन्त श्रीनारायणस्वामीजी कहते हैं—

'लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायन जा लगनमें, तन मन डारैं खोय॥'

भृगुक्षेत्रमें

कर्णवाससे प्रायः पाँच मील उत्तरमें भेरिया नामका एक गाँव है। उसके समीप विरक्त सन्तोंके लिए एक आश्रम है, जिसमें अलग-अलग अनेकों कुटियाएँ हैं, मन्दिर है तथा अन्नक्षेत्र और एक संस्कृत विद्यालय है। यह स्थान भृगुक्षेत्र कहा जाता है। इसका सञ्चालन पहले बम्बईके एक सेठ द्वारा होता था। अब एक ट्रस्ट है, जिसके अध्यक्ष पूज्य स्वामी शास्त्रानन्दजी महाराज हैं। उन दिनों यह आश्रम सचमुच ऋषि आश्रम ही था। इस प्रान्तके एक वयोवृद्ध सन्त श्रीरामानन्दपुरी, जिन्हें बङ्गाली बाबा कहते थे, यहाँ विराजते थे। स्वामी श्रीशास्त्रानन्दजी उनके भाव-शिष्य हैं। इनके अतिरिक्त श्रीअच्युत मुनि आदि और भी कई विरक्त एवं विद्वान् सन्त वहाँ निवास करते थे। वह एक प्रकारसे सिद्ध भूमि है। वहाँ असंख्य सन्त भजन करते रहे हैं। उसे एक सर्वहितकारी आरण्यक विद्यालय भी कहा जा सकता है। यहाँ विवेक-वैराग्य और बोध सतरूप धारणकर सत्संगपिपासुओंकी भवव्याधि निवृत्त करते रहे हैं।

तथा उन्हें चैतन्य दीपक देकर सदाके लिये उनका अज्ञानान्धकार मिटाते रहे हैं।

इन आरण्यक विद्यालयोंके विषयमें एक बार एक सज्जनने श्रीमहाराजजीसे पूछा था कि दिनभर भगवान्का भजन करना और भिक्षाका अन्न खाना—यह क्या अकर्मण्यता नहीं है? इसका उत्तर देते हुए आपने कहा था कि यह अकर्मण्यता नहीं, परम पुरुषार्थ है। जीवका जब भगवान्के चरणोंमें परम विश्वास और प्रेम होता है तभी वह सर्वस्व त्यागकर परमार्थका पथिक बनता है। साधु-संत गृहस्थोंमें-से ही तो आते हैं। यदि ये घरमें रहते तो दूसरोंकी तरह इनके पास भी धन-धरती और कुटुम्ब आदि होते ही। परन्तु इन्होंने इन वस्तुओंको तुच्छ समझकर इनके मोहसे मुक्त हो श्रीभगवान्को अपनाया है। अतः गृहस्थोंकी अपेक्षा तो इनका पुरुषार्थ बहुत बढ़ा-चढ़ा है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-
जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्॥

(१०-६०-४१)

अर्थात् हे कमलनयन! आपकी प्राप्तिकी लालसासे अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि सम्राटोंने अपने एकच्छत्र राज्योंको त्यागकर बनमें जा अनेक प्रकारके कष्ट सहे, सो वे क्या इन तुच्छ भोगोंमें कोई आस्था रखते थे।

सोचो तो सही, क्या वे लोग अकर्मण्य थे। उनके समान पुरुषार्थ आज किसमें है। श्रीरामायणजीकी यह चौपाई भी प्रसिद्ध ही है—**'मुनि बहु जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज्य तजि होहिं बिरागी॥'** अतः निश्चय मानो परमात्माकी महान् कृपासे जब विवेकवती बुद्धि प्राप्त होती है तब बड़े-बड़े सम्राटोंको भी ऐसा अनुभव होता है कि सच्चा पुरुषार्थ श्रीभगवान्को प्राप्त करना ही है। घर-वार तो जीवको मोहमें ही फँसानेवाले हैं। तभी वे सब कुछ छोड़कर भगवद्भजनमें लगते हैं।

अस्तु, कर्णवाससे चलकर आप भृगुक्षेत्र पहुँचे। जिस समय आप वहाँ पहुँचे श्रीअच्युतमुनिजी बड़े प्रेमसे सूर्यको निहार रहे थे। आपको

देखकर बोले, "मैं तो सूर्यावच्छिन्न चैतन्यको देख रहा हूँ।" इतने हीमें उनके शिष्य श्रीलाल याज्ञिक वहाँ आ गये। उनसे एकान्तमें आपने कहा, "देखो, ये ब्रह्मनिष्ठ हैं। इनकी स्थिर दृष्टि बता रही है कि इनकी निःस्पन्द ब्रह्ममें स्थित है। इनसे सत्सङ्ग करो।" तब सत्सङ्ग करनेपर श्रीलालजीको मालूम हुआ कि ये ध्याननिष्ठ ज्ञानी हैं। इनका मत है कि बिना ध्याननिष्ठ हुए ज्ञाननिष्ठा नहीं होती। ये कहते हैं कि आज-कल जो लोग अपनेको ज्ञानी समझते हैं वे ध्यानकी आवश्यकता नहीं मानते परन्तु प्राचीन महात्मा तो ध्यानका बहुत आग्रह रखते थे और मैं भी वैसा ही मानता हूँ। ये अजपा जाप, नादानुसंधान अथवा साक्षीभावकी अपेक्षा देहको दृश्यरूपसे देखनेके साधनको विशेष महत्त्व देते हैं।

श्रीअच्युत मुनिजी—यहाँ पूज्यपाद श्रीअच्युत मुनिजीका परिचय देना अप्रासङ्गिक न होगा। इनका पूर्वाश्रमका नाम था पं० दौलतरामजी ये डी० ए० वी० कालेज लाहौरमें संस्कृत-विभागके अध्यक्ष थे। इनकी धारणा थी कि देववाणीका अध्यापन निःशुल्क होना चाहिये। वास्तवमें तो सभी प्रकारके विद्यादानके लिये आर्यपरम्परा ऐसी ही है फिर देववाणीकी तो बात ही क्या है? अतः वेतन लेकर देववाणीकी शिक्षा देना आपके चित्तमें खटकता था। उस खटकेने वेदनाका रूप धारणकर लिया और आपके लिये वह असह्य हो गया। अतः आपने अपने पदसे त्यागपत्र दे दिया और उसमें स्पष्टरूपसे अपना दुःख भी निवेदन कर दिया। आपने लिखा कि वेतन लेकर संस्कृत विद्या पढ़ाना इस पवित्र विद्याको बेचना है। इस विद्याविक्रयके कारण मैं जो पापका भागी बना उसमें प्रायश्चित्तके लिए मैंने शेष जीवन परमपवित्र गङ्गातटपर रहकर तप, ध्यान और स्वाध्यायमें व्यतीत करनेका निश्चय किया है। आप एक नौकापर रहते थे। जब-जब नावसे बाहर निकलते और उसपर चढ़ते तब-तब कलिमलहारिणी गङ्गाको बारंबार प्रणाम करते थे और उसके पवित्र जलको सिरपर धारण करते थे। इसी प्रकार शब्दतः और अर्थतः शास्त्रीय आचारका निर्वाह करते थे। जब तक विधिवत् शिखा-सूत्र त्याग नहीं किया सन्ध्या-तर्पण आदि नित्य कर्मोंको विधिवत् करते रहे। आप गरीब-अमीर, गृहस्थ-विरक्तका विचार छोड़कर जो भी वेदान्त-ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहता उसे पञ्चदशी, मधुसूदनी टीका, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् आदि पढ़ाया करते थे। उदारताकी मूर्त्ति थे, किन्तु स्वयं कोई इच्छा नहीं रखते थे। आपने अपने संशय-विपर्ययशून्य बोधके बलसे

विद्वत्संन्यास लिया था। पीछे आप काशीवास करने लगे थे। वहाँ श्रीदुर्गासप्तशतीका पाठ और श्रीमद्भागवत-श्रवण करते थे। आपके शिष्य श्रीगौरीशङ्कर गोयनकाने आप हीकी स्मृतिमें श्रीअच्युत-ग्रन्थमाला नामकी संस्था स्थापित की, जिसने कई वेदान्त-ग्रन्थ हिन्दीमें अनुवाद कराकर प्रकाशित किये हैं। आपके भक्तोंमें सेठ गौरीशङ्कर गोयनका वृद्धिचन्द्र पोद्दार, जमनालाल बजाज और रामनारायण रुइया आदि कई सेठ तथा श्रीलाल याज्ञिक, भूदेव शर्मा, रामावतार विद्याभास्कर आदि कई जिज्ञासु सज्जन थे। आपने अपने शिष्योंको आज्ञा दी थी कि तुम लोग बाबाका सत्सङ्ग अवश्य करो और उनके सान्निध्यका सदुपयोग करो।

आप श्रीमहाराजजीसे बड़े प्रेमसे मिले। आपसमें कुछ सत्सङ्ग भी हुआ। आपने कहा कि त्याग तो सहज और सरल है, परन्तु वैराग्य होना कठिन है। त्यागमें तो घर छोड़कर दूर चले जाओ, परन्तु वैराग्यमें तो यह आवश्यक है कि वस्तु पास रहे अथवा न रहे उसमें किसी प्रकारकी ममता या मोह न हो।

श्रीमहाराजजीने पूछा कि अज्ञान किसे कहते हैं? आप बोले, "लोग जो कहते हैं कि जो ज्ञान वसिष्ठादिको था वह क्या हमें हो सकता है? यही अज्ञानका प्रधान लक्षण है।"

श्रीमहाराजजीके विषयमें श्रीभूदेव शर्मा कहते हैं—उनके दर्शन करते ही उन्हें साक्षात् उपरति-स्वरूप पाया। उनके संसर्गमें आते ही आत्म-निष्ठाके लिये छटपटाहट पैदा हो जाती थी। उनके त्याग तप और उत्सर्गकी कला प्रत्येक साधक और जिज्ञासुके लिये उत्साहके स्रोत थे। प्रत्येक व्यक्ति उनके पास अपने ही विचारोंका समर्थन पाता था और सबके साथ समन्वयकी भावना पैदा करके राग-द्वेषसे मुक्त हो जाता था। यही स्पष्ट जान पड़ता था कि महाराजजीकी सबसे अधिक कृपा मुझपर ही है। रामघाट-कर्णवासका तो कहना ही क्या है, जहाँ-जहाँ भी वे रहते थे वहाँका दिव्य और अलौकिक वातावरण देखकर चित्त मुग्ध हो जाता था, किन्तु यह तो अनुभवका ही विषय था, जिन्हें ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ वे ही जानते थे। क्या कहें, प्रथम दर्शनमें ही मेरा श्रीचरणोंमें जो अटूट सम्बन्ध हुआ वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा। आकर्षणका मुख्य विषय तो उनका आत्मीयताका व्यवहार था, जो माता-पिता और सगे-सम्बन्धियोंकी यादको भी भुला देता था तथा वियोगके समय रुला देनेमें

भी समर्थ था। वे प्रेमके अवतार थे। उनकी निषेध-अभ्यासके लिए यह स्पष्ट गर्जना मेरे हृदयपर अङ्कित हो गयी—'सर्वज्ञता, ईश्वरता और सिद्धि आदि सब वृत्तिजनित ही हैं। संसारकी सत्यता मानकर विश्वासपूर्वक अनुष्ठान करनेसे ही ये प्राप्त होती हैं। आत्मज्ञान तो वृत्तिका प्रकाशक है। वह वृत्तिजनित अनुभवका विषय नहीं है। उसके विषयमें है या नहीं, ज्ञान या अज्ञान, बनना या बिगड़ना, प्राप्ति या अप्राप्ति कुछ नहीं कहा जा सकता। यह विलक्षण अनुभूति स्वसंवेद्य है। उपासक अथवा योगी बाह्य आकृतिसे भी जाना जा सकता है, किन्तु तत्त्ववेत्ताका परिचायक कोई चिन्ह नहीं है। साक्षिवृत्ति भी वृत्तिसाक्षीको नहीं जान सकती। वहाँ तो द्वैतका पता ही नहीं है, माया और मन भी खो जाते हैं तथा अहन्ता-ममता का बीज नष्ट हो जाता है। यहाँ वैराग्य और परा भक्तिसे पूर्ण विशुद्ध आत्मानुभूति अर्थात् स्वात्मनिष्ठा नित्य प्राप्त है। कर्त्तव्य, समाधि और ईश्वरदर्शन आदि सब वृत्तिके खिलौने हैं। ये शून्यरूप तथा मरुमरीचिका, रज्जु-सर्प एवं आकाश-कुसुमके समान मिथ्या हैं। शरीर, जीव तथा सब प्रपञ्च भी आकाशरूप है।' निषेध-अभ्यासके लिए ही श्रीमहाराजजीका जोर था। विधिमुखसे वे संसारको आत्माकी चमक तथा आकाशके तिरमिरोंके समान उपदेश करते थे। विद्यार्थियोंमें ब्रह्मचर्यका तथा ग्रामीणोंमें सादा जीवन एवं मादक वस्तुओंके निषेधका प्रचार करनेमें भी आपको अच्छी सफलता मिली। इस प्रकारके निवृत्तिनिष्ठ सन्तोंसे जनताको जिस प्रकारके लाभकी आशा की जा सकती है वह सब आपसे प्राप्त था। एक रात्रिमें अपनी बाहु मेरे हाथसे स्पर्श कराकर यह स्पष्ट दिखा दिया कि प्राणसंयमके द्वारा नितान्त निष्क्रियता और निश्चेष्टा प्राप्त हो सकती है। वे प्रेमके तो अवतार ही थे।'

श्रीअच्युतमुनिजीके एक अन्य भक्त थे ज्वालासिंहजी। ये भृगुक्षेत्रके व्यवस्थापक थे। उन्होंने लिखा है—श्रीअच्युतमुनिजीकी आज्ञासे मैं श्रीमहाराजजीके दर्शनार्थ कर्णवास गया था। मनमें यह जाननेकी बहुत उत्कण्ठा थी कि योगकी कौन-कौन-सी सिद्धियाँ होती हैं और उन अवस्थाओंमें योगीका शरीर किस-किस प्रकारका हो जाता है। एकबार श्रीअच्युतमुनिजीसे भी मैंने यह प्रश्न किया था। परन्तु उन्होंने फटकार दिया कि भक्तको इन बातोंसे क्या काम। मैं दो-दो घण्टे तक त्राटक करता था। इस प्रश्नको लेकर ही मैं कर्णवास गया था। उनका अनेकों नर-नारियोंसे घिरा रहना तथा भक्तोंके खिलाने-पिलाने और उनके

आने-जानेकी व्यवस्थामें व्यस्त रहना मुझे पसन्द नहीं आया। उनके यहाँका रङ्ग-ढङ्ग देखकर मनमें अश्रद्धा उत्पन्न हो गयी, इसलिए कुछ पूछ न सका। रास्तेमें—

उघरहि विमल विमोचन हीके। मिटहिं दोष-दब भव रजनीके॥
सूझहिं रामचरित मणि-माणिक। गुप्त प्रगट जो जहँ जेहि खानिक॥

इन गुरुवन्दनाकी चौपाइयोंको गुनगुनाते हुए लौट आया। रात्रिको भगवान्‌की आरतीके पश्चात् सोया और स्वप्नमें मैंने जो दृश्य देखा वैसा न तो पहिले कभी देखा था और न उसके पीछे देखनेको मिला।

मैंने देखा कि बड़ा भारी प्रकाश छाया हुआ है। वहीं एक महल है। उसीमें-से एक पन्द्रह-सोलह वर्षकी आयुके छोटे-से उड़ियाबाबा निकले। उनका वेश संन्यासका ही था और आगेके दाँत भी निकले हुए थे। वे पुस्तक लेकर पढ़नेको बैठ गये। उसके बाद एक बहुत बड़े उड़ियाबाबा निकले। उनका मुख सुदूर आकाशमें दीख रहा था और चरण फटी हुई पृथ्वीमें जलके ऊपर दिखायी देते थे। फिर एक बहुत मोटे उड़ियाबावा मिले, जो सामान्य आकारसे बीसों गुना मोटे थे। उसके पश्चात् एक बहुत ही दुबले-पतले हड्डीके ढाँचामात्र उड़ियाबाबा प्रकट हुए। फिर एक ऐसे उड़ियाबाबा दीखे जो आकाशमें उड़ रहे थे। तदनन्तर एक उड़ियाबाबा चट्टी पहनकर समुद्रपर चलते दिखायी दिये। फिर अनेकों प्रकारके पशु-पक्षियोंके रूपमें उड़ियाबाबा दीखे, जिनका और शरीर तो उन-उन पशु-पक्षियोंके समान था, परन्तु मुख उड़ियाबाबाजीका-सा था। फिर अशर्फियोंके ढेरपर बैठे हुए उड़ियाबाबा देखे। और उसके पश्चात् अनेकों उड़ियाबाबाओंका बाजार-सा देखा, जिसमें विविध प्रकारके उड़ियाबाबा थे। फिर वे सभी स्वरूप अदृश्य हो गये और महाराजजी बोले, "देखा, ये ही योगकी सिद्धियाँ हैं।" तत्पश्चात् वह स्वप्न भङ्ग हो गया।

उसके कुछ दिनों पश्चात् अनूपशहरमें मुझे बाबाके दर्शन हुए। वहाँ पण्डित बद्रीप्रसादजी द्वारा लिखित योगप्रदीप नामक ग्रन्थकी कथा हो रही थी। उसमें उन्हीं सिद्धियोंका प्रसङ्ग चल रहा था जिन्हें मैंने स्वप्नमें देखा था। कथाके अन्तमें मुझसे बाबाने कहा, "समझ लिया।" इससे मैंने समझ लिया और मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि बाबा

योगिराज हैं और दूसरोंके मनकी बात जान लेते हैं। बाबाने ही कृपा करके मेरे मनका समाधान करनेके लिए स्वप्नमें वे सब दृश्य दिखाये थे यद्यपि मैंने उनसे पूछा कुछ भी नहीं था, तथापि उन्होंने मेरे मनकी बात जान ली थी। उसके पश्चात् बाबा जहाँ कहीं भी रहते मैं उनके दर्शनोंको अवश्य जाता, क्योंकि उनके प्रति मुझे अटूट श्रद्धा उत्पन्न हो गयी थी।

इसके कुछ वर्षों बाद मेरे मनमें यह जिज्ञासा हुई कि ज्ञानी ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें किन-किन अवस्थाओंको प्राप्त होता है। उसके आहार-विहार आदि आचरण कैसे होते हैं। एक दिन मैंने सुना कि बाबा हाथरस-में हैं। मैंने वहाँ जाकर उनका दर्शन किया और रात्रिमें सोया तो स्वप्नमें देखा कि मेरे ही सात स्वरूप सात स्थानोंमें बैठे हैं और मैं उनका द्रष्टा होकर सबको देख रहा हूँ। उनमें-से चार स्वरूप तो बोलते-चालते हैं और तीन मौन हैं। उन तीनोंकी बड़ी विलक्षण अवस्था है। इतने हीमें बाबाके दर्शन हुए और वे बोले, "यह अवस्थाएँ बहुत शीघ्र ही तुम्हें लिखनेको मिलेंगी।" उसके दो दिन पश्चात् विठूरसे युगलानन्द ब्रह्मचारी आये। उन्होंने सात-आठ श्लोक[1] लिखवाये, जो मेरे प्रश्नके उत्तर ही थे। उनमें-से निम्नलिखित श्लोकने मेरी इस शङ्काका समाधान कर दिया कि बाबा जब कथा या सत्सङ्गमें बैठते हैं तब ओंघते क्यों रहते हैं—

अन्तर्मुखतया तिष्ठन् वहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥[2]

एक बार इन्हें वर्षोंतक वायु-रोग रहा। सारा शरीर सुन्न-सा रहता था। बुद्धि काम नहीं देती थी। बहुत चिकित्साएँ कीं, परन्तु सबसे निराश होना पड़ा। उस समय किस प्रकार इन पर श्रीमहाराज जीकी कृपा हुई, वह ये इस प्रकार लिखते हैं—एक दिन मैं नन्नामलजीकी बैठकमें तख्तपर लेटा हुआ था। सामने पूज्य बाबाका चित्रपट था, उसका दर्शन कर रहा था। अकस्मात् उस चित्रमें ही ध्यान लगाये मुझे नींद आ गयी। मैंने स्वप्नमें देखा कि बाबा हाथमें कमण्डलु लिये

---

१. ये वे ही श्लोक थे जिनमें ज्ञानकी सात भूमिकाओंके लक्षण बताये हैं।
२. जो महात्मा बाह्य व्यापारोंमें रहते हुए भी अन्तर्मुख होकर ही रहता है वह थका-सा रहनेके कारण निद्रालु-सा दिखायी देता है।

खड़े हैं और मुझसे कह रहे हैं कि 'ठाकुर ! तू बाजीकरण खा।' फिर मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने लल्लूजी वैद्यसे बाजीकरण देनेको कहा। उन्होंने सब बाजीकरण औषधियोंको मिलाकर उनकी सात पुड़ियाएँ बना दीं। उनमें-से एक पुड़िया खानेपर मुझे सारे शरीरकी हड्डी और नाड़ियोंके दर्शन होने लगे तथा रक्तका सञ्चार भी होने लगा। शरीरमें अद्भुत चमत्कार और बलकी स्फूर्ति जान पड़ी। दूसरे दिन मालूम हुआ कि बाबा भिरावटीमें हैं। मैं सवारी द्वारा भिरावटी पहुँचा। सातों पुड़ियाएँ खानेपर मेरा शरीर पूर्णतया नीरोग हो गया। जब बाबाका दर्शन करने गया तो वे कहने लगे, "अब तो तू ठीक हो गया। अब तू इस औषधिको भगवान्‌का प्रसाद समझ कर सेवन करा।" तबसे अबतक मैंने सहस्रों रोगियोंको वह औषधि दी है और बाबाकी कृपासे उससे शतप्रतिशत रोगियोंको लाभ हुआ है। पन्द्रह बीस वर्षोंमें सहस्रों पक्षाघाती, अपाहिज, राजयक्ष्मावाले और वातरोगी उससे अच्छे हो चुके हैं।

श्रीबङ्गालीबाबा—भृगुक्षेत्र पहुँचनेपर आपको वहाँके सुप्रसिद्ध सन्त श्रीरामानन्दजी पुरीके दर्शन हुए, जो बङ्गालीबाबा नामसे प्रसिद्ध थे। वे वहाँके सन्तोंमें सबसे वयोवृद्ध और सभीके आदरणीय थे। वैराग्यकी तो वे मूर्त्ति ही थे। उन दिनों स्वामी श्रीहीरादासजीके वैराग्यकी धाक सभी सन्तोंपर थी। आपको सब लोग विरक्तशिरोमणि ही मानते थे। व्रजमें श्रीबङ्गालीबाबाजी और श्रीहीरादासजी साथ-साथ ही रहते थे। सन्त आपका बहुत आदर करते थे। गवेंके ला० कुन्दनलाल आदि धनीवर्ग भी आपकी सेवामें उपस्थित रहते थे। वे केवल आधा सेर गोदुग्ध गर्म करके उसमें धानकी खीलें डालकर लेते थे। आपकी विशेष अभिरुचि माधुकरी भिक्षामें थी। आप कहा करते थे—

'भिक्षाहारो फलाहारो भिक्षा नैव परिग्रहः।
सदन्नं वा कदन्नं वा सोमपानं दिने दिने॥'

अर्थात् भिक्षाका अन्न तो फलाहारके समान है, भिक्षा परिग्रह नहीं है। भिक्षामें अच्छा अन्न मिले या बुरा, वह तो नित्यप्रति सोमपानके समान ही है।

इन्होंने श्रीमहाराजजीको सुनाया कि एक बार झाड़ीमें सत्सङ्ग हो रहा था। सभी साधु-महात्मा अपने-अपने अनुभव प्रकट कर रहे थे। इतने हीमें-झाड़ीमें-से एक वृद्ध महात्मा निकले। लोगोंके आग्रह करनेपर

उन्होंने कहा, "साधन दो तरहके हैं"—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। दोनों ही आवश्यक हैं। अन्तरङ्ग साधन यह है कि निरन्तर चिन्तन करता रहे, किसी भी क्षण तत्त्वचिन्तनसे भिन्न विचार न हो। बहिरङ्ग साधन है—प्रतिग्रह (दूसरेसे लेना), परिग्रह (सञ्चय करना), उपग्रह (बार-बार खाना) और परिचर्चा (निन्दा-स्तुति करना)—इन चारोंसे बचे। इनसे बच जाय तो भजनका फल प्राप्त हो।

दूसरी विशेष स्मरणीय बात उन्होंने यह सुनायी कि एक बहुत साधनसम्पन्न तत्त्वनिष्ठ संतसे, उनके ब्रह्मलीन होनेसे पहले, सबने प्रार्थना की कि अपना अनुभव बताइये। तब उन्होंने बताया कि यदि ऋषिकेशसे लाहौरतक सोनेका पहाड़ हो तो मेरा मन चलायमान नहीं होगा, परन्तु यदि स्त्रियोंका संसर्ग हो तो मैं यह भरोसा नहीं करता कि मेरा चित्त निर्विकार ही रहेगा।

उन्होंने यह भी कहा कि वृन्दावनमें मेरे साथी एक महात्मा थे। वे इस दृष्टिसे कि भजनमें विघ्न न पड़े हर समय शौचालयमें बैठे रहते थे। इसीसे सब लोग उनसे घृणा करने लगे और उनके द्वारा अधिक-से-अधिक भजन होने लगा। भजनमें मन लग जानेपर तो दुर्गन्ध भी सुगन्धमें परिणत हो जाती है।

स्वामी शास्त्रानन्दजी—पूज्य स्वामी शास्त्रानन्दजी श्रीबङ्गालीबाबाजीके भाव-शिष्य हैं और उन दिनों इन्हींकी सेवामें रहते थे। आपने उत्कल प्रान्तके ग्राम मुकुन्दपुर, तहसील भद्रक, जिला बालेश्वरमें सं० १९३२ वि० के वैशाख शुक्ल १४ को एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया था। आपके पिता थे पं० योगिनाथ शर्मा तथा आपका पूर्वाश्रम का नाम था पं० जयराम शर्मा। आपने प्राथमिक शिक्षाके पश्चात् कस्बा कालीमेखामें अभिमन्यु चौधरीके स्थानमें संस्कृत व्याकरणकी सारस्वत-चन्द्रिकाका अध्ययन किया। फिर और भी कई ग्रन्थ पढ़े। किन्तु आरम्भसे ही संसारकी ओर आपकी प्रवृत्ति नहीं थी। अतः बाल्यावस्थामें ही धन्नाजोरी ग्राममें श्रीहरिदास नामके एक वैष्णव संतसे आपने राममन्त्रकी दीक्षा ले ली और सदाके लिये घर छोड़कर काशी चले आये। यहाँ स्वयं ही विद्वत्संन्यास ग्रहण कर लिया। वहाँसे विचरते हुए आप भेरियामें श्रीबङ्गालीबाबाके पास पहुँच गये। उनमें आपका गुरुभाव हो गया और फिर उन्हींके पास रहकर उनकी सेवामें तत्पर हो गये।

आप सरलताके मूर्त्तिमान् स्वरूप हैं। आपका सिद्धान्त है—

वचस्येकं मनस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
वचस्यन्यत् मनस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥[1]

यही आपका जीवन है। आप वैराग्यकी मूर्त्ति हैं, आपका अधिकांश जीवन भारतकी वनस्थलियोंमें ही व्यतीत हुआ है। आपका जीवन इस श्लोकके अर्थको अङ्कित करता है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥[2]

आपको एकान्तवास अत्यन्त प्रिय है। यदि किसीको सादा जीवन, विमल विचार और ऊंचे आदर्शका स्वरूप जानना हो तो भगवानपुर जाकर श्रीस्वामीजीका दर्शन करे। आप सुनते सबकी हैं, परन्तु निर्लेप नारायण हैं, किसीसे प्रभावित नहीं होते। आपको आशुतोष भगवान् शिवकी उपासना, गङ्गास्नान और तीर्थसेवन प्रिय है। मैंने पूछा, 'शिवभक्ति क्या है?' तब आपने बताया—

सर्वेष्टानिष्टभावानां इष्टत्वेनैव भावनम्।
नीरागद्वेषता चित्ते या सैव शिवपूजनम्॥[3]

'आप शिवत्वका स्वरूप क्या मानते हैं' ऐसा पूछनेपर आपने कहा—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः॥[4]

काशीमें मैंने आपसे पूछा कि जिनका पूजन होता है क्या वे ही अनादि विश्वनाथ हैं? तब आपने कहा, "सारी काशी ज्योतिर्धाम है और वहाँ जितने शिवलिङ्ग हैं वे सभी ज्योतिर्लिङ्ग हैं।" काशीकरवटमें जानेपर

१. महात्मा लोगोंका व्यवहार वचनमें, मनमें, और कर्ममें एक होता है तथा दुरात्माओंका वचनमें, मनमें, और कर्ममें भिन्न-भिन्न व्यवहार होता है।

२. स्वाध्यायसे योग प्राप्त होता है और योगसे स्वाध्यायकी प्राप्ति कही जाती है। तथा स्वाध्याय और योगकी प्राप्ति होनेसे परमात्मा प्रकाशित होता है।

३. सम्पूर्ण अनुकूल और प्रतिकूल भावोंकी इष्टबुद्धिसे भावना करना—ऐसी जो चित्तकी राग-द्वेष-शून्यता है वह शिवजीका पूजन है।

४. भगवान् शिव सम्पूर्ण मुख, शिर और ग्रीवाओंवाले हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिरूप गुफामें स्थित हैं, इसलिए ये सर्वव्यापी और सर्वगत हैं।

आपने भी करवट ली और मुझसे भी कहा कि यहाँ करवट लो, मुक्ति हो जायेगी।

अस्तु। शङ्करजीकी उपासनामें आपकी बड़ी निष्ठा है। पूजनके लिए स्वयं पुष्पचयन करते हैं। भगवानपुर आश्रममें भी शङ्करजी स्थापित हैं। आप अधिकतर वहीं रहते हैं। एक बार कहते थे, "गङ्गातटपर एकसे एक अच्छे स्थान हैं। परन्तु प्रारब्ध कितना प्रबल है, मुझे तो भगवानपुर ही अच्छा लगता है। यहाँ भिक्षामें गेहूँकी रोटी भी नहीं मिलती, बेझड़की रोटी खानी होती है।" मैंने आपके सिरमें जलनेका दाग देखा और पूछा कि यह कैसे हो गया। आप बोले, "एक बार श्रीबङ्गाली बाबाजीकी सेवामें रहते हुए अँगीठी जलायी थी। किवाड़ें बन्द थीं, इसलिए अचेत हो गया। ऐसी थी आपकी सेवानिष्ठा। बाबाने आपको आज्ञा दी थी कि मुझे गङ्गाजी में प्रवाहित करके ही अन्यत्र जाना। अतः उनके जीवनपर्यन्त आप उनके पास ही रहे और उनके ब्रह्मलीन होनेपर उनके नित्य स्वाध्यायकी गीता उनके वक्षःस्थलपर बाँधकर गङ्गाजीमें प्रवाहित कर दिया।

आपने जैसी श्रीबङ्गाली बाबाकी सेवा की थी वैसा ही सेवक आपको रामकरण ब्रह्मचारी मिला। ये कभी बाहर चले जाते तो वह गोवत्सकी तरह डकराते हुए इन्हें जहाँ-तहाँ ढूंढ़ता फिरता था। अब उसका शरीर शान्त हो गया है। आज-कल ब्रह्मचारी अहोराम आपकी सेवामें रहते हैं। ये भी बड़े ही सरल प्रकृतिके महानुभाव हैं और तन-मनसे आपकी सेवामें तत्पर रहते हैं। श्रीस्वामीजीका शरीर प्रायः रोगी रहता है, तथापि आप सर्वथा उससे निर्लेप रहते हैं—**'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः'** हैं।

श्रीमहाराजजी मुझे आपके पास भेजते तो कह देते थे कि उनकी सेवा करना और भिक्षा माँगकर खाना। इसी प्रकार जब मुझे आप श्रीमहाराजजीके पास भेजते तो कहते कि उनकी सेवा करना और भिक्षा माँगकर खाना। मैंने आपसे इसका रहस्य पूछा तो आप बोले, "गृहस्थ लोग अनेक कामनाओंसे साधुओंके पास भेट लाते हैं, भिक्षा निःसङ्कल्प भोजन है। इसलिए हमारे बाबा भी माधूकरी पर ही जोर देते थे। बस, मैं भिक्षा माँगकर खाता था और उनकी सेवा करता था।

उनके स्वभाव और व्यवहारका सार यह है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावञ्ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति ॥
येषां वाङ् मनसी शुद्धौ सम्यग्गुप्ते च सर्वशः ।
सर्वं सर्वेऽवाप्नुवन्ति वेदान्तोपगतं फलम् ॥

अर्थात् जितनी बनावट है वह मृत्युका पद है और सरलता परमात्मा का पद है। बस, ज्ञानका विषय इतना ही है, व्यर्थ बकवादसे क्या होगा। जिसके वाणी और मन शुद्ध हैं और सब प्रकार सब ओरसे सुरक्षित हैं, वे सभी वेदान्तों द्वारा उपलब्ध होनेवाला सभी फल प्राप्त कर लेते हैं।

अपने जीवनके अभ्यासके विषयमें आपने यह सुनिश्चित विचार बताया—

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि तव न स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥

भले ही शिवजी तुम्हें उपदेश करनेवाले हों अथवा विष्णु या ब्रह्मा उपदेश करें, तथापि बिना सब कुछ भुलाये तुम्हें स्वस्थता प्राप्त नहीं हो सकती।

आपने बताया कि सन्तोंने यही निश्चय किया है कि स्थिर और सुखमय आसन हो तथा जिसमें विशेष प्रेम हो उसीका ध्यान किया जाय। आज-कल तो ग्रन्थसमाधि ही सरल है, निर्विकल्प समाधि होनी कठिन है। देखो, यह सार्वभौम दृष्टि नहीं भूलनी चाहिए, क्योंकि किसी कविने स्पष्ट लिखा है—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतः ध्यानेन यत्कल्पितं,
स्तुत्यानिर्वचनीयताखिलगुरो दूरीकृतं यन्मया ।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलयद्दोषत्रयं मत्कृतम् ॥

अर्थात् रूपहीन होनेपर भी मैंने ध्यानद्वारा जो तुम्हारे रूपकी कल्पना की है, स्तुति करके जो तुम्हारी अनिर्वचनीयताका निराकरण किया है और हे सर्वेश्वर ! तीर्थयात्रा आदि करके जो तुम्हारी व्यापकताका निषेध किया है, सो हे कलाहीन जगदीश्वर ! मैंने जो ये तीन दोष किये हैं, वे आप क्षमा करें।

श्रीमहाराजजीसे इनका कैसा प्रेम-सम्बन्ध था वह इस श्लोकसे प्रकट होगा। श्रीकृष्णाश्रमके प्रतिष्ठा-महोत्सवपर इन्हें निमन्त्रित करते हुए श्रीमहाराजजीने लिखवाया था—

आस्तां तावद्वचनरचनाभाजनत्वं विदूरे
दूरे चास्तां मम तव परीरम्भसम्भावनापि।
भूयो भूयो प्रणतिभिरिदं किन्तु याचेऽहमेकं
स्मारं स्मारं स्वजनगणने कापि रेखा ममापि ॥[1]

ऐसी थी आपकी और हमारे महाराजजीकी पारस्परिक प्रीति।

सबसे महत्त्वपूर्ण घटना—भृगुक्षेत्रमें आपके पदार्पणका प्रसङ्ग समाप्त करनेसे पहले उस दिनकी जो सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी उसका उल्लेख करना हमें नहीं भूलना चाहिए। उस दिन भृगुक्षेत्र सचमुच ही प्रयागराज बन गया। जिस दिन आप पूर्वकी ओरसे गङ्गा-किनारे विचरते भृगुक्षेत्र पधारे उसी दिन पूज्य हरिबाबाजी भी पश्चिमसे यात्रा करते हुए राजघाट स्टेशनपर उतरकर यहाँ आये। श्रीमहाराजजीका शरीर तो कुछ श्यामवर्ण और कृश था, नेत्र तेजोमय थे, जिनकी अद्‌भुत मादकता सबको मुग्ध कर देती थी। उनके दिव्य अङ्गोंसे दिव्य तेज छिटक रहा था। शान्तिकी शरद ऋतु शरीरपर छायी हुई थी। केवल शरद ऋतु ही नहीं, शरच्चन्द्रकी मानो शान्त चन्द्रिका ही छिटक रही थी। इधर श्रीहरिबाबाजीका दिव्य मङ्गल विग्रह सुडौल था, वर्ण सुवर्णके समान अत्यन्त गौर था तथा उसमें अत्यन्त दिव्य तेज था। मुखमण्डल लालिमासे सुशोभित था, ऊँची नासिका थी, भुजाएँ जानुपर्यन्त लम्बायमान थीं तथा दृष्टि नासिकाग्र थी। आप अत्यन्त शान्त और मितभाषी थे। इन दोनोंका मिलन ऐसा जान पड़ता था मानो दो शरच्चन्द्र हृदयसे हृदय मिलाकर परस्पर आलिङ्गन कर रहे हैं और वहीं तीसरे चन्द्रमा उदित हुए सेवामूर्त्ति श्रीशास्त्रानन्दजी महाराज। इन तीनोंका अपूर्व मिलन, अपूर्व प्रेम और अपूर्व सौहार्द्र वहींसे आरम्भ हुआ, जो जीवनमें उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

सत्सङ्ग—उस समय भृगुक्षेत्रके आश्रमवासियोंके साथ आपका जो सत्सङ्ग हुआ उसका कुछ सार यहाँ दिया है—

---

१. आपके वाणी-विलासकी पात्रता भले ही प्राप्त न हो और मेरे तथा आपके पारस्परिक आलिङ्गनकी भी कोई सम्भावना न हो, तथापि बार-बार अत्यन्त प्रार्थनापूर्वक मैं आपसे एक भिक्षा माँगता हूँ। वह यह कि कभी कभी स्मरण होनेपर स्वजनोंकी गणना करते समय मेरी भी कुछ सुधि कर लिया करें।

प्रश्न—प्रपञ्चका निषेध करते समय क्या उसके असत्यत्वका भी विचार करना चाहिए ?

उत्तर—निषेध दो प्रकारका है—विवेकीका और बोधवान्का। बोधवान् प्रपञ्चका अवस्तुत्व देखता है, इसलिए निषेध करता है तथा विवेकी उसे अनात्मा जानकर अपनेको उससे भिन्न अनुभव करनेके लिए उसका निषेध करता है। विवेकीके निषेधमें प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता रहती है, किन्तु बोधवान् उसकी असत्ता देखता है।

प्रश्न—यदि वृत्तिका काम आवरणभङ्ग ही है तो वृत्तिव्याप्तिका क्या अर्थ है ?

उत्तर—वृत्तिका स्वतः कोई स्वरूप नहीं है। वह जिस विषयमें जाती है उसीका रूप धारण कर लेती है और उसीके अनुसार उसका स्वरूप भी देशकालावच्छिन्न हो जाता है। फिर उस वस्तुका स्फुरण चिदाभाससे होता है। उसका नाम है फलव्याप्ति। यह नियम इदं रूपसे स्फुरित होनेवाले पदार्थोंके विषयमें है। किन्तु आत्मा कोई परिच्छिन्न अथवा पर-प्रकाश्य पदार्थ नहीं है। अतः जब सब अनात्मवस्तुओंका बाध करके वृत्ति अहमर्थमें पहुँचती है तो उसमें कोई परिच्छेद न होनेके कारण उससे किसी आकारविशेषका स्फुरण नहीं होता। अनात्मपदार्थोंका निषेध करते-करते जब वृत्ति अभावाकार होती है तो उसे ही श्रुतिप्रतिपादित सूक्ष्म बुद्धि कहते हैं। उसीके द्वारा गुरु-कृपासे तत्त्वबोध होता है। तत्त्वबोधके होते ही फिर अनात्म-वस्तु कुछ नहीं रहती। फिर तो समुद्रसे तरङ्ग, सूर्यसे किरण और मृत्तिकासे घटादिके समान उसे कोई भी वस्तु अपनेसे भिन्न प्रतीत नहीं होती।

प्रश्न—किन्तु सूक्ष्म बुद्धि भी तो गुणमयी ही होती है। उस गुणमयी बुद्धिसे गुणातीत वस्तुका दर्शन कैसे हो सकता है ?

उत्तर—सूक्ष्म बुद्धिसे भी परमार्थका इदन्तया दर्शन नहीं होता, बल्कि वह उससे केवल लक्षित होता है। बुद्धिवृत्ति केवल आवरणभङ्ग करती है, वस्तु तो स्वयं प्रकाश है। उसे प्रकाशित करनेमें बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। इसीसे महावाक्यके तत् और त्वंपदकी एकता भी अभिधा वृत्तिसे नहीं होती, वहाँ भी लक्षणा करनी पड़ती है, क्योंकि परमार्थतत्त्व किसी भी शब्दका वाच्य नहीं है।

प्रश्न—वृत्ति नित्य है या अनित्य ?

उत्तर—अज्ञानीकी दृष्टिसे वृत्ति नित्य है। बोध हो जानेपर भी जबतक प्रारब्ध शेष है तब तक तो वृत्ति रहेगी ही। प्रारब्धका क्षय होते ही वृत्ति भी क्षीण हो जायगी। किन्तु अज्ञानियों और उपासकोंकी वृत्ति देहपात के पश्चात् भी नहीं छूटती। यही अकाट्य सिद्धान्त है। सृष्टिसे दृष्टि हटाना—यह योग है और दृष्टिसे सृष्टि बनाना यह वेदान्त है। इसको दृष्टि-सृष्टिवाद कहते हैं। इस दृष्टिकी निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान क्या है और ब्रह्माभ्यास किसे कहते हैं?

उत्तर—ज्ञान अद्वैतावस्थानरूप है तथा ज्ञानाभ्यास अद्वैतभावना है। किन्तु यह भावना कर्तृजन्य नहीं होती। जो भावना द्वैतसम्बन्धिनी होती है वह कर्तृजन्य हुआ करती है। यह अनन्त अद्वैतसम्बन्धिनी होनेके कारण कर्तृजन्य नहीं होती। इस अद्वैतनिष्ठाकी उत्तरोत्तर वृद्धि करना ही अभ्यास है; जैसा कि कहा है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यत्तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥

अर्थात् ब्रह्मका चिन्तन करना, उसका कथन करना, उसीको आपसमें समझना—इस एकनिष्ठाको ही बुधजन ब्रह्माभ्यास कहते हैं। दृश्यकी असम्भवताके ज्ञानसे राग-द्वेषकी कमी हो जानेपर जो बलवती रति उत्पन्न होती है वह ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

प्रश्न—'**निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना। यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्या नारदाद्याः शुकादयः॥**'[१] इस श्लोकमें यथावत् बोध हो जानेपर भी वृत्तिको एकाग्र करनेका आग्रह किया गया है; तथा '**ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत-कृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥**'[२] इस श्लोकमें ज्ञानीके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं बताया गया। इन दोनोंकी सङ्गति किस प्रकार होगी?

१. तत्वज्ञ पुरुष आधे निमेष भी ब्रह्माकार-वृत्तिके बिना नहीं रहते, जैसे कि जनकादि, नारदादि और शुकादि निरन्तर ब्रह्माकार वृत्तिमें रहते हैं।
२. जो योगी ज्ञानामृतसे तृप्त और कृतकृत्य है उसके लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। यदि उसे कुछ कर्त्तव्य जान पड़ता है तो वह तत्वज्ञ ही नहीं है।

उत्तर—पहले श्लोकमें बोध होनेके पश्चात् भी वृत्तिको ब्रह्माकार करनेका आग्रह नहीं किया है। उनकी तो स्वाभाविक ही सदा-सर्वदा ब्रह्माकार वृत्ति रहती है। और दूसरे श्लोकमें **'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य'** ऐसा पाठ है, अतः इसके द्वारा अकर्त्तव्यका विधान भी उसीके लिए किया है जो ज्ञानामृतसे तृप्त है। अर्थात् जो आत्मतृप्तिवान् है। जिज्ञासा क्यों होती है? इसीलिए न कि उसे सांसारिक पदार्थोंमें तृप्ति नहीं होती। इसी प्रकार जिसे अनात्म पदार्थोंसे तृप्ति नहीं होती वही आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त होता है। पीछे आत्मानुसन्धान करते-करते जब पूर्ण तृप्ति हो जाती है उसी समय वह कृतकार्य हो जाता है। उसीके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। उससे पूर्व उसे ब्रह्माभ्यासमें ही तत्पर रहना चाहिए तथा जहाँतक हो सके ब्रह्माकार वृत्तिको बढ़ानेके लिए ही प्रयत्न करते रहना चाहिए।



: ६ :

अनूपशहरसे लक्ष्मणझूलातक

आपकी गुणगरिमा

श्रीमहाराजजीकी गुणगरिमा और उनके अद्भुत प्रभावकी धाक जम गयी। इतना ही नहीं, जब-जब आप विचरते या किसी स्थानपर ठहरते, श्रीरामायणजीके रामवनवास-प्रसङ्गमें जो श्रीगोसाईंजीने लिखा है वह शब्दतः और अर्थतः आपमें चरितार्थ होता था—

'धाये धाम काम सब त्यागे।
मनहुँ रङ्क निधि लूटन लागे ।।'

आपकी अद्वितीय उदारतासे आश्चर्यचकित होकर प्रजा प्रेममुग्ध नेत्रकमलोंसे आपकी महन्मूर्त्तिका आलिंगन करती, भक्त प्रफुल्लित हृदय-कमलोंसे पूजन करते तथा अपने मुदित मनोमन्दिरमें इस मूर्त्तिको स्थापित करते। यह स्पष्ट अनुभवमें आता था कि समदृष्टि ही उनका नाम है, पूर्णानन्द समुद्र ही ठाँव है और करुणारस ही अद्भुत चमत्कार है। आपकी जो अनूठी उपरति है वही आपकी अखण्ड आत्मरतिका अमरगीत गा रही है। आपकी जो निःस्पृहता है वह निरुपम निरतिशय आनन्दरमणके रसीले रँगीले रसवैचित्र्यमय विहारकी विस्पष्ट मधुधारा प्रवाहित कर रही है। आज मानव इस चन्द्रयुगके जीवनसे बड़ा आनन्द मना रहे हैं, परन्तु आपका जीवन, इस चन्द्रयुगमें अपने आत्मचन्द्रको भूल न जायँ, इसलिए उसकी महिमाको स्मरण करा रहा है। एक अद्वितीय आत्मचन्द्र ही अनादि सत्य है, उसपर आरूढ़ होना ही जीव, जगत् और ईश्वरको लाँघकर अपने देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य ध्रुव नित्यस्वरूपमें प्रतिष्ठित होना है। इसकी सोढ़ी मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषसंश्रय ही है। इसके द्वारा मनुष्य आत्मचन्द्रपर आरूढ़ होकर और उससे अभिन्न होकर ही इस चन्द्रयुगमें आधिभौतिक उन्नति और विकासके साथ सम्पूर्ण समाजका सच्चा हितैषी हो सकता है, आन्तरिक और बाह्य क्षुद्रतासे निकलकर अपनेको अनन्त हृदयरूपसे पहचानना ही आत्मचन्द्रपर पदार्पण है। मायिक पादका निराकरण ही अमर पदपर

आरूढ़ होना है। सन्त परिच्छेदका निराकरण करके परमपुरुष रूपसे प्रकट होते हैं तथा यह स्पष्ट अनुभूति प्रदान करते हैं कि सर्वात्मा हरि ही सर्वदा सर्वत्र सत्य एवं सार है। यही भारतकी अद्‌भुत देन है। यही मानवहृदयकी विशालताका अनन्त स्वरूप है तथा अगाध गाम्भीर्यकी पराकाष्ठा है। अतः सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक जीवनका सन्तुलन क्या है—इसकी स्पष्ट व्याख्या है आपका जीवन। सङ्कलित सद्विचार अनन्तभावसे आपके जीवन-से बरस रहे हैं और वे ही आपके जीवनके रस हैं।

यह आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक जीवनका सन्तुलन ही 'सम' शब्द और उसके अर्थसे अभिव्यक्त होता है। तथा जो समसम्पन्न हैं वे ही सन्त हैं और वे ही आप हैं। इसी बातको गीता इन शब्दोंसे व्यक्त करती है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥[1]

(१३।२७)

यह तत्पदार्थका निर्देश है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥[2]

(१३।२८)

यह त्वंपदार्थका शोधन है। और इन दोनोंकी एकताका निर्देश निम्नाङ्कित श्लोकमें है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥[3]

(१३।३०)

आपके जीवनमें जातिसमत्व भी स्पष्ट दिखायी दिया। आपने मनुष्योंको

---

१. जो समान रूपसे सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित परमेश्वरको उनके नष्ट होते रहनेपर भी अविनाशी देखता है वही (वास्तवमें) देखता है।

२. सर्वत्र समान रूपसे स्थित ईश्वरको देखनेपर पुरुष अपना स्वयं ही हनन नहीं करता और फिर वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

३. जिस समय मानव सम्पूर्ण भूतोंकी भिन्नताको एकमें ही स्थित देखता है और उसीसे सबका विस्तार समझता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

ही नहीं वानर और पशु-पक्षियोंको भी आमन्त्रित करके भोजन कराया। अतः आपके जीवनमें गीताका यह श्लोक भी चरितार्थ होता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥[1]

(५।१८)

इसी प्रकार कर्मसमत्व भी स्पष्टतया आपके जीवनमें देखा जाता है। आप अपराधियोंके अपराधकी ओर न देखकर उनपर कृपा ही करते हैं। गीता इस स्थितिका इस प्रकार वर्णन करती है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥[2]

(१८।१०)

तथा शत्रु-मित्र और मानापमानमें भी आपकी समता देखी जाती है। आप मान करनेवालोंकी अपेक्षा भी अपमान करनेवालोंका अधिक आदर करते थे तथा अपने विरोधियोंसे स्वयं जाकर मिल आते थे। निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख और शीत-उष्णमें भी आपकी समता सुस्पष्ट थी। शारीरिक समता तो आपका स्वभाव ही था, जिसके विषयमें गीता कहती है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलस्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥[3]

(३।१३)

समाधिनिष्ठ होनेसे आपमें प्राणायामकी समता भी थी ही—इसके विषयमें तो कहना ही क्या है, जिसके विषयमें गीता कहेती है—**'प्राणापानौ समौ कृत्वा।'** आप सर्वथा स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते थे, अतः स्वरूपनिष्ठ

---

१. विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डालमें भी पण्डितों (तत्त्वज्ञों) की समान दृष्टि होती है।

२. जो त्यागी, सत्त्वगुणमें स्थित, विवेकवती बुद्धिसे सम्पन्न और संशयशून्य तत्वदर्शी होता है वह निम्नकोटिके कर्मसे द्वेष नहीं करता और श्रेष्ठ कर्मसे राग नहीं करता।

३. अपने शरीर, सिर और ग्रीवाको सीधे रखकर अचल और स्थिर हो, नासिकाग्र पर दृष्टि रखते हुए और दिशाओंको (इधर-उधर) न देखते हुए [ध्यान करना चाहिए]।

समता तो आपका जीवन ही थी। इस समताको ही गीता निर्दोष ब्रह्म कहती है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म।**' भगवान् वसिष्ठने इस समताको ही सर्वात्म-विहारका स्वरूप बताते हुए कहा है—

आशापाशशतोन्मुक्तः समः सर्वासु वृत्तिषु।
बहिः प्रकृतकार्यस्थो लोके विहर राघव॥
अन्तः सन्त्यक्तसर्वाशो वीतरागः विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव॥[1]

—योगवासिष्ठ

हमारी दुर्दशा

यह तो था उनका उदार स्वरूप। अब तनिक अपनी ओर भी देखें। भाई! जो अपने बच्चोंको प्यार देना नहीं जानता वह सद्गुरुको क्या प्यार देगा? यह नित्यके अनुभवकी बात है। कोमलाङ्ग बालक तो अपना सुख-दुःख कुछ बता नहीं सकता, किन्तु हम उसके चन्द्रमासदृश कोमल मुखारविन्दपर मुग्ध होकर उसके कष्टका कोई विचार न करके अपनी मूँछ-दाढ़ीके काँटोंसे प्यारके बहाने उसके अङ्गोंको छेदते हैं। उसे रुलाते हैं और स्वयं चुम्बनका आनन्द लेते हैं। अपनी सन्तानोंको हम यही प्यार तो देते हैं। फिर औरोंको क्या देंगे। इसी प्रकार हम गुरुदेवके समीप जाकर उन्हें भी काम-क्रोधरूप अपनी मूँछ-दाढ़ियोंसे छेदते हैं। पग-पगपर छल करते हैं। मनमें छः रोटी खानेकी इच्छा होती है, किन्तु माँगते हैं चार। किन्तु वे अन्तर्यामी दयालु हमें झट छः ही दे देते हैं। उनकी महानता जानकर भी हम उनसे छल और दुराव करते हैं। यह नहीं सोचते कि ऐसा करके हम अपने लिए स्वयं ही गड्ढा खोद रहे हैं। ऊपरसे झूठी श्रद्धा दिखाते हैं। यह नहीं सोचते कि वे सर्वत्यागी हैं, इन्हें हमसे क्या अपेक्षा हो सकती है? वे यदि किसी आगे होनेवाली बातका संकेत करते हैं और वह हमारी अपनी बुद्धिसे निश्चित किये हुए समयपर नहीं होती तो हम उनकी सर्वज्ञतामें शङ्का करने लगते हैं। फिर जब समयपर वह काम होता है तो हृदयमें

---

१. हे रामजी! सैकड़ों आशाओंके जालसे छूटकर, सभी प्रकारकी वृत्तियोंमें समदृष्टि रखकर बाहरमें प्राप्त कार्योंको करते हुए लोकमें विचरो। भीतरसे सम्पूर्ण आशाओंको त्यागकर, रागहीन और निर्वासनिक होकर, ऊपरसे सब काम करते हुए लोकमें व्यवहार करो।

लज्जित होते हैं कि हमने व्यर्थ ही उन्हें झूठा समझा। अल्पज्ञ और संशय-ग्रस्त जीवोंके लिए यह कोई नयी बात नहीं है।

उनकी करुणा

परन्तु वे तो सबपर करुणा ही करते थे। उनका स्वभाव था—**'सन्मुख होइ जीव मोहिं जबही। जनम कोटि अघ नासहुँ तबही॥'** वे तो हमारी सम्मुखताको ही पुष्ट करते थे और इसी दृष्टिसे कुछ खिला-पिलाकर या मिल-जुलकर हमारे नवजात श्रद्धांकुरको पुष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। इससे मालूम होता है कि उनका सर्वात्मविहार क्या था। वे सबके सच्चे अपने आप होकर सच्चे सुहृद् थे। हम प्रमादी और आत्मघाती थे, परन्तु वे सच्चे हितस्वरूप थे। वे हमारे जितने सच्चे हितैषी थे उतने हम स्वयं भी नहीं थे। उनकी दृष्टि गान्धारी-दृष्टि थी; जिसपर पड़ती थी उसीको सब प्रकार वज्रकाय कर देती थी। परन्तु हमको कहनेमें लज्जा आती है कि हम उनसे दुराव करते थे और इस प्रकार स्वयं अपनेको ठगते थे। उनकी दृष्टिसे कोई ओझल नहीं था। उनका तो हमारे प्रति हित-ही-हित, करुणा-ही-करुणा, प्यार-ही-प्यार और देना-ही-देना था। अब भी उनकी वह करुणा ज्योंकी त्यों बरस रही है। हम भूल जाते हैं कि हम भिखारी उन्हें क्या दे सकते थे। हम तो उन्हें अपना दुःख, अपनी समस्याएँ और अपने दुर्गुणोंका दर्द ही देते थे। परन्तु वे दयालु उन सबको स्वीकार करते, स्वयं ही उन दुख-दर्दोंको सहते और कहते कि बेटा! भजन करो। तुम स्वस्थ रहो और मस्त रहो। फिर भी हम अपने स्वभावकी दासता नहीं छोड़ पाते थे। अपने मनमुखी जीवनसे उन्हें दुःख देते थे। वे कहते थे कि थोड़े गुरुमुखी तो हो ही गये हो, थोड़े और हो जाओ, फिर बेड़ा पार हो जायगा। वे हृदयमें चुभनेवाले शब्द भी नहीं कहते थे। हम शङ्का करते कि महाराजजी प्यार नहीं करते। इस सम्बन्धमें डा० मोहन वार्ष्णेय लिखते हैं—'मेरे मनमें कभी-कभी ऐसा विचार आया करता था कि बाबा मुझे प्यार नहीं करते, क्योंकि अन्य भक्तोंकी तरह मुझसे कभी खाने-पीनेकी बात नहीं पूछते। इसी समय आपने एक सन्तको सम्बोधन करके कहा, कि मैं किसे प्यार करता हूँ और किसे नहीं यह तुम नहीं जान सकते। जो सत्कारके भूखे हैं उन्हें मैं सत्कार देता हूँ, किन्तु जो मेरे हैं उन्हें सत्कार नहीं, फटकार देता हूँ क्योंकि मैं उनका अकल्याण नहीं देख

सकता। अतः जिसपर मेरा वास्तविक प्रेम होता है उसे मैं ऊपरी सत्कार नहीं देता। अपनेको सत्कार दिया भी नहीं जाता। मेरे लिए यह प्रकाशका स्रोत बन गया। उनका अपने भक्तोंके साथ जो दैनिक व्यापार था वह बड़ा अद्भुत जान पड़ता था। जिसपर उनकी कृपा रही पूरी रही, अन्ततक रही और अब भी है।'

दक्षिणी स्वामी

श्रीमहाराजजी जिस साल रामघाट आये उसी साल उन्होंने गङ्गा-तटपर लक्ष्मणझूलातक प्रथम विचरण किया। आप विरक्त एवं शान्त सन्तोंका सत्सङ्ग करते रहे और गङ्गातटकी रमणीय वनस्थलीका भ्रमण बराबर चालू रहा। आपने जब पहली बार अनूपशहरमें पदार्पण किया तब गङ्गाधर आश्रम नामके एक सन्तसे भेट की। उनका कथन था कि **'जिते रसे जितं सर्वम्।'** अर्थात् रसनेन्द्रियको जीत लेनेपर सभी इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं। इसके लिए वे माधूकरी भिक्षा करनेपर जोर देते थे।

फिर आप प्रसिद्ध शाक्त श्रीदक्षिणी स्वामीजीसे मिले। उनका भगवानपुरमें भी एक स्थान है। वे भगवतीके भोगके लिए अच्छे-से-अच्छे पदार्थ, मुख्यतया शाक-सब्जी और फल-फूल, जहाँ भी मिलता वहाँसे मंगाते थे। एक पाव घीका छौंक लगाते और बढ़िया भोजन बनाकर भोग लगा-कर बाँटते थे। स्वयं एक किनकामात्र प्रसाद लेते थे। एक बार अकस्मात् कुछ लोग यह परीक्षा करने आये कि इसके यहाँ मद्यका भोग तो नहीं लगता। देखनेपर बोतलोंमें दूध मिला। एक बार चोर आये। उन्होंने सब माल-मता और देवीजीको भोग लगानेके सोने-चाँदीके पात्र बाँध लिये। इतनेमें स्वामीजी जग गये। वे लोग डर गये। तब आपने कहा, "डरो मत।" और स्वयं ही उनके सिरपर सब सामान रखकर उन्हें विदा कर दिया। दूसरे दिन निरीक्षणके लिए पुलिसके अफसर आये तो आप बोले, "माँने दिया, माँने ही लिया, इसके लिए क्या चिन्ता करना।" इतने-हीमें उन लोगोंके देखते-देखते सोने-चाँदीके बर्तनोंके नये सैट और मेवा तथा वस्त्रादि लेकर भक्त लोग आ गये। यही समदृष्टि है और सिद्धिका चम-त्कार भी।

हमारे मित्र श्रीराम भारती और उनके एक मित्र दर्शनार्थ गये। स्वामीजीके गुप्त अङ्ग कुछ मोटे थे। बालचापल्य ठहरा, ये दोनों हँसने

लगे। इससे उनकी दृष्टि बदलने लगी। झट श्रीराम भारती तो सँभल गये, परन्तु दूसरे सज्जन हँसते ही रहे। इससे उनके मुखसे निकल गया, "क्यों रे! पागल हुआ है क्या?" बस, तुरन्त वह लड़का पागल हो गया। देखो, हँसी-मजाक कितना हानिकारक है। सन्तका अपराध करनेपर कैसा घोर दण्ड भुगतना पड़ता है। अत: अपने लाभालाभका विचार करके संयत जीवन व्यतीत करनेकी बड़ी आवश्यकता है। पग-पगपर सावधानी और जिन्दगानीके सदुपयोगका ध्यान रखना चाहिए।'**सन्त समागम हरिकथा तुलसी दुरलभ दोय।**' अत: जो दुर्लभ है उसका समझदारीसे लाभ उठाना चाहिए।

अनूपशहरके भक्त

अनूपशहरमें श्रीमहाराजजी अनेकों बार पधारे हैं। अत: वहाँ उनके अनेकों भक्त और सेवक थे। उनमें-से कुछ विशिष्ट व्यक्तियोंका परिचय और श्रीमहाराजजीके विषयमें उनके संस्मरण यहाँ दिये जाते हैं—

प्यारेलाल—अनूपशहरमें श्रीमहाराजजीके प्रथम भक्त होनेका सौभाग्य श्रीप्यारेलालजीको मिला। श्रीचरणोंमें इनकी श्रद्धा भी प्रथम कोटिकी ही थी। श्रीहरदत्तजी जोशी इनके परम मित्र थे। वे लिखते हैं—'एकबार अनूपशहरमें बाबा मस्तरामकी समाधिपर विरक्त महात्मा श्रीउग्रानन्दजी पधारे। संयोगवश हम दोनों भ्रमण करते उधर जा निकले। हमने जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। थोड़ी देर सत्सङ्ग होता रहा। उससे हम दोनों ही बहुत प्रभावित हुए। प्यारेलालजी तो नित्य-प्रति ही जाते और उनकी सेवा-सुश्रूषा तथा सत्सङ्ग करते रहे। फलत: उनके हृदयमें उन्हें गुरुरूपसे वरण करनेका सङ्कल्प जाग्रत् हुआ। एक दिन उन्होंने उनसे इसके लिए प्रार्थना भी की। तब स्वामीजीने स्पष्ट शब्दोंमें कहा, "भैया! तुम्हारे गुरु तो श्रीउड़ियाबाबा हैं उन्हींके द्वारा तुम्हारा कल्याण होगा।" मालूम होता है कि उच्चकोटिके महात्माओंको इस बातका पता चल जाता है कि किसका कौन गुरु है। अत: समय आनेपर वे अधिकारी शिष्यको वास्तविक गुरुके पास जानेकी सलाह दे देते हैं। अब प्यारेलालजी श्रीमहाराजजीके दर्शनोंके लिए छटपटाने लगे। दैवयोगसे सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीदक्षिणी स्वामी अनूपशहर पधारे। हम दोनों उनके दर्शनोंके लिए गये। संयोगवश वहीं श्रीमहाराजजी भी पधारे। दक्षिणी स्वामीजीने आगन्तुक श्रीमहाराजजीकी

भिक्षा और सेवा-सुश्रूषाके लिए प्यारेलालजीको आज्ञा दी। यद्यपि रात्रि बहुत बीत चुकी थी, तो भी प्यारेलालजीने कोई परवाह न करके उसी समय मधुर पक्वान्न तैयार कराकर श्रीमहाराजजीको भिक्षा करायी। पीछे जब उन्हें यह मालूम हुआ कि रात्रिको उन्होंने जिन आगन्तुक महात्माको भिक्षा करायी है वे स्वामी उग्रानन्दजी द्वारा निर्दिष्ट मेरे गुरुदेव श्रीउड़ियाबाबाजी ही हैं तब तो उनके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने सद्‌गुरु भावसे श्रीमहाराजजीके चरण पकड़ लिये और ऐसे पकड़े कि जीवनपर्यन्त उन्हीं चरणकमलोंके चञ्चरीक बने रहे।'

प्यारेलालजीके हृदयसर्वस्व भगवत्स्वरूप श्रीमहाराजजी ही थे। उनकी निष्ठाका परिचय उन्हें स्वप्नमें इस वाक्य द्वारा हुआ था। मानो कोई कह रहा है—'प्रकट हुए इस युगमें उड़िया श्रीभगवान्।' वे सामान्य स्थितिके व्यक्ति थे, परन्तु भक्ति-प्रेममें बहुतोंसे बढ़कर थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी तथा श्रीमहाराजजीके सम्पर्कमें आनेके पश्चात् वे और उनकी पत्नी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने लगे थे। श्रीमहाराजजीको बार-बार आग्रह करके अनूपशहरमें लाना उन्हींका काम था। वे श्रीमहाराजजी और उनके भक्तोंकी सेवा करना अपना अहोभाग्य समझते थे, क्योंकि उनकी निष्ठा थी—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नासहिं विघ्न अनेक॥

प्यारेलालजीकी सहधर्मिणी तो श्रद्धा, भक्ति, सेवा और समर्पणमें इनसे भी आगे थी। अच्छे-अच्छे लोगोंके मुखसे सुना है कि अनूपशहरमें श्रीमहाराजजीके सच्चे प्रेमी तो प्यारेलालजी ही थे। वास्तवमें देखा जाय तो भगवान्का प्राकट्य उनके प्रेमी भक्त ही करते हैं। उनके नाम-रूपकी ही नहीं, उनके अनन्त गुणगणकी सिद्धि भी भक्तोंके द्वारा ही होती है। भक्तवत्सल भगवान्की कृपालुताका रस उन्हींके द्वारा धरातलपर उतरता है। वे भक्तवत्सल हैं, पतितपावन हैं—इसकी रसानुभूति भक्त-जीवनमें ही स्पष्टतया होती है। श्रीप्यारेलालजी प्रेतबाधा और गठिया रोगसे ग्रस्त थे श्रीमहाराजजीकी कृपासे वे प्रेतबाधासे छूट गये और उनका रोग भी जाता रहा। एकबार उन्हें मारनेके लिए कई लोग घरमें घुस आये। कुछ बच्चे सो रहे थे। उन्हें जगाकर पूछा कि प्यारेलाल कहाँ है। तब सब बच्चोंने एक ही उत्तर दिया कि वे यहाँ

नहीं हैं, बाहर गये हैं। इससे वे सब निराश होकर चले गये। इस प्रकार भक्तवत्सल भगवान्‌ने उनकी प्राणरक्षा करके अकाल मृत्युसे बचा लिया। इसी प्रकार श्रीमहाराजजीने अपने घटघटवासित्व और भक्तवात्सल्यका परिचय दिया।

श्रीजोशीजी लिखते हैं—'जब प्यारेलाल बीमार पड़े तब श्रीमहाराजजीने उनसे पूछा, "प्यारेलाल! तुम्हें कोई चिन्ता तो नहीं है?" वे बोले, "महाराजजी! मेरे ऊपर ऋण हो गया है, उसकी चिन्ता है।" इसपर श्रीमहाराजजीने उत्तर दिया कि "तुम्हारा ऋण मैं चुकाऊँगा, उसका भार मुझपर है। तुम चिन्ता छोड़ दो।" इस प्रकार श्रीमहाराजजीने उन्हें सब चिन्ताओंसे मुक्त कर दिया था। इतना ही नहीं, जिस समय प्यारेलाल का अन्तिम समय आया श्रीमहाराजजी हरिद्वारमें थे। किन्तु प्रभुकी तो प्रतिज्ञा है।

कफवातादिदोषेण मद्भक्तो न च मां स्मरेत्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

अर्थात् कफ-वात आदि दोषोंके कारण यदि अन्त समयमें मेरा भक्त मुझे स्मरण नहीं कर पाता तो मैं ही उसे स्मरण कर लेता हूँ और उसे परम-गतिकी प्राप्ति कराता हूँ।

प्यारेलालजीका श्रीमहाराजजीमें पूर्णतया भगवद्भाव था। उन्होंने जीवनभर भगवान् मानकर ही उनकी सेवा की थी। अतः श्रीमहाराजजीने उनके अन्त समयपर अपने कर्तव्यका निर्वाह किया। उन्होंने हरिद्वारसे मास्टर मुन्शीलालजीके द्वारा सन्देश भेजा कि अब सम्पूर्ण आसक्तियोंको त्यागकर रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ करावे। बस, पाठ आरम्भ हुआ और उसकी पूर्त्ति होते ही प्यारेलालका शरीर शान्त हो गया। उनकी सहधर्मिणी चाहती थी कि मेरा शरीर उनसे पहले जाय। भगवान्‌ने उसकी इच्छा भी पूर्ण की। वह उनसे एक मास पूर्व दिवंगत हो गयी थी।

श्रीहरदत्तजी जोशी—अपने प्रियतमकी स्मृतिमें कभी हँसना, कभी रोना और कभी डूबे रहना—ऐसी स्थिति-गति श्रीमहाराजजीके चरणाश्रित भक्तोंमें यदि स्पष्ट देखनेमें आयी तो वह श्रीहरदत्तजी जोशी हीमें थी। वे सादगीकी मूर्त्ति थे तथा सरलता उनके सहज स्वभाव थे। इन सबसे बढ़कर थी श्रीमहाराजजीमें उनकी अविचल अगाध श्रद्धा-भक्ति। वे पर्वतीय ब्राह्मण थे और स्थानीय हाई स्कूलमें अध्यापनका कार्य करते

थे। श्रीमहाराजजीके प्रथम दर्शनका उल्लेख उन्होंने इन शब्दोंमें किया है—'पूज्य श्रीमहाराजजीका प्रथम दर्शन मैंने अनूपशहरमें ही किया था। मैं श्रीप्यारेलालजीके साथ दक्षिणी स्वामीजीके दर्शनार्थ उनकी कुटियापर गया था। सौभाग्यसे श्रीमहाराजजी विचरते-विचरते अकस्मात् वहाँ आ गये। उस समय यत्किञ्चित् सेवा और सत्संगका सुअवसर मिला। उस दिनसे जबतक आप वहाँ विराजे मैं नित्यप्रति आपके दर्शनार्थ जाता रहा। उस प्रथम दर्शनमें ही मेरे हृदयमें श्रीमहाराजजीके प्रति जो भाव उदित हुआ। वह दिनों-दिन बढ़ता ही गया। मैंने सद्गुरुरूपसे वरण कर उन्हें अपनी जीवन नौकाका कर्णधार माना और उन्होंने भी मुझे अपना एक दीन दास जानकर अहैतुकी कृपा की। जब आप अनूपशहरसे चले गये तो मेरा हृदय उनके बिना बेचैन रहने लगा। आपके जानेपर सदैव एक अभाव-सा खटकता रहता था। उसके कुछ काल पश्चात् आप सेठ रामशङ्करजीके बागमें पधारे। तब मैंने दूसरी बार आपका दर्शन किया। सेठ श्रीरामशङ्करजी बड़े ही साधुसेवी सत्सङ्गी पुरुष थे। उनकी प्रीति प्रशंसनीय थी। श्रीमहाराजजीके पास आनेपर वे परम भक्तिनिष्ठ हो गये थे। मैं सदैव सरकारके दर्शनार्थ सेवामें उपस्थित होता था! —मेरी श्रद्धा प्रारम्भसे ही भक्तियोगमें थी। इसलिए श्रीमहाराजजी मुझे सदैव ही भक्ति-सम्बन्धी उपदेश दिया करते थे। किन्तु एक बार इस निष्ठामें कुछ व्यक्तिक्रम होनेका प्रसंग आ गया। उस समय श्रीमहाराजजीकी कृपासे ही मेरी रक्षा हुई। अनूपशहरमें मौनी महाराज रहा करते थे। उनकी निष्ठा ज्ञानमार्गमें थी। उन्होंने ज्ञाननिष्ठापर जोर दिया और मेरे हृदयपर उसका प्रभाव भी पड़ गया। मैं ज्ञानमार्गीय प्रक्रिया-ग्रन्थोंका स्वाध्याय करने लगा। इस प्रकार मैं ज्ञान-गङ्गामें गोता लगा ही रहा था कि एक दिन प्यारेलालने सुनाया कि श्रीसरकारने तुम्हें याद किया है। सुनते ही मेरा मुर्झाया हृदय हरा हो गया। दर्शनोंकी उत्कण्ठा प्रबल हो उठी। मैं सीधा रामघाटको चल दिया। निष्ठामें परिवर्तन होनेके कारण मेरे हृदयमें उथल-पुथल मची हुई थी। सरकारको दूर हीसे साष्टांग प्रणाम किया तथा एक ओर बैठ गया। धीरे-धीरे रातके १२ बज गये। परन्तु सरकार मुझसे एक शब्द भी नहीं बोले। मन चिन्तामें संलग्न था कि सरकार इतने रुष्ट क्यों हो गये जो अबतक एक बात भी नहीं की। दूसरे दिन सबेरे सेवकने सूचना दी कि सरकार तुम्हें याद करते हैं। बस, तुरन्त अपने भाग्यकी सराहना करते हुए चल दिया और

साष्टांग प्रणाम कर चरणोंमें गिर पड़ा। सामने बैठनेकी आज्ञा हुई और मैंने आज्ञाका पालन किया। तब सरकार मन्द मुसकानसहित बोले, "अब तो तुम ब्रह्म हो गये हो।" मैं निरुत्तर होकर चुपचाप बैठा रहा। फिर बोले, "क्या तुमने विचारसागर अवलोकनकर जगत्को मिथ्या समझ लिया ? क्या तुम तर्क-वितर्कमें प्रवीण हो गये ? क्या तुम्हारा हृदय वज्रसे भी कठोर हो गया ? क्या रामायण और भागवतके स्तुति-प्रसंगोंका संग्रह व्यर्थ हो गया ?" इस प्रकार अनेकों प्रश्न सरकारने एक साथ ही कर डाले। मुझसे इनका कुछ उत्तर देते न बना। मेरा हृदय करुणक्रन्दन कर रहा था। बड़ा ही साहस करके बोला, "अब दीनदयालुकी जैसी इच्छा हो वैसा ही करनेके लिए यह दीन बाट जोह रहा है। यह आपकी शरण है। आपको छोड़कर इसका कोई अन्य आश्रय नहीं है।" श्रीसरकार तुरन्त बोले, "नहीं, नहीं, मैं तुम्हारे लिए ज्ञानमार्ग कभी उपयुक्त नहीं समझता। छठी कक्षाके विद्यार्थियोंको एम० ए० में कैसे भर्ती किया जा सकता है ? कोमल हृदयवालोंके लिए तो भक्तिमार्ग ही उपयुक्त है।" अब मेरे हृदयका बोझ हल्का हो गया और चित्तका समाधान भी। श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि अपने स्वाध्याय-ग्रन्थोंमें-से एक-दो पद अथवा दस-पाँच श्लोक ऐसे अवश्य कण्ठस्थ कर लेने चाहिए जिनका पाठ नित्यप्रति अनिवार्य रूप से कर लिया जाय। यदि घरमें शव भी पड़ा हो तो भी उन श्लोकों या पदोंका मानसिक पाठ अवश्य कर ले।

पं० श्रीबद्रीप्रसादजी—ये धमेड़ा गाँवके रहनेवाले परम विद्वान् और निष्ठावान् वैष्णव थे। योगमें भी इनकी आस्था थी। कभी अनूपशहरमें और कभी प्रेमकुटी गोवर्धनमें रहा करते थे। इन्होंने श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे टीकासहित योगप्रदीप नामक एक ग्रन्थ लिखा था। आप लिखते हैं कि प्रायः पैंतीस वर्ष बाबाके साथ मेरा सम्पर्क रहा। बाबा सचमुच महान् पुरुष थे। उनमें नास्तिकोंके हृदयोंको भी आकर्षित कर लेने और दूसरेके चित्तको लय करके उसे बोलनेसे रोक देने आदिकी सिद्धि मैंने अनुभवकी थी। वे नास्तिकोंके यहाँ भी चले जाते थे। उनके साथ बैठते और उनसे बातचीत करते थे। एक दिन मैंने कहा, "बाबा ! आप ऐसे लोगोंके यहाँ भी चले जाते हैं !' आप बोले, "इसमें मेरी क्या हानि है ? क्या जाने, उनका कल्याण हो जाय।" उनकी ऊँच-नीचपर दृष्टि नहीं थी। जीवोंका कल्याण कैसे हो—इसपर उनकी दृष्टि रहती थी। उनका चित्त

कभी किसीपर बिगड़ता नहीं था। बाबाका स्वभाव अत्यन्त करुणामय और प्रेमपूर्ण था। एक बार मैं आपके दर्शनार्थ कर्णवास गया, पर आप कुटियामें नहीं मिले। मैंने किसीसे पूछा, "बाबा कहाँ हैं?" उसने उत्तर दिया कि उस कोठरीमें हैं। मैंने जाकर देखा कि रामदासको १०३ डिग्री ज्वर चढ़ा हुआ है और वे उसका सिर अपनी गोदमें रखकर हाथ फेर रहे हैं। उनके इस आचरणका मेरे चित्तपर बड़ा सुन्दर प्रभाव पड़ा। रामशङ्कर मेरा शिष्य था। आगे चलकर मेरी उससे अनबन हो गयी। कई वर्षों तक आपसमें हमारी बातचीत बन्द रही। एक दिन बाबा मेरे पास आये और बोले, "पण्डितजी! आज रामशङ्करका शरीर नहीं रहेगा, चलो।" मैं उनके साथ हो लिया। मैंने श्रीमद्भागवतका पाठ रामशङ्करको सुनाया और सचमुच थोड़ी ही देरमें उसका शरीर छूट गया। इस प्रकार ठीक अन्तिम समयपर बाबाने हमारे पारस्परिक मनोमालिन्यको निवृत्त करके रामशङ्करकी सद्गतिका साधन उपस्थित कर दिया।

सेठ रामशङ्कर मेहता—अनूपशहरमें कुछ गुजराती नागर ब्राह्मणोंके परिवार व्यापारकी दृष्टिसे आकर बस गये हैं। वे लोग धनी तो हैं ही, अत्यन्त चरित्रवान् और धर्मनिष्ठ भी हैं। सेठ रामशङ्कर उन्हीं नागर ब्राह्मणोंमें एक उच्चकोटिके सत्सङ्गी सज्जन थे। पहले सेठ गौरीशङ्कर गोयनका आदिके साथ श्रीअच्युतमुनिके सत्सङ्ग जाते और वेदान्त ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते थे। अत्यन्त कोमल प्रकृतिके पुरुष होनेसे वह मार्ग इनके अनुकूल नहीं रहा। फिर पूज्य श्रीहरिबाबाजी तथा कुछ अन्य प्रेमी भक्तोंके सम्पर्कमें आनेपर इनका चित्त भक्ति मार्गकी ओर झुक गया और इन्होंने पं० श्रीबद्रीप्रसादजीसे वल्लभ-सम्प्रदायकी दीक्षा ले ली। ये सचमुच सच्चे भगवद्भक्त और साधुसेवी थे। पूज्यपाद श्रीमहाराजजीके चरणोंमें इनकी गहरी निष्ठा थी। अन्तमें उन्हींकी सन्निधिमें इनका देहपात हुआ।

श्रीघासीरामजी बौहरे—ये रबूपुराके रहनेवाले थे और नागपुरमें व्यापार करते थे। वृद्धावस्थामें कार्यभार पुत्रको सौंपकर अधिकतर अनूपशहर, बाँध या गोवर्धनमें रहा करते थे। बड़े भावुक भक्त थे। पूज्य श्रीमहाराजजी, श्रीहरिबाबाजी तथा पं० बद्रीप्रसादजी आदि भक्तजनोंके साथ इनका बड़ा प्रेम और श्रद्धाका सम्बन्ध था। अत्यन्त भावुक होनेके कारण इनमें भावकी अनेकों अवस्थाएँ प्रायः प्रादुर्भूत होती रहती थीं।

पं० श्रीबद्रीशङ्करजी मेहता—ये पं० रामशङ्कर मेहताके कनिष्ठ भ्राता हैं। वे श्रीकृष्णभक्त थे और इनकी विशेष निष्ठा भगवान् शिवमें है। ये लिखते हैं—मेरे बड़े भाई श्रीरामशङ्कर मेहता बड़े सत्सङ्गी और बाबाके प्रधान भक्त थे। पीछे तो हमारा सारा ही परिवार बाबाका भक्त हो गया था। बागमें प्रथम दर्शन करते ही श्रद्धा और महत्त्वके भावकी जागृति हुई। मेरे लिए बाबा यही उपदेश देते थे कि यथासम्भव मनको सदैव वशमें रखो और जिस साधन या साध्यमें अपनी श्रद्धा हो उसीमें दृढ़ निष्ठा रखो। जो कुछ सुनो उसे आचरणमें लानेकी चेष्टा करो। ऐसा नहीं कि सारा जीवन सुनते-सुनते ही बीत जाय। बाबाका स्वरूप और स्वभाव ऐसा था कि उन्हें जो जिस भावसे देखता उसे वे वैसे ही दीख पड़ते थे। रामोपासक उन्हें रामरूपमें, कृष्णोपासक कृष्णरूपमें और शिवोपासक शिवरूपमें देखते थे। हम शिवोपासक थे, इसलिए उन्हें शिवरूपमें ही देखते थे। जब उनका शिवरूपसे शृङ्गार किया जाता था तो वे साक्षात् शङ्करजी ही जान पड़ते थे। उनके सम्बन्धमें यह चौपाई चरितार्थ होती थी—

निज-निज रुचि सब रामहिं देखा।
कोउ न जान कछु मरम विसेषा।।

वे गरीब-अमीरका भेद न करके दोनोंको समानरूपसे प्रेम करते थे। उनमें यह भी विलक्षण बात थी कि वे किसीके मनको और किसी भी भावको ठुकराते नहीं थे बाबामें संग्रहका स्वभाव बिलकुल नहीं था। चाहे जितना सामान आवे वे उसे तुरन्त बाँट देते थे। आपके दर्शनों के लिए लोग काम छोड़कर भागते थे **'धाये धाम काम सब त्यागे। मनहुँ रङ्क निधि लूटन लागे।।'** एक बार मुझे मानसिक क्लेश था। इस विषयमें बाबासे कोई चर्चा नहीं की। पर वे स्वयं ही कहने लगे कि ये सब तो नाशवान् पदार्थ हैं, ये सदा एक-से नहीं रहते। इन शब्दोंसे मेरा बहुत समाधान हो गया। उनका वरद हस्त सर्वदा हमारे सिरपर है।

इनकी धर्मपत्नी भी बड़ी निष्ठावती हैं। उनके साथ यह बड़ा चमत्कार हुआ कि वे बिना विशेष अध्ययन किये स्वयं श्रीरामचरित-मानसकी चौपाइयाँ बोलने लगीं। अब उन्हें रामचरितमानस अधिकांश कण्ठस्थ है और वे अपने पड़ौसी गुजराती परिवारोंमें धारावाहिक

रूपसे रामायणके विविध प्रसंग श्रवण कराती हैं और रामायणके अखण्ड पाठ आदि भी कराती रहती हैं। श्रीबद्रीशङ्करजी इसे श्रीमहाराजजीकी ही कृपा मानते हैं।

सेठ केशवराम धीरजराम—ये दोनों सहोदर भाई श्रीमहाराजजीके परम भक्त हैं। श्रीकेशवरामजी लिखते हैं—प्रथम दर्शनमें ही मुझे अकस्मात् सुगन्ध जान पड़ी। यद्यपि उस स्थानपर कोई सुगन्धित पदार्थ था नहीं। मैंने अनुभव किया कि यह सुगन्ध बाबाके शरीरकी है। सन्त-महात्माओंके मुखसे यह सुन रखा था कि जब सद्गुरुकी भेट होती है, जिनसे कि कुछ कल्याण होना है, तब सुगन्ध आना या चित्तका आकर्षण होना आदि लक्षण अनुभव में आते हैं। इससे श्रीमहाराजजीमें मेरी श्रद्धा हो गयी। मैं प्रायः देखता था कि रात्रिमें वे सबको हटानेकी नीयतसे कह देते थे कि सब जाओ, मैं सोऊँगा। तथा नींदमें खर्राटा भरनेकी-सी लीला भी करने लगते थे। परन्तु थोड़ी देर बाद जाकर हम देखते तो आसनसे बैठे दिखायी देते थे। बाबाकी कृपा और उनके सत्सङ्गसे मेरे जीवनमें बहुत लाभ हुआ है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हममें दोष नहीं हैं। दोष तो हैं ही, पर हम जो पापोंसे डरते और अपराध होनेपर काँपते हैं—यह भी उनकी कृपाका ही फल है। बाबाका जो चित्र मैंने उतरवाया वह मेरे पास है। कोई चिन्ता-जनक परिस्थिति उपस्थित होनेपर जब मैं एकाग्रचित्तसे जिज्ञासापूर्वक उस चित्रपट-स्वरूपको ओर देखता हूँ तब यदि वे मुझे मुसकराते हुए और प्रसन्न मन जान पड़ते हैं तो हमारी चिन्ता दूर हो जाती है। और यदि उनका उदासीनताका भाव दिखायी देता है तो सफलता नहीं मिलती। ऐसा मेरा कई बारका अनुभव है।

सेठ धीरजराम अत्यन्त जपनिष्ठ हैं। ये सच्चे गुजराती नागर ब्राह्मणोंकी रहन-सहनके भक्त हैं। इनके पुत्र शम्भुराम और माधौराम भी श्रीमहाराजजीमें श्रद्धा रखते हैं।

पं० श्रीलालजी याज्ञिक—ये आचारकी मूर्त्ति और अत्यन्त जप-निष्ठ थे। इनको सूरदास, एवं मीराबाई आदि भक्त कवियोंके अनेकों पद कण्ठस्थ थे। इन्हें भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्यके प्रति अटूट श्रद्धा थी। पूज्य श्रीअच्युतमुनिजीसे इन्होंने अनेकों वेदान्त-ग्रन्थ पढ़े थे। जबसे इन्होंने श्रीमहाराजजीके दर्शन किये तभीसे उनके प्रति इनकी अत्यन्त श्रद्धा हो गयी और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

श्रीमहाराजजीको आपने ज्ञानी, ध्यानी, उपासक और मन्त्रशास्त्रके ज्ञाता बताया है। कहते हैं कि उनकी अद्वैतनिष्ठाको स्पष्ट करनेवाला यह श्लोक मेरे चित्तपर अङ्कित हो गया था—

संशान्तदुःखमजडात्मकमेरूप-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति ॥

अर्थात् जिसमें दुःखका अत्यन्ताभाव है, जो चिन्मात्र, एकरस और आनन्दघनस्वरूप है तथा जिसमें रजोगुण और तमोगुणका लेश भी नहीं है, उस पदमें वे देहातीत महापुरुष निवास करते हैं जिनका आकाशकोश ही देह है और जिनकी चित्तकणिका विलीन हो गयी है। अर्थात् जो अमनीभावको प्राप्त हो गये हैं।

इसके अतिरिक्त सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला यह श्लोक भी आपके चित्तमें घर कर गया था—

अलब्धावरणा सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्ते इति नायकाः ॥[1] माण्डू का.४.९८

श्रीमहाराजजीकी अद्भुत क्षमाशीलता, वाञ्छाकल्पतरुस्वरूपता और ममता देखकर उनके प्रति इनकी श्रद्धा अविचल हो गयी थी। उनकी क्षमाशीलताके विषयमें आप कहते हैं कि गीताका यह श्लोक मैंने बाबाके जीवनमें ही चरितार्थ होते देखा—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥[2] (१२।१५)

इनके छोटे पुत्र मधुसूदनने श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना की थी कि पहले मैंने आपसे लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए मन्त्र पूछा था, परन्तु मेरी वास्तविक इच्छा तो यह है कि मैं लेखक बनूँ। श्रीमहाराजजीने कहा कि मैं तुम्हें

---

१. सम्पूर्ण जीव प्रभावसे तो आवरणशून्य और निर्मल ही हैं। वे सदासे बोधसम्पन्न और मुक्त हैं—ऐसा तत्वज्ञ महापुरुष जानते हैं।

२. जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते और जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, शोक, भय और उद्वेगसे रहित है वही मेरा प्यारा है।

ऐसा मन्त्र देता हूँ जिससे तुम्हारी दोनों इच्छाएँ पूर्ण होंगी। ऐसा कहकर उन्हें मन्त्र बता दिया। उससे उनकी दोनों ही कामनाएँ पूर्ण हुईं। श्रीलालजी लिखते हैं कि मेरी बड़ी बहिन बल्लभ सम्प्रदायमें दीक्षित है। वह बाबासे मेरी शिकायत किया करती थी कि महाराज! यह न जाने घट, पट, मठ, रज्जु सर्प और चाँदी-सीपी क्या करता रहता है। हमारे यहाँ तो लालाकी सेवा-पूजा और कथा-कीर्तनका महत्त्व है। इन दोनोंमें कौन बात ठीक है? श्रीमहाराजजी उससे कह देते "यह तो मूर्ख है, तुम इसकी बात मत सुनना। लालाकी ही बात ठीक है। तुम वही करती रहो।" इसी प्रकार जिसकी जैसी श्रद्धा होती थी उसे वे उसीमें दृढ़ कर देते थे। उसे बदलनेका प्रयत्न कभी नहीं करते थे।

इनका पुत्र प्रभाकर देशभक्त था। आन्दोलनमें सक्रिय भाग लेनेके कारण श्रीलालजीने श्रीमहाराजजीसे उसकी शिकायत की। परन्तु महाराजजीने कहा कि यदि देशका प्रेम है तो देशपर अपनेको निछावर कर दे। जीवनसे प्रेम मत रख। आवश्यक हो तो अपना बलिदान दे दे। वह सन् १९३७-३८ में बहुत बीमार रहा। तब आपने उसकी पत्नीको प्रदोष व्रत और जप बतलाया। उससे वह ठीक हो गया।

श्रीकृष्णवल्लभजी वैद्य (लल्लूजी) और उनकी पत्नी—इन दोनोंकी भी श्रीमहाराजजीके प्रति पूर्ण निष्ठा थी। पण्डितानीजी प्रसन्नतासे प्रफुल्लित होकर कहा करती थीं कि हमारे गुरुजी-जैसे तो कोई देखनेमें नहीं आते, जिनमें दण्डी परमहंस, उदासीन, वैष्णव और शाक्त तथा शैव भी पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। सन् १९२४ ई० में वैद्यजी पहले-पहले श्रीमहाराजजीका स्वास्थ्य देखनेके लिए सेवामें उपस्थित हुए। तबसे आपके प्रति उनका ऐसा आकर्षण हुआ कि वे हर महीने, चाहे कैसी भी ऋतु हो, उनके दर्शनार्थ जाने लगे।

अनूपशहरमें कुलपरम्परासे दो वैद्यपरिवार बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। दोनों ही पर्वतीय ब्राह्मण-परिवार हैं। एक परिवारके सदस्योंके नामोंके अन्तमें 'दत्त' पद रहता है। इसमें श्रीअम्बादत्त, भैरोंदत्त और गणेशदत्त आदि प्रसिद्ध वैद्य हुए हैं। और दूसरे परिवारके लोग 'वल्लभ' पदका प्रयोग करते हैं। इसमें श्रीगोपालवल्लभ, भगवानवल्लभ, और रेवतीवल्लभ आदिने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है। वैद्यराज श्रीकृष्णवल्लभजी पं० भगवानवल्लभके सुपुत्र और पं० रेवतीवल्लभके कनिष्ठ भ्राता थे। इनके घरमें परम्परासे भगवतीकी आराधना थी। श्रीमहाराजजीने

उसकी पुष्टि की। आप लिखते हैं कि सन् १९३० ई० की बात है। उस समय मेरे दामाद श्रीपाण्डेजी देहरादूनमें अत्यन्त रुग्णावस्थामें थे। उन्हें भयङ्कर संग्रहणी थी। श्रीमहाराजजीसे मिलनेपर मैंने उनका समाचार सुनाया। बाबा बोले, "कोई चिन्ता मत करो।" वहाँ जाकर मैं रात्रिको सोया। स्वप्नमें बाबाने दर्शन दिया और बोले, "अफीम और कुचलाका प्रयोग करो, इससे अच्छा हो जायगा।" दवा बनायी, परन्तु बुद्धि सहमत न होनेके कारण दी नहीं। रातको ९ बजे पाण्डेजीने पूछा कि आप दवा क्यों नहीं दे रहे हैं। मैंने सब बात स्पष्ट कह दी। पाण्डेजी महात्माओंमें श्रद्धा रखते थे। वे बोले, "यदि किन्ही महात्माने कहा है तो मुझे विष भी दे दीजिये।" अब मुझे चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं रहा। रात्रिको ९ बजे मैंने औषधि दी। उसके आधा घण्टा पश्चात् उनका अपान वायु खुला और पेट बिलकुल हल्का हो गया। गहरी नींद आयी। मैं प्रतिदिन एकबार औषधि देता रहा और उससे वे सात-आठ दिनमें पूर्णतया स्वस्थ हो गये। जो लोग सन्तके प्रसाद रूपसे इस दवाका सेवन करते हैं उन्हें दमा, पुराने जुकाम और संग्रहणी आदि रोगोंमें इससे बहुत लाभ होता है। हाँ, ज्वर तथा हृदय रोगोंमें इसका सेवन वर्जित है।

इनके यहाँ पूर्वजोंका बनाया हुआ प्रायः ढाई सौ वर्ष पुराना एक मन्दिर था। जिसका शिवलिंग खण्डित हो गया था। यह मन्दिर सौ वर्षके लगभग तो खण्डित अवस्थामें ही पड़ा रहा। इनके पितामह और पिता उसके जीर्णोद्धार और स्थापनाके पूर्व ही सिधार गये, क्योंकि इस कार्यमें विघ्न बहुत आते थे। इन्होंने श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना की कि यदि आपके करकमलों द्वारा इस मन्दिरका जीर्णोद्धार हो जाय तो बहुत अच्छा हो। आपने स्वीकार कर लिया और उसका सारा भार अपने ऊपर ले लिया। वैशाख कृ० १३ को जीर्णोद्धारका मुहूर्त निश्चित हुआ, किन्तु उसके एक दिन पूर्व मेरी चाचीकी मृत्यु हो गयी। तब आपने इसके लिए दूसरा मुहूर्त निश्चय करानेको कहा। वैद्यजी बोले, "मन्दिरके जीर्णोद्धारका कार्य तो आपके सामने ही होगा।" आपने कहा, "इस मन्दिरके जीर्णोद्धारमें विघ्न आ ही जाते हैं। यदि इस बार विघ्न आया तो हमारी शङ्करजीसे लड़ाई होगी।" लगभग एक वर्ष पश्चात् वैशाख शु० ३ को आपकी उपस्थितिमें ही इसके जीर्णोद्धारका कार्य आरम्भ हुआ तथा शिवरात्रिको शङ्करजीकी स्थापना हुई। आपके करकमलोंसे श्रीनर्मदेश्वर

जी स्थापित हुए और उनका नाम आपके नामानुसार 'श्रीपूर्णेश्वर महादेव' हुआ।

सन् १९३५ की घटना है। इनके छोटे भाई लक्ष्मणवल्लभजीकी स्त्री एक दिन समस्त कार्योंसे निवृत्त होकर अपने कमरेमें सोयी। वह प्रातःकाल अचेत अवस्थामें मिली और एक महीनेतक अचेत ही पड़ी रही। वैद्योंका तो घर ही था, अनेकों उपचार किये, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। उसके निमित्तसे दुर्गापाठ और महामृत्युञ्जयका जप भी कराया, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। फिर वैद्यजीने कर्णवास जाकर सब हाल श्रीमहाराजजीको सुनाया। आप सुनकर ध्यानमग्न हो गये। और कुछ भी न बोले। इसके दस-बारह दिन पश्चात् आप सीधे इनके घर पहुँचे। रोगिणी अचेत पड़ी हुई थी। आपने अपने अँगूठे और अंगुलियोंसे उसके सिरके पिछले भागको दबाकर कहा, "खड़ी हो जा।" वह तुरन्त चारपाईसे उठकर खड़ी हो गयी और कहने लगी;"मैं इस जीवनसे अत्यन्त दुःखी हूँ, मेरा उद्धार करो।" श्रीमहाराजजी बोले, तेरे सामने चतुर्भुजमूर्त्ति श्रीकृष्ण भगवान् खड़े हैं, क्या तुझे उनके दर्शन नहीं हो रहे हैं ?" वह बोली; "हाँ, महाराज ! दीख रहे हैं।" उस समय उसका चेहरा कान्तियुक्त होकर खिल उठा। वह श्रीमहाराजजीके चरणोंमें गिर पड़ी। आपने पूछा, "क्या भोजन करेगी ?" वह बोली, "जो आप देंगे।" तब आपने कहा, "जा, पहले गंगास्नान करके पूर्णेश्वर महादेवके दर्शन कर आ।" जब वह स्नान और दर्शन करके लौटी तो श्रीमहाराजजीने उसे अपने हाथसे कटोरीमें दाल-चावल दिये और उसने उन्हें पा लिया। वैद्यजीने माताजीके द्वारा पुछवाया कि उस समय तुझे क्या जान पड़ता था। उसने बताया कि मुझे जब किसीने खड़ा किया तो मुझे आग लगे पहाड़का धूआँसा दिखायी दिया। फिर उसके भीतर प्रकाशमय मण्डलमें चतुर्भुज मूर्त्तिके दर्शन हुए और फिर वह मूर्त्ति मुझे श्रीमहाराजजीके रूपमें दिखाई दी। उसके पश्चात् मुझे चेत हो गया। इस प्रकार आपने उसके महान् दुःखकी निवृत्ति करके इष्टदर्शन और गुरुमूर्त्तिकी महिमा स्थापित की।

सन् १९४१ ई० के कार्त्तिक मासकी बात है, वैद्यजीके नितम्बके सन्धिस्थलके पार्श्वमें दो ग्रन्थियाँ (फोड़े) उत्पन्न हुईं। श्रीमहाराजजीने आज्ञा दी कि दिल्ली जाकर ऑपरेशन करावें, दुर्गासप्तशतीका पाठ न छोड़ें और चतुर्थ अध्यायमें देवताओंने जो देवीकी स्तुति की है वह उन्हें

याद है, उसे चारपाईपर लेटे-लेटे पाठ करते रहें। ऑपरेशन अमुक दिन अमुक समयपर करावें। दिल्ली जाकर डा० पाण्डेयको दिखाया तो उन्होंने कहा कि फोड़ा गुदासे केवल आधा इञ्च दूर रह गया है। उन्हें ऑपरेशनके लिए मेजपर लेटाया गया। अचेत होनेके पहले उन्हें मालूम हुआ कि एक अलौकिक प्रकाशके अन्तर्गत एक दिव्यमूर्त्तिने उन्हें गोदमें ले लिया है। ऑपरेशनमें ३५ मिनट लगे। ये अचेत अवस्थामें भी स्तुतिका पाठ करते रहे। दस मिनट तक पाठ चला। उसकी समाप्ति होते ही इन्हें चेत हो गया। श्रीमहाराजजीने कहा था कि मैंने उन्हें भगवतीकी गोदमें समर्पित कर दिया था। वैद्यजीकी लड़की माँ श्रीआनन्दमयीकी अत्यन्त भक्ता हैं। उन्होंने माँसे इन्हें दर्शन देनेकी प्रार्थना की। माँने कहा, "उनका तो दूसरा जन्म हुआ है, माँ भगवतीने ही उनके प्राण बचाये हैं।" फिर वृन्दावनसे लौटनेपर माँने दर्शन भी दिये।

इन घटनाओंसे श्रीमहाराजजीकी योगशक्ति और कृपालुताका परिचय मिलता है कि समय-समयपर किस प्रकार वे अपने शरणागतोंकी रक्षा करते थे। लल्लूजीके दोनों पुत्र भी श्रीमहाराजजीके चरणोंमें पूर्ण श्रद्धा रखते हैं।

पं० मोतीदत्तजी वैद्य—ये अनूपशहरके दूसरे वैद्यपरिवारसे सम्बन्ध रखते हैं। इनके काका पं० गणेशदत्तजी वहाँके सुप्रसिद्ध वैद्योंमें हुए हैं। उनकी भी श्रीमहाराजजीके प्रति गहरी श्रद्धा थी। उनके पुत्र थे पं० भोलादत्तजी। ये युवावस्थामें ही बहुत बीमार पड़े। उनकी स्थिति देखकर श्रीमहाराजजीसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी। आप अनूपशहर आये और उन्हें देखते ही बोले, "अब तुम्हारा शरीर नहीं रहेगा। परन्तु आगामी जन्ममें कल्याणके निमित्तसे मैं अनुष्ठान करा सकता हूँ।" भोलादत्तजीने कहा, "आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें।" तब आपने कई पण्डितोंको बुलाकर पाठ आरम्भ करा दिया। पाठ सम्पूर्ण होनेके एक दिन पूर्व पण्डितोंसे कहा, "कल १२ बजे तक पाठ पूरा हो जायगा। आप अपना सम्पूर्ण कृत्य समाप्त करके चले जाना, रुकना मत। अपनी दक्षिणा भी लेते जाना। कल रात्रिमें उसका शरीर नहीं बचेगा। वैसा ही हुआ। इससे जान पड़ता है कि आपको भविष्यका ज्ञान हो जाता था।

पं० नन्नामल मिश्र—ये लिखते हैं कि मेरा एक लड़का होनहार था। एक दिन अकस्मात् बिजलीका करेण्ट लगनेसे उसकी मृत्यु हो गयी।

मेरे छोटे भाईपर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और वह भी चल बसा। इन दो प्रियजनोंकी आकस्मिक मृत्युका मेरे ऊपर बड़ा भयानक असर हुआ। मैं अत्यन्त रोगग्रस्त हो गया और मेरी मरणासन्न अवस्था हो गयी। तब श्रीलल्लूजी और धीरजरामजी मुझे श्रीमहाराजजीके पास बाँधकर ले गये। मैंने उनके चरणस्पर्श किये और उनसे कहा, "महाराज ! मैं जानना चाहता हूँ कि मेरा शरीर रहेगा या नहीं ?" इसपर बाबा हँसे और बोले, "तुम्हारा शरीर अभी जायगा नहीं। इस समय तुम्हें किसी महात्माके सत्सङ्गकी आवश्यकता है।" मैंने कहा, महाराज ! "मैं तो आपको छोड़कर और किसी महात्माको नहीं जानता हूँ। जो कुछ करना हो आप ही कीजिये।" तब आपने सबको अलग कर दिया और दस मिनटतक उपदेश देते रहे। उस समय मुझे प्रकाशपुञ्जके दर्शन हुए और ऐसा स्पष्ट अनुभव होने लगा कि स्त्री-पुत्रादिका महत्व मिथ्या ही है, वास्तवमें कोई किसीका नहीं। अब मुझे ऐसा जान पड़ा कि जैसे किसीके सिरपर भारी बोझा हो, उससे वह दबा जा रहा हो, और कोई कृपालु उस बोझको उतार दे। ऐसी स्थितिमें जैसे उसका हृदय हल्का और प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार मेरे मनका भारी भार उतर गया। और मुझे बड़े सुखका अनुभव होने लगा। उसके पश्चात् धीरे-धीरे मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा और मैं कुछ दिनोंमें स्वस्थ हो गया।

पं० शिवशङ्करजी गौड़—ये रिटायर्ड पोस्टमास्टर थे। श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त, बड़े ही नियमनिष्ठ, भजनानन्दी और भगवान् शङ्कर में निष्ठा रखनेवाले थे। इन्होंने श्रीमहाराजजीकी छवि रखकर विद्वत्संन्यास ले लिया था। तथा रुद्राष्टाध्यायीका पाठ करते हुए शरीर त्यागा। 'गौड' गुजराती परिवारोंके कुलगुरु कहलाते हैं। इनकी पौत्रवधू मगन बहिन थीं। इसके विषयमें पहले कुछ लिखा जा चुका है। एक बार सांसारिक दुःखोंसे घबड़ाकर इसने आत्मघात करनेका निश्चय कर लिया। तब श्रीमहाराजजी का अन्तिम दर्शन करनेके लिए यह बाँधपर गयी। श्रीमहाराजजी तो अन्तर्यामी थे। वे सब कुछ जान गये और बिना पूछे ही बोले, "खबरदार, यदि तूने मनमें ऐसा विचार किया तो। आत्महत्या बड़ा भयानक पाप है। इससे कीड़ा-मकोड़ा बनेगी और नरकमें पड़ेगी।" इस प्रकार इसके चित्तमें इतना भय बैठा दिया कि फिर कभी मनमें आत्म-हत्याका विचार नहीं उठा।

भगवतीप्रसाद—भगवती और सागर ये दूरके सम्बन्धसे परस्पर भाई थे। ये कहते हैं कि हम तो बाबाका फूलोंसे श्रृङ्गार करनेवाले सेवक हैं। बाबा कहा करते थे कि भगवती ! तुमने नीलकण्ठ महादेवका दर्शन किया है ? कभी ऋषिकेश जाओ तो दर्शन करना। संयोगवश मैं दर्शनोंके लिए गया और रात्रिमें मन्दिरके बरांडेमें बैठ गया। मन ही मन सोचने लगा। कि बाबा मुझसे नीलकण्ठ महादेवके दर्शनोंके लिए कहा करते थे। देखें, यहाँ क्या लीला दिखाते हैं। मैं यह सोच ही रहा था कि अकस्मात् सामनेका दृश्य बदल गया। नीलकण्ठ महादेवका दर्शन लुप्त हो गया और उनके स्थानपर बाबा बैठे दिखाई दिये उनके चारों ओर ऐसा महान् प्रकाश पुञ्ज दिखायी दिया जिसके आगे बिजलीका प्रकाश कुछ भी नहीं है। बाबाका अद्भुत श्रृङ्गार था। फूलोंकी सजावट, डमरू, त्रिशूल और कमण्डलु आदि सभी थे। सिरपर जटाजूट था, जिसमेंसे एक ओर श्रीगंगाजीकी धारा गिर रही थी। मैं आश्चर्यचकित होकर देख रहा था। बाबा बोले, "देख, मेरा असली श्रृङ्गार यह है।" मैंने सोचा, शायद चिन्तन कर रहा था इसलिए ऐसा दृश्य दिखायी दिया। परन्तु लेट गया तब भी वही दृश्य। फिर तो वह दृश्य मनमें ऐसा बसा कि कई दिनों तक हर समय दीखता रहा।

इस प्रकार यहाँ अनूपशहरके कुछ भक्तोंकी चर्चा की गयी। इनके सिवा और भी कई महानुभाव श्रीचरणोंमें गहरी श्रद्धा और भक्ति रखते हैं। भक्त श्रीमुन्नालालजी सचमुच बड़े सरल भावुक भक्त थे। वे पानोंकी दुकान करते थे, परन्तु जब सितारपर विनय पत्रिकाके पद गाते तो श्रोतालोग मन्त्रमुग्ध और भावविभोर हो जाते थे। भाई साहब रामप्रसादजी भी श्रीचरणोंमें अगाध श्रद्धा रखते हैं। आप व्यायामविशारद हैं और अनेकों शारीरिक खेल दिखाकर जनताको आश्चर्यचकित कर देते हैं। श्रीहरिशङ्करजी कैमिष्ट भी श्रीमहाराजजीके बड़े कृपापात्र रहे हैं। श्रीप्यारेलाल और श्यामलाल पिता-पुत्र थे और श्रीचरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखते थे।

अद्भुत जीवनदान

श्रीमहाराजजी कितने ही छिपकर कृपा करें वह प्रकट हुए बिना नहीं रहती। जैसे चींटी मिष्ठानका अन्वेषण करनेमें और चातक स्वातिविन्दुकी प्रतीक्षामें तत्पर रहते हैं वैसे ही भक्त आपके कृपान्वेषण और

शरणागत होनेमें तत्पर रहते थे। इटरनीवाली ठाकुरानी श्रीवेदकुँवरिजीके प्रति आपको जो कृपा हुई वह इस श्लोककी स्पष्ट व्याख्या है और उनका जीवन गुरुदेव तथा भगवान्के आश्रयकी महिमाका निदर्शन है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥[1]

वे स्वयं लिखती हैं—मैं एक अनाथदीन बाला हूँ। विवाहके कुछ दिन पश्चात् ही विधवा हो गयी थी। मेरी गोदमें एक पाँच महीनेका बालक था। श्रीमहाराजजीकी गुणगरिमा सुननेको मिलती थी। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुआ था। लोकमें मुझे कोई अपना सहायक दिखायी नहीं देता था। सोचने लगी कि किसी प्रकार आत्मघात कर लूँ। तीन दिन कुछ नहीं खाया, तब तन्द्राकी-सी अवस्थामें श्रीमहाराजजीके दर्शन हुए। वे बोले, "तेरा यह बच्चा देवताका अवतार है, तू इसका पालन कर। अभी तुझे बहुत कुछ देखना है। तू कुछ भी कर अभी मर नहीं सकती। सतीको तो एक घण्टेका ही कष्ट होता है, तेरी विशेषता तो इसमें है कि इस बालक का पालन करते हुए अपने धर्मकी रक्षा करे। तू केवल निमित्तमात्र रह। मैं स्वयं तेरी व्यवस्था करूँगा।"

मेरी ननद बमनोई विवाही थी। पतिदेवके स्वर्गवासके पश्चात् मैं भी बमनोईमें ही रहने लगी। परन्तु खाने-पीनेका भी ठिकाना न रहा। अतः इटरनी लौट आयी। रात-दिन यही लालसा रहती कि श्रीमहाराजजी कब आयेंगे। पाँच दिन बिना खाये बीत गये। मेरे पास गाँगनीकी एक ब्राह्मणी रहती थी। उससे कहा कि मैं तो एक-दो दिनमें मर जाऊँगी, बच्चे को जो चाहेगा ले जायगा। परन्तु रातको श्रीमहाराजजीने कहा, "तू कुछ भी कर, मैं तेरे साथ हूँ।" बस, सबेरा होते ही मेरे मनमें संकल्प हुआ कि सिलाईका काम आरम्भ कर दूँ। इससे पेट भरनेका साधन हो गया। अब तक जो कुछ हुआ आपकी परीक्षा कृपा ही थी।

सं० १९७५ में हम रामघाट गये। तबतक श्रीमहाराजजी स्त्रियोंको अपने पास नहीं आने देते थे। अतः जब आप गङ्गास्नान करते तब दूरसे ही हम आपके दर्शन कर लेते। जैसे श्रीसीताजी भगवान्के श्रीचरणोंका

---

१. श्रीकुन्तीजी द्वारिका जानेके लिए आज्ञा माँगते हुए श्रीकृष्णसे कहती हैं—'हे जगद्गुरो! हमें जगह-जगह निरन्तर विपत्तियाँ घेरती रहें, जिससे कि पुनर्जन्म की निवृत्ति करनेवाला आपका दर्शन होता रहे।'

ध्यान करती थीं उसी प्रकार मैं भी आपके चरणोंका ध्यान करने लगी। मनमें बार-बार होता कि **'भाविहुं मेटि सकहिं त्रिपुरारि।'** आगे चलकर तो इस भावकी प्रत्यक्ष पुष्टि हो गयी। दो-तीन साल पश्चात् धीरे-धीरे कुछ समीप आने लगी। मेरी ननद बमनोईवाली ठाकुरानी श्रीमहाराजजीकी भक्ता थी। वह भी आपकी कृपाका गुणगान किया करती थी। उसने बताया कि गाँव मनाईमें कुछ लोगोंके साथ हमारी फौजदारी हो गयी थी। वह स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण थी। हम लोग बड़ी चिन्तामें थे। किन्तु श्रीमहाराजजीने पहले ही बता दिया कि इसमें तुम्हारा विशेष खर्चा नहीं होगा। ठाकुर साहब अपने आदमियोंके सहित छूट जायेंगे। आपकी यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई। यह बात सारे परिकरमें बिजलीकी तरह फैल गयी। इससे सबकी श्रद्धा-भक्तिकी पुष्टि हुई। फिर श्रीमहाराजजीने हमें सावधान किया कि तुम्हारे कुटुम्बियोंने तुम्हें मारनेके लिए एक आदमी बुलाया है। तुम जप करो, नहीं तो तुम्हारा या तुम्हारे लड़केका अनिष्ट होगा। इसके ठीक पन्द्रह दिन बाद हत्यारा आया और आते ही पकड़ लिया गया। उसके पास बहुत पैनी छुरी निकली। इसी प्रकार उनकी सर्वसमर्थ कृपा और महिमाकी आपसी चर्चासे श्रीचरणोंमें मेरी श्रद्धा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ गयी।

हम दोनों खूब सेवामें रहीं। सं० १९९० के अगस्त मासमें मेरे पुत्र इन्द्रजीतसिंहका विवाह हो गया। परन्तु दूसरे ही वर्ष वह बीमार पड़ गया। उन दिनों श्रीमहाराजजी बाँधपर थे। आपने कहलाया कि किसी प्रकार उसे यहाँ ले आओ। इन्द्रजीत जाने योग्य नहीं था, तो भी उसे बाँध ले चली। उसने मार्गमें कहा, "माताजी ! अब मैं ठीक हूँ।" बाँधपर पहुँचते-पहुँचते न जाने वह कैसे बिलकुल ठीक हो गया। श्रीमहाराजजीने उसे छः महीने पास रखा और उसे ठीक करके प्रसाद रूपमें मुझे दे दिया। मैं पढ़ना-लिखना नहीं जानती थी। आपने स्वप्नमें हाथ पकड़कर मुझसे लिखवाया और सबेरा होनेपर मैं लिखने लगी।

सं० १९९२ की बात है, इन्द्रजीत फिर बीमार पड़ा और उसे दीखना बन्द हो गया। अगहनके आरम्भमें वह एक दिन बोला कि मुझे श्रीमहाराजजीके दर्शन कराओ। वे इन दिनों अनूपशहरमें थे। पौषके आरम्भमें हम वहाँ पहुँचे। एक दिन सायंकालमें आप मुझसे बोले, "आज रातमें सोना मत। आस-पास रहनेवाले भक्तोंसे भी कह दिया कि तुम लोग रात्रिमें

इसकी देख-भाल रखना। परन्तु आधी रातके समय बैठे-बैठे ही मुझे कुछ तन्द्रा-सी हो गयी। उसी समय इन्द्रजीतका शरीर शान्त हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ा मानो आप प्रकट होकर कह रहे हैं कि इन्द्रजीतको देख। मैंने देखा तो अब उसमें कुछ नहीं था। मैंने भक्तों द्वारा सेठ बालूशङ्करके बागमें श्रीमहाराजजीके पास उसके देहान्तका समाचार भिजवाया। आपने उनके द्वारा कहलाया कि सबेरे ७ बजेतक रखा रहने दे, कोई संस्कार न करे। अब सब लोग बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करने लगे। दुःखकी जगह ठहरो और देखो को स्थान मिल गया। श्रीचरणोंमें अविचल विश्वास और श्रीमहाराजजीके अमृत-वचन इन्द्रजीतके न रहनेकी पीड़ाको शान्त कर रहे थे। उनसे डूबते हुए हृदयको सहारा मिल गया। उसे जैसा-का-तैसा रखो—यह गुरु-आज्ञा जादूका काम कर गयी। इससे शोकमें डूबते हुओंको थाह मिल गयी और उनमें साहसका संचार हो गया। हम सब उनके आगमनकी प्रतीक्षामें खड़े हो गये। हमारे हृदय उनका आवाहन करने लगे। अब सूर्योदयके साथ गुरु भगवानके आगमनकी आशा भी लग गयी। सबका ध्यान उस प्रेममूर्त्तिकी ओर ही था। ठीक सात बजे आप पधारे और सबको कमरेसे बाहर कर दिया। मैं मुँह फेरे कमरेके भीतर ही बैठी रही। आपने शवको गोदमें लेकर ऊपरसे नीचेतक अपनी हथेलीसे स्पर्श किया और उसपर थपकी-सी देते रहे। आधा घण्टातक इस प्रकार थपकी देते रहनेपर वह कराहने लगा और पाँच दिन पश्चात् आज होशमें आ गया।

इस प्रकार सबके हृदयोंपर आपके मृत्युञ्जय स्वरूपकी धाक जम गयी और अमृत हस्तकी अमिट छाप अनन्त हृदयोंपर पड़ गयी। आपकी कर्तु-अकर्तु-अन्यथा-कर्तु-सामर्थ्यका विश्वास सभीके अन्तःकरणोंमें बैठ गया। कृपा-दया और दीन-दयालुताका रस स्पष्टतया प्राप्त हुआ। श्रीचरणाम्बुज-आश्रयका वास्तविक तत्त्व हाथ लगा तथा शरणागतिकी सरस धाराने हृदयको पुष्टि प्रदानकी। जय शरणागतवत्सल गुरु भगवान्की।

इतना ही नहीं आपने इन्द्रजीतकी पत्नीको मन्त्र देकर सन्तान-बीज दिया। उसकी वही एकमात्र सन्तान कुल-दीपक है। यह है अद्भुत कृपा, यह है आपकी छत्रच्छायाकी सुशीलता।

पालीवाल परिवार

बिरौली और समाईके पालीवाल-परिवार श्रीमहाराजजीके परम भक्त हैं। बिरौलीके सेठ देवीसहायजी और उनकी धर्मपत्नी श्रीरामकुँवरिजी, इनके पुत्र रामचन्द्र, पुत्री बाई चन्द्रवती और सरस्वती तथा रामचन्द्रका पुत्र नरेश—ये सभी आपके अनन्य भक्त रहे हैं। इनसे भी बढ़कर थे देवीसहायजीके कनिष्ठ भ्राता श्रीकिशनलाल पालीवाल। प्रधानतया वे ही इस परिवारको श्रीमहाराजजीके सम्पर्कमें लानेमें निमित्त हुए। रामचन्द्र पालीवालकी सुसराल है समाई। उनके ससुर पं० प्यारेलाल और सासु श्रीजानकीदेवी श्रीचरणोंके अनन्याश्रित प्रेमी भक्त थे। उनके पुत्र जगदीशचन्द्र, महेशचन्द्र, गोपालचन्द्र और प्रकाशचन्द्रने पूर्णतया अपने माता-पिताके मार्गका अनुसरण किया है। माता जानकीदेवीजी भयंकर श्वास रोगसे पीड़ित रहती थीं, तथापि अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर श्रीचरणोंके दर्शनार्थ आती थीं। उनकी श्रीचरणप्रेमनिष्ठा अद्भुत थी। उनके तो एकमात्र आराध्य श्रीमहाराजजी ही थे। उन्होंने उनकी स्मृतिमें एक वार्षिक उत्सव कार्त्तिक शु० ८ से १२ तक पाँच दिनका आरम्भ किया था, जो उनका शरीर न रहनेपर भी अबतक बराबर चल रहा है। जगदीशचन्द्र आदि चारों भाई साक्षात् रामचतुष्टयके समान परस्पर परम स्नेही और श्रीमहाराजके परम भक्त हैं। यदि किसीको एक मन, एक प्राण, एक हृदय देखना हो तो वह इन चारों भाइयोंमें देखें। प्रकाशचन्द्रजीको छोटे होनेके कारण अपनी माताजीके साथ श्रीमहाराजजीके पास आनेका अवसर अधिक मिला था, इसलिए अपेक्षाकृत इनका श्रीचरणोंमें अधिक स्नेह है। इन सबके श्रीमहाराजजी ही सर्वस्व हैं। इन्होंने अपनी माँ और श्रीमहाराजजीकी स्वप्नाज्ञासे ही आगरेमें एक मकान लिया है। इनके यहाँ जो पानी निकलने और ईख पेरनेका यन्त्र है उसे श्रीमहाराजजीने स्पर्श किया था, इसलिए आवश्यकता होनेपर भी इन्होंने उसे नहीं बेचा। उनकी मधुरस्मृतिके रूपमें उसे सुरक्षित रखा है।

श्रीरामचन्द्रका पुत्र नरेश पालीवाल घरमें एकमात्र पुत्र है। उसका बड़े लाड़-चावसे पालन-पोषण हुआ है। दादी रोज सोना डालकर दूध औटाती और नरेशको पिलाती थी। वह श्रीमहाराजजीकी छवि और उनकी दी हुई माला लेकर इङ्गलैण्ड गया। परन्तु अपने परम्परागत

संस्कारोंसे इतना प्रवाहित रहा कि वहाँ होटलोंमें न खाकर अपने हाथसे भोजन बनाता था। वह बहुत ही संयत, सुशील और आडम्बरशून्य व्यक्ति है। युक्ताहार-विहारका उसे पूरा ध्यान रहता है। इस समय होम्योपैथ डाक्टर है। उसके यज्ञोपवीत-संस्कारके समय बिरौलीमें शतचण्डी यज्ञका आयोजन किया गया। इस परिवारके सौभाग्यके विषयमें क्या कहा जाय, स्वयं श्रीमहाराजजी भी चण्डीका एक पाठ करते थे तथा वे स्वयं और बाई चन्द्रवती देवीजीका शृङ्गार करते थे। मैं स्नान करनेके लिए कुएँ पर गया। वहाँ अकस्मात् मुझे केवड़ेकी गन्ध आयी। मैंने उसे तोड़ा और लेकर श्रीमहाराजजीके पास दौड़ा गया। आपने उसे हाथमें लेकर कहा, "बेटा! यह तो देवीजीको अत्यन्त प्रिय है।" उस समय उनकी प्रसन्नता देखते ही बनती थी। उनके हँसमुख और आनन्दने मुझे मूकास्वादनमें डाल दिया। उनकी प्रसन्नता अपनेमें और उस देवीमण्डपमें खिल उठी। तब यह मालूम हुआ कि परमपुरुष स्वयं निराकार होनेके कारण महापुरुषके श्रीमुखको अपनाकर ही हँसता है। वह आनन्द ही इस विश्व-ब्रह्माण्डका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण या ताना-बाना है। वह आनन्द ही खिलखिलाकर उनके मुखारविन्द और रोम-रोमपर खेल रहा है। इस विलक्षण आनन्द-वैचित्र्यको देखकर प्रतापसिंह आदि कुछ भक्त साइकिल लेकर भाग छूटे कि कुछ और केवड़ेकी बाल मिल जायँ तो उन्हें श्रीकरकमलोंमें अर्पण करके आनन्द लूटें। बस, श्रीमहाराजजी और बाई चन्द्रवती प्रफुल्लित हो देवीजी और देवताओंके उस पूजागृहको उस केवड़ेकी बालसे सजाने लगे। उन दिनों जो प्रसाद बनता था वह दिव्यातिदिव्य होता था। विवाहके समय भी ऐसा प्रसाद नहीं बनता। भाई रामचन्द्र प्रसन्नतासे फूले नहीं समाते थे। सारा घर, सारा परिवार और सारा गाँव आनन्दमें पागल हो रहा था, वह गीत और नृत्यमें निमग्न था। इस आनन्दको देखकर मेरे मनमें आया कि वह करुणावरुणालया माँ कैसी हैं, जिन्हें श्रीमहाराजजीने मनोमन्दिरमें रखा है, उनकी कैसी शोभा है। तथा यह भी देखना चाहता था कि कहीं उनका आवेशात्मक प्राकट्य हो।

श्रीमहाराजजी तो अन्तर्यामी हैं। आपने स्वयं आज्ञा देकर मुझे इस पालीवाल-परिवारके साथ काँगड़ा, चिन्तपूर्णी और ज्वालामुखीकी यात्रा करायी। स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी भी साथ थे। मेरी जो इच्छा थी कि जगज्जननीके करुणामय चैतन्यविग्रहका दर्शन करूँ, वह श्रीमहा-

राजजीने काँगड़ामें पूरी की। रात्रिके पूजनके पश्चात् जब मैं लेटा तो मैंने स्वप्नमें माँ जगदम्बाको देखा कि वे तप्तकाञ्चनके समान सर्वाङ्ग-सुन्दर, विविध आभूषणोंसे अलंकृत, सुन्दर सुवर्णकिरीटमण्डित और मनोहर श्यामाम्बरसे अलंकृत हैं। उनके मुखारविन्दपर प्रसन्नता लहरा रही है फिर मुझे ऐसा लगा कि इनके और श्रीमहाराजजीके नेत्र मानो एक-से ही हैं। जागनेपर मेरे मनमें यह औत्सुक्य हुआ कि इनके स्थान और धामका पता लगाऊँ। तब घूमता-फिरता श्रीवृन्दावन-आश्रममें पहुँचा। वहाँ बाई चन्द्रवतीके निवासस्थानमें श्रीजगदम्बाकी छवि ज्योंकी त्यों वैसी ही मिली जैसी मैंने स्वप्नमें देखी थी। तब मैंने समझा कि ये तो श्रीमहाराजजीके धाममें ही निवास करती हैं तथा उन्हींसे नित्य पूजित और लालित हैं। उस मधुर मूर्त्तिको देखकर मैं मुग्ध हो गया। यह भी स्पष्ट देखा कि श्रीमहाराजजीके राजीव-लोचन और माँके नेत्रकमल एकरूप हैं। तब मेरे हर्षका ठिकाना न रहा। मुझे जान पड़ा कि ये श्रीमहाराजजीकी हृदयधन हैं और उनके नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर उनसे एक हो रही हैं। फिर श्रीमहाराजजी अपनी ऊपरकी कुटीमें ले गये। वहाँ महिषासुरमर्दिनी देवीजीकी छवि थी। वे उदास जान पड़ती थीं। श्रीमहाराजजीने कहा, "बेटा! इनका किसीने पूजन नहीं किया।" आपने उन्हें स्नान कराकर प्यारसे हाथ फेरा। उनकी प्यारभरी हथेलीका स्पर्श पाकर वे प्रसन्नतासे खिल उठीं। केवल बोलना ही शेष रह गया। श्रीमहाराजजीने स्वयं कहा, "देखो, अब ये खूब प्रसन्न हैं। इनकी उदासीनता उड़ गयी।" तब यह अनुभव हुआ कि प्रेमपीयूष इनके हस्तकमलमें वास करता है। इससे मेरे हृदयमें बड़ा आनन्द उमड़ा कि धन्य हैं बाई जिनके जीवनमें परमशिव और जगदम्बा खेल रही हैं।

इस पालीवाल-परिवारके प्रति श्रीरुक्मिणीजीका आशीर्वाद है कि यह सर्वदा सम्पन्न रहेगा, क्योंकि इनके एक पूर्वज ही उनका सन्देश लेकर भगवान् श्रीकृष्णके पास द्वारिका गये थे। इस परिवारमें अभीतक श्रीरुक्मिणीजीकी पूजा होती है।

महर्षि कार्त्तिकेय

मैं जब अनूपशहर रहता था तब श्रीरमाकान्तजीकी सरलता, सत्य और आर्जव आदिकी भूरि-भूरि प्रशंसा गुजराती परिवारोंमें सुना करता था।

भैया धीरजरामजी कहते थे कि वे हमारे परिकरके सितारे हैं। इससे स्वाभाविक ही उनके दर्शनोंकी लालसा बढ़ी। फिर स्वामी अखण्डानन्दजी, प्रबोधानन्दजी आदि भक्तपरिकरमें उनके ध्यान, आसन, तितिक्षा और गुरुसेवाकी लगन बार-बार सुननेको मिली। इससे उनके दर्शनोंके लिए मेरी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। एक दिन श्रीमहाराजजी विचार कर रहे थे कि पं० जीवनदत्तजी जैसा चाहते थे वैसा ब्राह्मणोंका विकास नहीं हुआ। इसी समय अपने स्वभावके अनुसार बाबू रामसहाय पूछ बैठे, "आपने संसारके लिए इतना प्रयत्न किया, इससे भी क्या लाभ हुआ ?" तब श्रीमहाराजजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा, "बाबूजी ! मैंने साधु तैयार किये हैं।" बाबूजीने पूछा, "कौन-कौन ?" श्रीमहाराजजीके मुखसे पहला नाम निकला, 'रमाकान्त।' तब मैं सुनकर चकित रह गया कि रमाकान्त तो आपके मानसपुत्र हैं ! आपके अन्तःकरणमें उनका स्थान है तब मेरी लालसा और चटपटी और भी बढ़ गयी कि वह दिन कब आवेगा जब सदाशिवस्वरूप इन गुरुदेवके मानसपुत्रका दर्शन करूँगा। पुत्र कई प्रकारके होते हैं— विन्दुपुत्र, मन्त्रपुत्र, मानसपुत्र। वास्तवमें शिष्यरूपसे गुरु ही अवतरित होते हैं। इसलिए मेरी लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वे जब कैलासयात्रा करके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुए तब मुझे उनकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय मुझे मालूम हुआ कि ये तो विरक्तशिरोमणि श्रीशुकदेवजी ही हैं। कमरमें केवल एक लँगोटी, गेहुआँ रङ्ग, उल्टे हुए नेत्र और लम्बी-लम्बी जटाएँ। उन्हें देखकर श्रीमहाराजजीका ब्रह्मचर्यका जीवन स्मरण हो आया। इनके आगे एक ब्रह्मचारी त्रिशूल लेकर चलता था। मालूम होता था मानो वही श्रीमहाराजजीका ब्रह्मचर्यावस्थाका त्रिशूल पुनः आविर्भूत हो गया है। उनका शरीर तपस्या-से तपा हुआ था, नेत्र अन्तःपीयूषसे छके हुए थे तथा मुखमण्डल मानसरोवरकी प्रशान्त शान्ति और कान्ति बिखेर रहा था। उनके भुजदण्ड करिशुण्डको मात करते थे।

श्रीमहाराजजीने मुझे उनकी सेवामें नियुक्त किया, इसलिए उनका निरीक्षण करनेका खूब अवसर मिला। रात्रिमें देखा वही शाम्भवी मुद्रा, वही स्थिर-सुख-आसन, वही तन-थिर मन-थिर ध्यानकी झाँकी और वही अन्तःरसपानकी मस्ती। उनकी ऐसी स्वस्थता और मत्तता देखकर मुग्ध हो गया। मालूम हुआ इनमें साक्षात् गुरुदेवका अवतरण हुआ है। फिर आपने पहला वाक्य यही कहा, "आञ्जनेय ! श्रीमहाराजजीने मुझे

भीतर-भीतर सब खिला दिया।" फिर तो स्वाभाविक यह इच्छा हुई कि इनसे इनके जीवनका जन्मसे ही किस प्रकार रसविकास हुआ, यह मालूम करूँ। श्रीमहाराजजी अपने सेवकोंको, उनका आश्रमान्तर हो जानेपर भी, प्रायः पूर्वनामसे ही पुकारते थे। इसलिए अन्यत्र 'महर्षि कार्त्तिकेय' नामसे प्रसिद्ध होनेपर भी वे इन्हें 'रमाकान्त' ही कहते थे और आपके भक्तपरिकरमें भी ये इसी नामसे विख्यात थे।

आपका जन्म जिला गौड़ाके किसी ग्राममें ब्राह्मणपरिवारमें हुआ था। आपने बताया कि बचपनसे ही आपको ध्यानका शौक था, चञ्चलताका नामनिशान भी नहीं था तथा खेल-कूदका ध्यान भी नहीं आता था। अन्तर्मुखता जन्मजात थी तथा संयत स्वभाव और सरस वाणी आपकी प्रकृति थी। आप बिचरते-बिचरते अनूपशहर आये। आहारशुद्धि ही चित्त-शुद्धिका प्रधान साधन है—यह संस्कार आपके हृदयमें कूट-कूटकर भरा था। इस दृष्टिसे शुद्ध आजीविकाके उद्देश्यसे आप 'रायसाहब' बोलकर प्रसिद्ध एक गुजराती ब्राह्मणकी पुष्पवाटिकाकी देख-रेखके कामपर नियुक्त हो गये। आप उस पुष्पवाटिकामें होनेवाले पत्र, पुष्प या शाक-सब्जी अपने काममें नहीं लेते थे। आपका निश्चय था कि पग-पगपर व्यवहारशुद्धि ही पवित्रताकी जननी है, अपरिग्रह ही आध्यात्मिक जीवनके परम स्वातन्त्र्यके द्वारोंको खोलनेवाला है। इसलिए संग्रह, परिग्रह, उपग्रह आपके जीवनमें बिलकुल नहीं थे। बस, वेतनके रूपमें आपको जो कुछ मिलता था उसीसे संयमपूर्वक अपना निर्वाह करते थे। इस प्रकार अपने अन्तरात्मा और स्वामीके प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ रहकर आपने बड़ी पैनी दृष्टिसे सदाचारनिष्ठ रहकर जीवन-निर्वाह किया।

श्रीमहाराजजीकी यशःसौरभ दशों दिशाओंमें दिनोंदिन फैलती जा रही थी। आपने स्वय कहा कि श्रीमहाराजजीके स्वभाव और प्रभावकी धाक सर्वत्र छायी हुई थी। उनकी असङ्गताकी मधुरिमा, प्राणिमात्रके प्रति आत्मीयता, सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मनिष्ठा, निर्द्वन्द्व सर्वात्मविहार और अद्‌भुत उदारताका सौन्दर्य सर्वत्र सुननेको मिला। उनकी गुणगरिमा सुन-सुनकर दर्शनोंकी लालसा हृदयमें जाग उठी। आपने सुना कि श्रीमहाराजजी अनूपशहर आ रहे हैं। अपने हृदयधनके स्वागतके लिए सम्पूर्ण भक्तपरिकर दिन-रात एक करके तैयारी करने लगा। आप भी उनके साथ जुट गये। मधुर मिलनका समय आया तो सभी भक्त आनन्दमें विभोर हो गये। भगवन्नामकीर्तन और वेदमन्त्रोंसे स्वागत हुआ।

रमाकान्तजी दर्शन करके कृतकृत्य हो गये। उन्होंने जितना सुन रखा था उससे भी अधिक पाया। श्रीमहाराजजीकी ध्यानमुद्रासे ये मुग्ध हो गये। उनके सत्सङ्ग और ज्ञानचर्चाने इनके हृदयको ही हर लिया। उनका व्यक्तित्व असीमकी सीमा और अगतिकी गति जान पड़ा तथा उल्टी हुई दृष्टि इधरका नहीं उधरका स्पष्ट संकेत कर रही थी। इन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि ये सर्वसमर्थ हैं और सरस स्वभाव हैं। इधर अन्तर्यामी गुरुदेवने भी जान लिया कि यह होनहार बालक सामने आया है।

श्रीमहाराजजीने इन्हें सदाके लिए अपना लिया और आज्ञा दी कि सब काम छोड़कर गायत्री-अनुष्ठान करो। जपनेके लिए द्वादशाक्षर मन्त्र और इर्ष्ट रूपमें श्रीराम दिये भिक्षा करने कच्चा अन्न लाने और स्वयं पाक करके अनुष्ठान करनेका आदेश हुआ। यथेच्छालाभमें सन्तुष्ट रहो, नमक भी मत माँगो—ऐसी आज्ञा हुई। आप श्रीगुरुदेवकी आज्ञाका अक्षरशः पालन करने लगे तथा निःस्पन्द-ब्रह्मयोगकी नींव स्थिर-सुख-आसनका आग्रह-पूर्वक अभ्यास करने लगे। आपका स्पष्ट निश्चय था कि—

एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः।
हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च॥
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥

× × ×

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्।

जबतक एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास करते हुए मनपर विजय प्राप्त न हो तबतक हाथसे हाथ मलकर, दाँतोंसे दाँत पीसकर और अङ्गोंसे अङ्गोंको स्वाधीन करके सबसे पहले अपने मनको जीते।…………जिसने आसन जीत लिया उसने तो मानो त्रिलोकीको वशमें कर लिया।

आप श्रीमहाराजजीको भोग लगाकर प्रसाद पाते थे। **'ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः'** यही आपका जीवन था। अनुष्ठान कालको छोड़कर आप निरन्तर श्रीमहाराजजीकी सेवामें तत्पर रहते थे। उनकी दृष्टिमें सेवा सेवा नहीं, सेव्य गुरुभगवान्‌की सतत आराधना थी। उनकी इस दृष्टि और जीवनचर्यासे यह स्पष्ट मालूम हुआ कि आराधना कर्म नहीं है, भले ही आरम्भमें कर्मको आराधनारूपसे अपना लिया जाय। श्रीमहाराजजीके प्रसादरूपसे भी आप किसीसे कोई वस्तु स्वीकार नहीं करते थे। रातमें जब सब चले जाते तब स्वयं श्रीचरणोंकी सेवामें

संलग्न रहते और यदि गर्मी होती तो पंखा झलते रहते। प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त्तमें जब सत्संगी आते तब स्वयं चले जाते। आपने श्रीमहाराजजीसे कभी प्रश्नोत्तर नहीं किया और न कभी प्रश्नोत्तरप्रधान सत्संगमें उपस्थित रहे। बस, सेवा और सतत भजनरूप जीवनमें ही पूर्णतया अपनेको झोंक दिया। भजनके नामसे कभी सेवामें ढील नहीं की, प्रत्युत सेवामें ही मेवा प्राप्त की।

श्रीमहाराजजी जब गढ़मुक्तेश्वरसे प्रयागराज गये तब ये भी साथ ही रहे। प्रयाग पहुँचनेपर श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे इन्होंने उनके गुरुभाई दण्डिस्वामी श्रीसत्यबोध तीर्थसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ली। इनके साथ ही रामघाटवाले गार्ड साहब और फर्रुखाबादवाले श्रीचन्द्रसेनजीने भी दण्ड ग्रहण किये। उनके नाम क्रमशः तत्त्वबोध तीर्थ और आत्मबोध तीर्थ हुए। ब्रह्मचारी रामस्वरूपने भी उन्हींसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ली।

प्रयागसे लौटनेपर झूसीके अनुष्ठानकी भाँति ही रामघाटमें श्रीमहाराजजीने एक अनुष्ठान कराया। इसका उल्लेख पहले हो चुका है। उस अनुष्ठानमें इन्हें विशेष स्थिति प्राप्त हुई। ये बारह-बारह घण्टेतक एक आसनसे बैठे रहते थे। क्रान्तिकारी तीव्रतम संवेगकी चालसे ये प्राणपणसे साधनमें जुट गये। आदर्शको वास्तविकताके धरातलपर उतारनेके लिए आतुर हो गये। इस तीव्र तत्परतासे इनके मस्तिष्कमें कुछ गर्मी हो गयी। श्रीमहाराजजीकी शीतल दृष्टिमें रहते हुए हानिका तो कोई प्रश्न ही नहीं था। परन्तु ये बादाम आदि शीतल पदार्थ देनेपर भी खाते नहीं थे, पल्टू बाबाको दे देते थे। ऐसा उत्कट था इनका वैराग्य। श्रीमहाराजजीकी कृपासे इनकी गर्मी दूर हो गयी। इस समय इन्हें निर्विकल्प समाधिका अनुभव प्राप्त हुआ। उन दिनों मक्खियाँ इनके खुले नेत्र और मुँहमें घुस जाती थीं, परन्तु इन्हें कोई चेत नहीं था। साक्षात् मूर्त्ति ही हो गये थे। उस समय इनकी स्थिति कठोपनिषद्‌के इस मन्त्रसे व्यक्त की जा सकती है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

अर्थात् जिस समय मनके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसको परमगति कहते हैं।

आपके अविचल अगाध विश्वास, आज्ञापालनमें अपनेको स्वाहा करने के स्वभाव और सेवारूपमें होनेवाली सतत आराधनाने आपको निर्विकल्प स्थितिकी प्राप्ति करा दी। फिर मुझे यह जाननेकी इच्छा हुई कि इन्हें बोध या आत्मसाक्षात्कार कैसे हुआ? तब भाई साहब शंकरलालजीने बताया कि इन्हें स्वप्नमें चित्रकूटमें विराजमान भगवान् रामके श्रीसीता और लक्ष्मणजीके सहित दर्शन हुए। भगवान् अपने सौन्दर्य, माधुर्य और लावण्यके दिव्य प्रकाशसे वनस्थलीके विपुल सौन्दर्यको और भी देदीप्यमान कर रहे थे। तब तप्तकाञ्चनमूर्त्ति श्रीलखनलालने प्रभुसे आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा की। उस समय प्रभुके मुखसे जो आत्मतत्त्वका निरूपण हुआ उसे सुनकर इनकी जिज्ञासा शान्त हो गयी और आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। तभीसे अनन्त आनन्दसमुद्रके अवगाहनमें इनकी निरन्तर प्रगति रहने लगी तथा परमात्माके प्रति समर्पणमें आन्तरिक प्रेम प्रवाहित होने लगा। प्रेमसमर्पण ही श्रीमहाराजजीकी विशेषता थी। इसीसे इन्हें विषयमात्रसे वैराग्य हो गया और सर्वत्यागपूर्वक सर्वतोभावेन स्वरूपसमर्पण हुआ।

इसके पश्चात् जब कर्णवासमें महारुद्रयाग हुआ तब इन्हें स्वप्नमें अनुभव हुआ कि श्रीमहाराजजीने इन्हें संन्यास दिया है। अतः स्वयं ही विद्वत्संन्यास ले लिया। परन्तु श्रीमहाराजजीके सामने आनेमें सकुचाते थे। तब रामदासजीने श्रीमहाराजजीको सूचना दी कि प्रभो! रमाकान्तजीने आपकी स्वप्न-दीक्षासे संन्यास ले लिया है। सुनकर श्रीमहाराजजीने उत्तराखण्ड जानेकी आज्ञा दी और एक चादर भी दी। ब्रह्मचारी अनन्त सेवामें साथ रहे। वे आपके अनन्य भक्त और अनुगत सेवक हैं। फिर ऋषिकेशमें लक्ष्मणझूलाके समीप रहते हुए आत्मप्रेमपीयूष पान करनेमें दिन-रात एक कर दिये। ब्रह्मचारी अनन्त भिक्षा लाते थे और सब प्रकारकी देख-भाल करते थे। उत्तराखण्डमें 'छोटे अवधूतजी' के नामसे बड़ी प्रसिद्धि हो गयी। गीताप्रेसके संस्थापक श्रीजयदयाल गोयन्दका इनकी चर्या और स्थिति-गति देखकर मुग्ध हो गये। श्रीमहाराजजी ऋषिकेश गये थे। उनके सामने आनेपर संकोचमें गड़ जाते थे, इसलिए उनके पहुँचनेसे पहले ही वहाँसे चल दिये।

संन्यासके पश्चात् उन्होंने अपना नाम 'वासुदेव तीर्थ' रखा था। परन्तु प्रसिद्धि 'छोटे अवधूतजी' नामसे ही हुई। ऋषिकेशसे चलकर

आप ब्रह्मरसानभूतिमें लवलीन हुए उत्तराखण्डके चारों धामोंकी यात्रा करके कैलासके दर्शनार्थ गये। वहाँ कैलासकी परिक्रमा करते जब गौरीकुण्डपर पहुँचे तो हृदयमें यह सङ्कल्प हुआ कि अब यहाँसे भगवान् शङ्करके दर्शन बिना किये नहीं जाना है। यह स्थान इक्कीस हजार फीट ऊँचा है। वहाँ रात्रिमें किसी भी मनुष्यके लिए ठहरना बहुत कठिन है। फिर इनके पास तो केवल एक कौपीन और चादर ही थी। परन्तु आपका निश्चय अटल था। साथी तो नीचे चले आये, किन्तु ये हिमाक्रान्त शिखरमण्डित गौरीकुण्डके तटपर जगत्पिता भगवान् शङ्कर और जगन्माता भवानीके दर्शनोंकी लालसासे विकराल शीतकी कोई परवाह न करके परम विश्वासके साथ सिद्धासनासीन होकर बैठे रहे। बालहठ ठहरा, भले ही वर्फमें गल जायँ, मृत्यु निगल जाय इसकी परवाह नहीं। तीन रात बीतनेपर भगवान्का आसन हिला। करुणावरुणालय आशुतोष भगवान् शङ्कर जगज्जननी पार्वतीके साथ दशों दिशाओंको अपने अतुल तेजसे देदीप्यमान करते प्रकट हुए। श्रीजगदम्बाने अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक प्यार किया, प्रसाद खिलाया और कहा, "यह तो कार्तिकेय है।" इस प्रकार दर्शन देकर अन्तर्हित हो गये। कुछ काल पश्चात् आप 'महर्षि कार्त्तिकेय' नामसे ही प्रसिद्ध हुए।

इस यात्राकी विशेषता यह थी कि आपने इस समय भी भिक्षावृत्तिसे ही निर्वाह किया, किसी भी प्रकारकी तैयारी या परिग्रह नहीं किया। केवल कौपीन और सामान्य चादर ही धारण करते रहे। ऋषिकेशसे आपके साथ चार सन्त चले थे, किन्तु दो बीचसे ही लौट आये। केवल अनन्त ब्रह्मचारी और स्वामी ज्ञानानन्द ही अन्ततक साथ रहे। वहाँसे आप नैपालमें श्रीमुक्तेश्वर और पशुपतिनाथ होते पैदल ही उज्जैन पहुँचे। वहाँसे ब्रह्मचारी अनन्तद्वारा भस्मासुरकी भस्म और सम्पूर्ण तीर्थोंका जल श्रीमहाराजजीके पास भेजा। जब उज्जैनसे चलने लगे तो भगवान् महाकालेश्वरने प्रकट होकर कहा, "ठहरो, यहाँ ऐसे कुछ भक्त हैं जिनका तुम्हारे द्वारा कल्याण होगा।" तब आप मङ्गलेश्वर महादेवके समीप एक धर्मशालामें ठहर गये। इससे जान पड़ता है कि प्रत्येक

---

१. उत्तराखण्डके चार धाम ये हैं—यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ।

धामके धामी सन्तोंका ध्यान रखते हैं, उनके आनेसे आनन्दित होते हैं और जीवोंके कल्याणके लिए उन्हें रोकते भी हैं।

उन दिनों उज्जैन स्टेशनपर श्रीरामनारायण नामके एक गुड्स क्लार्क थे। उनकी पुत्री विद्यादेवी, जिसकी आयु इस समय प्रायः सोलह वर्षकी थी, अत्यन्त भक्तिनिष्ठ बालिका थी। भगवन्नाम-संकीर्तनमें वह भावविभोर हो जाती थी। वह आपके सत्सङ्गमें आने लगी। एक दिन उसके यहाँ भगवन्नाम-संकीर्तनका विशेष समारोह हुआ। उसमें विद्या-देवी भावसमाधिमें लीन हो गयी। प्रायः आठ घण्टे वह भावमग्न रही। उत्थान होनेपर उसने कहा कि मैं तो राधा हूँ। स्वयं श्रीश्यामसुन्दर पधारे थे। ब्रह्माजी, नारदजी और अनेकों देवता भी आये। उन्होंने श्रीश्यामसुन्दरके साथ मेरा विवाह कर दिया है।

तबसे समय-समयपर उन्हें श्रीराधिकाजीका आवेश होने लगा। उस समय उनमें तरह-तरहकी अलौकिक चेष्टाओंका आविर्भाव, दिव्य लीलाओंका दर्शन और श्लोकबद्ध आदेश होते थे। उनमें ऐसा स्पष्ट संकेत रहता था कि तुम इन कार्त्तिकेयके तत्त्वाधानमें रहकर लोको-द्धारका कार्य करो। इस प्रकार उनका जीवन अकस्मात् परिवर्तित हो गया। उनमें दिव्य भाव और दिव्य तेज प्रस्फुटित होने लगा। वे घर छोड़कर मंगलेश्वर महादेवपर श्रीकार्त्तिकेयजी के पास ही रहने लगीं। वहाँसे श्रीकार्त्तिकेयजी श्रीमहाराजजीके पास वृन्दावन आये और उनके वहाँ पहुँच जानेपर विद्यादेवी, जिन्हें अब 'श्रीकिशोरीजी' कहते थे, वृन्दावन पहुँच गयीं।

जब श्रीकिशोरीजी वृन्दावन पधारीं तो उनका दर्शन करनेपर ऐसा जान पड़ता था मानो श्रीकार्त्तिकेयजीकी महानता, स्थिरता, गम्भीरता, मृदुलता, भक्तिभाव और बोध इनमें उतर आये हैं। वे परम गुरुभक्ता थीं। जब उन्होंने श्रीमहाराजजीका पूजन किया तो सभी तद्भावभावित हो गये। वे जैसे-जैसे पुष्प और रोली आदिसे पूजन करती जाती थीं वैसे-वैसे सभी दर्शकोंके मन भी उनकी श्रद्धाके रँगमें रँग जाते और भक्तिभावसे ओत-प्रोत हो जाते थे। उस समय उनकी पूजा और श्रीमहाराजजी ही दिखायी देते थे और सब भूल जाता था। श्रीमहा-राजजीने मुझे उनकी सेवामें नियुक्त किया था। जब मैं उनके लिए मध्याह्नमें प्रसाद लेकर जाता तो वे दोनों प्रेमरसमूर्त्ति इस प्रकार प्रसादका पात्र उतारते कि जान पड़ता मानो वे अपने हस्त और हृदयसे उसका

स्वागत कर रहे हैं। उनकी मधुररस-बोरी बोली तथा इष्टरससे झुकी पलकें सुनते और देखते ही बनती थीं। उनकी श्रद्धा और भाव उमड़-उमड़कर नवीन सरस साम्राज्यमें ले जाते, दृष्टि ही बदल जाती और सत्त्वगुणका सार क्या है—यह अनुभव हो जाता था।

श्रीमहाराजजीने कार्त्तिकेयजीको भारतकी परिक्रमा करनेका आदेश दिया और किशोरीजीसे कहा कि तुम घरपर रहकर ही भजन करो, समय-समयपर मिल लिया करो। अतः वे उज्जैन लौट गयीं और कार्त्तिकेयजी अवधकी ओर चल दिये। ब्रह्मचारी अनन्त आपके साथ रहे। अयोध्यामें गुप्तारघाट[1] पर आपने कुछ दिन विश्राम किया। आपमें साधन और सरस जीवनका अद्भुत विकास तो हुआ ही था; अतः लोगोंमें बड़ा प्रभाव फैला। फैजाबाद छावनी पास ही थी, इसलिये मिलिटरीके लोग तो सत्सङ्गमें आते ही थे, अनेकों विद्वान् और मनीषी भी प्रभावित हुए। उनमें आचार्य नरेन्द्रदेव भी थे। जब आपने विश्व-शान्तिके उद्देश्यसे साधन-भजन और शरीरशुद्धिके लिये योगासनोंका प्रचार आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे पूर्वकी ओर बढ़ने लगे। विहारमें पहुँचनेपर विश्वशान्ति-मण्डलकी स्थापना हुई और लहरिया सरायसे 'विश्वशान्ति' नामका एक मासिक पत्र भी निकलने लगा। विहारके डिप्टि स्पीकर श्रीजगतनारायणलाल आपसे विशेष प्रभावित हुए। उनकी प्रेरणासे आप पं० जवाहरलाल नेहरूसे मिलनेके लिये हवाई जहाजद्वारा नयी दिल्ली भी गये। यहाँसे रेल और मोटर आदि यन्त्रयानमें चढ़ना आरम्भ हो गया। श्रीजवाहरलालजीने आपके उद्देश्यकी प्रशंसा की और यथासम्भव सहयोग देनेका वचन दिया। आपका वह कार्य अब विश्वा-यतन योगाश्रमद्वारा हो रहा है। उसका केन्द्र नयी दिल्ली है और भारतमें कई जगह शाखाएँ हैं। मुख्य सञ्चालक हैं ब्रह्मचारी श्रीधीरेन्द्रजी। इस संस्थाके द्वारा योगासनोंके अभ्याससे शारीरिक स्वास्थ्य-सुधारकी शिक्षा दी जाती है।

अन्तिम दिनोंमें आप गुप्तारघाटपर ही आ गये थे। वहीं श्रीकिशोरी-जी भी रहने लगी थीं। यहीं आपका निर्वाण हुआ। श्रीकिशोरीजीने,

---

१. गुप्तारघाट अयोध्यासे प्रायः सात मील उत्तरमें फैजाबाद छावनीके पास है। कहते हैं, यह वही स्थान है जहाँ सम्पूर्ण अवधवासियोंके सहित भगवान् राम साकेतधाम पधारे थे।

जिस वटवृक्षोंके कुञ्जमें आप सत्सङ्ग कराते थे, वहीं आपकी मूर्त्ति स्थापित की। यह कुञ्ज बड़ा ही सुन्दर गोलाकारमें उगे हुए सात वटवृक्षोंसे बना है। इन्हें श्रीकार्त्तिकेयजी 'सप्तर्षि' कहते थे। योगाश्रमके द्वारा जैसे शारीरिक स्वास्थ्य-सुधारका कार्य होता है उसी प्रकार श्रीकिशोरीजीके द्वारा लोगोंके आध्यात्मिक सुधारका कार्य हो रहा है। ये ही आपकी सच्ची स्मृतियाँ हैं।

स्वामी श्रीहीरादासजीके पास

परम पूज्य श्रीहीरादासजी महाराज अपने समयमें व्रजमण्डल और गङ्गातटपर वैराग्यके धनी और अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। उनके वैराग्यके विषयमें पूज्य स्वामी शास्त्रानन्दजी कहते थे कि उनके निर्वाणके पश्चात् तो वैराग्य ही धरातलसे उठ गया। आप श्रीव्रजमण्डलमें माधूकरी वृत्तिसे रहते हुए गोवर्धनकी तलैटीमें वृक्षोंके तले निवास करते और नित्यप्रति गोपाल-सहस्रनामके एक सौ आठ पाठ करते थे। इस प्रकार बीसों वर्षतक अपरिग्रही जीवन व्यतीत करते रहे। फिर गङ्गातटपर रहने लगे। वहाँ श्रीकृष्णरसभाविता मतिसे ब्रह्मरसप्रधान बोधमय जीवनका आरम्भ हुआ। आप रात-दिन शास्त्रानुशीलनमें संलग्न रहते थे। अक्षरसमाधिको ही आप प्रधान मानते थे। लक्ष्मणझूलासे लेकर काशीतक उन-जैसा शास्त्रपारङ्गत विद्वान् देखनेमें नहीं आया। शास्त्रार्थमें बड़े-बड़े विद्वान् उनसे हार मान गये थे। वैराग्यके साथ आपकी बोल-चालकी भी बड़ी धाक थी। वह क्रोध सी जान पड़ती थी; परन्तु क्रोध थी नहीं। आप हँसकर कहा करते थे कि मैंने क्रोधकी बाढ़ इसलिए लगा रखी है जिससे संसारी मनुष्यरूप बकरियाँ वैराग्य, बोध एवं उपरत्ति-रूप फुलवारीको चर न जायँ। पीछे आपको गलित कुष्ठ हुआ। फिर भी आपका मुखमण्डल दर्पणके समान देदीप्यमान था। उसमें अद्भुत ब्रह्मतेज झलकता था। आप एक नावपर रहते थे और स्वाध्यायके लिए आवश्यक ग्रन्थ भी रखते थे। गलित कुष्ठ जैसे दुर्दान्त रोगमें भी आपके मुखसे कभी उफ नहीं निकला। मुखपर दुःखकी रञ्चक रेखा या म्लानता कभी देखनेमें नहीं आयी। सदा प्रसन्नता मुखपर खेलती थी खिन्नताका नामनिशान भी नहीं था। वाणीमें कभी दीनताकी छाया भी नहीं देखी गयी। जीवनभर वेदान्तकेशरीकी दहाड़ ही सुनायी दी।

दो माइयाँ आपकी सेवामें रहती थीं। एक बार मरहम-पट्टी करनेके पश्चात् आप उनकी अनुपस्थितिमें चल दिये और फिसलकर गिर जानेके

कारण रक्तसे लथपथ हो गये। तब उनमें से एक माईने कुछ बिगड़कर कहा, "महाराजजी ! आप तनिक भी तसल्ली नहीं करते।" आप बोल उठे, "मेरे लिए सेवाकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक सेवकको यह समझना चाहिये कि मैं अपने कल्याणार्थ ही सेवा करता हूँ। मेरी आवश्यकता समझकर कभी सेवा मत करना।" इस प्रकार आपकी निर्द्वन्द्वता चमक उठी और कई महीनोंतक उस माईसे सेवा नहीं ली, जिससे वह समझ जाय कि सेवा अपने कल्याणके लिए ही करनी है। फिर, दयालु तो थे ही, विशेष अनुनय-विनय करनेपर उसे सेवामें ले लिया। धन्य हैं वे माइयाँ, जिन्हें इस भीषण रोगमें अपनेको स्वाहा करना स्वीकार था और जो अन्तिम समयतक आपकी सेवामें कटिबद्ध रहीं, क्योंकि सच्चा सेवक तो सेव्यके सुखमें ही सुखी रहता है। 'इस भयङ्कर रोगपर आपकी क्या दृष्टि है'—यह बात पूछनेपर आपने कहा था, "जो भीतर था वह बाहर आ गया है।" एक बार यह भी कहा था कि शास्त्रार्थमें कई विद्वानोंके हृदयको दुःख हुआ, उसके कारण भी यह रोग हो सकता है। अतः किसीका चित्त दुखाना नहीं चाहिए।

एक बार एक साधु बहुत बीमार पड़ा। आपने उसकी खूब सेवा की। किन्तु जब अन्तिम समय उपस्थित देखा तो छोड़कर चल दिये। किसीने पूछा कि आपने ऐसा क्यों किया ? तो बोले, "सेवकपर मन न जाय, संसारसे पूर्ण निराशा रहे तथा भगवान्‌का आश्रय, सम्बन्ध और स्मृति यथावत् बनी रहें, इसलिए ऐसा किया, क्योंकि अन्त समयमें जैसी मति होती है वैसी ही गति हुआ करती है।" श्रीमहाराजजी कहते थे कि स्वयं समर्थ होते हुए भी उन्होंने अपने रोगका कोई प्रतीकार नहीं किया, क्योंकि शरीर तो नाशवान् है, इसका क्या विचार किया जाय। सुख और दुःखमें 'ख' तो ब्रह्म ही है। ब्रह्मदृष्टिसे व्यतिरेकमें तो किसीकी भी सत्ता है नहीं और अन्वयमें सब ब्रह्म ही है। अतः वे निश्चिन्त थे। इस महान् दुःखमें ही उनकी महती सहिष्णुता, निर्द्वन्द्वता और अगाध ब्रह्मनिष्ठाका परिचय मिलता है।

ऐसे वैराग्यरसराजकी सङ्गति श्रीमहाराजजीको सबसे पहले भगवान्-पुरमें मिली। जिस समय आप वहाँ पहुँचे सायंकालके पाँच बजे थे। उस समय भिक्षु गौरीशङ्करके साथ उनका सत्सङ्ग हो रहा था। इस परमार्थचर्चामें सारी रात निकल गयी। परस्पर वेदान्तश्रवणके अधिकारपर विचार हो रहा था। श्रीमहाराजजीको उसमें ऐसा आनन्द आया कि

उतनी देर आप एक आसनसे ही बैठे रहे। भिक्षुजीने आपके आसनकी प्रशंसा भी की । परन्तु स्वामी हीरादासजीने उदासीनता प्रकट करते हुए कहा, "इसमें कौन सिद्धि है ? कोई चार घण्टे अधिक बैठ जाय तो इससे क्या होता है ? इस बातकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। इससे व्यर्थ अभिमान बढ़ता है।" इस समय आपने इनसे पूछा कि **'न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी सदा शून्यपरो भवेत्'** (योगीको ध्यानके समय कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए, सदा 'शून्यपर' रहना चाहिए) इस वाक्यमें 'शून्यपर' पदसे जान पड़ता है कि शून्यका ही चिन्तन करना चाहिए। सो, इस विषयमें आपका क्या मत है। इसपर स्वामी श्रीहीरादासजीने कहा, 'शून्यपर' का तात्पर्य है शून्यात् परः—शून्यसे अतीत अर्थात् शून्यसे अतीत जो शून्यका साक्षी है उसमें परिनिष्ठित रहे। आपको उनकी यह व्याख्या बहुत पसन्द आयी। उन्होंने आपको वैराग्य और भिक्षावृत्तिपर जोर रखनेको कहा तथा गृहस्थ और वैराग्यशून्य साधुओंकी सङ्गतिसे बचते रहनेका उपदेश दिया। वे बोले, "अब हरिद्वार-ऋषिकेश तो भोगभूमि हो गये हैं, तपोभूमि नहीं रहे; अतः अब उधर नहीं रहना चाहिए।

इसके पश्चात् समय-समयपर आपका श्रीहीरादासजीसे समागम होता रहा। उन्होंने महात्माओंको ममतासे बचते रहनेके लिए एक कुरुक्षेत्रकी घटना सुनायी थी। उन्होंने बताया कि एक महात्मा जहाँ-तहाँ जाते और कहते थे कि कहीं कब्र है कब्र। तब एक ज्ञानी गृहस्थने कहा कि कहीं मुर्दा है मुर्दा। महात्माजीने मुर्देकी तरह काष्ठमौन रहकर उस गृहस्थके घरके चौबारेमें आसन लगा दिया। एक रात उस घरमें चोर घुस आये। उस समय महात्माजी जगे हुए थे। उन्होंने चुपचाप चोरोंका पीछा किया। चोरोंने सारा माल-मता एक कुएँमें डाल दिया और स्वयं कहीं चले गये। महात्माजीने पहिचानके लिए उस कुएँके मार्गमें अपने गेरुए वस्त्रकी कतरनें डाल दीं और आकर अपने आसनपर विराज गये। दूसरे दिन सेठ और सेठानीने चोरीके लिए दुःख प्रकट किया तब महात्माजीने संकेत किया कि तुम्हारा सब माल सुरक्षित है। गेरुआ वस्त्रोंको देखते हुए एक कुएँपर पहुँचोगे, उसीमें सब माल पड़ा है। इस निर्दिष्ट मार्गसे जाकर उन्होंने अपना सब धन प्राप्त कर लिया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर महात्माजीसे पूछा कि कब्र सच्ची है या मुर्दा। इस घटनासे तो कब्र ही सच्ची सिद्ध हुई और मुर्दा

झूठा निकला। पता नहीं, ममताकी मार कहाँतक है, अतः सर्वदा सतर्क रहे।

अन्तिम समय उपस्थित होनेपर श्रीहीरादासजीने आदेश दिया कि मुझे हरिद्वार ले चलो। वहीं शरीर छूटेगा। भक्तोंने कहा, "भगवन्! गङ्गा तो भगवान्पुरमें भी है, फिर हरिद्वार जानेको क्या आवश्यकता है?" आप बोले, "तुम इस बातको क्या समझोगे, बस, ले चलो।" सेवकोंने आज्ञा-पालन किया। हरिद्वार पहुँचते ही आप ब्रह्मलीन हो गये। आप अजातिभिक्षु सन्तोंके सम्राट् और विरक्तोंके अधिनायक थे।

पूठमें

भगवानपुरके प्रायः आठ मील उत्तरमें पूठ है। इसका प्राचीन नाम पुष्पावती है। यहाँ आदिशङ्कराचार्यजीने तप किया था। आप भगवानपुरसे वहाँ पहुँचे तो आपको विचित्र वातावरण मिला। वहाँके साधु और गृहस्थोंमें इस बातको लेकर कि साधु बड़ा है या गृहस्थ एक प्रकारकी शास्त्रार्थकी चकचक चल रही थी। जब कोई साधु भिक्षाके लिए जाता तो उससे यही प्रश्न करते थे और इसका उत्तर लेकर ही भिक्षा देते थे। साधु कहते कि बड़े तो हम ही हैं, क्योंकि सब प्रकारके सुख त्यागकर अपना प्रत्येक क्षण भगवदार्थ ही अर्पण करते हैं और कण-कणमें भगवद्-रसका ही आस्वादन करते हैं। गृहस्थोंका पक्ष था कि सब आश्रमोंका आश्रय तो गृहस्थाश्रम ही है। इस आधारके बिना तो कोई भी आश्रम नहीं ठहर सकता। इसलिए सबका मूल होनेके कारण गृहस्थाश्रम ही बड़ा है। महीनोंसे यह पारस्परिक विवाद चल रहा था। दोनों पक्ष अपने-अपने आग्रहपर दृढ़ थे।

श्रीमहाराजजी जब माधूकरीके लिए गये तो इनसे भी यही प्रश्न किया गया। आपने अपने सन्तस्वभावसे गृहस्थाश्रमको ही बड़ा बताया। सुनकर लोगोंको प्रसन्नता हुई और बिजलीकी तरह सारे गाँवमें यह बात फैल गयी। सायंकालमें गाँवके लोग शास्त्रार्थके लिए एकत्रित हुए। श्रीमहाराजजी चुपचाप दोनों पक्षोंकी बातें सुनते रहे। अन्तमें सबने आपसे अपने विचार व्यक्त करनेका आग्रह किया। आप बोले, "मैंने तो प्रातःकाल ही कह दिया था कि गृहस्थाश्रम बड़ा है।" सुनकर साधु लोग चकित रह गये। आपसे आग्रहपूर्वक पूछा, "क्यों?" तब आपने बताया

कि गृहस्थाश्रम तो सभी आश्रमोंके लिए माता-पिताके समान है। अपनी सन्तानकी तरह सबका पालन-पोषण करता है। इसलिए हमारी तो यही दृष्टि होनी चाहिए कि वह हमारे माता-पिताके समान है। हाँ, गृहस्थोंकी अवश्य यही दृष्टि होनी चाहिए कि साधु सर्वत्यागी और भगवदनुरागी होनेके कारण हमारा आदरणीय है। हमें अवश्य उसका सत्कार करना चाहिए। साधुको दूसरोंसे आदर पानेकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। यह सरस समन्वययुक्त समाधान सुनकर सभीको सन्तोष हुआ।

गढ़मुक्तेश्वरमें

पूठसे प्रायः दस मील उत्तरमें गढ़मुक्तेश्वर है। यहाँ श्रीमहाराजजी समय-समयपर कई बार पधारे हैं। दण्डिस्वामी श्रीसोमतीर्थजी अधिकतर यहीं रहते थे। उनसे आपका बहुत प्रेम था। एक बार ब्रह्मर्षिदास नामके एक सन्त उनके पास ठहरे हुए थे।। तभी वहाँ आपकी चर्चा चली। उनके मनमें ऐसा संकल्प हुआ कि यदि श्रीमहाराजजी भी इस समय इधर पधारते तो बड़ा आनन्द होता। दूसरे दिन प्रातःकाल जब वे गङ्गातटपर गये तो उन्हें आपके दर्शन हो गये। दर्शन करते ही ये चरणोंमें गिर गये और रोने लगे। तब श्रीमहाराजजीने सिरपर हाथ फेरते हुए पूछा, "कहाँ ठहरे हो ?" इन्होंने कहा, "दण्डिस्वामी सोमतीर्थके पास।" आप बोले, "किसीसे हमारे आनेकी बात मत कहना।" तब इन्होंने कुछ निवेदन करनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर आप बोले, "हाँ क्या पूछना है, पूछो।"

ये बोले, "भगवन् ! मनकी चञ्चलताके विषयमें वीरवर अर्जुनने जो प्रश्न किया है वह तो सभी साधकोंका प्रतिनिधित्व किया है। कोई भी साधक इस विषयमें अपना अनुभव उन्हीं शब्दोंमें व्यक्त करेगा। तथा श्रीभगवान्‌ने भी उसका उचित उत्तर ही दिया है। किन्तु इसके सिवा यदि उसका कोई और सरल-सा मार्ग या समाधान हो तो बतानेकी कृपा करें।"

श्रीमहाराजजी हँसते हुए बोले, "बेटा ! जैसे जहाजके काकको बैठनेकी कोई दूसरी जगह न मिलनेपर वह अन्तमें जहाजपर ही आ बैठता है उसी प्रकार जब मनको भी कोई और अवलम्बन न मिले तो वह स्वयं शान्त हो जायगा। देखो, मनके आगे दो ही मार्ग हैं—एक विषय-

चिन्तनका और दूसरा ब्रह्मचिन्तनका। यदि वह ब्रह्मचिन्तनमें लगा रहे तब तो ठीक है; नहीं तो विषयचिन्तन ही करेगा। अतः उसे पुनः पुनः विषयचिन्तनसे हटाकर ब्रह्मचिन्तनमें लगाते रहना चाहिये। जब श्रुति कहती है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन'**[1] तो बार-बार इसीका विचार करना चाहिए। इसकी दृढ़ता हो जानेपर फिर भला विषयचिन्तन कैसे हो सकता है ?"

फिर इन्होंने रोते-रोते साष्टांग प्रणाम किया। तब श्रीमहाराजजी बोले; "बेटा तुम इस तरह गिरकर प्रणाम क्यों करते हो ?" इन्होंने बड़े विनम्र शब्दोंमें हाथ जोड़कर कहा, "आप जैसे गुरुजनोंके अकुतोभय श्रीचरणोंमें गिरकर ही यह सिर संसारके सामने उठ सकेगा। अन्यथा इसे कुचल देनेके लिए सारा संसार कटिबद्ध-सा है। आज तक ऐसा कौन व्यक्ति हुआ है जिसका सिर संसारवालोंने कुचलना नहीं चाहा। संसारके सामने तो वही सिर उठ सकता है जिसपर आप-जैसे गुरुजनोंका वरदहस्त अभय मुद्राके सहित सुशोभित है।"

एक बार इन्होंने पूछा, "महाराजजी ! हम लोग जो घरबार छोड़ कर चले आते हैं क्या यही वैराग्यका स्वरूप है या कुछ और भी है ?" आप बोले, **'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'**[2] इस वाक्यकी अपरोक्ष अनुभूति जब भगवान् बुद्धकी तरह पद-पदपर होने लगे तब समझना चाहिए कि सच्चा वैराग्य हुआ। यदि ऐसा न हो तब तो वैराग्यकी विडम्बना ही समझनी चाहिए। यह तो वैराग्यका केवल औपचारिक ढङ्ग है।"

फिर इन्होंने प्रश्न किया, "हम लोग जो रात-दिन कथा-कीर्तनको ही महत्त्व देकर उसीमें लगे रहते हैं क्या यही भक्तिका शुद्ध स्वरूप है।?" इसपर आपने कहा, "नहीं, यह तो बहुत सामान्य कोटिकी बात है। इसे तो वैधी भक्ति कहते हैं। भक्तिका शुद्ध स्वरूप तो भगवान् शंकराचार्यने यह बताया है—

स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः॥

अर्थात् अपने स्वरूपकी खोज करना भक्ति कहलाता है। तथा अन्य

१. यह सब निश्चय ब्रह्म ही है, यहाँ नाना कुछ नहीं है।

२. जन्म, मृत्यु, जरा और रोगके दुःख और दोषोंको निरन्तर देखना।

लोगोंका कथन है कि अपने आत्माके तात्त्विक स्वरूपको खोजना भक्ति है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

फिर ये बोले—महाराजजी! ज्ञानकी केवल बड़ी-बड़ी बातें बनाना ही ज्ञानकी परिभाषा है अथवा किसी स्थितिविशेष या अनुभूतिकी अपेक्षा है?

श्रीमहाराजजी बोले—

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा॥

भैया! मोक्ष तो ब्रह्म और आत्माकी अभिन्नताका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। योग, सांख्य, कर्म अथवा किसी भी अन्य विद्यासे मुक्ति नहीं हो सकती। देखो, मनुष्यमें जो भी कला-कौशल, वाणीकी प्रखरता अथवा विद्या आदि चमत्कारी गुण होते हैं वे सब तो उसके भोगके साधन ही हो सकते हैं, मोक्षके कदापि नहीं हो सकते। ज्ञानका वास्तविक स्वरूप तो है स्वस्वरूपस्थिति—**'स्वस्वरूपावस्थानं ज्ञानमित्यभिधीयते।'** ब्रह्मादि नित्यसिद्ध भी बिना स्वरूपावस्थानके आधे क्षण भी नहीं रहते। अतः सदैव स्वस्वरूपस्थितिपर ध्यान रखना चाहिए।

दारानगर-गंजमें

एकबार आप जिला बिजनौरमें दारानगर-गंज गये। वहाँ सन्तोंमें परस्पर सत्सङ्ग हो रहा था। एक सत्सङ्गीने आपसे प्रश्न किया कि जो लोग बोध हो जानेपर वर्णाश्रम धर्मको त्याग देते हैं उनके विषयमें आपका क्या मत है? आपने कहा, यद्यपि ज्ञानीके लिए शास्त्रका कोई शासन नहीं है, तथापि यह तो नियम ही है कि बोधकी प्राप्ति अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही होती है। एक बार यहाँ श्रीमाधवानन्द सरस्वती आदि कई महात्माओंके सामने इस विषयमें विचार हुआ था। वहाँ अधिकांश महात्माओंका यही मत ज्ञात हुआ कि दैवी सम्पत्ति तो महात्माओंमें स्वभावसे ही रहा करती है, क्योंकि बिना निष्काम कर्मके चित्तशुद्धि नहीं होती और निष्कामकर्म दैवीसम्पत्तिवान् ही कर सकता है। ज्ञानी तो चारों ही आश्रमोंमें होते हैं। जो व्यक्ति किसी आश्रमविशेषमें रहते हुए भी उसके नियमोंका उल्लङ्घन करता है वह तो तमोगुणी ही है। आदर्श तो ऋभु, निदाघ और वामदेव आदिके चरित्र ही हैं। मेरा तो यही

सिद्धान्त है कि पूर्ण तत्त्ववेत्तामें दैवीसम्पत्तिकी ही प्रधानता होनी चाहिए; जैसा कि कहा है—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम् ।
निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणं च ॥[1]

यदि अद्वैष्टृत्वादि गुण बोधवान्में नहीं होंगे तो किसमें होंगे । स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतके लक्षण ज्ञानीमें स्वभावतः होते हैं ।

दारानगरसे गङ्गापार करके आप शुकताल गये । वहाँ एक भागवती पण्डित श्रीदेवकीनन्दनजीसे आपने श्रीमद्भागवतका सप्ताहपारायण सुना । सप्ताह समाप्त होनेपर आपको श्रीशुकदेवजीके दर्शन भी हुए ।

हरिद्वार और ऋषिकेशमें

इसी प्रकार अनेकों महात्माओंसे मिलते और उनका सत्सङ्ग करते आप ऋषिकेशतक गये । हरिद्वारमें योगिराज श्रीसियाराम परमहंस आदिसे तथा ऋषिकेशमें नैपालीबाबा स्वामी अनन्तानन्दजी और विरक्तशिरोमणि स्वामी मङ्गलनाथजी आदि प्रमुख सन्तोंसे मिले । इससे आगे जानेका आपका विचार नहीं था । कहते थे कि बद्रिकाश्रम जाकर फिर क्या लौटना ? तबसे आप अधिकतर कानपुर और लक्ष्मणझूलाके मध्यवर्ती गङ्गातटपर विचरते रहे । एक दिन आप स्वयं कह रहे थे कि काशीसे लक्ष्मणझूलातक तो हमारा घर हो गया है । यहाँ कहीं छिपकर नहीं रह सकता ।

भजनके विषयमें आप कहते थे कि भगवद्भजनसे ही दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है तथा भजनसे ही अष्टसिद्धियाँ और निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है । यदि तुम भक्तिमार्गमें हो तो यह सब भगवान्की सृष्टि है, इसलिए तुम किसीकी निन्दा नहीं कर सकते । और यदि ज्ञान मार्गमें हो तो यह अपनी ही सृष्टि है, फिर अपनी ही बुराई तुम कैसे करोगे ? अतः दोनों ही मार्गोंमें दूसरेकी निन्दा करनेका अवकाश नहीं है । एकबार मैं कुछ आदमियोंके साथ ऋषिकेश गया था । वहाँ झाड़ियोंमें एक उच्चकोटिके सन्त रहते थे । वे बड़ और पीपलके पत्ते इकट्ठेकर उनपर कोयलेकी स्याही और सरकण्डेकी कलमसे भगवन्नाम लिखते रहते थे । वे कहीं भी जाते-

---

१. अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रिय होना, निर्लोभता, दानशीलता, निर्भयता और शोकहीनता—ये दश लक्षण ज्ञानके चिह्न हैं ।

आते नहीं थे। एक दूसरे महात्मा उनके लिए क्षेत्रसे भिक्षा ले आते थे। मैंने उनसे पूछा कि भजन करना कब छोड़ दे ? उन्होंने कहा, "जब भजन करनेकी शक्ति न रहे।" अर्थात् जब इष्टदेवमें मन इतना डूब जाय कि कोई चेष्टा करनेकी शक्ति न रहे। यह है भजनकी अवधि। आजकल तो बिना कुछ किये ही कृतकृत्य हो जाते हैं। तुमसे यदि पाठ किये बिना न रहा जाय तो समझो कि पाठ ठीक है। और यदि कीर्त्तन किये बिना न रहा जाय तो यही असली कीर्तन है। यदि ध्यान तुम्हारा आहार होगा तो यह आहार कम हो जायगा। जब श्रीभगवान्‌का अनुराग होगा तो भूख कहाँ लगेगी ? दुनियाका चिन्तन छुटा और भगवच्चिन्तन होने लगा कि मुक्ति हुई। भगवत्स्मरण और भक्तोंका सङ्ग करना ही मुख्य कर्तव्य है। भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर मन, वाणी, शरीर और श्वास सब स्थिर हो जाते हैं।

: १० :

पूज्य बाबा और उनका बोध

उपोद्घात

श्रीभगवान्‌की असीम अनन्त कृपा है कि उन्होंने हमें उस समय जन्म और होश दिया जब सारा भारत एक स्वर, एक प्राण और एक मनसे जग उठा था, तथा अपने बन्धनोंको तोड़कर स्वतन्त्रताकी क्रान्तिमें संलग्न था। उस समय निष्काम देशभक्ति और रामनामकी महिमा महात्मा गांधीजीके जीवनके माध्यमसे भारतके हृदयमें अवतीर्ण हो रही थी। तब मुझे यह निश्चय हुआ कि भगवान्‌का रसावतरण सत्य-त्रेता आदि युगोंमें ही सीमित नहीं है, वह सभी समय हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि गङ्गाका अवतरण जैसे भगवान् शिवके जटाजूटसे ही होता है, वैसे ही नित्यावतार शिव-हरिस्वरूप सन्तोंके जीवनसे ही इस वसुन्धरा पर भगवदीय रसका अवतरण होता है और आगे भी होगा। यह रसावतरण जिन-जिनके जीवनमें हुआ और जिन्हें उनके श्रीचरणोंमें इस रसकी अनुभूति हुई उनके लिए तो वे साक्षात् भगवत्स्वरूप ही हुए तथा दूसरोंने उन्हें महापुरुष माना। वास्तवमें तो परमपुरुष ही महापुरुष-रूपसे अवतीर्ण होते हैं। इसलिए **'एकोऽहं बहु स्याम'** यह वाक्य सतत सरस आनन्दके अनन्त प्रवाहका उद्घोष करता है। जैसे गङ्गाजीकी धारा निरन्तर अपनी माधुरीकी महिमामें प्रवाहित है वैसे ही श्रीअनन्त प्रभुकी मधुधारा भी अनवरत बह रही है। तब तो यही कहना पड़ेगा कि **'सकल पदारथ हैं जग माहीं। करमहीन नर पावत नाहीं॥'**

मेरी लालसा

मैं जब 'बाल भक्तसमाज' नामकी संस्थामें था तभी श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द और गौराङ्ग महाप्रभु आदि भगवदीय रसावतारोंकी लीला-रसानुभूतिका अध्ययन करने लगा। मैंने अनेकों प्रवचन सुने तथा नाटक देखे। चित्तमें यह उत्कण्ठा थी कि क्या कभी ऐसे भगवत्स्वरूप महापुरुष मिलेंगे, जिन्होंने सभी देवी-देवताओंका साक्षात्कार किया हो और जो

उनके दर्शन करा भी सकते हों। क्या कभी श्रीशङ्कराचार्यकी चमत्कृत करनेवाली बुद्धि, भगवान् बुद्धका प्राणिमात्रके प्रति अत्यन्त प्रेमपूर्ण हृदय और श्रीरामकृष्ण परमहंसकी सर्वमतसमन्वयकारिणी विविध भगवदीय अनुभूतियाँ क्या हैं—इसका रहस्योद्घाटन करनेवाले महापुरुष मिलेंगे ? आधुनिक समाज आश्चर्यचकित होकर जिसे अपने बल-बूते और बुद्धिसे बाहर समझता है उसका साक्षात् अनुभव करा देनेवाले क्या कभी मिलेंगे ? स्वामी विवेकानन्दजीने अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्दजीसे कहा था, "मैंने दिखा दिया है कि भारतका क्षत्रियत्व क्या है। अब तुम जाओ और अपने जीवनद्वारा भारतके ब्राह्मणत्वकी महिमाको उद्घाटित करो।" भारतीय संस्कृतिके ये ही दो उच्चतम शिखर हैं। फिर मनमें यह उत्कट अभिलाषा हुई कि क्या कभी ऐसा शुभ दिन आवेगा कि इस महान् वैभवको अपने जीवनमें देखूँगा और इसका आस्वादन कर सकूँगा ? फिर गौराङ्ग महाप्रभुकी दिव्य लीलाओंका अनुसन्धान करके चित्तमें निरन्तर यही चाह चली कि क्या कभी ऐसा शुभ दिन होगा जब ऐसी कृष्णरसभाविता मति मिलेगी ? क्या वह मनोहर मुसकान, क्या वह अलौकिक शोभा, क्या वह श्रीकृष्णचरणके दर्शनमात्रसे अपूर्व पूर्वराग, क्या वह हृदयविदारक विरह और क्या वह मिलनका उत्कट आनन्द कभी हमें भी अनुभव होगा ? क्या हमारा हृदय भी ऐसा सौभाग्यशाली होगा कि वह इस रसवैचित्र्यकी रसानुभूति करके भाव-महाभावादि रसक्रीडाओंका प्राङ्गण बन जायगा ? मनमें विश्वास था कि प्रभु अवश्य कृपा करेंगे और ऐसे उदारचूडामणि रसिकचरणोंकी छाया अवश्य प्राप्त होगी।

हरिधामकी ओर

चित्त इसी प्रकार दोलायमान-लोलायमान हो रहा था कि प्रभुकी अहैतुकी कृपासे सन्तशिरोमणि श्रीदासशेषजीके, उनकी भावावेशकी दशामें, दर्शन हुए। उनकी कृपाकटाक्षसे श्रीराधा-कृष्णयुगलके सौन्दर्य-माधुर्यके रसविशेषका एक विन्दु मिला। उससे यह स्पष्ट अनुभव हो गया कि श्रीभगवान्के नाम, रूप, लीला और धाम नित्य हैं तथा नित्यावतार सन्तोंमें अवतरित होकर अगणित प्राणियोंको अनन्त गुणगणनिलय भगवान्की ओर आकर्षित करते हैं। उनके नेत्रोंको उनकी ओर उल्टा देते हैं और हृदयोंमें मिलनकी तड़प उत्पन्न कर देते हैं। सन्तरसानुभूतिका यह ध्रुव सत्य है।

वह सौन्दर्य बड़ा ही अद्‌भुत है। वह न कहनेमें आता है न सुननेको मिलता है। वह मिलता है केवल सन्तोंके कृपाकटाक्षसे। तब यह तड़प चालू हुई कि अभी यह रस और मिलेगा। तभी उन पितृतुल्य आचार्यचरण सन्तने पूज्य श्रीमहाराजजी और श्रीहरिबाबाजीके नाम लिए। फिर उन्हींकी महती कृपासे इन दोनों महापुरुषोंकी दिव्य झाँकी मुझे हरिधाम बाँधपर हुई। बस—

बरनि न जाय मनोहर जोरी। सोभा अमित मोरि मति थोरी॥

क्या कहें? वास्तवमें यह श्रीमहाराजजीके रूपमें ज्ञानरससागर सर्वात्म-विहारका सुमधुर भावरससागर गौरहरिमूर्त्तिसे अपूर्व मिलन था। ऐसा लगता था कि वहाँ ब्रह्मद्रवा और प्रेमद्रवामें बाढ़ आ रही थी। उसमें अनेकों तरङ्गमालाएँ उछल रही थीं। उन तरङ्गोंमें भक्तवृन्द उस रसपानसे उन्मत्त होकर उछल-कूद कर रहे थे, और उसे पी-पीकर उन्मत्त हो रहे थे—

'सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकहुं बाधा॥'

उन युगल-चरणोंमें रहते हुए उस महत् रसावतरणकी बाढ़ोंमें हम भी श्रीदासशेषजीकी कृपा और महिमाकी सराहना करते हुए रसपान करने लगे। श्रीमहाराजजीके श्रीचरणोंकी छत्रच्छायामें रहते हुए एक दिन उन्हें प्रसन्न मुद्रामें देखकर मैंने यह प्रश्न किया, "श्रीरामकृष्ण परमहंसने इतने देवी-देवताओंका साक्षात्कार किया—ऐसा किस प्रकार हो सकता है? और इसका क्या रहस्य है?" करुणावरुणालय सरकार उस समय किसी मस्तीमें थे, अतः अपनी असलियत कह उठे, "किसी भी विषयका ध्यान करते हुए एक बार त्रिपुटीका लय हो जानेपर जब चाहें तभी किसी भी विषयमें ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है। लाओ, कोई भी किसी भी कोनेमें हों, मैं उन्हें बुला सकता हूँ।" इसका आशय यही था कि मनुष्य हो या देवता, जिसे कहो उसे ही आप बुला सकते थे। आपकी यह महिमा आगे चलकर हमें स्पष्ट अनुभवमें आयी। उनका सर्वात्मप्रेम और प्राणिमात्रपर दया, जो मानवमात्रको मुग्ध करनेवाली श्रीबुद्धभगवान्‌के हृदयकी विशालता, गम्भीरता और करुणाकी द्योतक थी उसका रहस्यमय रसोल्लास आपकी लीलाओंमें पाया गया। अनन्तके हृदयमें कैसी अगाध करुणा है वह यहीं देखनेको मिली। फिर आपने कहा कि ईश्वरसे बुद्धि माँगनी चाहिए, दर्शन नहीं। आपकी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी महिमा देखकर अगणित प्राणी आश्चर्यचकित हो जाते थे। उस समय बड़े-बड़े विद्वान् दाँतोंके तले अँगुली दबाते थे। उसे देखकर

भगवत्पूज्यपाद आचार्य शङ्करके अद्भुत अगाध बुद्धिवैभवकी क्या विलक्षणता है—यह अनुभवमें आ जाती थी। भगवान् शङ्करकी जो सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वक आत्मनिष्ठा, ज्ञानकर्मसमुच्चयखण्डन, निर्द्वन्द्व सर्वात्मविहार और कर्म, ज्ञान एवं भक्तिका सम्यक् प्रतिपादन एवं परिपोषण था वह सब हमें श्रीमहाराजजीमें मिला। यही नहीं, उन्होंने तो हमें इन साधनोंका फलप्रदान भी स्वयं ही किया। भगवान् बुद्धके हृदयकी करुणा और श्रीरामकृष्ण परमहंसके विविध देवदर्शनका गुप्त रहस्य भी उनके जीवनकी लीलाओंमें पाया गया। हमारे लेनेमें ही सामर्थ्यकी कमी थी, वे तो देनेमें भरपूर थे।

पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी

पूज्य श्रीहरिबाबाजीकी ओर देखते हैं तो मालूम होता है कि उनके नेत्र यों ही पृथ्वीकी ओर लगे हुए नहीं हैं, उसमें भी एक विचित्र रस-माधुरी है। जान पड़ता है, साक्षात् महाप्रभु ही इस सबमें आँख-मिचौनीका खेल खेल रहे हैं। कोई यह जान न ले कि इनके नेत्र तो महाप्रभुजीके नेत्रोंसे अभिन्न हो रहे हैं, इसलिये उन्हें मुदा रखते हैं, क्योंकि भावोंको तो नेत्रोंसे ही ताड़ा जाता है। इन्हींके द्वारा हृदयमें लहराते हुए रस-सौन्दर्यकी झाँकी मिल सकती है, इन्हींसे प्रेमकी माधुरी छकी जा सकती है और रूपरससागरकी लहराती हुई लहरोंके छींटे मिल सकते हैं। इसलिए सरकार ऐसे चतुरचूडामणि हैं कि हर समय आँखोंको बन्द रखते हैं। परन्तु कबतक छिपायेंगे? इनकी तप्तसुवर्ण-जैसी गौर कान्ति नित्य-नूतन जान पड़ती है। ऐसा लगता है कि यह आपका शरीर नहीं, श्रीमन्महाप्रभुका देदीप्यमान हेमाम्बर लहरा रहा है। अथवा इस रूपमें प्रेम ही प्रस्फुट प्रवाहित हो रहा है। उन्हींके समान आपके द्वारा नामामृत-सिन्धु निनादित तथा भावरससागर उच्छलित हो रहा है। श्रीराधा-माधवके केलिकलाप तथा मधुररस आपके जीवनमें उल्लसित हो रहे हैं, क्योंकि श्रीराधाकृष्ण मधुररस ही श्रीमन्महाप्रभुका हृदयधन और जीवनरस है। श्रीगोपीजनके हृदयप्राङ्गणमें जैसे श्रीकृष्ण नाच उठे हैं वैसे ही इनके हृदयस्तलमें नदियानागर श्रीगौरहरि नृत्य कर रहे हैं, खेल रहे हैं और बोल रहे हैं। उन्होंने वहाँ परिकरसहित नित्य होली मचा रखी है। भाई! क्या कहें, दोनोंके हृदय, प्राण और मन एक हो रहे हैं। ये नाममात्रके दो हैं, वास्तवमें एक ही हैं। 'हरि बोल' ही

दोनोंका स्वर और जीवनसङ्गीत है। वह गर्ज-गर्जकर आकाश-पातालको आक्रान्त कर रहा है।

आपने जो बाँध धाम प्रकट किया है वह रसधाम नवद्वीप ही है। इसके अन्तर्भूत ही द्वारिकाधाम है। अन्तर केवल इतना है कि रणछोड़रायने द्वारिकाको समुद्रके वक्षःस्थलपर खड़ा रखा और इन्होंने श्रीभागीरथीकी छातीपर बाँधकी सृष्टि की। इसका कण-कण भगवन्नामसे ओत-प्रोत है। वास्तवमें धाम और धामी दो नहीं होते—ऐसा उनके प्रेमी भक्त कहते हैं और मैंने स्वयं भी वर्षों अनुभव किया है। पूज्य बाबा भी कहते हैं, "बाँधको साक्षात् भगवान्का स्वरूप समझो। इसका प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्का नाम निरन्तर उच्चारण करते रहो। जो कोई भी बाँधकी सेवा करेगा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थ प्राप्त होंगे। त्रिविध तापोंसे जलते हुए व्यक्तिओ! आओ—तन, मन, धनसे बाँधकी सेवा करो। तुम्हारी सब मनोकामनाएँ पूरी होंगी।"

यह तो हुई धाम और धामीकी बात; नाम और नामी भी एक ही हैं। इस विषयमें आपकी गर्जना है—

न नामसदृशं ज्ञानं न नामसदृशं व्रतम्।
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम्॥
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशः शमः।
न नामसदृशं पुण्यं नामसदृशी गतिः॥
नामैव परमा मुक्तिर्नामैव परमा गतिः।
नामैव परमा भुक्तिर्नामैव परमा स्थितिः॥
नामैव परमा भक्तिर्नामैव परमा मतिः।
नामैव परमा प्रीतिर्नामैव परमा स्मृतिः॥
नामैव कारणं जन्तोर्नामैव प्रभुरेव च।
नामैव परमाराध्यो नामैव परमो गुरुः॥

इसलिए 'हरि बोल' और हरि भगवान् दो नहीं, बिलकुल एक हैं। आप इस नामकीर्तनका स्वरूप स्वयं बता रहे हैं—"भाई, यह कीर्तन तो बड़े रसकी वस्तु है। यह तो हृदयका अमूल्य धन है। जबतक हम सबके मन एक नहीं होंगे तबतक कीर्तन नहीं बन सकता। कीर्तनमें तो यही पक्की शर्त है कि यदि एक मन, एक प्राण, एक भाव, एक इष्ट, एक नाम, एक स्वर, एक ताल और एक हृदयसे एक-सौ तड़पवाले



पूज्यपाद श्रीहरिबाबा जी

पाँच व्यक्ति भी मिलकर कोई संकल्प करें तो वह तत्काल सिद्ध हो जायगा। ऐसी अवस्थामें कोई भी साधन करो वह सफल ही होगा। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि 'पाँच पञ्चपरमेश्वर' की कहावत बिलकुल सत्य है हमारा संकल्प बिलकुल एक होनेसे ईश्वरकी पूरी शक्ति हमारे भीतर आ जायगी। हम उसे जानें चाहे न जानें। जब हमारे मनोंमें कुछ भी अन्तर होगा तो हमें उतना ही अन्तर अपने तन, मन, समाज और सारे जगत्‌में दिखायी देगा। इसलिए हम लोगोंको बहुत सावधान रहना चाहिए। इनमें सबसे वड़ा विघ्न स्वतन्त्रता है। हमारा कोई भी संकल्प, कोई भी चेष्टा स्वतन्त्र नहीं होनी चाहिए। यदि तुम्हारा संकल्प एक होगा तो तुम जो भी चाहोगे तत्काल सिद्ध हो जायगा।"

आपके सङ्कीर्तनमें मुख्य बात यह है कि उसमें किसी भी प्रकारके जाति या वर्गभेदको स्थान नहीं है। बस—**'हरिको भजै सो हरिका होइ। जाति-पाँति पूछै नहि कोइ।'** उसमें भावके साथ ताल-स्वरका भी पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। उसे आप अपने रङ्गसे रँगते हैं, अपने रससे सींचते हैं और अपने उत्साहसे उत्साहित करते हैं। क्षण-क्षण और पग-पगपर महान् उत्साहसे अग्रसर होते हैं। ताल मिलाते, स्वर मिलाते और हृदयसे हृदय मिलाते हैं। उसमें माधुर्यकी अपेक्षा उत्साह और उद्घोषकी प्रधानता रहती है। जिसके सामने जीवोंके पाप-ताप और दुःख-दोष ठहर नहीं सकते। लोग भाव-विभोर होकर उद्दाम नृत्य और उच्चस्वरसे रुदन करने लगते हैं। आप बीचमें घण्टाघोष करते हुए सबके भावोंका सञ्चालन करते हैं और स्वयं सब कुछ करते हुए भी निःस्पन्द भावमें स्थित रहते हैं।

आप क्या हैं

आप क्या हैं—इस विषयमें विचार किया जाय तो आपमें श्रीहनुमान्‌जीकी यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। श्रीरामचन्द्रजीके यह पूछनेपर कि तुम क्या हो, पवननन्दन कहते हैं—

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥[1]

ज्ञान, भक्ति और कर्मका सन्तुलित संस्पन्दन ही इन निःस्पन्द-सस्पन्द

१. मैं देहबुद्धिसे तो आपका दास हूँ, जीवबुद्धिसे अंश हूँ और वास्तवमें तो आप ही हूँ—यह मेरा निश्चित मत है।

ब्रह्मकी रसवैचित्र्यी है। बाँधवो देखकर यह स्पष्ट अनुभव होता है कि—**'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त'** इस सन्तवचनकी ही यह व्याख्या है। इनकी चाल क्या है—इस विषयमें विचार करें तो कहना होगा कि आपमें सिद्धि पहले है, साधन पीछे हैं। आपके जीवनमें यह स्पष्ट देखा गया है कि सिद्धि मिलनेमें जो हर्ष, उमंग और उत्साह जगता है उससे भी अनन्तगुणित उमङ्ग, उत्साह और हर्ष आपके साधनमें रहते हैं। तथा यही आपका कथन भी है। आपकी दृष्टिमें नाम ही साध्य है और नाम ही साधन है। समुद्रको रत्नाकर कहते हैं। आपकी दृष्टिमें नाम ही अनन्त-रस-सागर है, जिसके गर्भमें अनन्त नाम, रूप, लीला और धाम विद्यमान हैं। अतः किसीकी रसनापर नाममहाराजका अवतरित होना भगवान्‌की महती कृपा ही है। और यदि वही हरिनाम हृदयकुहरसे हरि-हरि करता फूट निकले तब तो कहना ही क्या है? नामावतरणके साथ आपके हृदयमें नामावतार श्रीगौराङ्गदेव भी आविर्भूत हुए। फिर तो उसके साथ 'हरि बोल' का स्पष्ट उद्‌घोष चालू हो गया। अन्तस्तलमें नित्यलीलाकी हरियाली छा गयी। वह प्रिया-प्रीतमकी नित्य क्रीडाका नित्य-निकुञ्ज ही बन गया। ब्रह्मभूमिमें जो वृक्ष विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वररूपसे निरन्तर हरियालीसे लहरा रहा था उसकी डालियाँ केवल राम और कृष्ण इन दो सरस फलोंको लेकर झुकी हुई हैं। वे ही हरि-हरि रूप रसधारा होकर आपके हृदयमें फूट निकले। यह हरि-हरिका अवतरण ही अनन्तरसका अवतरण है, क्योंकि जैसे अद्वैत-वादियोंकी दृष्टिमें एक आत्मा ही सार है उसी प्रकार हरि ही सार हैं अष्टादश पुराणोंके, अवतारोंके और परम वैष्णव आचार्योंके। इस हरि नाममें अनन्त हरि निहित हैं। यह 'हरि बोल' क्या हुआ मानो इस रूपमें विशिष्टाद्वैतकी श्री, अचिन्त्य भेदाभेदका विलक्षण रसवैचित्र्य और अविकृत परिणामके विशुद्ध ब्रह्मसम्बन्धकी माधुरी ही महँक उठी। अतः हरि बोल, हरि भगवान् और हरि बाबाजी एक एवं अद्वितीय ही हैं।

भक्ति-भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नासत विघ्न अनेक॥

बाबाके यहाँ खण्डन किसीका नहीं होता। वहाँ तो एक ही बात है। अनन्तरससागरमें डूबो-डूबो। यह नाम और श्यामका रङ्ग ऐसा है कि इसमें जो जितना डूबता है। उतना ही निखरता है—**'ज्यों-ज्यों डूबे स्याम रङ्ग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।'**

अद्वैतमें द्वैत

आपके श्रीचरणोंमें रहकर यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि यह भक्तिरस-मूर्त्ति अद्वैतके पर्देपर ही चित्रित है, अनन्तशिलापर घटित है। आपमें इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्टतया चरितार्थ होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥१॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोहमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥२॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत् सा तु मुक्तिशताधिका ॥३॥[1]

(बोध सार)

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥[2]

इस रसानुभूतिका चित्तमें कैसे आविर्भाव हो—इसके लिये आप नित्यप्रति भागवतके इन दो श्लोकोंकी व्याख्या किया करते हैं—

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥

---

१. ज्ञान होनेसे पहले तो द्वैत मोहका कारण होता है, किन्तु जब विवेकवती बुद्धिसे ज्ञान प्राप्त हो जाय तब तो भक्तिके लिये कल्पना किया हुआ द्वैत अद्वैतसे भी सुन्दर होता है ॥१॥ जब समत्वरसमय आनन्दकी उपलब्धि हो जाती है तब तो पति-पत्नीके समान परस्पर सखाभावसे स्थित जीवात्मा और परमात्माके लिए द्वैत भी अमृतके समान हो जाता है ॥२॥ यदि परमार्थ दृष्टिसे अद्वैत और भजनके लिये द्वैत रहे तो ऐसी भक्ति होनेपर तो वह सौ मुक्तियोंसे भी बढ़कर है ॥३॥

२. शुद्ध बुद्धिके द्वारा भेदके निवृत्त हो जानेपर विश्वपति भगवान्‌का भाव और भक्तिके साथ पूजन करना चाहिये, जैसे परस्पर चित्त मिल जानेपर भी चतुर पत्नीको अपने प्राणपतिके दर्शन घूँघटकी ओटसे ही करने चाहिये।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसदभिनिवेशतः ॥[1]

(११।२८।१,२)

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः ॥
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥[2]

(११।२९।२२,२३)

इतना ही नहीं आप अर्थानुसन्धानपूर्वक यह जप भी कराते हैं—'**सपनेहुं नहिं देखे पर दोषा ।**' इसके लिए आपने हरिवंश खण्डकी यह प्रार्थना भी दी है—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलःप्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथोधिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजमावेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥[3]

दूसरोंके स्वभाव और कर्मकी बात तो अलग रही आप तो अपनी आँखोंके सामने रहनेवालोंकी ओर भी दृष्टि नहीं डालते । जो लोग सदैव समीप ही रहते हैं, कभी-कभी उन्हें भी नहीं पहचान पाते । एक बार माँ श्रीआनन्दमयीके यहाँ भोजमें जानेवाले महात्माओंकी सूची बनी । आपने कहा, 'कौन-कौन जा रहे हैं, सुनाओ ?" पहला नाम था 'सुखराम ।' आपने पूछा, "सुखराम कौन है ?" लोगोंने कहा, "यह तो पूज्य महाराजजी (श्रीउड़ियाबाबाजी) का परम सेवक है और सर्वदा यहीं रहता है ।" तब आपने सुखरामको पास बुलाया और

---

१. प्रकृति और पुरुष दोनों दृष्टियोंसे इस विश्वको एक रूप देखनेवाला मुनि दूसरोंके स्वभाव और कर्मोंकी न तो प्रशंसा करे और न निन्दा ही करे । जो मष्नुय दूसरोंके स्वभाव और कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा करता है वह तत्काल अपने कल्याणरूप स्वार्थसे च्युत हो जाता है ।

२. गुण और दोष दोनोंसे रहित समदर्शी मुनि किसीके अच्छा या बुरा करने या बोलनेपर उसकी प्रशंसा या निन्दा न करे । इस लोकमें बुद्धिमानोंकी बुद्धि और विवेकियोंका विवेक यही है कि इस असत्य और नाशवान् शरीरसे सत्य और अविनाशी पदको प्राप्त कर ले ।

३. सम्पूर्ण विश्वका कल्याण हो, दुष्ट लोग अपनी दुष्टता छोड़कर शान्त हों, समस्त प्राणी बुद्धिसे एक-दूसरेका हितचिन्तन करें । हमारा मन शुभ मार्गमें प्रवृत्त हो और हमारी बुद्धि निष्काम भावसे भगवान् श्रीहरिमें लगे ।

आँखें खोलकर देखा। उनके सिरपर हाथ फेरा। कहनेका तात्पर्य यह है कि आपके चित्त और नेत्र श्रीमन्महाप्रभुमें ऐसे उलझे हुए हैं कि बाहर दृष्टि ही नहीं जाती।

भगवान कैसे मिलते हैं

भगवान् किसको किस प्रकार मिल सकते हैं—इस विषयमें आपका कथन है कि श्रीभगवान् तो पतितपावन हैं, परन्तु हम पतित नहीं बनते। वे तो दीनबन्धु हैं, पर हम दीन नहीं बनते। किन्तु जबतक हम दीन नहीं बनेंगे दीनबन्धुके दरबारमें नहीं पहुँच सकेंगे। जिस हृदयमें जाति, विद्या, कुल, रूप, यौवन, धन अथवा बल आदि कण्टक विद्यमान हैं उसमें अत्यन्त सुकुमारिणी भक्ति महारानीका पदार्पण कभी नहीं हो सकता। वे तो उस हृदयमें पधारती हैं जो तृणसे भी नीच और वृक्षसे भी अधिक सहनशील होकर तथा स्वयं निर्मान और दूसरोंको मान देनेवाला होकर सर्वदा श्रीहरि-नाम-सङ्कीर्तन करता है। दीन वही है जो अपने बन्धनोंसे दुखी है।

आप अपनी रसास्वादनकी उत्कण्ठाके अभिवर्धनके लिए ही क्रान्तिकारी आत्मनिरीक्षण, पश्चात्ताप और दैन्यका बार-बार आश्रय लेते हैं और अपने परिकरके सामने उसे व्यक्त भी करते हैं। आप कहते हैं, 'भाई, हमारा सारा जीवन व्यर्थ चला गया। अभीतक हमें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए आज खूब रोओ। आज इतने रोओ कि या तो भगवान् प्रकट हो जायँ या रोते-रोते शरीर नष्ट हो जाय। इस प्रकार भगवत्प्राप्ति किये बिना जीनेसे तो मर जाना ही अच्छा है। हम लोगोंमें सबसे बड़ा दोष तो यही है कि हम थोड़ी-सी बातमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वास्तवमें तो हमारा लक्ष्य बहुत दूर है। अभी तो उसमें हमारा रञ्चकमात्र भी प्रवेश नहीं हुआ। और हम मान बैठे हैं अपनेको कृतकृत्य। अहो! कितना बड़ा आश्चर्य है कि अनादि कालसे विषयोंका सेवन करते हुए भी हम सर्वदा उनसे अतृप्त रहते हैं, किन्तु परमार्थमें तो दो-चार उल्टे-सुल्टे भगवन्नाम लेनेसे ही अपनेको पूर्ण तृप्त मान लेते हैं। यदि भगवत्कृपासे किसी महात्माका आश्रय मिल जाता है तब तो हम और भी आलसी और निकम्मे हो जाते हैं। मैं तो भाई! शपथ खाकर कहता हूँ कि मेरे भरोसे रहकर तुम साधनसे भ्रष्ट रह गये हो। अतः अब मुझे तुम्हारा साथ करनेसे प्रसन्नता नहीं होती। सो अब या तो

कोई करतूत करके दिखाओ, नहीं तो सदाके लिए मुझसे अलग हो जाओ। तनिक अपनी अवस्थापर विचार तो करो कि आरम्भमें हमारे अन्दर कितना उत्साह था, कितना बल था ? हम उछल-उछलकर डींग मारते थे कि हम सारे विश्वको भगवत्प्रेमसे भर देंगे। किन्तु आज तो हम स्वयं दीन, हीन, कङ्गालोंकी तरह प्रेमशून्य जीवन धारण करके संसारको धोखेमें ही डाल रहे हैं। अतः आज यदि भगवान् प्रकट न हों तो रोते-रोते प्राण त्याग दो। देवर्षि नारदने तो सच्चे प्रेमके विषयमें कहा है कि '**तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।**' अर्थात् प्रेमीको अपने प्रेमास्पदकी विस्मृति होनेपर परम व्याकुलता होती है।

आपके इस प्रकार कहनेपर तो वहाँ रुदन लीला इतनी बढ़ जाती कि हाहाकार होने लगता। तब आप करुणारससागर सरकारका माखनतुल्य कोमल हृदय करुणासे पिघल जाता और आप स्वयं सचेत होकर सबको सावधान करने लगते। परन्तु आपके स्नेहपूर्ण शब्द सुनकर सब लोग और भी रोने लगते। तब आप जोरसे हँसकर एक-एकका नाम लेकर पुकारते। यही नहीं पूर्ण अन्तर्यामी और सर्वज्ञकी तरह एक-एकके हृदयकी बात बताने लगते। इससे सबको सान्त्वना मिलती और ऐसा विश्वास दृढ़ हो जाता कि हम तो आपकी आनन्दमयी चिन्मयी गोदमें हैं, फिर अपनेको मायाका दास समझकर क्यों रोयें ?

उनका यह रसास्वादवैचित्र्यका स्वभाव अनेकों बार दृष्टिगोचर हुआ है। पहले दीन-हीन कङ्गालोंकी तरह पूर्ण निराश्रित अनुभव करते और कराते हैं तथा फिर स्वयं वाञ्छाकल्पतरु हो जाते हैं। मैं आलवन्दारस्तोत्रका यह पद गाता था—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनो नान्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥[1]

इसका रहस्य और अकिञ्चनका स्वरूप क्या है—यह यहीं प्रकट हुआ, क्योंकि भगवान् तो अकिञ्चनके ही धन हैं। आप हेयप्रत्ययरहित अनन्तगुणगणनिलय भगवान्के रूपसागर और गुणमाधुर्यके रसप्रवाहको रसातलपर प्रवाहितकर मुक्तहस्तसे दिव्य जीवन और दिव्य धाम प्रदान करते

---

१. मैं न तो धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मज्ञानी हूँ और न आपके चरणकमलोंमें भक्ति रखनेवाला हूँ। मैं अकिञ्चन हूँ और मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है। आप शरणागतवत्सल हैं, अतः मैं आपके चरणतलकी शरणमें आया हूँ।

हैं तथा घोषित करते हैं कि लो और पाकर कृतकृत्य हो जाओ। आपके सान्निध्यमें भक्तोंको बड़ी उदारतासे सालोक्यकी सरसता, सार्ष्टिकी चमत्कृति, सारूप्यकी मधुरता और सायुज्यकी निश्चिन्तता आस्वादन करनेको मिलती है। यह मुक्ति नहीं है, यह महती रसानुभूतिकी रस-वैचित्र्यी है। इस रसके आस्वादनद्वारा ही श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि वैष्णवाचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रेमलक्षणा भक्तिका यह लक्षण जीवनमें उतरता है—

अनन्यममता विष्णोर्ममता प्रेमसंज्ञिता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥[1]

महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (ईश्वरमें परम अनुराग ही भक्ति है) तथा नारदजीका कथन है कि **'तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति'** (भगवान्‌की विस्मृति होनेपर परम व्याकुलता होती है)। प्रत्येक भूमिमें रसपुष्टिके लिए आपकी जीवनप्रणालीमें सेवा ही प्रधान साधन है। इसीसे बाँधमें सेवाकी जो रूप-रेखा है उसमें भक्तवर अम्बरीषकी यह सेवाविधि पूर्णतया चरितार्थ होती है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथादयोः ॥

अर्थात् उस (राजा अम्बरीष) ने अपने मनको श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें, वाणीको भगवान्‌के गुणोंका निरन्तर वर्णन करनेमें, हाथोंको भगवान्‌के मन्दिरके झाड़ने-बुहारने आदिमें और कानोंको श्रीहरिकी कथा आदिमें लगा दिया था।

परन्तु गहराईसे देखनेपर यह स्पष्ट अनुभव होता है कि यह सब आपकी अपनी ही रासक्रीडा है, जैसे कहा है—**'आप अमृत रस आप अमृत घट आपहिं पीवनहारी।'** इसी प्रकार आप ही रूपरससागर हैं, आप ही उससे मिलनेके लिए बेचैन हैं और आप ही अपना रस पान करके तृप्त और मस्त होते हैं। पर दूसरे क्षणमें जान पड़ता है कि निरन्तर व्याकुलता ही आपका स्वरूप है—**'प्यास ही को रूप मानो प्यारीजू को रूप है।'** भक्तवृन्दके सम्मुख तो आप इन दोहोंके अर्थको ही अभिव्यक्त करते हैं—

---

१. विष्णु भगवान्‌के प्रति अनन्य ममता, वह 'प्रेम' कही जानेवाली ममता ही भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदि भक्तोंद्वारा 'भक्ति' कही जाती है।

कबिरा हँसना छोड़ दे, रोनेसे कर प्रीत।
बिनु रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत॥
कटप गाँठ मनमें नहीं, सब सों सरल सुभाव।
नारायन या भगत की, लगी किनारे नाव॥

यहाँ अनुभव हुआ कि भगवान् हरि हैं, क्योंकि वे भक्तोंके पाप हर लेते हैं। जबतक पाप दूर नहीं होते, भक्ति आरम्भ नहीं होती। वे इसलिए भी हरि हैं क्योंकि वे भक्तके चित्तको हर लेते हैं। भक्तका चित्त सर्वदा भगवान्‌के पास रहता है। चिन्तन और आसक्ति एक ओरसे नहीं होती। अतः भक्त भगवान्‌का चिन्तन करता है और भगवान् भक्तका चिन्तन करते हैं। पूज्य बाबामें हमें भक्त और भगवान् दोनों हीके चित्त स्पष्ट दीखते हैं। भक्तवर ललिताप्रसादजी लिखते हैं कि एक बार मैंने आपको लिखा था—

खुशामद और मिन्नत है, नहीं कुछ जोर है मेरा।
सरासर तुझसे झूठा हूँ, मैं पापी चोर हूँ तेरा॥
दयानिधि जानकर मैंने, तुझे हे नाथ है हेरा।
प्रण पालो मेरा स्वामी, लगायी अब कहाँ देरा॥

इसके उत्तरमें आपने लिखा था—

न कर मिन्नत न तज हिम्मत, सरासर तू तो है मेरा।
काहेको फिक्र करता है, लिया सिर बोझ है तेरा॥
जो आवे शरणमें मेरी, है उसका ही जो है मेरा।
नहीं मोहि चैन पड़ती है, न इक दिन जो उसे हेरा॥
फक्त औरोंके कारण ही, उसे दुःख मैं सहाता हूँ।
निमित उसको बनाकर मैं, भक्ति सबको सिखाता हूँ॥

यह है अनन्त प्रेम, करुणा और वात्सल्यसे भरा भक्तवत्सल श्रीहरि-भगवान्‌का हृदय। जिस प्रकार परम पुरुष **'एकमेवाद्वितीयम्'** है उसी प्रकार महापुरुष भी **'एकमेवाद्वितीयम्'** ही होते हैं। प्रत्येक महापुरुष अपने निराले ढङ्गके एक ही होते हैं और अपने लीलाविग्रहमें अद्वितीय भी होते हैं। वे रसपानमें और रस पिलानेमें अपनी मनमोहिनी निराली ही शैली अपनाते हैं। आपका तो जीवन ही उपदेशरूप है। आप स्वयं बार-बार कहा करते हैं कि तुम जो आदर्श जगत्‌में स्थापित करना चाहते हो वैसा ही अपना जीवन बनाओ। वास्तविक उपदेश तो जीवनके

द्वारा ही होता है। कोरा वाणीका व्यायाम करनेसे कोई लाभ नहीं होता। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि बाह्य आडम्बरोंमें न फँसकर अपने आचरणको सुधारनेकी चेष्टा करे। यदि तुमने बड़े-से-बड़े क्लेश उठाकर भी इस जीवनमें भगवान्‌को प्राप्त कर लिया तो उससे सचमुच संसारका बड़ा-से-बड़ा उपकार होगा। जो लोग अपने जीवनको बनानेकी परवाह न करके परोपकारका आडम्बर करते हैं उनका तो ऐसा अधःपतन होता है कि उन्हें सम्हालना कठिन हो जाता है। इसलिए नितान्त निष्काम हुए बिना परहितकी कामना करना भी केवल विडम्बनामात्र है। कोई कितना भी निष्काम बने परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मालूम होगा कि प्रकारान्तरसे वह सकाम ही है। वह जीव जबतक मायातीत भगवच्चरणारविन्दको प्राप्त नहीं कर लेता तबतक एक क्षणको भी निष्काम नहीं हो सकता।

आपका भक्तवात्सल्य

आप बार-बार यह प्रश्न किया करते हैं कि हमें जो भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए उसका क्या कारण है ? अच्छा अपने हृदयपर हाथ रखकर धर्मपूर्वक बताओ कि वास्तवमें सबके हृदयमें भगवद्दर्शनकी एक-सी लालसा है ? बोलो, भाई ! ठीक-ठीक कहो। तब एक-एकसे पूछनेपर सब यही कहते हैं कि यदि सुखपूर्वक दर्शन हो जायँ तब तो ठीक है, नहीं तो भगवद्दर्शनके बदले शरीरमें एक काँटा लगनेका कष्ट सहन करनेवाला भी कोई विरला ही वीर होगा। तब आप कहते हैं—"देखो, भाई ! भगवान्‌का दर्शन कोई हँसी-खेल नहीं है। यह तो सचमुच प्राणोंकी बाजी लगनेपर भी हो जाय तो सस्ता ही है—

जो सिर काटे हरि मिले, तो पुनि लीजै दौर।
ना जाने कुछ देरमें, गाहक आवै ओर॥

किसी भी प्रकार हो भगवान्‌के लिए प्राण त्यागनेकी प्रवृत्ति सराहनीय ही है। किन्तु यदि कोई साधक अकेला ही अपने साधनमें प्रवृत्त हो तो उसे अपने उत्साह और साधनके स्तरके अनुसार सफलता मिलेगी ही। और जब हम मिलकर कोई साधन करें तो हम सबका एक मन, एक प्राण, एक साधन, एक बल और एक सहारा होना चाहिए। हम बाहरसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी भीतरसे एक हो जायँ। परन्तु

हम तो यहाँ तमाशा देखनेवालोंकी तरह इकट्ठे हो गये हैं। एक अपनी जानकी बाजी लगा रहा है तो दूसरा तमाशा देख रहा है।"

तब सब भक्त प्रार्थना करते कि महाराज! यह घोर कलिकाल है। हम तुच्छ जीव हैं। भला हमारी सामर्थ्य है जो एक मन, एक प्राण हो जायँ। अब हमपर कृपा करके आप ही इष्टदेवके रूपमें दर्शन दें।

इसपर आप हँसते हुए कहते हैं, "अच्छा, देखो, मैं ही चेष्टा करूँ।" ऐसा कहकर एक ओर चले जाते हैं और फिर आते हैं तो भक्तोंको अपनी-अपनी भावनाके अनुसार अपने-अपने इष्टदेवके रूपमें दिखायी देते हैं। इस प्रकारकी घटनाएँ कई बार हुई हैं।

हम लोग इस संसारको देखकर हक्का-बक्का हो रहे हैं। संसार तो बराबर यही चित्र प्रस्तुत करता है—

क्वचिद्वीणावाद्यं क्वचिदपि च हा हेति रुदितं
क्वचिन्नारी रम्या क्वचिदपि जराजर्जरवपुः।
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः॥[1]

संसारने हमें संशयजालमें डाला है। इतना ही नहीं उसने विचित्र व्यसनोंमें भी फँसा दिया है। हम दुःखको ही सुखरूप समझकर संसार-धारामें बहे जा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें हमारा क्या भाव और उसका क्या मूल्य। वास्तवमें कृपासिन्धु सन्त स्वयं ही अहैतुकी कृपा करते हैं क्योंकि इनसे कृपा किये बिना रहा नहीं जाता। इसी सन्दर्भमें भक्तवर ललिताप्रसादजी कहते हैं—'मैं जहाँ-तहाँ लिख चुका हूँ कि हमारे पतित-पावन सरकारकी शरणमें तो अधिकतर अनपढ़ मूर्ख और दुःशील व्यक्ति ही आये हैं, जो अपनी अयोग्यताके कारण जीवनभर उन्हें दुःख ही देते रहे हैं। आप तो सर्वथा अदोषदर्शी हैं। इसीसे आपने ऐसे लोगोंको अपना लिया। किन्तु कभी-कभी हमारी नीचतासे घबराकर आप भाग जाते हैं। तथापि करुणादेवी आपको विवश करके पुनः हमारे बीचमें ले आती है। बस, आपकी करुणा और उदासीनताके साथ ही

१. कहीं वीणा बज रही है और कहीं हाहाकार रुदन हो रहा है; कहीं सुन्दरी नारी है और कहीं वृद्धावस्थासे जर्जरित शरीर है; कहीं विद्वानोंकी गोष्ठी हो रही है और कहीं मदिरासे उन्मत्त लोगोंका कलह है। पता नहीं चलता कि यह संसार अमृतमय है या विषमय।

हमारी जीवन-नौकाएं उछलती-डूबती रहती हैं। परन्तु हम तो समझते हैं कि आपकी उदासीनता भी कृपा ही है, क्योंकि पहले तपाकर ही कृपा बरसती है।' आपकी कृपापरवशता देखकर हमें प्रातःस्मरणीय आचार्यचरण श्रीदासशेष स्वामीकी यह अनुभवपूर्ण वाणी याद आती है—'भगवान् किसपर कृपा करते हैं, इसका कोई नियम नहीं है। उनकी मौज। उनकी दृष्टि-तक हमारी पहुँच नहीं है। अधिकारी-अनधिकारी तो हमारी दृष्टि है, वे तो समदर्शी हैं। देखो, जैसे मेघ ऊसर और उपजाऊ भूमि न देखकर स्वभावसे सर्वत्र समान वर्षा करते हैं उसी प्रकार सन्त सभीपर कृपा करते हैं।'

आपकी गुणगरिमा

आपके हृदयमें कभी किसी सम्प्रदायविशेषका आग्रह नहीं रहा और न किसी सम्प्रदाय या मतभेदके कारण कभी किसी व्यक्तिके प्रति घृणा हुई है। अन्तःकृपा और वाह्य कठोरता—यह आपका सहज स्वभाव रहा है। आपको कभी ढीले-ढाले काम करना पसन्द नहीं है। आपकी आयु जैसे-जैसे बढ़ती गयी है वैसे-वैसे ही आपके त्याग, तप और तितिक्षामें वृद्धि हुई है। आपको ढीले होकर बैठते कभी नहीं देखा गया। एकान्तमें तो आप प्रायः खड़े होकर स्वाध्याय करते हैं। उसमें भी आलस्य प्रतीत होता है तो पञ्जोंके बल खड़े हो जाते हैं। कीर्तनमें भी जब बैठते हैं तो घुटने टेककर पञ्जोंके बल बैठते हैं। आपका मत है कि चलते-फिरते, उठते-बैठते सर्वदा मेरुदण्डको सीधा रखना चाहिए। इसे कभी झुकने नहीं देना चाहिए। आपकी समय-निष्ठा भी अनुकरणीय है। जिस समय जो काम करनेका निश्चय हो जाता है उसका पूर्णतया निर्वाह किया जाता है आपका कथन है कि मैं तो समयको ही ईश्वर समझता हूँ। जो पुरुष समयकी परवाह नहीं करता उसे ईश्वर नहीं मिल सकता। आपका कार्यक्रम इतना ठोस रहता है कि किसीसे विशेष बातचीत करनेका अवकाश ही नहीं मिलता। यदि आपसे किसीको कोई निजी बात करनी होती है तो कथा या कीर्तनमें आते-जाते समय चलते-चलते खड़े होकर सुन लेते हैं और बहुत थोड़े शब्दोंमें उत्तर दे देते हैं। इस प्रकार हजारों व्यक्तियोंके बीचमें रहकर और उनसे बड़े-बड़े काम कराते हुए भी आप जल-कमलवत् सर्वथा निर्लेप रहते हैं।

आप मन, वचन और कर्मसे सर्वदा एक हैं। आप जो भी काम करते हैं उसीमें अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। आप कहा करते हैं, "भाई!

मैं तो उसीको पूर्ण योगी समझता हूँ जो समयानुसार प्राप्त कार्यको, वह छोटा हो या बड़ा, पूरी तरह चित्त लगाकर पूर्ण करता है। साथ ही इस बातका भी पूर्ण ध्यान रखो कि चाहे कितनी भी हानि या लाभ हो अपने चित्तको क्षुब्ध मत होने दो, क्योंकि शान्त चित्त सबसे मूल्यवान् वस्तु है। उसके सामने संसारके हानि-लाभका कोई मूल्य नहीं है। हम सभी बराबर हैं, हमें किसीको अपनेसे छोटा समझकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। हाँ, किसीकी त्रुटि दिखायी दे तो कर्त्तव्य-बुद्धिसे भाईके नाते प्रेमपूर्वक समझा दो।

आपको सन्तोंके दर्शनोंका बड़ा शौक है। आप उनसे किस दृष्टिसे मिलते हैं यह भी आप हीके शब्दोंमें सुनिये—'मेरी दृष्टिमें तो महापुरुषका एकमात्र लक्षण यह है कि उसके सहवास, सत्सङ्ग या सान्निध्यसे स्वाभाविक ही अपने इष्टकी स्फूर्त्ति पहलेसे शतगुणित जग उठे। हाँ, यह अवश्य है कि उनके पास जाकर अपने चित्तको संस्कारोंसे खाली कर देना चाहिए। तभी काम होगा।'

आपका रहस्य

इस सगुण ब्रह्मको देखकर मनमें आया कि प्रत्यक्षके लिए क्या प्रमाण, इनसे ही इनकी लीलाके रहस्यको कुछ समझूँ। डरते-डरते सामने गया। फिर मनीरामने कहा, "डरते क्यों हो? डरो संसारसे, जिसने बाँध रखा है, ये तो छुड़ानेवाले हैं, ये तो प्रेमावतार हैं।" फिर आपसे पूछा कि आपका सिद्धान्त और साधन क्या है? आप बोले—

"(१) Know, feel and live. (जानो, समझो और फिर तद्भावभावित हो जाओ तथा जीवनक्रियाको उस रससे ओत-प्रोत कर दो)।

(२) कोई साधन छोटा या बड़ा नहीं है। जिसका जैसा संस्कार है उसके लिए वही ठीक है।"

यह सुनकर मेरे चित्तमें स्वाभाविक ही यह शौक हुआ कि इनके ज्ञानमय, भावमय और कर्ममय विग्रहके विषयमें उसके आविर्भावसे लेकर ही अनुसन्धान करूँ। वेदान्तके अनुसार जैसे स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों देह प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त हैं उसी प्रकार आपका सुनिश्चित विचार है कि ज्ञान, भाव और कर्म—यह मूर्त्तित्रय ही जीवन है। आपके जीवनमें इन तीनों ही साधनोंका अनुपम विकास हुआ है।

अब इनका सुनिश्चित ज्ञान, भाव और कर्म क्या है—इसकी झाँकी करानेके लिए ही इनके जीवनका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव देखनेके लिए जैसे नन्दबाबाके आँगनमें जाना आवश्यक है उसी प्रकार इन हरि भगवान्के आविर्भावकी झाँकीके लिए तनिक जिला होशियारपुरके मैंगरवाल ग्राममें चलिये।

सिख संस्कृति

पुण्यभूमि भारत सदासे ही अनेकों महापुरुषोंको जन्मस्थली रही है। अनेकों आचार्य, अवतार और भगवद्विभूतियोंका यहाँ समय-समयपर आविर्भाव होता रहा है। ऐसा प्राय: कभी नहीं होता कि जब कोई-न-कोई अमरकीर्त्ति महापुरुष इन भूमिको अपने महामहिम प्राकट्यसे विभूषित नहीं करते। विदेशी और विधर्मी आक्रान्ताओंकी हमारी मातृ-भूमिके आधिभौतिक सौन्दर्यपर कुदृष्टि रही है तथा हमारे समाज, संस्कृति और सभ्यताको नष्ट करनेकी कुरुचि और कुप्रवृत्ति रही है। हमारे धर्मको नष्ट करनेके लिए उनके प्रबल आक्रमण होते रहे हैं। इन आक्रमणोंका जिन्होंने कृपाण और कुर्बानीके बलसे सामना किया उनमें उच्चतम स्थान महान् सिख गुरुओंका ही रहा है। उन्होंने प्राणोंकी बाजी लगाकर **'यतो धर्मस्ततो जय:'** की विजयध्वज फहरायी। उन्होंने सिर दिये, परन्तु हृदय और धर्म, जो वास्तवमें एक ही हैं, नहीं दिये। उन्हें दीवारमें चुना जाना स्वीकार हुआ, परन्तु धर्मपरिवर्तन असम्भव। इस प्रकार उन्होंने भारतके धर्मसे सिंचे हुए समाज, संस्कृति और सभ्यताकी अपना रक्त देकर रक्षा की, अपनी जान देकर इस धर्मप्राण भारतके धर्मको सुरक्षित रखा और स्वेच्छासे मरकर अमर भारतका सिर ऊँचा रखा। इतना ही नहीं सबको एक मन, एक प्राण और एक दिलके महामन्त्रसे एक करके शत्रुसे लोहा लिया। शीशगञ्ज इसका ज्वलन्त प्रकाशदीप है तथा सरहिन्द उन अमर वीर बालकोंके बलिदानका अमर गीत है। उन धर्मरक्षक और पोषक सिखोंके कुल और वीरभूमि पञ्जाबमें ही आपका आविर्भाव हुआ। अत: कुलपरम्परासे ही आपको वह तड़प, वह माँग, वह गुरुनिष्ठा और वह सेवा प्राप्त है। वस्तुत: आप जन्मत: अद्भुत सन्तशिरोमणि हैं, जिनमें गुरुका अङ्ग, साधुका सङ्ग, नामका रङ्ग, विवेकका अभङ्ग और भगवद्विश्वास इन पाँचों रङ्गों (सद्गुणों) का विचित्र

सामञ्जस्य पाया जाता है ।[1] आइये देखें, आपके जीवनमें इन विविध रसोंकी पुष्टि कैसे हुई ।

---

१. सन्तोंके इन पाँच रङ्गोंका श्रीसुखमनी साहबमें जो विवरण दिया है उसके कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं ।

(१) गुरुका अङ्ग—

आदि गुरए नमह, जगादि गुरए नमह, श्रीसतगुरए नमह, श्रीगुरदेवए नमह ।

गुरमुख नादं गुरमुख वेदं गुरमुख रहिअ समाय ।
पूरे गुरका सुनि उपदेसु । पार ब्रह्म निकटि करि पेखु ॥
गुरमुख नाम जपहु मन मेरे । नानक पावहु सूख घनेरे ॥
गुरपरसादि भरम करि नासु । नानक तिनमहि राखु विसासु ॥

(२) साधुका संग—

दरसनु भेटत होत निहाल ।
साधकै संगि ईहा ऊहा सुहेला । साधकै संगि लगै प्रभ मीठा ॥
साधकै संगि मिटे सभि रोग ।
साधकी सोभाका नाहीं अन्त । साधकी सोभा सदा बे अन्त ॥
साधकी सोभा साध बनिआई । नानक साध प्रभ भेदु न भाई ॥

(३) नामका रंग—

सो पण्डित जो मन परवोधै । राम नामु आतम महि सोधै ॥
राम नाम सारु रस पीवै । उसु पण्डितकै उपदेसि जगु जीवै ॥
नाम रतनु जिनि गुरमुख पाइया । तिसु किछु अवरु नाहि द्रिसटाइया ॥
नामु धनु नामो रूपु रंगु । नामो सुखु हरिनामका संगु ॥
साथि न चालै बिनु भजन, बिखिया सगली छारु ।
हरि हरि नामू कमावना, नानक इहि धनु सारु ॥
निरगुन आपि सरगुनु भी ओही । कलाधारि तिनि सगली मोही ॥
हरि बिनु दूजा नाही कोइ । सरब निरन्तरि एको सोइ ॥

(४) विवेकका अभंग—

मिथिआ तनु धनु कुटम्बु सबाइया । मिथिआ हउमैं ममता माइया ॥
मिथिआ राज जोवन धन माल । मिथिआ काम क्रोध विकराल ॥
मिथिआ नेत्र पेखत पर त्रिअरूपाद । मिथिआ रसना भोजन अनस्वाद ॥

आविर्भाव और शिक्षा-दीक्षा

आपका आविर्भाव सिखधर्मानुयायी अहलूवालियोंके कुलमें हुआ था। ये लोग जिला होशियारपुरमें रहनेवाले थे। कई पीढ़ियोंसे इस कुलमें दिव्यगुणसम्पन्न महानुभाव ही उत्पन्न होते रहे हैं। वे सभी अच्छे सुशिक्षित साधुसेवी और सदाचारसम्पन्न थे। उनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी। इनके पिता सरदार प्रतापसिंहजी गाँव मेंगरवालमें पटवारी थे। उनके पाँच पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। हमारे चरितनायक उनमें सबसे छोटे थे। इनका जन्म सं० १९४१ वि० के फाल्गुन शु० १४ को हुआ। माता-पिताने इनका नाम दीवानसिंह रखा। कहते हैं, इनके जन्मके समय इनके घरमें आकाशसे एक रघुनाथजीकी मूर्त्ति गिरी थी। गर्भावस्थामें ही इनके माता-पिताको दिव्य तेज और श्रीरघुनाथजीके दर्शन हुए। धीरे-धीरे इन्होंने शैशवसुलभ माधुर्यने ही सबको आकर्षित किया हुआ था, अब इनका सरल और संकोची स्वभाव भी सबको मुग्ध करने लगा। सारे गाँवके लोग यही कहते थे कि ये तो सरदार साहबके कोई महापुरुष ही प्रकट हुए हैं। इस प्रकार स्वभावसे ही इनकी ओर लोगोंका आकर्षण बढ़ने लगा।

इनके सद्गुरु स्वामी सच्चिदानन्दजी महाराज थे। चार वर्षकी अल्पायुमें ही इन्हें उनके पुण्यदर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। पिताजीके कहनेपर इन्होंने उन्हें प्रणाम किया और इसके साथ ही आप सदाके लिए उनके शरणापन्न हो गये। प्रणामके पश्चात् जब आप बैठे तो गाढ़ समाधिमें डूब गये। एक बालककी ऐसी विचित्र स्थिति देखकर गुरुदेवने आपको गोदमें उठा लिया। उन्होंने इन्हें आशीर्वाद दिया और कहा, "बेटा ! चिरञ्जीवी होकर हमारी चिरकालिक कामना पूर्ण करो।" तथा

---

(५) भगवद्विश्वास—

टूटी गाढनहार गोपाल। सरब जीआ आपे प्रतिपाल।
सगलकी चिन्ता जिसु मन माहि। तिसते बिरथा कोई नाहि॥
पूरा प्रभु आराधिआ, पूरा जाका नाउ।
नानक पूरा पाइया, पूरेके गुन गाउ॥
आदि अन्त जो राखनहारु। तिसु सिउ प्रीति न करै गवारु।
जो ठाकुर सद सदा हजूरे। ता कउ अन्धा जानत दूरे॥

घरवालोंसे कहा कि यह बालक बड़ा होनहार है। उस प्रथम मिलनके साथ फिर यह सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

दीवानसिंहकी प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा होशियारपुरमें ही हुई। पढ़ने-लिखनेमें आपकी बुद्धि बहुत कुशाग्र थी। हमारे श्रीमहाराजजी-की शिक्षा भी इसी आयुमें आरम्भ हुई थी। दोनों ही चञ्चलताशून्य, ध्यान-मग्न और समाधिस्थ रहनेवाले थे।

इस प्रकार आपके जीवनकी कली जैसे-जैसे खिलती गयी वैसे-वैसे परिवार और प्रान्त आपको ऊपर बताये हुए पाँचों रङ्गोंमें रँगने लगे। पञ्जाबके ये पाँच रङ्ग ही पाँच रसधाराएँ बनकर हृदयको सींचने लगीं। श्रीसद्गुरुचरणारविन्दोंमें आपकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। गुरुदेव सच्चे सन्त, ब्रह्मनिष्ठ और समाधिनिष्ठ थे। उन्हें पाकर आपने अपना परम सौभाग्य माना और उक्त पाँचों रङ्गोंमें सराबोर होने लगे। ये ही इनके जीवनके आदि और मध्यमें थे और इन्हींके द्वारा अन्तमें श्रीहरिबाबारूपमें इनका विकास हुआ। नाम देहली-दीपकन्यायसे भीतर-बाहर उजाला करता है। यही नहीं, वह सगुण और निर्गुण ब्रह्मका भी प्रकाशक है। आपके घरकी माइयाँ भोजनादि बनाते समय गुरुवाणियोंका पाठ किया करती थीं। सभीकी साधु-सेवा और भगवद्भजनमें अत्यन्त रुचि और प्रीति थी। उनके सद्भावका आपके जीवनपर भी प्रभाव पड़ा। मुख्यतया आपके चौथे भाई सरदार हीरासिंहजी, जो मास्टर साहब बोलकर प्रसिद्ध और अनेकों भाषाओंके ज्ञाता तथा अत्यन्त साधनसम्पन्न थे, उनका आपपर बहुत प्रभाव पड़ा। आपके सबसे बड़े भाई सरदार इन्द्रसिंहकी धर्मपत्नीने भी आपको भजन-साधनकी बहुत प्रेरणा दी। वे प्रातःकाल ३ बजे ही इन्हें जगाकर ध्यानमें बैठा देती थीं। इस प्रकार परम उदार सिख-संस्कारोंके अनुसार आपकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

अपने बचपनका स्वभाव आप स्वयं ही बता रहे हैं—"मेरा तो जन्म-से ही ऐसा स्वभाव है कि स्त्रीमात्रसे मुझे बड़ा संकोच लगता है। मैं कुछ बड़ा हो जानेपर अपनी माँसे भी मुख खोलकर नहीं बोला। मेरी सब बहिनें मुझसे बड़ी थीं और परमार्थपथमें भी मुझसे आगे थीं, परन्तु न तो घरपर और न साधु होनेपर ही मैं उनसे जी खोलकर बोल सका।" एक बार पं० ललिताप्रसादजीने आपको यह श्लोक सुनाया—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

इसे सुनकर आप चकित हुए और बोले, "माताके समान परस्त्री ! यह तो बहुत कठिन है। इसी प्रकार परद्रव्यको ढेलेके समान देखना तो और भी कठिन है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मवत् देखना तो असम्भव ही है।" आपने यह कहा अवश्य, परन्तु आपके लिए तो ये दृष्टियाँ स्वाभाविक हैं। आपको जब अपनी माँ और बहिनोंसे इतना संकोच था तो औरोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? आपको जन्मसे ही उत्कट वैराग्य था। घण्टों अकेले पड़े रहते थे तथा किसीसे व्यर्थ बातें नहीं करते थे। मर्यादापालनमें आप बड़े कुशल थे। अपनेसे बड़े, छोटे और बराबरवालोंसे सर्वदा यथोचित बर्ताव करते थे। माता, पिता एवं भाई-बहिनोंकी खूब सेवा करते थे और उसका सङ्कोच भी बहुत मानते थे। परन्तु हृदयमें वैराग्य-मन्दाकिनी सतत प्रवाहित रहनेके कारण स्त्रियोंके साथ विशेष बातचीत और आमोद-प्रमोदमें सदा उदासीन रहते थे।

उधर लौकिक शिक्षाके साथ आपको सद्गुरुदेवका सान्निध्य भी खूब मिला। उनकी शिक्षा-दीक्षासे आपमें जो स्वाभाविक भगवद्विश्वास था उसे और भी पुष्टि मिली। वह विश्वास क्या था—

जाने तन मन धन दियो, कियो हिये बिच भौन।
ताते सुख-दुख कहन को, कहे बात अब कौन ?

गुरुदेवसे आपने सुना था कि वेदान्तका जिज्ञासु साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति ही हो सकता है। आप तो स्वभावसे ही अन्तर्मुख थे। इससे आपके विचारकी और भी पुष्टि हो गयी। फिर जब आपने सुना कि 'तर्क दुनिया, तर्क उकबा, तर्क मौला, तर्क-तर्क' तो इससे आपकी सर्व-त्यागमयी वृत्तिको बड़ी उत्तेजना मिली। गुरुदेवमें आपकी भगवद्बुद्धि थी। आप कहा करते थे कि उनकी सेवा और लीलाका प्रत्यक्ष सुख कुछ और ही था। यद्यपि आप समयका बहुत ध्यान रखते थे, तथापि जब गुरुदेवकी महिमाका वर्णन करने लगते तो समयकी याद दिलानी पड़ती थी।

गृहत्याग और संन्यास

अब, आपको सब प्रकार योग्य देखकर माता-पिताने आपका विवाह करनेका विचार किया। परन्तु आपकी गति-विधि और रहन-सहन देखकर आपसे इस विषयमें पूछते हुए सङ्कोच भी बहुत होता था। तब

सबने माताजीको आपका विचार जाननेका कार्य सौंपा। माताजीने बहुत साहस करके इनसे एकान्तमें कहा, "क्यों बेटा! क्या तू हमारी एक बात मानेगा ?" आप बोले, "मानूँगा, परन्तु एक बात छोड़कर।" माँने कहा, "क्या तू विवाह नहीं करेगा ?" इसपर इन्होंने माताजीको बहुत समझाया और स्पष्ट कह दिया कि मैं विवाह नहीं करूँगा। तब माताजीने रोकर इनके पैर पकड़ लिये। इससे ये एकदम आवेशमें आ गये और मेघकी तरह कड़ककर बोले, "तुम मुझे छोड़ दो, मैं तुम्हारे घरमें रहनेके लिए नहीं आया हूँ। मुझे संसारमें बहुत काम करना है। तुम मुझे घर-गृहस्थीके बन्धनमें डालना चाहती हो! फिर कभी किसीने मुझसे यह बात कही तो मेरे प्राण निकल जायेंगे।" ऐसा कहकर आप धड़ामसे पृथ्वीपर गिरकर मूर्च्छित हो गये। माताजी यह देखकर घबरा गयीं। सबने जैसे-तैसे इन्हें सावधान किया। इसके पश्चात् फिर किसीने भी इनसे विवाहके लिए आग्रह नहीं किया।

कैसा ध्रुव सत्य आपने बताया। यह सभी अवतारी पुरुषोंकी अपने अवतरणके उद्देश्यकी घोषणा ही है। वामदेव ऋषि गर्भमें ही जग गये और शुकदेवजी गर्भसे बाहर आना नहीं चाहते थे, क्योंकि यह मायाकी मार बहुत भयानक है। परन्तु हमारे कृपानिधान बाबाने अपने अवतरणकी घोषणा करते हुए कह दिया कि हे जीवो! जागो, क्योंकि गर्भोपनिषद्के अनुसार प्रत्येक जीव भगवान्से निरन्तर भजन करनेकी प्रतिज्ञा करता है।

इन दिनों आप मेडिकल कालेज, लाहौरमें शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। वहाँका पाठ्यक्रम समाप्त होनेमें एक वर्ष रह गया था। किन्तु इन्हें डाक्टर तो बनना नहीं था, इसलिए डिग्रीकी परवाह न करके इन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और होशियारपुरमें गुरुदेवके आश्रममें चले आये। अब आप निरन्तर वहीं रहने लगे और घर जाना छोड़ दिया। गुरुदेवके चरणोंमें आपने कई बार प्रार्थना की कि मुझे संन्यास-दीक्षा दे दीजिये। परन्तु उन्होंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया और कहा कि हम किसीको साधु नहीं बनाते, जब समय आवेगा तब तुम स्वयं ही साधु बन जाओगे। वैराग्यकी उत्कट अवस्था आनेपर कोई साधु बने बिना नहीं रह सकता। अतः अभी तो तुम हमारे पास रहकर सेवा ही करो।

आप बड़ी लगन और परिश्रमके साथ गुरुदेवकी सेवामें तत्पर रहे। उसके प्रभाव और गुरुदेवके प्रसादसे इनका चित्त गुरुदेवके चित्तके साथ

ऐसा अभिन्न हुआ कि उसका सारा ही अनुभव इनके हृदयमें उतर आया। आपका वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और आपको आश्रमकी प्रवृत्ति असह्य हो गयी। अतः एक दिन आप बिना किसीसे कुछ कहे चल दिये और काशी पहुँचे। वैराग्यकी तीव्र ज्वालाने विधि-विधानके अङ्गोंको भी असह्य कर दिया। अतः एक दिन अपना सारा सामान दीन-दुखियोंको बाँट दिया और स्वयं ही विद्वत्संन्यास ले लिया।

कुछ दिनों आप काशीकी परिक्रमामें शूलटंकेश्वर महादेवपर रहे और वहाँसे प्रयाग होते हुए द्रौपदीघाट पहुँचे। वहाँ गङ्गातटपर ही बड़ी सुन्दर और रमणीक एकान्त कुटी थी। वहाँ एक बङ्गाली महात्मा रहते थे। उनके आग्रहसे आप भगवदिच्छा समझकर रुक गये और बड़ी कठोर तपस्या करने लगे। सप्ताहमें एक दिन माधूकरी करते थे। उसमें जो रोटियाँ मिलती थीं उन्हें कपड़े लपेटकर भूमिमें गाड़ देते थे और प्रत्येक दिन एक रोटी निकालकर उसे कमण्डलुमें भिगो देते। बस वही उस दिनका आहार होती थी। फिर चौबीस घण्टे तक कुछ नहीं खाते थे। उन दिनों आप हर समय उन्मनी अवस्थामें रहते थे। पास ही एक काला साँप पड़ा रहता था। कभी-कभी वह आपके आसनके नीचे भी आ जाता था। लोगोंने तो उसे आपके सिरपर बैठा हुआ भी देखा। इस प्रकारकी चर्यासे उधरके लोगोंमें आपके प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ने लगी और उनका आना-जाना भी बढ़ गया। अतः वहाँ तीन साल रहनेके पश्चात् आप एक दिन चुपचाप चल दिये। मार्गमें कभी सङ्कल्प फुरता तो माधूकरी माँग लेते थे। नहीं तो पाँच-सात दिन बिना भिक्षा ही निकल जाते थे। अन्तर्मुख रहनेके कारण खाने-पीनेका ख्याल ही नहीं आता था। इस प्रकार सानन्द विचरते आप पैदल ही पुनः होशियारपुरमें गुरुदेवके पास पहुँच गये। बड़े सङ्कोचसे रात्रिमें उनके पास गये और श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। उन्हें जब मालूम हुआ कि आप दीवानसिंह हैं और अब साधु हो गये हैं तो वे बड़े प्रसन्न हुए। इन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया और बोले, "तुम स्वयं ही साधु हुए हो, इसलिए तुम्हारा नाम स्वतःप्रकाश होगा।"

फिर आप आश्रममें रहकर गुरुदेवकी सेवामें संलग्न हो गये। गुरुदेवका बड़ा कठोर शासन था। वे सफाईपर बहुत जोर देते थे। कहते थे, "सफाई ही खुदाई है। तुम जितनी सफाई करोगे, उतना ही तुम्हारा चित्त शुद्ध होगा।" सेवाके लिए किसीको कोई काम बताया नहीं जाता

था, स्वयं ही काम चुनकर सेवा करनी होती थी। सेवा ही साधन था। कुछ दिनों वहाँ रहनेके पश्चात् वहाँके प्रवृत्तिप्रधान वातावरणसे आप फिर उपराम हो गये और कहीं भाग जानेका निश्चय कर लिया। वहाँसे चलकर आप आनन्दपुर साहब पहुँचे और गुरुद्वारेमें रहकर सेवा करने लगे। वहाँके लङ्गरमें एक इतना बड़ा देग था कि जिसमें आदमी खड़ा हो सकता था। आपने उसे माँजनेका काम अपने जिम्मे ले लिया था और लङ्गरके साधारण भोजनसे निर्वाह करते थे। शीतकालमें भी रात्रिके तीन बजे उठकर तालाबमें स्नान कर लेते थे। इस प्रकार वहाँ भी आपने खूब तपस्या की।

वहाँसे आप जिनौड़ी गये। यहाँ विश्वामित्र नामके एक सन्त थे। एक बार वे आपको कुटियापर छोड़कर बाहर चले गये। उनकी अनुपस्थितिमें कुटियाके चौकीदारने उनका सारा सामान बाँध लिया। वह उसे ले जाना चाहता था। इतने हीमें आप आ गये। वह संकोच करने लगा। परन्तु आपने स्वयं वह सामान उसके सिरपर रख दिया। वह घबराने लगा कि ये स्वामीजीसे कह देंगे। आपने कहा, "भाई! तू निश्चिन्त रह, मैं उनसे कुछ नहीं कहूँगा, परन्तु यह सोच ले कि यह मनुष्य शरीर बड़ी कठिनतासे मिलता है। यह चोरी करनेके लिए नहीं है। अतः उचित समझे तो आजसे चोरी करना छोड़ दे और भगवान्का भजन किया कर।" इसका उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह सब कुछ छोड़कर साधु हो गया।

सगुण ब्रह्म लीलावतरण

इसके पश्चात् आप कई स्थानोंमें होते हुए भृगुक्षेत्रमें गङ्गातटपर आये। यहीं हमारे श्रीमहाराजजीसे आपका प्रथम मिलन हुआ, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। आपने जब ब्रह्मद्रवा श्रीगङ्गाजीके तटपर पदार्पण किया उस समय आपका अन्तःकरण ब्रह्मद्रवसे परिपूर्ण था। आपका उस समयका अनुभव इन शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है—

आपुन खेल आपु करि देखै। खेल संकौचे तो नानक एकै।
विदितो वेदरहस्यं विदितो देहादिरयमनात्मेति।
विदितं पर इति चात्मा किमतः परमस्ति जन्मसाफल्यम् ॥१॥
अजरोऽहमक्षरोऽहं प्राज्ञोऽहं प्रत्यगात्मबोधोऽहम्।
परमानन्दमयोऽहं परं शिवोऽहं सदास्मि परिपूर्णः ॥२॥

किं चिन्त्यं किमचिन्त्यं किं कथनीयं किमस्त्यकथनीयम् ।
किं कृत्यं किमकृत्यं निखिलमिदं जानतां विदुषाम् ॥३॥[१]

(अद्वैततारावली)

आप गङ्गातटपर रहकर श्रीअच्युतमुनिजीसे ब्रह्मसूत्रादि वेदान्त-ग्रन्थ अध्ययन करने लगे। श्रीअच्युतमुनिजी आपके सौम्य स्वभावसे बहुत प्रसन्न थे। इसलिए जब वे वर्धा जाने लगे तो इनसे साथ चलनेकी रुचि प्रकट की। आप उनके साथ वर्धा पधारे और वहाँ भी नियमानुसार वेदान्तका पाठ चलने लगा। किन्तु सायङ्कालके पश्चात् आपके लिए कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। आपको खोजनेपर मालूम हुआ कि वहाँ हनुमानगढ़ी नामका एक स्थान है, जहाँ समर्थगुरु रामदासजीकी परम्परासे **'श्रीराम जय राम जय जय राम'** इस महामन्त्रका अखण्ड कीर्तन चल रहा है। श्रीपराञ्जपेजी वहाँके अधिष्ठाता हैं। वे अच्छे विद्वान् और भक्त महापुरुष हैं। उनके कथा-कीर्तन बड़े समारोहसे चल रहे हैं। आप वहाँ नित्य-प्रति जाने लगे और बड़े मनोयोगसे सङ्कीर्तन सुनने लगे। इससे आपको बड़ा आनन्द हुआ और धीरे-धीरे आपको सङ्कीर्तनमें भावसमाधि होने लगी। तथा अष्टसात्त्विक भावोंका उद्गम होकर आपके हृदयको भावतरङ्गें उथल-पुथल करने लगीं। आपने अपनेको सँभालनेकी बहुत चेष्टा की, किन्तु अब हृदयपर अपना अधिकार न रहा। आपके ऐसे सात्त्विक भावोंको देखकर श्रीपराञ्जपेजी और उनके साथी आपकी ओर आकर्षित हुए। वे पहलेसे ही एक सुन्दर-सा आसन बिछा देते थे और कीर्तनके आरम्भमें ही आपको एक पुष्पमाला पहनाकर भगवत्प्रसादी चन्दन लगा देते थे। यह क्रम कई दिनोंतक चलता रहा। अपने भावोंको आपने बहुत रोका, परन्तु कहाँतक रोकते।

---

१. वेदका रहस्य मालूम हो गया, यह देहादि अनात्मा हैं और आत्मा इससे परे है—यह जान लिया। इससे भिन्न और जन्मकी सफलता क्या हो सकती है ॥१॥ मैं अजर हूँ, अक्षर हूँ, प्राज्ञ हूँ और प्रत्यगात्मबोधस्वरूप हूँ। मैं परम आनन्दमय हूँ। परम कल्याणस्वरूप हूँ और सर्वदा परिपूर्ण हूँ ॥२॥ यह सब रहस्य जाननेवाले विद्वानोंके लिए भला क्या चिन्तन करने योग्य है और क्या चिन्तन करने योग्य नहीं है, क्या कथन करने योग्य है और क्या कथन करने योग्य नहीं है, तथा क्या करने योग्य है और क्या करने योग्य नहीं है ॥३॥

एक दिन एक साथ ही अश्रु, पुलक, स्तब्धता, स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य, स्वरभङ्ग और मूर्च्छा आठों सात्त्विक विकार प्रकट हो गये।

आपके श्रीविग्रहमें उन्होंने जब यह भावसंघर्ष देखा तो अवाक् रह गये। मेघोंसे धाराओंके समान आपके नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुवर्षण हो रहा था। प्रत्येक रोमकी जड़में झड़वेरीकी-सी छोटी-छोटी गाँठें पड़कर बार-बार रोम खड़े हो जाते थे और उनसे रुधिरके कण निकल आते थे। शरीरसे इतना पसीना निकल रहा था कि सारे रोमछिद्रोंसे फव्वारे-से छूट रहे थे। सारे शरीरमें ऐसा कम्प हो रहा था मानो झंझावातसे केलेका पत्ता काँप रहा हो। भावतरङ्गोंमें कुछ बोलना चाहते थे, परन्तु स्वरभङ्गके कारण शब्द स्पष्ट नहीं निकलता था। शरीरका रङ्ग भी कभी पीला, कभी एकदम मेघश्याम, कभी नवदूर्वादलश्याम, कभी श्वेत और कभी रक्त इस प्रकार क्षण-क्षणमें बदल रहा था। नेत्र कभी कमलके समान प्रफुल्लित, कभी अर्धोन्मीलित और कभी मुकुलित हो जाते थे। इस प्रकार कुछ कालतक भावसङ्घर्ष रहा, फिर आप मूर्च्छित हो गये। श्रीपराञ्जपेजी तथा अन्य भक्तोंने उस गाढ़ मूर्च्छामें ही आपको बड़ी श्रद्धा और साहससे उठा लिया और श्रीठाकुरजीके सामने एक सुन्दर कालीनपर लेटा दिया। तब आप मेघगम्भीर नादसे बारम्बार हुंकार करने लगे तथा लोगोंके देखते-देखते पहले तो भगवान्की ओर पैर करके लेट गये, फिर उठे और भगवान्को एक ओर खिसकाकर सिंहासनपर जा विराजे। इस भगवदीय आवेश और तेजको देखकर भक्तोंके आनन्दका पारावार न रहा। उन्हें तो मानो श्रीश्यामसुन्दरकी गिरिराज-लीलाका अथवा श्रीमन्महाप्रभुकी महाप्रकाश-लीलाका ही प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। उस समय भक्तोंको अपने-अपने भावके अनुसार विभिन्न रूपोंमें दर्शन हो रहे थे। तदनन्तर आपने मेघगम्भीर वाणीसे कहा, "भोग लगाओ।" यह सुनकर भक्तोंके आनन्दका पारावार न रहा। सबने भोग लगाया। कितना भोग पा गये इसका कुछ ठिकाना नहीं। अन्तमें प्रभु बोले, "वर माँगो।" सब भक्तोंने वर माँगे और आपने सबको 'एवमस्तु' कहा। तदनन्तर सब भक्तोंने आरती और स्तुति करके श्रीचरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर सब लोग खोल, करताल आदि वाद्य लेकर कीर्तन करने लगे। अब तो क्या कहना था! आजका कीर्तन और दिनोंका-सा नहीं था। आज तो प्रेमावतार

श्रीशचिनन्दन ही स्वयं वेश बदलकर पुनः इस रूपमें प्रकट हुए थे। आज सब भक्त क्या बन गये थे, सुनिये—

संकीर्तनानन्दरसस्वरूपाः प्रेमप्रदानैः खलु शुद्धचित्ताः।
सर्वे महान्तः किल कृष्णतुल्याः संसारलोकान् परितारयन्ति ॥[1]

जब भक्तजन संकीर्तनानन्दमें विभोर हो गये तब प्रभु उठकर भक्त-मण्डलीके बीचमें आये और स्वयं नृत्य करने लगे। प्रभु दोनों भुजाएँ उठाकर विचित्र गतिसे नृत्य कर रहे थे। जब जो अनूठी शोभा हुई उससे भक्त-मण्डलीके बीचमें नृत्य करती हुई श्रीगौरचन्द्रकी कनककमनीय मूर्त्तिको ही नेत्रोंके सामने साक्षात् उपस्थित कर दिया—

कनकमुकुटकान्ति चारुवक्त्रारविन्दं।
मधुरमधुरहास्यं पक्वबिम्बाधरोष्ठम् ॥
सुवलितललिताङ्गं कम्बुकण्ठं नरेन्द्रं।
त्रिभुवनकमनीयं गौरचन्द्रं प्रपद्ये ॥[2]

बस, एक आनन्दका बाजार-सा लग गया। कोई प्रभुके चरणोंमें पड़कर रो रहे हैं, कोई खिलखिलाकर हँस रहे हैं और कोई किसीके गलेमें लिपटा हुआ है। इस प्रकार वह सारी रात्रि बीत गयी। जब प्रातःकाल हुआ तो प्रभु अकस्मात् हुंकार करके पृथ्वीपर गिर पड़े। भक्तोंके अनेकों उपचार करनेपर आपको चेत हुआ।

पराञ्जपेजीने आपकी सगुणब्रह्मावतरणकी लीला देखकर आपको श्रीशिशिरकुमार घोष द्वारा रचित लार्ड गौराङ्ग (Lord Gaurang) नामका ग्रन्थ दिया। गीता जैसे अद्वैतवेदान्तियोंके लिए हृदयदर्पण है उसी प्रकार वह ग्रन्थ आपके लिए हृदयदर्पण ही निकला। मणिखम्भमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर जैसे श्यामसुन्दर अपनी सुन्दरतापर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार आप लार्ड गौराङ्गमें अपना ही प्रतिरूप देखकर उस अद्भुत

---

१. जो सङ्कीर्तनानन्द रसस्वरूप हो रहे हैं, प्रेम प्रदानके कारण जिनके अन्तःकरण शुद्ध हैं वे सभी महापुरुष श्रीकृष्णके सदृश होकर संसारी लोगोंको तार रहे हैं।

२. जो स्वर्णमुकुटकी कान्तिसे युक्त है, जिनका मनोहर मुखारविन्द है, मधुर-मधुर हास्य है, पके हुए बिम्बाफलके समान अधर और ओष्ठ हैं, सुगठित सुन्दर अङ्ग हैं और शङ्खके सदृश ग्रीवा है उन त्रिभुवन-सुन्दर नरश्रेष्ठ श्रीगौरचन्द्रकी मैं शरण हूँ।

सौन्दर्य-माधुर्यसे मुग्ध हो गये। उसका वर्णन करते समय कई बार आपकी भुजाएँ उठ जाती थीं, नेत्र मतवाले हो जाते थे और चेहरेसे लालिमायुक्त प्रकाश निकलने लगता था। आप जैसे-जैसे भावसे भावित होते वैसी-वैसी ही आपकी मुखाकृति हो जाती थी। सब लोग भावविभोर होकर यही अनुभव करते कि साक्षात् गौरसुन्दर ही अपने चरित्रका स्वयं वर्णन कर रहे हैं। भक्तजन एकाग्रचित्तसे निर्निमेष हो भावतरङ्गोंमें उछलते-कूदते रहते। वह सत्सङ्ग नहीं था, रस पीना और रस पिलाना था। यहाँसे इस अद्भुत प्रकारसे हमारे पूज्य बाबाका जीवन स्पष्टतया प्रेमभक्तिकी ओर प्रवाहित होने लगा। सचमुच प्रभुके अचिन्त्यगुणगणका ऐसा ही अनूठा प्रभाव है कि उससे आकृष्ट होकर आत्माराम मुनिजन भी उनके भजनमें तल्लीन हो जाते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥[1]

इस प्रकार इस सङ्कीर्तनके द्वारा आपमें एक नवीन भावमय जीवनका आविर्भाव हुआ। परन्तु यह सङ्कीर्तन तो निमित्तमात्र था। वास्तविक बात तो यह है कि उनके भीतर श्रीश्यामसुन्दरकी लीलावताररूप बाँसुरी बज उठी, जिसके विषयमें प्रेमरसकी नित्य-आचार्या गोपिकाओंने कहा था—

कास्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन।
सम्मोहितार्यचरितान्नचलेत्त्रिल क्याम्॥
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्यरूप।
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

(भाग० १०।२९।४०)

'प्यारे श्यामसुन्दर! तीनों लोकोंमें भी और ऐसी कौन स्त्री है जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तान सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मूर्त्तिको, जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्य प्रदान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिण भी पुलकित हो जाते हैं, अपने नेत्रोंसे निहारकर आर्यमर्यादासे विचलित न हो जाय।'

---

१. जिनकी हृदय-ग्रन्थि टूट गयी है वे आत्माराम मुनि भी भगवान्‌में अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि श्रीहरि ऐसे ही दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं।

इस प्रकार भगवत्पूज्यपाद भगवान् शङ्कराचार्यजीने जो अपने षट्पदी स्तोत्रमें कहा है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥[1]

वही मूर्त्तिमान् होकर आपके जीवनमें प्रकट हुआ। अब जो भगवद्रस ब्रह्मविचारके आवरणमें छिपा हुआ था वही आविर्भूत हो गया। अब तो आपकी यही सुनिश्चित निष्ठा है—

जोइ नाम सोइ कृष्ण भज निष्ठा करि ।
नामेर सहित आछे आपनि श्रीहरि ॥

रसलहरियोंमें रसराज

आपके हृदयाङ्गणमें सगुण ब्रह्मरसका अवतरण होनेके पश्चात् श्रीकृष्णचैतन्यरस ही आस्वादनीय, आवाहनीय, अनुकरणीय और वितरणीय हो गया। आपने स्पष्ट अनुभव किया कि इस रसानुभूतिके आनन्दसे बढ़कर और कोई आनन्द नहीं है। अतः आप इसीमें तद्भावभावित होते चले गये। उसका अनुवर्तन करते हुए उसी प्रकारके क्रिया-कलापसे आपका जीवन ओत-प्रोत हो गया। हृदयप्रधान तो आप हैं ही। आपके हृदयधन हैं श्रीकृष्णचैतन्य। उनके लीलारसका आस्वादन ही जीवनभर आपकी अतृप्त पिपासा रही है यही आपका इष्ट है, यही निष्ठा है, यही रङ्ग है और पीने-पिलानेके लिए यही रस है। अतः आपके सामने श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका यह इष्ट और स्वरूप आया तथा यही आपका भी इष्ट और स्वरूप हो गया—

राजच्चन्द्रकरोचितारुचिरतिप्राणेशभावाधिका ।
मा निद्रोहपराक्रुशानुतनुतापादीनता भूषिता ।
नागारे स्फुरितादराप्रियतमा लाभासमाधिश्रिता ।
पायात्वामधुनाशनादिरहिता सा राधिका सातनुः ॥[2]

---

१. हे नाथ ! भेदकी निवृत्ति हो जानेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं। तरङ्ग ही समुद्रका होता है, समुद्र तरङ्गका नहीं होता।

२. इस श्लोकके श्रीजी और श्रीकृष्णपरक दो अर्थ हो सकते हैं। पहले श्रीजीपरक अर्थ दिया जाता है—

राजत चन्द्रकरोचित अरुचिः—सुन्दर चन्द्रमाकी किरणोंसे भी जिन्हें ग्लानि होती है, अतिप्राणेशभावाधिका—प्रियतमके प्रगाढ़ विरहभावसे

इन व्रजविहारी, प्रिया-प्रियतम, नित्यकिशोर नवदम्पतिकी प्रेमलीला रसस्वरूपा है। उन्हीं दोनोंने सम्मिलित रूपसे प्रेमदाता निमाई होकर रस वितरण किया। महाभावस्वरूपा श्रीजी और प्रेमपीयूषस्वरूप श्रीकृष्णके स्वरूप पद-पदमें उनके जीवनमें प्रकट हुए। ये ही हमारे बाबाके भी स्वरूप हैं। आपके यहाँ नित्यप्रति यह पाठ होता है—

राधाकृष्णवाहं वन्दे रसरूपौ रसायनौ ।
वृन्दावननिकुञ्जेषु नित्यलीलासमाश्रितौ ॥

जैसा श्रीजीने कहा था वही बात हुई हमारे बाबाके साथ भी—'सखियो! तुमने सलाह दी थी कभी स्नान करनेके लिए यमुनाजी मत जाना, क्योंकि वह नटखट कृष्ण कदम्बवृक्षकी ओटमें खड़ा देखता रहता है। वह अपने मनोमोहक सौन्दर्यसे आकर्षित करके भोली-भाली व्रज-बालाओंको पकड़ लेता है और अपनी बाँकी चितवनसे उन्हें घायल

जो व्यथित रहती हैं, मा निद्रा—जिन्हें नींद आती ही नहीं है, ऊहपरा—जो कृष्णके विषयमें ही तर्क-वितर्क करती रहती हैं, कृशानुतनुतापा—विरहाग्निसे जिनका शरीर सन्तप्त रहता है, दीनताभूषिता—जो विरहके कारण दैन्यभावसे विभूषित हैं, नागारे स्फुरितादरा—जिनको घर-बार कुछ भी अच्छा नहीं लगता प्रियतमअलाभ-असमाधिश्रिता—अपने प्रियतमके न मिलनेसे जो खिन्न बनी रहती हैं, अधुना—विरहकालमें अशनादिरहिता—जिन्होंने खान-पानका परित्याग कर दिया है, सा—वह, सा—अमङ्गलनाशिनी, तनूः—कृशाङ्गी, राधिका—राधिका—राधिकाजी, त्वां पायात्—तुम्हारी रक्षा करें।

अब श्रीकृष्णपरक अर्थ लीजिये—

राजत-चन्द्रिक-रोचित-रुचिः—मनोहर मयूरपिच्छसे जो अलंकृत है, रतिप्राणेशभावाधिका—रतिके प्राणवल्लभ कामकी कान्तिको अपनी कान्तिसे जो तिरस्कृत करती है, मानिद्रोहपरा—कंसादि अभिमानियोंसे द्रोह करनेवाली कृशानुतनुतापा—अग्निके समान देदीप्यमान, अदीनताभूषिता—उदारतासे अलंकृत, नागारे स्फुरितादरा—गरुड़जीको आदर देनेवाली, प्रियतमालाभा—सुन्दर तमालकी-सी कान्तिवाली, समाधिश्रिता—निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित, मधुनाशना—मधुदैत्यका नाश करनेवाली, आदिरहिता—अनादि, साराधिका—अनुपम शक्तिशालिनी, सा तनूः—वह श्रीकृष्णकी देह, त्वां पायात्—तुम्हारी रक्षा करे।

कर डालता है। मैं अपने मनोबलका विश्वास करके कि वह मेरा क्या कर सकता है, यमुनाजी चली गयी। हाय ! हाय ! क्या कहें, उसने केवल चित्त ही नहीं चुराया, अपितु सर्वस्व हर लिया। मैं ऐसी मुग्ध हो गयी कि कुछ भी नहीं रही। जहाँ दृष्टि जाती है बस, वही दिखायी देता है।' यही बात श्रीमहाप्रभुजी भी कहते हैं—"जब मैं पढ़ानेके लिए चलता हूँ तब एक नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्ग अनुपम रसिकशेखर अपनी दिव्य वंशी बजाता हुआ सामने आकर खड़ा हो जाता है। उसकी शोभा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपनी ओर खींच लेती है। बस मेरे मनमें उसके प्रेमभरे मुखारविन्द, रभभरी लीला और हँसी मसखरीके सिवा और कुछ नहीं रहता। उसने मेरे मस्तिष्क, हृदय और व्यक्तित्वपर पूर्णतया अधिकार कर लिया है। मैं अपने वशमें नहीं हूँ। उसने मुझे सर्वथा अपने अधीन कर लिया है। हाय ! हाय ! क्या कहूँ, कितना कोमल और कितना प्रेमल है वह। बस उसीका नामसङ्कीर्तन करें, जो प्रेम, दया और कृपाका अवतार है।" यही दशा बाबाकी थी। आप कहते थे, "निमाईने सर्वस्व हर लिया, क्योंकि वह कनककलशमें रखा हुआ स्वयं कृष्ण-प्रेम ही है।"

इस प्रकार श्रीजीका भाव ही महाप्रभुजीमें अवतरित हुआ है और उनके द्वारा वही भाव हमारे बाबामें आविर्भूत हुआ था। जिस समय आप श्रीजीके भावसे भावित होकर श्रीकृष्णके विरहमें रुदन करते हुए प्रलाप करते थे आपकी तीव्र हृदयवेदना स्पष्ट प्रकट हो जाती थी। उस समय आपके कण्ठकी मधुरिमा सर्वथा अलौकिक होती थी। सचमुच ऐसा जान पड़ता था मानो स्वयं महाभावमयी माधुर्यमूर्ति श्रीकिशोरीजी ही अपने रसघन प्रियतमके विरहमें रुदन कर रही हों। भावान्तर होनेपर श्रीकृष्णके सान्निध्यकी अनुभूति होनेके कारण उससे होनेवाला आनन्द भी अभिव्यक्त हो जाता था। ये लीलाएँ प्रायः नववृन्दावन और अवन्तिका आदिमें हुई थीं।

हरिनाम ही श्रीमहाप्रभुजीका हृदयधन था। उसे आपने भी पूर्णतया अपनाया। श्रीहरिनाममें इन पन्द्रह शक्तियोंका निरूपण किया गया है—(१) भुवनपावनी, (२) सर्वव्याधिविनाशिनी, (३) सर्वदुःखहारिणी, (४) कलिकालभुजङ्गनाशिनी, (५) नरकोद्धारिणी, (६) प्रारब्ध-विनाशिनी, (७) सर्वापराधभञ्जनी, (८) कर्मसम्पूर्त्तिकारिणी, (९) सर्ववेदतीर्थादिकफलदायिनी, (१०) सर्वार्थदायिनी, (११) जग-

दानन्ददायिनी, (१२) अगतिगतिदायिनी, (१३) मुक्तिप्रदायिनी, (१४) वैकुण्ठलोकप्रदायिनी और (१५) भगवत्प्रीतिप्रदायिनी।

पूज्य बाबाने अपने आगामी जीवनमें अगणित प्राणियोंको इन शक्तियोंका स्पष्ट अनुभव कराया था। ये शब्द उनके आदरार्थ नहीं हैं, सर्वथा यथार्थ हैं। श्रीमन्महाप्रभुजीका समग्ररसरूप और परमप्रिय नाम-संकीर्त्तन आपके जीवनमें अवतरित हुआ—यह बात तो सर्वसाधारणके लिए भी प्रत्यक्ष है।

वर्धासे गवाँकी ओर

वर्धामें आपकी ख्याति फैलने लगी थी। इसके कारण प्रतिष्ठाके घेरेमें न आ जायँ, इसलिए आप वहाँसे चल दिये। पहले अमरकण्टककी ओर गये और वहाँसे कई स्थानोंमें विचरते गवाँ पहुँचे वहाँ बाबू हीरालाल आपके वेदान्तके सहपाठी थे और पहले आप उन्हें जीवनदान दे चुके थे। आप सीधे उन्हींके द्वारपर पहुँचे और महाप्रभुजीने महाप्रकाशके पश्चात् जैसे श्रीवासको जाकर पुकारा था उसी प्रकार कहा, "किवाड़ खोलो।" भीतरसे पूछा, "कौन है।" आपने कहा, "जिसका तुम ध्यान करते हो।" कैसी विचित्र बात कि इस समय, जो प्रश्न और उत्तर श्रीवास पण्डितके साथ श्रीमन्महाप्रभुके हुए थे, वे ही यहाँ श्रीहीरालालजीके साथ आपके हुए। तीन बार ऐसे प्रश्नोत्तर होनेपर उन्होंने किवाड़ खोल दिये। तब श्रीवासकी भाँति ही हीरालालजीने आपकी कनक-कमनीय मूर्त्ति देखी, जिसके श्रीमुखसे दिव्य तेज प्रस्फुटित हो रहा था तथा जिसके नेत्र प्रफुल्लित नीलकमलके समान तथा मदोन्मत्तकी भाँति घूर्णित थे—देखते ही बाबूजीने श्रीचरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। आपने उन्हें बलपूर्वक उठाकर हृदयसे लगा लिया और अपना हृदय खोलकर उन्हें इस जीवनके कर्त्तव्यकी ओर इङ्गित करते हुए कहा, "देखो, मोक्षकी लालसाको भी तिलाञ्जलि देकर चिरकालसे बिछुड़े हुए अपने स्वरूपभूत जीवोंको, जो त्रिविध तापोंसे जल रहे हैं, भवसागरसे निकालकर श्रीहरिके चरणोंमें लगाना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। लो, यह भगवन्नामकी पूँजी है, जो मैं पुस्तकरूपमें वर्धासे लाया हूँ। इसका स्वयं रसास्वादन करके इसे प्राणिमात्रको वितरण करो। इसमें स्थावर-जङ्गम सभीका अधिकार है।

इस प्रकार श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके अवतारका जो एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्णलीलारस-वितरण और जीवोंको प्रभुप्राप्तिकी ओर अग्रसर करना

था वही आपका भी जीवनोद्देश्य जान पड़ा। श्रीकिशोरीजीका हृदय ही श्रीमन्महाप्रभुजीमें आविर्भूत हुआ था। जिस प्रकार उनका श्रीकृष्णके प्रति अतीव अनिर्वचनीय प्रेम है और जीवोंके प्रति अत्यन्त अनुग्रहदृष्टि है। वे यही चाहती हैं कि जीव किसी प्रकार अपना भाव और बर्ताव सुधारकर श्रीकृष्णकृपाके अधिकारी बनें, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभुजीका भी श्रीकृष्णके प्रति अगाध प्रेम है और जीवोंके प्रति ऐसी करुणा है कि किसी प्रकार वे शुद्धान्तःकरण होकर कृष्णकृपाके पात्र बनें। उनका यही भाव हमारे पूज्य बाबामें भी ज्योंका त्यों अवतीर्ण हुआ है। अतः उनकी दृष्टिमें पापी कोपके भाजन नहीं, अतीव कृपाके पात्र हैं।

रसवितरण

उन दिनों आप उन्मत्तकी भाँति बड़ी मस्तीमें रहा करते थे। जो कोई मिलता उससे पूछते, "भक्तजन और सत्सङ्गी कहाँ मिलेंगे?" किसीने बताया कि बरौरामें पं० जयशङ्कर, नित्यानन्द और जौहरीलाल रहते हैं। वहाँ जाकर आपने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। वे बेचारे एक परम तेजस्वी संन्यासीको दण्डवत् करते देखकर एकदम हक्के-बक्के रह गये। वहाँ निश्चित समयानुसार सत्सङ्ग होने लगा। आप बालकोंकी तरह खूब हँसते और आध्यात्मिक भावपूर्ण खेल करते। आपकी भगवत्प्रेममयी लीलाएँ उत्तरोत्तर बढ़ने लगीं। आप सड़कपर चल रहे हैं, सामने कोई सीधा-सादा ग्रामीण व्यक्ति आ गया तो आप उससे अनुनय-विनय करने लगते—'भाई! क्या तुमने प्यारे श्यामसुन्दरको देखा है? यदि देखा है तो मुझे बता दो। हाय! मेरे प्राण निकल रहे हैं। कोई मेरे धनके दर्शन करा दो। अरे! जो मुझे प्यारेसे मिलावेगा उसका आभार मैं कभी नहीं भूलूँगा।' ऐसा विलाप करते हुए आप फूट-फूटकर रोने लगते। इसी प्रकार किसान, कुम्हार अथवा जो भी मिल जाता उसीसे अपने प्यारेके लिए व्याकुल होकर उसका नाम-संकीर्त्तन कराते और स्वयं भी उसके साथ करते हुए तद्भावभावित होकर नृत्य करने लगते।

इस प्रकार खेल-खेलमें ही नामवितरण होने लगा। केवल इतना ही नहीं, इसमें श्रीमन्महाप्रभुका लीलानुकरण भी होता था। सच बात तो यह है कि गौरहरिने इनके हृदयमें घर कर लिया था। वे ही इनके माध्यमसे सब लीलाएँ कर रहे थे। निमाईकी अद्वितीय विनय, जो साधारणतया अप्राप्य है, आपमें ज्योंकी-त्यों उतर आयी थी। उसके

प्रभावसे सभी विनयकी तरङ्गोंमें डूब जाते थे। बस, यही लगता था कि यहाँ कपटका नाम-निशान भी नहीं है। ये तो सादगी, विनय, माधुर्य और आर्जवके अवतार ही हैं। इतने बड़े तेजस्वी संन्यासी होकर ऐसी आश्चर्यमयी विनम्रता और ऐसा गहरा भक्तिभाव। इससे स्पष्टतया यह बात हृदयमें अङ्कित हो जाती थी कि ये अलौकिक हैं और मानवस्तरसे ऊँचे हैं। वहाँकी प्रजा केवल आपकी सुन्दरतासे ही मुग्ध नहीं थी, अपितु इस बातसे आश्चर्यचकित थी कि इनके नेत्रोंसे तो एक आनन्दमयी ज्योतिकी कान्ति बिखरती है। उससे इनका एक अलौकिक अनुपम माधुर्य अनुभव होता था।

निमाईकी चञ्चलता देखकर सभीके, मुख्यतया शची माँके चित्तमें आता था कि इसकी सुन्दरतासे आकृष्ट होकर बालगोपालने इसमें घर कर लिया है। जब यज्ञोपवीतके समय बालगोपालका आवेश हुआ और वे यह आज्ञा देकर कि इनका ध्यान रखना, चले गये तबसे निमाई गम्भीर, शान्त और संयत हो गये। परन्तु हमारे बाबामें अपने अनुरूप सुन्दरता और अनुपम गुणगरिमा पाकर जबसे निमाईने प्रवेश किया तबसे निकलनेका नाम ही नहीं लिया। यहाँ जो निमाई आये वे फिर नहीं गये। यही नववृन्दावनकी व्रजमाधुरी है। निरन्तर 'हरि-हरि' रूपसे निमाईका नृत्य अन्तस्तलमें हो रहा है। 'ब्रजे जेइ महारास सेइ कीर्तनविलास' की सत्यता स्पष्ट खेल उठी। श्रीकृष्णप्रेमरससमुद्रमें जैसे निमाई निरन्तर तैरते हैं उसी प्रकार आप श्रीकृष्णचैतन्य-प्रेमरससमुद्रमें अनवरत तैरने लगे। जैसे निमाई थोड़ेसे शब्दोंमें उत्तर दे देते थे वैसे ही आप भी दे देते हैं। देखनेमें आता था कि आपके जीवनमें बाललीला-प्रधान निमाई छाये हुए हैं। जैसे निमाई विद्यार्थियोंसे हँस-हँसकर बालवत् क्रीड़ा करते थे उसी प्रकार आप भी ग्वालों और भक्तोंके साथ कबड्डी आदि अनेकों खेल खेलते थे। आपमें निमाईका आवेश होनेके कारण ही उनका आनन्दी स्वभाव, सहास्य वदन, उदारता, सरलता, प्रेमलता, विरह और सबसे बढ़कर उनकी बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता एवं व्यक्तित्वका महदाकर्षण भक्त और प्रेमियोंको मिल गये। इससे आपके विरोधी भी अनुगत बन जाते थे। परन्तु स्वभावसे तो आप अत्यन्त सङ्कोची और गम्भीर ही थे। अतः समझना चाहिए कि आपमें जो खेलना, हँसना और लीला करना आदि प्रवृत्तियाँ थीं वे तो निमाईकी थीं तथा गम्भीरता, शान्ति, निःस्पन्दता आदि आपकी अपनी सहज प्रकृति थीं।

कीर्तन-क्रान्ति

जैसे परमाणुमें परमात्मा है और चिदणुमें चिद्विलास है उसी प्रकार नाममें रूप, रस, लीला और धाम निहित हैं। नाम ही रसखानि है तथा नाम-कीर्तन ही आपका रूप और स्वरूप रहा है। आपका यह स्वभाव ही है कि प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक भावमें आगे-आगे नाम उसके पीछे और सब। हरिनाम ही आपके जीवनका पूर्ण रस है। कीर्तनकी आत्मा तो आप स्वयं गौरहरि ही हैं। सङ्कीर्तन आरम्भ करनेपर पहले प्रणवोच्चारण द्वारा आप मनोराज्यको जीतते हैं। उसके पश्चात् राम-नामका घोष करते हैं, जिसके विषयमें कहा है—

भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतानां रामरामेति गर्जनम्॥

इसके पश्चात् नाम-सङ्कीर्तन आरम्भ होता है। सङ्कीर्तनके समय सभी कीर्तनकार भावोन्मत्त हो जाते हैं, क्योंकि उनका भाव सबमें विद्युतके समान सञ्चरित हो जाता है। उनके प्रभावसे ऐसा जान पड़ता था मानो सभी भक्तिरसामृतसिन्धुमें गोता लगा रहे हैं। बस, ऐसा अनुभव होता था कि सबके सब श्रीकृष्णके साथ हैं और श्रीकृष्ण सबके साथ हैं। किन्हीं-किन्हींको आपके सङ्कीर्तनमें नृत्य करते हुए निमाई-निताईके दर्शन भी हुए हैं। सङ्कीर्तनके समय कोई झाँझ, कोई मृदङ्ग, कोई हारमोनियम, कोई शङ्ख और कोई करताल बजाते हैं। परन्तु आप सबके मध्यमें घण्टा बजाते हुए नृत्य करते हैं। सबके ताल-स्वर आपके घण्टेका अनुसरण करते हैं। एक अद्भुत आनन्दरसकी तरङ्ग व्याप्त हो जाती है।

अब उस प्रान्तमें सब ओर सङ्कीर्तनकी धूम व्याप्त हो गयी और आपके चमत्कारोंकी धाक जम गयी इन दिनों गवाँमें लाला कुन्दनलाल-का पौत्र रामेश्वर बहुत बीमार था। उसे अपस्मार रोग था। हिस्टीरियाके दौरे पड़ते थे। उस समय हृदयकी धड़कन बहुत बढ़ जाती थी। टाँगें भी काम नहीं देती थीं। उनमें रक्तसञ्चार प्रायः बन्द हो गया था। लाला कुन्दनलालने बहुत इलाज कराया, परन्तु कोई लाभ न हुआ। अन्तमें एक दिन उन्होंने आपसे प्रार्थना की। आपने उसे देखा और फिर बङ्गाली स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी अवधूतसे परामर्श करके यह निश्चय किया कि स्वार्थ और परमार्थ दोनों हीकी प्राप्तिके लिए इस कलिकालमें

एकमात्र भगवन्नाम ही साधन है। अत: आपने रामेश्वरके लिए सङ्कीर्तन कराना आरम्भ कर दिया। जिस दिन सङ्कीर्तन आरम्भ हुआ उस दिन रामेश्वरको दौरा पड़ा। उस समय ज्योंही आपने उसपर हाथ रखा कि दौरा शान्त हो गया। परन्तु तीन महीने तक सङ्कीर्तन होते रहनेपर भी अभिभावकोंके अविश्वास और प्रमादके कारण वह स्वस्थ न हुआ।

तब सब लोग रामेश्वरको लेकर अनूपशहर आ गये। वहाँ नियमानुसार कीर्तन होता रहा। पाँच महीनेतक यह क्रम चला। एक दिन कीर्तनके समय सब लोग भावावेशमें थे। निजामपुरके विकट भक्त खूबीरामको आज बड़ा आवेश था। उसे अपने शरीरका होश नहीं था और उसका चेहरा लाल हो रहा था। आप उस समय घण्टा बजाते हुए चक्रकी तरह घूम रहे थे। खूबीराम मण्डलमें नृत्य करता-करता एकदम झपटकर रामेश्वरके पास गया और उससे बोला, "हमारे भगवान् तो कीर्तनमें नृत्य कर रहे हैं और तू आरामकुर्सीपर पड़ा है। तू बड़ा भारी रईसका बच्चा है।" इस प्रकार बहुत कुछ भला-बुरा कहकर उसने उसके दो चपत लगाये और खड़ा कर दिया। इतने ही-में ऐसा प्रतीत हुआ कि एक बिजली-सी बाबाकी ओरसे आकर रामेश्वरमें समा गयी और वह उसी समय कठपुतलीकी तरह ऊर्ध्वबाहु होकर उन्मत्तभावसे नृत्य करने लगा। यही नहीं, वह तो हरिणीकी-सी चौकड़ी भरने लगा। भगवत्कृपाका यह अद्भुत चमत्कार देखकर सभीके हृदय कारुण्य और अद्भुत रससे भर गये। किन्तु आप शान्त और गम्भीर मुद्रासे ठीक समयपर कुटियापर चले गये। रामेश्वरकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

दूसरे दिन रामेश्वर आपके श्रीचरणोंमें प्रणाम करके विह्वल हो गया। आपने उसे उठाकर समझाया, "भाई! भगवान्ने तुझे यह नया जन्म दिया है। अब तू भगवान्की करुणाको भूलना मत। देख, सावधान रहना भगवान्की माया बड़ी प्रबल है—

शिव विरञ्चि को मोहई, को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान्॥

हरि-बाँधका अवतरण

अब रामेश्वरके हृदयमें बड़ी व्याकुलता रहने लगी। वह निरन्तर चौबीसों घण्टे आप हीके पास रहना चाहता था। किन्तु आप तो मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। आप उसे इस प्रकार कैसे रख सकते थे। इसलिए आपने

मनमें ऐसा विचार किया कि कोई ऐसा खेल होना चाहिए जिसमें रामेश्वर भी लग जाय तथा जिससे सारे जगत्का मङ्गल और जनताजनार्दनकी सेवा भी हो। आपका यह सङ्कल्प ही श्रीगङ्गाजीके बाँधके रूपमें मूर्त्तिमान हुआ, जो आपकी चिरकालव्यापिनी धवल कीर्त्तिका स्तम्भ है।

गवेंके आस-पासका प्रान्त श्रीगङ्गाजीका खादर है। यहाँ गङ्गाजीमें बाढ़ आनेपर प्रायः प्रतिवर्ष पानी भर जाता था। रामेश्वरके स्वास्थ्य-लाभकी घटनासे पाँच-सात वर्ष पूर्व यह बाढ़ इतने वेगसे आयी कि गङ्गाजी की एक बड़ी धारा महेवा नदीमें मिल गयी और उसके कारण चालीस मील तक प्रायः सात सौ गाँव जलमग्न हो गये। ग्रामीण जनताकी ऐसी घोर विपत्ति देखकर आपका कोमल चित्त बेचैन हो उठा और आपने असम्भव को भी सम्भव करनेका सङ्कल्प करके गङ्गाजीका बाँध बाँधनेका निश्चय किया। इसके लिए आपने सन् १६२२ ई० के पौष मासमें रामेश्वरके पिता किशोरीलालजीकी कुटियापर ललिताप्रसादजीसे कहा, "मैंने गङ्गाजीका बाँध बनानेका निश्चय किया है। यह काम आज ही आरम्भ करना है। तुम और रामेश्वर ही मेरे प्रधान सहायक हो। बड़ी सावधानीसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हुये सारा काम तुम लोगोंको सञ्चालित करना होगा। बाँध का प्रत्येक काम भगवान्का नाम लेते हुए ही करना चाहिए, क्योंकि भगवन्नामसे सारे विघ्न दूर होकर काम निर्विघ्न समाप्त होगा। बाँधको साक्षात् भगवान्का स्वरूप जानकर उसकी सेवा तन, मन, धनसे करना हमारा परम धर्म है।"

फिर आपने चन्दा करना अपने जिम्मे रखा तथा और सब काम भी भिन्न-भिन्न लोगोंको बाँट दिये। 'श्रीराम जय राम जय जय राम' का सङ्कीर्तन करते हुए बाँधका मुहूर्त्त किया गया। आप स्वयं घण्टा बजाकर सबके साथ कीर्तन करते थे और सबको उपदेश भी देते थे। आपने कहा, "यह बाँध साक्षात् अन्तर्यामी भगवान् ही हैं। यदि तुम इस काममें किसी प्रकारका कपट, चोरी, व्यभिचार या अन्य कोई कुकर्म करोगे तो याद रखो इस सर्वज्ञसे कुछ भी छिपा नहीं रहेगा। उसके लिए तुम्हें अवश्य दण्ड भोगना पड़ेगा। इसके द्वारा आर्त्त, जिज्ञासु' अर्थार्थी और ज्ञानी चारों प्रकारके भक्तोंको अपने-अपने ध्येयकी प्राप्ति होगी तथा संसारके बड़े-से-बड़े संकट भी बाँधपर मिट्टी डालनेसे दूर हो जायेंगे। आप लोगोंके सौभाग्यसे ही भगवान्ने ऐसा अवसर दिया है। मैं प्रतिज्ञा करके कहता

हूँ कि यदि रामनवमीतक मिट्टीका काम समाप्त न हुआ तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगा।"

इस बातकी प्रसिद्धि बिजलीकी तरह दूर-दूर फैल गयी। यह तो भगवान् रामकी समुद्रपर सेतुबन्धकी ही लीला थी। अथवा भगवान्‌की गिरिराज-लीला ही प्रकट हो गयी। सब लोग कहने लगे कि हरिबाबा तो साक्षात् भगवान् ही हैं। ये तो जीवोंपर करुणा करके ही इस धराधाममें अवतीर्ण हुए हैं। बस, आप चन्दा करनेके काममें जुट गये। खुर्जाके सेठ गौरीशङ्कर और उझियानीके भदावर साहब बाँधका पूरा खर्चा देना चाहते थे, परन्तु आपने स्वीकार नहीं किया। जन-जनके पास जाकर थोड़ा-थोड़ा चन्दा ही लिया। यह देखकर लाला कुन्दनलालने कहा, "यह आपकी क्या लीला है, चन्दाके लिए आप इतना कष्ट उठाते हैं, किन्तु जहाँ मिलता है वहाँ लेते नहीं। कृपया इसका रहस्य समझाइये।" आप बोले, "लालाजी! आप तो पैसेके कीड़े हैं। इसलिए आपको पैसा ही पैसा सूझता है। भाई! मैं जो कुछ लेता हूँ उसके बदलेमें इन्हें भी तो कुछ देना ही पड़ेगा। मुझे इसके लिए कोई बहुत बड़ी वस्तु देनी होगी! सो उस दिव्य परमार्थसुखमें जितना भी जिसका भाग है उतना ही उसका तन, मन, धन बाँध भगवान्‌की सेवामें लगेगा।" चन्दा सब लोग बड़े उत्साहसे लिखाते थे। सभी परम उदार और परोपकारी हो गये। आप हिन्दू-गाँवोंमें 'श्रीराम जय राम जय जय राम' का और मुसलमान-गाँवोंमें 'तेरी जात पाक हू' का कीर्तन कराते थे।

धीरे-धीरे चैत्र शु० ८ आ गयी। आपने पहले ही निश्चय कर दिया था कि रामनवमीतक मिट्टीका सारा काम समाप्त हो जाय। बीच-बीचमें उस प्रतिज्ञाका स्मरण भी दिलाते थे। परन्तु एक क्राँस बाँधपर कुछ काम शेष रह गया था। अष्टमी आनेपर यह देखनेके लिए चले कि काम पूरा हुआ है या नहीं। आप सीधे उसी बाँधपर पहुँचे जहाँ काम शेष रह गया था। उसपर किसीका ध्यान नहीं गया था। उसे अपूर्ण देखकर वहाँ काममें लगे हुए लोगोंके साथ आप भी जुट गये। परन्तु उसके पूरे होनेकी कोई सम्भावना नहीं थी। लोगोंने चलनेके लिए कहा। परन्तु आप बोले, "अब मैं तो यहीं मिट्टी डालते-डालते प्राण त्याग दूँगा। मुझसे कोई न बोले, अब मैं मौन हूँ।" यह बात सुनकर सबके होश उड़ गये। तब ललिताप्रसाद जीने कहा, "भाई! हिम्मते मर्दा मददे खुदा।" सब लोग जुट गये।

कामकी एक आँधी-सी आ गई। यह समाचार बिजलीकी तरह फैल गया और लोग दूर-दूरसे कस्सी और पल्ला लेकर दौड़ आये बाँधपर बड़ी भीड़ इकट्‌ठी हो गयी। अब क्या देरी होनी थी, वहाँ तो मिट्टीका एक पहाड़-सा खड़ा हो गया। फिर आपने काम छोड़कर कहा, "बस, भाई ! शावास ! अब काम बन्द करो।" उस समय श्रीहरिनामकी तुमुल ध्वनिसे आकाश गूँज उठा। दूसरे दिन रामनवमीको आपने अपने हाथसे एक कङ्कर बैठाकर कङ्करका मुहूर्त्त किया उस समय उत्सव भी बड़ी धूमधामसे हुआ। सब ओर 'श्रीहरिभगवान्‌की जय' का घोष हो रहा था।

इस प्रकार आप स्वामी स्वतःप्रकाशसे हरिभगवान्‌के रूपमें आविर्भूत हुए। आपमें सगुण ब्रह्मरस इतना एकमेक हो गया कि वह आपके सर्वांगमें छलकने लगा। इसीसे आपके चलनेमें अनुपम माधुरी है, हंसीमें मधुररसबोरी मिठास है तथा हृदयमें जीवकल्याणकी वेदना और दीनोंके प्रति दया है। क्या कहें, भक्ति महारानीके सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य और सौजन्य आपके द्वारा अपनी सरस माधुरी प्रवाहित कर रहे हैं। अपनी कमनीय कान्ति बिखेर रहे हैं तथा अपनी सौभाग्यलक्ष्मी उड़ेल रहे हैं। भक्ति देवीके दोनों पुत्र वैराग्य और बोध दायें-बायें भुजदण्ड रूपसे घण्टा वजा-बजाकर माँकी महिमा गा रहे हैं और नामकी महिमा घोषित कर रहे हैं। नाम-नरेशकी अचिन्त्य शक्तिकी धाक जम गयी, उससे सबके दिल विक गये। इतना ही नहीं, उनकी सूरत रसमार्गियोंका धन है, उनकी चितवन प्रेमरसकी महिमाका माधुर्य है, उनका सान्निध्य सन्तसान्निध्यका निरुपम सौष्ठव है। उनके खान, पान और पहरान तथा उनकी चाल-ढाल, सौन्दर्य और सौजन्य देखते ही बनते हैं। उनकी छाया पड़नेसे ही भाग्यलक्ष्मी खुल जाती है। अपने भक्तोंके लिए आप साक्षात् श्रीहरि हैं, अगणित प्राणियोंके आत्मा हैं, नयनानन्दके दाता हैं और वाञ्छितफलप्रदाता हैं। आपने रजका राजत्व (माहात्म्य), धामका धामत्व, नामका नामत्व, रूपका रूपत्व और लीलाका लालित्य प्रस्फुट प्रकट किया है। आपने विश्वरूपके वैराग्य तथा गौराङ्गकी करुणा और व्रजमाधुरीको जीवनरससे आप्लावितकर अपने स्वरूपकी अमिट छाप अगणित शरणागतोंके चित्तोंपर अङ्कित की है। उनके जीवन नामाङ्कित, हृदय रूपाङ्कित और मानसभूमि लीलाङ्कित बन गयी हैं। यह है इन हरिभगवान्‌के सान्निध्यकी महिमा। अब सब भक्तोंमें यह बात फैल गयी—

'बैठत हरि हरि, सोवत हरि हरि, हरिरस भोजन खाते।'

श्रीमहाराजजी और बाबाका प्रेम

हमारे परमाराध्य गुरुदेव श्रीमहाराजजी और परम पूज्य बाबा पहले भृगुक्षेत्रमें मिल चुके थे। अब जो उनका बाँधपर मिलन हुआ वह अपने-अपने पूर्ण रसोल्लासमें अगणित भक्तजनोंको आप्लावित करते हुए हुआ। इन दोनोंका मिलन क्या हुआ मानो इससे श्रीमहाराजजीकी असीम सर्वात्मब्रह्मनिष्ठाका सौन्दर्य एवं अनन्त अगाध रसका माधुर्य ही प्रकट हो गया। इससे उनकी पूर्णताकी उदारता, उनके सन्तस्वरूपकी सुजनता उनके सदाशिव रूपकी शिवता तथा उनके अनन्त स्वरूपकी सार्वभौम चमत्कृति ही प्रकाशित हुई। आपने इस मिलनेसे यह स्पष्ट दिखा दिया कि अपने ब्रह्मपादमें ही भगवत्पाद और भक्तिभावका अनन्त रस निहित है। यह सब अपने लहराते हुए ब्रह्मह्रदका ही प्रेमपीयूष है। निस्तरङ्ग ब्रह्मसमुद्र स्वयं अपना स्वरूप है। वही अपना आप अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे प्रतिपादित सतरङ्ग ब्रह्म है। उसकी स्थिति और गतिकी सरसता एवं माधुरी क्या है—यह बात इस मिलनके माध्यमसे मानो सम्पूर्ण विश्वके सम्मुख स्पष्ट प्रकट हो गयी। वेदान्तके तो प्रथम चरणमें ही विश्व और विराट्का अभेद हो जाता है। तब सर्वद्रष्टा और सर्वरूपसे जगमगाना तो बड़ा ही अद्भुत है। वह रस, वह आनन्द, वह सौन्दर्य, वह माधुर्य क्या है—कुछ कहा नहीं जाता। वह तो अनुभवगम्य है, अनिर्वचनीय है। फिर भी भाग्यशाली चतुर विचारकोंको इसकी स्पष्ट झाँकी आपके जीवनमें मिली। उन्होंने इस रसका पान किया और उन्मत्त भी हुए। आपका यह सर्वात्मविहार नहीं, सर्वात्मोल्लास था।

मेघदूत जैसे प्रेमीका सन्देश प्रियतमाके पास ले जाता है और हंसदूत जैसे प्रियाजीके उद्‌गार प्रियतमके पास पहुँचाता है उसी प्रकार अब गङ्गाजी के दोनों तटोंमें परस्पर एक-दूसरेके सन्देशोंका आदान-प्रदान होने लगा। वे अब जड़, तटस्थ और इन अद्भुत एवं असम्भवको भी सम्भव करनेवाले दोनों महापुरुषोंकी लीलाओंके केवल द्रष्टामात्र नहीं रहे। यद्यपि ब्रह्मद्रवा गङ्गा निरन्तर निरपेक्ष भावसे प्रवाहित होती थीं, तथापि वे श्रीमहाराजजी की अद्भुत लीलाओंका उद्‌घोष करतीं और आनन्दसे लहराती चल रही थीं। इसी प्रकार बाँधसे हरिरससे ओत-प्रोत कीर्तनानन्दमें स्वयं नाचती

आनन्दोल्लाससे हुंकार करती बह रही थीं। अब वे केवल धाराजी नहीं रहीं, वे इन दोनों अद्वितीय उदार महापुरुषोंकी उदार कीर्त्तिकी वाहिनी हो गयीं। या यों कहो कि दोनोंकी कीर्त्तिकल्लोलिनियोंका गङ्गामहारानीमें सङ्गम हो गया। धाराजी निरवधि आनन्दमें झूमने लगीं। इस प्रकार जब लोकपावनी श्रीगङ्गाजी ही स्वयं इन दोनोंकी कलिमलनाशनी उदारकीर्त्तिको वहन करने लगीं तो उनके दोनों तट ही कैसे निरपेक्ष, जड़ और निठल्ले साक्षी रह सकते थे। इसलिए अब यह जड़ गङ्गातट नहीं रहा, अपितु जीते-जागते आनन्दमें रसोन्मत्त भक्ततट हो गया। इन दोनों तटोंपर रहनेवाले भक्तवृन्द इन दोनोंकी अलौकिक लीलाओंके सन्देशवाहक बन गये। आगे चलकर वे केवल सन्देशवाहक नहीं रहे, प्रत्युत जैसे धाराजीमें मिलकर समस्त तीर्थ एक हो जाते हैं उसी प्रकार इन दोनों महापुरुषोंने अपने-अपने परिकर-सहित आर्यभूमिमें रसवितरण और रसविस्तारके लिए एक-दूसरेका आलिंगन कर लिया। वह मिलन भी अद्भुत था, उसमें यही असाधारण भाषा चल पड़ी—

इश्क मुहब्बतवालोंकी आँखें जबानें हो जाती हैं।
फिर आँखों-आँखोंमें अक्सर दोनोंकी सलामें हो जाती हैं॥

इन दोनोंका यह अद्भुत मिलन सर्वदा ऐसा ही रहा। यह तो ऐसा लगता था मानो नित्य नयी प्रेम-सगाई हो।

फिर इस प्रेम-सगाईमें इस अलख-भण्डारी सदाशिवने क्या दिया? ये तो औढरदानी हैं, खाली किसीको नहीं जाने देते। इन्होंने प्यार तो दिया ही, इसमें तो कहना ही क्या? परन्तु कुछ प्रत्यक्ष भी दिया। वह है श्रीवृन्दावन। उसमें भी श्रीकृष्णाश्रम। वह श्रीकृष्णाश्रम नहीं, श्रीकृष्णरसालय है। आप तो सर्वदा सर्वहृदयस्थ अन्तर्यामी ही हैं। आपने जान लिया कि श्रीहरिहृदयस्थ निमाई वृन्दावनमें व्रजमाधुरी आस्वादन करनेके लिए मचल रहे हैं। श्रीगौरांगरूपसे उन्हें वृन्दावनमें रहकर व्रजमाधुरी आस्वादन करनेका अवसर नहीं मिला। इस वृन्दावनकी माधुरी तो तीनों लोकोंसे न्यारी हैं। अतः उसकी लालसा इनके हृदयमें बनी रही, क्योंकि लालसा ही रसिक हृदयका स्वरूप है। उस माधुरीके अनुपम सौन्दर्य-लावण्यका अद्भुत रस क्या है—तनिक हम भी समझ लें। भाई! यह तो रसिकोंकी राजधानी रासेश्वरी श्रीराधिका महा-

रानीका धाम है। स्वयं श्रीरासेश्वरी और रसिकविहारी ही वृन्दावनके वन, वृक्ष, फल, फूल, पशु, पक्षी और यमुना-पुलिनके रूपमें प्रकट हुए हैं। यह केवल प्रिया-प्रियतमकी रासस्थली ही नहीं, चित्र-विचित्र प्रेमरसकी लीला-स्थली है। यहाँ श्रीगोपीहृदय ही बिछा हुआ है। उनके विविध उल्लास आलाप और विलापके गीतोंसे गुञ्जायमान है तथा उनके अनुराग-परागसे रागरञ्जित है। यहाँ श्रीश्याम-गौर तेजोंके लीलारसकी ज्वार-भाटाओंसे प्रेमसिन्धु लहरा रहा है। प्रेमोन्मत्त गोपिकाओंकी रास-क्रीडा ही इस प्रेम-समुद्रका उच्छलित सौन्दर्य है, जो श्रीप्रिया-प्रियतमके मुखचन्द्रयुगलका चुम्बन करनेके लिए अनवरत उछल रहा है। इसलिए यह वनस्थली नहीं रसस्थली है, जिसके विषयमें रसिकोंने गाया है—'**वृन्दावन सीमाके बाहर हरिहूँ कों न निहार।**' बस, आपने भक्तिरसालय श्रीहरिको यह माधुर्यरसालय अनन्त अगाध भण्डार दिया। इसे खूब पियो और खूब पिलाओ। किन्तु आप तो गोपेश्वर ही निकले।

इस अनुपम उपहारके प्रसङ्गको देखकर एक रसमय प्रसङ्ग स्मृतिपथमें आ जाता है। जब श्रीजानकीजी पाणिग्रहणके पश्चात् अयोध्याके महलोंमें आयीं तब सब रानियोंने अत्यन्त उल्लासमें मुखदिखाईमें अपनी सबसे प्रिय वस्तु उन्हें भेंट कीं। जब अम्बा कौसल्याजीकी बारी आयी तो वे संकोचमें पड़ गयीं कि इन्हें क्या दूँ। उनके हृदयसर्वस्व तो श्रीकोसलकिशोर ही थे। अत: उन्हींका हाथ श्रीजनकनन्दिनीजीके करकमलमें दे दिया। इसी प्रकार हमारे श्रीमहाराजजीने स्वभावसे सङ्कोच करते हुए भी यह सोचकर कि यह पारस्परिक मिलनका अवसर हाथसे निकल न जाय, इन्हें अपना हृदय-सर्वस्व वृन्दावन-रसालय भेंट कर दिया। जैसे पलक आँखोंकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार निरन्तर इन्हें सुरक्षित रखा। अजी ! या तो श्रीजी को श्रीकृष्णने प्यार किया और उनका ख्याल रखा या हमारे बाबाको हमारे श्रीमहाराजजीने।

इस मधुर मिलनको देखकर इससे मुग्ध हो पूज्य स्वामी श्रीशास्त्रा-नन्दजीने मधुर मुसकानके साथ मुझसे कहा था, "हरिबाबाजीके तप, भजन, सुकृत सब मूर्त्तिमान् होकर बाबाके रूपमें आये हैं। देखो, इन्हें तो अपने कथा-कीर्तनके सिवा और किसी कामसे कोई मतलब है नहीं, कोई भी चिन्ता नहीं है। अपने और इनके परिकर तथा सभी आग-न्तुकोंकी देख-रेख और सारा प्रबन्ध वे ही करते हैं। चाहे बाँधपर हों

या बाहर, सब जगह यही बात है। फिर वृन्दावनका तो कहना ही क्या है ?" उनका यह कथन तो सर्वथा ठीक ही है। वृन्दावनमें तो आप महलकी मधुररसभाविता श्रीकृष्णकीर्तनपरा पटरानी ही हैं, क्योंकि आपके ही कथनानुसार 'गोपी' किसी स्त्री या पुरुषका नाम नहीं है। वह तो चिन्मय भाव है। उसीके विषयमें श्रीमहाराजजीने भी स्पष्ट कहा था कि माधुर्य तो वह है, जिसमें जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों हीकी भावना नहीं रहती तथा जिसमें स्त्रीत्व और पुँस्त्वका भी अभाव हो जाता है। इस स्थितिमें अपने प्रियतममें न जड़बुद्धि रहती है और न सच्चिदानन्दबुद्धि ही, केवल प्रियतमबुद्धि ही रहती है।

ऐसा था उनका अनिर्वचनीय प्रेमसम्बन्ध। तो क्या बाबा चुप थे। इन सदाशिवमूर्त्तिके प्रेमसम्बन्धका क्या उन्होंने कुछ कम आदर किया ? नहीं, नहीं, खूब किया। ऐसा किया कि जैसा न पहले हुआ न आगे होगा। बाँधपर जब वार्षिक उत्सव आरम्भ होता तो पहले आप हमारे महाराजजी का शिवरूपसे पूजन करके उनका शिवरात्रिका उत्सव करते, पीछे अपने हृदयसर्वस्व श्रीमन्महाप्रभुजीका जन्ममहोत्सव करते। इस अवसरपर प्राय: तो श्रीमहाराजजी ठीक समयपर पहुँच ही जाते थे; एक-दो बार किसी कारण से न पहुँचे तो आप बाँध छोड़कर ही चले गये। उत्सव बन्द कर दिया, बोले, "बाबाके बिना क्या उत्सव ! उत्साह नहीं रहा।" इससे आपके अगाध प्रेमकी मधुरिमा क्या है—यह प्रकट हो जाती है। आप पहले श्रीमहाराजजीका और पीछे अपना उत्सव क्यों मनाते थे ? इसमें भी एक रहस्य है, क्योंकि—

इच्छित फल बिनु शिव आराधे। लहहिं न कोटि जोग जपु साधे।।
शिवपदकमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सुहाहीं।।
बिनु छल विस्वनाथपद नेहू। रामभगतकर लच्छन एहू।।

इसीसे आप पहले श्रीमहाराजजीका शिवरात्रिका उत्सव करके स्वयं अपने आचरण द्वारा अपने भाग्यशाली भक्तोंको शिक्षा-दीक्षा देते थे। आपकी अपनी दृष्टिमें तो सब उत्सव श्रीमहाराजजीके लिये ही होते थे।

अब आप पूज्य श्रीबाबाके मुखसे ही उनके मधुर प्रेमसम्बन्धके विषयमें कुछ उद्गार सुनिये। वे लिखते हैं—"बाबाका प्रत्येक भक्त जैसे यह अनुभव करता है कि वे मुझसे ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं उसी प्रकार मेरा भी यह अनुभव है कि इस शरीरपर बाबाका अपार प्रेम

था। उनका प्रेम माता-पितासे भी बढ़कर था। बाबा साक्षात् प्रेमकी मूर्त्ति थे। मुझे तो यह स्पष्ट दीख रहा है कि बाबाने मुझपर जितना प्रेम किया उतना विश्वमें और किसीने नहीं किया। मैंने कभी अपनेको बाबाके बराबर आसनपर बैठने योग्य नहीं समझा। मुझे सदा ही इस बातसे सङ्कोच होता था। परन्तु यदि मैं उनके बराबर आसनपर नहीं बैठता था तो वे उदास हो जाते थे। इसीसे उनकी प्रसन्नताके लिए मुझे भी आसनपर बैठना पड़ता था।" उनके प्रेमकी गहराईकी चर्चा करते हुए आप कहते हैं—"एकबार मैं बाँधपर बीमार पड़ा। शारीरिक कष्ट विशेष नहीं था, किन्तु बुखार हर समय बना रहता था। शरीर सूखकर लकड़ी-सा हो गया था। डाक्टर-वैद्य निराश हो चुके थे। सब लोग अत्यन्त दुःखी थे और मेरे जीवनकी आशा छोड़ चुके थे। वृन्दावनमें तो यहाँतक बात फैली कि हरिबाबा मर गये एक दिन रात्रिमें बाबा आये और सबको बाहर करके स्वयं किवाड़ बन्द कर लिये। मैं मरणासन्न अवस्थामें पड़ा था। बाबाने मेरे आसनपर लेटकर मुझे हृदयसे लगाकर गाढ़ आलिंगन किया। उनके प्रेमभरे आलिंगनमें ऐसी शक्ति थी कि मैं उसी समय अच्छा हो गया। इस प्रकार मेरा यह जीवन और साधन बाबाका ही दिया हुआ है। मैं आरम्भमें जब बाँधके समीपवर्ती गाँवोंमें सङ्कीर्तन कराने लगा तो गङ्गातटपर रहनेवाले जितने भी सन्त थे उन सभीने सङ्कीर्तनका विरोध किया। एक बाबा ही ऐसे थे जिन्होंने सच्चे हृदयसे हरिनाम-सङ्कीर्तनका समर्थन किया। और केवल मौखिक समर्थन ही नहीं, प्रत्युत जीवनभर स्वयं भी उसका प्रचार करते रहे। यदि बाबा न होते तो यह सङ्कीर्तनका प्रचार कभीका बन्द हो गया होता। मेरे मनमें कई बार सङ्कीर्तनोत्सव बन्द कर देनेकी बात आयी, परन्तु बाबा सर्वदा प्रोत्साहन देते रहे। वे कहा करते थे कि हमें तो उत्सव करना है, दूसरे क्या कहते हैं, यह नहीं देखना है।"

श्रीमहाराजजीका तो स्वप्नमें भी बाबाके साथ वही प्रेमका बर्ताव था, फिर जाग्रतमें तो कहना ही क्या है? इस विषयमें बाबा लिखते हैं—'सन् १६६५ ई० में श्रीकृष्णजन्माष्टमीकी रातको श्रीवृन्दावनमें मैंने एक स्वप्न देखा कि मैं यूनीवर्सिटीकी ऊँची परीक्षामें सबसे अधिक अङ्कोंसे पास हुआ हूँ। उसी समय एक अन्य व्यक्ति कहने लगा कि अबसे पहलेकी परीक्षाओंमें दूसरे लोग इससे भी अधिक अङ्कोंसे पास हो चुके हैं। तब बाबा बोल उठे कि नहीं, इतनी कठिन परीक्षा पहले कभी नहीं

हुई।' अब जागृतमें देखिये। बाबा लिखते हैं, 'सङ्कीर्तनके आरम्भमें ओंकार ध्वनिके प्रश्नको लेकर बड़ा आन्दोलन चला। श्रीकरपात्रीजी आदि महात्माओंने इसका विरोध किया और मेरे पास समाचार भेजे। परन्तु बाबाने स्पष्ट कह दिया कि हरिबाबा महात्मा हैं। वे जो करते हैं ठीक ही करते हैं। उसमें कुछ भी अनुचित नहीं हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि कथा कहते समय मैं ऐसा अर्थ कर देता जो टीकाकारोंके अर्थसे भिन्न होता। परन्तु बाबा कहते कि हरिबाबा जो अर्थ करते हैं वह ठीक है।'

इतना अपनत्व था दोनोंमें। कभी-कभी बाबाका प्रणय-कोप भी चलता था। भक्तवर ललिताप्रसादजी लिखते हैं—'एकबार गवाँमें उत्सव हो रहा था। पूज्य बाबा (हमारे श्रीमहाराजजी) भी उपस्थित थे। एक दिन आप स्नानके लिए गवाँसे बाँध चले आये। और रासलीलामें नहीं पहुँचे। बस, इसीपर महाराजजी (पूज्य हरिबाबाजी) रूँठ गये और दोपहरके सत्सङ्गमें कथा भी नहीं कही। तथा रातको बिना कुछ कहे-सुने अपना कमण्डलु लेकर किसी अज्ञात स्थानको चले गये। इससे बाबाको बड़ा ख्याल हुआ। उस उत्सवको पूरा करके भी आप कुछ दिन वहाँ रहे। पीछे आपसे मिलना हुआ तो महाराजजीने बताया कि उस समय मुझे आपपर गुस्सा आ गया था। मैं तो यह सब आपके लिए ही करता हूँ और आप लापरवाही कर देते हैं। इसीसे मैं चला गया था।' तबसे श्रीमहाराजजी आपके प्रेमका और भी आदर करते रहे, क्योंकि प्रेमकी चाल तो बहुत टेढ़ी होती है।

इसी प्रकार एक और घटना भी श्रीललिताप्रसादजी लिखते हैं—'बाँधके उत्सवपर बाबा प्रायः शिवरात्रिको पहुँचते हैं। उस समय आप प्रतिक्षण बाबाकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। एकबार किसी विवशतासे बाबा उस तिथिपर नहीं पहुँच सके। अतः दूसरे ही दिन उत्सवकी तैयारी छोड़कर चले गये। यह बात जब बाबाने सुनी तो उन्हें वहाँ न पहुँचनेका बड़ा खेद हुआ।' वास्तवमें तो ऐसी घटनायें उनके आगाध प्रेमके कारण ही होती थीं।

प्रतिदिन श्रीमहाराजजी बाबाका कितना ख्याल रखते थे, इस विषयमें बाबा लिखते हैं—'कीर्तनकी घण्टी बजते ही बाबा कहने लगते, "अरे! चलो, चलो, हरिबाबा कीर्तनमें पहुँच गये।" और स्वयं भी शीघ्रतासे चल देते। "श्रीमहाराजजी जानते थे कि बाबा निमाईकी तरह

भावमूर्त्ति हैं, किसी शब्दसे भी उनके चित्तको ठेस पहुँच सकती है। इसलिये यह सोचकर कि इनके सुकुमार भावमय चित्तको कोई ठेस न पहुँचे हर समय सतर्क रहते थे और दूसरोंको भी सावधान करते रहते थे। यदि बाबा पहुँच जाते तो अपना सत्सङ्ग भी बन्द कर देते थे। इतना ही नहीं किसी व्यक्ति या क्रियाको लेकर उनका चित्त न बिगड़े इसका पूरा ध्यान रखते थे। साथमें सङ्कीर्तन करनेवाले लोग सर्वदा प्रसन्न रहकर एक दिल, एक प्राण और एक मनसे बाबाके साथ कीर्तन करें—इस दृष्टिसे आप उनका खूब पालन-पोषण करते थे। उन्हें गुप-चुप मनमाने पदार्थ देते और उनकी इच्छा-पूर्त्ति करते थे। उनसे 'महावीरकी तरह जुट जाओ' ऐसा कहकर उनका उत्साह बढ़ाते थे, क्योंकि बाबा तो तनिक स्वरका अन्तर, हृदयका अन्तर या तालका अन्तर आ जानेसे ही चमक जाते थे। उनके कीर्तनमें आनन्द आ जाय, इसके लिए आपने मनोहरजीको श्रीमन्महाप्रभुजीका आवाहन सीखनेके लिए उत्साहित किया और खोल देकर आशीर्वाद दिया कि बेटा! बजाये जाओ, स्वयं ही आ जायगा। आपके आशीर्वादसे वे इन दोनों कार्योंमें बहुत प्रवीण हो गये। मनोहरजी अवश्य ऐसे व्यक्ति हैं जो यहाँका वहाँ और वहाँका यहाँ लीलागुणगान करके परस्पर प्रेम बढ़ाते हैं।'

भक्तवर ललिताप्रसादजी लिखते हैं—'हमारे महाराजजी और बाबाके सिद्धान्तोंमें भी एक मौलिक अन्तर है। महाराजजीका विचार है कि ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म—इनमें कोई अन्तर नहीं है। एक ही व्यक्ति इनका साथ-साथ अनुष्ठान कर सकता है और पहले तो अधिकतर इनका साथ-साथ ही अनुष्ठान किया भी जाता था। परन्तु बाबा कहते हैं कि सिद्धोंकी बात तो निराली है, किन्तु साधनकालमें अधिकार-भेदसे इनमेंसे किसी एकका आश्रय लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो किसी भी साधनमें साधककी निष्ठा परिपक्व नहीं होगी, और वह अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकेगा।'

इस विषयमें मेरी विनम्र प्रार्थना यह है कि यह भेद तो आपात दृष्टिसे ही है, यदि गहराईसे विचार किया जाय तो यह अन्तर इन दोनों महापुरुषोंके जीवनके विकास और लक्ष्यप्राप्तिके क्रमको ही सूचित करता है। जब इन दोनोंके जीवनमें निष्ठाका अवतरण हुआ तब तो दोनोंकी अपनी-अपनी एक ही निष्ठा रही। श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि योग और भोगके स्कूल नहीं होते। ये स्वयं ही जीवनमें फूट-फूटकर निकलते

हैं। आपके जीवनमें तो नाममात्रके दीक्षागुरु ही थे। आपने खोज-खोजकर स्वयं सत्सङ्ग किया। अपना लक्ष्य आपके सामने था और आप स्वयं ही अपने गुरु थे। बाहर और भीतर कोई अन्य अवलम्बन नहीं था। पहले स्वर्गापवर्गप्रदायिनी माँ शक्तिकी आराधना रही, फिर निर्विकल्प समाधि-निष्ठ सन्तकी खोज, फिर तीव्र जिज्ञासा और फिर अपने ढङ्गका अद्भुत साक्षात्कार। इसके पश्चात् व्यातिरेकप्रधान शुद्ध परात्पर ब्रह्ममें सर्व-प्रेम समर्पण और सर्वात्मविहार। आपका ध्रुव लक्ष्य एक ही था और उसके लिए आपने अथाह पुरुषार्थ किया। इस प्रकार यह शास्त्रसम्मत और अनुभवसम्मत जीवन स्वयं खिलता गया।

अब बाबाके जीवनपर दृष्टि डालिये। चार वर्षकी आयुमें आपको सद्गुरु श्रीसच्चिदानन्दजी महाराज मिल गये। ज्ञानचर्चारूपमें नित्य सत्सङ्ग, गुरुभक्ति और सेवारूपमें कर्म—इस प्रकार एक साथ ही ज्ञान, उपासना और कर्म आरम्भ हो गये। फिर इनका परिणाम इस रूपमें हुआ—अपना-आप आत्मा तो नित्यमुक्त है ही और सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी ही कृपालु गुरुदेव हैं; उनकी भक्ति भी की और सेवा भी की। इस प्रकार गुरुनिष्ठाप्रधान स्वात्मबोध और सेवारूपमें कर्म साथ-साथ ही चले। संन्यासके पश्चात् केवल तीन वर्ष कर्म छोड़कर केवल ब्रह्मनिष्ठा-मात्र रही। फिर गुरुदेवके पास आनेपर सेवा और गुरुनिष्ठाकी ही प्रधानता हो गयी, ब्रह्मनिष्ठामें गौणता आ गयी। इस प्रकार जिन्हें जीवनके आरम्भमें ही ऐसे समर्थ सद्गुरु मिल गये उनकी तो साधन-कालमें ही ये तीनों निष्ठाएँ साथ-साथ रहीं। श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें हम लोगोंकी भी यही स्थिति रही है। परन्तु जब आप पुनः गुरुदेवसे अलग होकर विचरने लगे तब वाह रे! संस्कार! चैतन्यचन्द्रोदयने आपको स्पष्ट भक्तिनिष्ठ कर दिया। पहले जो अष्टावक्र-गीता आपको कण्ठस्थ थी वह भी विस्मृत हो गयी। सत्सङ्गमें यदि भागवतका कोई ज्ञानप्रधान श्लोक आ जाता है तो उनका विशेष विवेचन न करके सामान्य अर्थ करते हुए पार कर जाते हैं। स्वरूपज्ञान तो न किसीका साधक है न बाधक। करने-धरनेवाला तो सत्सङ्ग, संस्कार और प्रयत्न ही है। सो इन सबके लक्ष्य तो हो गये श्रीमन्महाप्रभुजी। अतः निरन्तर भक्तिको छोड़कर अब और कुछ नहीं सुहाता। मुक्त आत्मा तो अपना आप ही है—इतने ज्ञानसे जो निर्द्वन्द्वता आती है वह है ही, उसके कारण संस्कारानुरूप निष्ठामें सर्वतोभावसे जुटे हुए हैं। इस प्रकार जिन्हें जीवनकी

कली खिलनेके साथ सद्गुरुदेवकी छत्रच्छाया मिल जायगी उनका साधन-क्रम तो यही होगा। किन्तु श्रीमहाराजजीकी भाँति जिनका जीवन स्वावलम्बी होकर निरालम्बरूपसे विकसित होगा उन्हें तो एक साधनकी पूर्त्ति होनेके पश्चात् ही दूसरा साधन आरम्भ करना होगा। इस प्रकार दोनोंके जीवनविकास-क्रममें परिस्थितिभेद रहनेके कारण ही अन्तर है, स्वरूपदृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है।

श्रीमहाराजजो कहा करते थे कि बाबाका अध्ययन भक्तरूपसे करना चाहिए, भक्त तो भगवान्‌को नचा सकता है। यही तो आपने किया भी आपमें भक्तिरस, भावरस और सगुण ब्रह्मरस भरपूर है। उपासनामें सेवा और कर्म दो नहीं होते। अतः उपासनाके साथ कर्मका विरोध नहीं है। हाँ, जिसे ब्रह्मनिष्ठाका परिपाक कहते हैं वह तो बाबामें है नहीं। उनमें तो भक्तिनिष्ठाका ही परिपाक हुआ है। अतः श्रीमहाराजजीका यह कथन कि निष्ठा एक ही होनी चाहिए आपमें भी चरितार्थ होता ही है। वर्षोंसे अब तक आपकी एकमात्र भक्तिनिष्ठा ही रही है। किन्तु हमारे श्रीमहाराजजी तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ थे। वे डङ्का बजा-बजाकर प्रौढ़ वेदान्तका घोष करते थे। उनका जीवननिर्माण ब्राह्मणोचित था और आपका व्यायामशील क्षत्रियोचित जीवन है। श्रीमहाराजजी ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर निरन्तर भजन-ध्यानमें ही स्थिति रहते थे और आप समयानुसार व्यायाम, वायुसेवन आदि करते हुए स्वाध्याय करते हैं। अतः वे ब्रह्मर्षि अवतरण थे और आप राजर्षि-अवतरण हैं। श्रीमहाराजजी अद्भुत लीला-विहारी थे, जैसे पुराणपुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण और बाबा अक्लिष्टकर्मा हैं, और असम्भवको सम्भव करनेवाले मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीकोशलेन्द्र सरकार ही हैं। अपने अदम्य पुरुषार्थसे आपने समाजकी नीवोंको हिला दिया, उनके हृदयोंको जाग्रत किया और जीवनधाराओंका नाम गङ्गामें मिला दिया। श्रीमहाराजजीने तो अपनी सन्निधिमात्रसे ही अगणित प्राणियोंकी जीवन धाराओंको कर्म, धर्म, भक्ति और ज्ञान सभी रसोंसे ओत-प्रोत किया। वह उनका प्रयास अद्भुत कर्म था। इस प्रकार दोनोंकी परिस्थिति और प्रशिक्षणमें ही अन्तर है; वास्तवमें कोई अन्तर नहीं है।

इन हरि-हरस्वरूप दोनों महापुरुषोंके स्वभावमें निम्नांकित गुण समानरूपसे पाये जाते हैं—

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहोमितभुक् शान्तः स्थिरोमच्छरणो मुनिः॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(भाग० ११।११।३०, ३१)

अर्थात् भगवत्प्राप्त महापुरुषकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती, वह संयमी, मधुर स्वभाव और पवित्र होता है, संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है, किसी भी वस्तुके लिए वह चेष्टा नहीं करता, परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है, उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सर्वदा संलग्न रहता है। वह प्रमादरहित, गम्भीरस्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु ये छः उसके वशमें होते हैं। स्वयं किसीसे सत्कार नहीं चाहता, परन्तु दूसरोंका सम्मान करता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें निपुण होता है, सभीके साथ मित्रता का वर्ताव करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी रहती है और मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है।

आप दोनोंका आदेश, सन्देश, उपदेश और रहन-सहन निम्नाङ्कित श्लोकके अनुसार अनुभव हुआ—

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्चयेद्दानमानाभ्यां मैत्राभिन्नेन चक्षुषा॥

अतः सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित, सर्वभूतात्मा भगवान्‌का सम्पूर्ण प्राणियों को दान, मान, मित्रता और अभेददृष्टि द्वारा सम्मानित करके पूजन करे।

आप दोनों ही का कथन है कि यदि ग्रहण करना है तो गुण ही ग्रहण करो। एक दिन एक आदमीने मुसलमानोंकी निन्दा की। तब पूज्य बाबाने कहा, "तुम मुसलमानोंकी निन्दा तो करते हो, किन्तु उनमें गुण कितने हैं यह नहीं देखते। वे पाँच-पाँच सौ मिलकर एक साथ नमाज पढ़ते हैं, तुम कितने लोग मिलकर भजन कर सकते हो?" वास्तवमें तो हमें दूसरोंके गुण ही देखने चाहिए। पूज्य बाबाने श्रीमहाराजजीके विषयमें लिखा है—'बाबाकी वाणी ब्रह्मवेत्ताकी वाणीके समान मधुर थी। शास्त्रमें लिखा है कि ब्रह्मवेत्ताकी वाणी मधुर होती है। अन्य महापुरुषोंके समान वे भी अपने शारीरिक कष्टोंको किसीपर प्रकट नहीं करते थे। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कृष्णने धृति शब्दकी जो व्याख्या की है वह बाबामें पूर्णतया घटती थी। 'धृति' का अर्थ सामान्यतया धैर्य है।

परन्तु भगवान्के मतमें उसका एक विशेष अर्थ है—जिह्वा और उपस्थपर पूर्ण विजय प्राप्त करना—'**जिह्वोपस्थजयो धृतिः।**' ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसने रसनेन्द्रियके और जननेन्द्रियके विषयोंकी ओर बाबाके मनमें तनिक भी आकर्षण देखा हो। वे ज्ञानी और योगी थे—यह तो जुदी बात है, मेरी दृष्टिमें तो उनमें सबसे बड़ा गुण यह था कि वे रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय-पर पूर्ण विजयी थे। इसीसे बहुत लोग उन्हें ईश्वर मानने लगे थे। बाँधके लोग उनका सदाशिव रूपसे अर्चन करते थे।'

बाँधपर श्रीमहाराजजी

जबसे बाँध बँधा और पूज्य बाबाने श्रीमन्महाप्रभुजीके जन्मदिवसके उपलक्षमें होलीपर वार्षिक उत्सव आरम्भ किया तबसे हमारे श्रीमहाराजजी प्रत्येक उत्सवमें ही बाँधपर पधारे हैं। इससे पूर्व आपका ध्यानमय समाधिनिष्ठ शिवस्वरूप जीवन ही था। अब आपके भूतभावन सर्वात्मस्वरूपका सौष्ठव तथा अप्रतिहत ब्रह्मनिष्ठामयी प्रतिभाके परम-बलकी झाँकी चालू हुई। जैसे भूतभावन भगवान् शिव अनन्त सृष्टिके उद्दाम ताण्डव करनेपर भी सर्वथा शान्त और निश्चल रहते हैं, उसी प्रकार आपके स्वरूपमें भी अनेकों प्रकारके कार्यकलाप रहनेपर भी कभी कोई हलचल देखनेमें नहीं आयी। पहले शुद्ध परात्पर-ब्रह्मविहारके समय तो शब्दकी झनक-भनकमें ही अत्यन्त सङ्कोच था, उस समय तो सर्वसंहारमय सर्वत्यागरूप शस्त्रसे सभीका निषेधकर स्वयं अपनेमें ही सिमटे रहते थे। किन्तु अब रणभेरीके सदृश नामनरेशका निरन्तर घोष होते रहनेपर भी तथा शब्द-स्पर्शादिमय विचित्र जगत्के अपने रङ्ग-बिरङ्गे नाचके साथ सामने रहनेपर भी आप जो निश्चल निष्कम्प रूपसे अपने शिवस्वरूपमें स्थित हैं उससे आपकी उस सिमेटके अतुलित बलका परिचय मिलता है। आपके जीवनने स्पष्ट बताया कि पूरा सिमिटकर फिर पूरे चलो—कोई परवाह नहीं। आपकी वह परिपक्व असङ्गता अब अपने अतुल सामर्थ्यका परिचय दे रही है। उसीको आप कहते थे—देखते हुए न देखना, सुनते हुए न सुनना और चलते हुए न चलना। यही तत्त्वज्ञकी '**शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा**' का स्वरूप है। अब परप्रेरित क्रिया है, परप्रार्थित पूर्ति है और स्वयं सबके लिए कल्याणमूर्त्ति हैं। यही सर्वात्मसौन्दर्यमयी आनन्दलहरी यहाँ लहराने लगी। आगे देखिये, ये सर्वात्मप्रभु क्या खेल दिखलाते हैं। वास्तवमें तो इस हरिधाम बाँधमें हर प्राकटयके साथ शिवधाम

कैलासका भी प्रादुर्भाव हो गया था। अतः यह केवल हरिधाम नहीं, हरिहरधाम है।

बाँधपर अन्तिम शिवरात्रि

बाँधपर तो प्रतिवर्ष ही शिवरात्रिको श्रीमहाराजजीका पूजन होता था। उसका कहाँतक वर्णन करें। यहाँ केवल अन्तिम शिवरात्रिका विवरण दिया जाता है।

वृन्दावनमें श्रीमहाराजजीसे पूज्य बाबाने विचार-विमर्श किया कि इस वर्ष उत्सव बाँधपर किया जाय या वृन्दावनमें। श्रीमहाराजजीने बाँधपर ही उत्सव करनेका परामर्श दिया। तब आप बड़े उत्साहके साथ उत्सवकी तैयारीमें लग गये। पूजनीया माँ भी बाँधपर पहुँच गयीं। परन्तु श्रीमहाराजजीका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। अतः उन्होंने समाचार भिजवाया कि वे इस वर्ष नहीं पहुँच सकेंगे। सुनते ही बाबा बड़े मर्माहत हुए और माताजी को साथ लेकर आपको मोटर द्वारा बाँधपर लानेके लिए वृन्दावन गये। वहाँ बाबा और माताजीने मोटर द्वारा चलनेका बहुत आग्रह किया। परन्तु आप सबकी बातें सुनते रहे, स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया। इस प्रकार रातके १२ बज गये और कुछ भी निर्णय न हो सका। तब बाबाको बहुत उद्विग्न देखकर माताजीने कहा, "बाबा! अब आप आराम करें, कल जो होना होगा हो जायगा।" जब सब चले गये तो श्रीमहाराजजी रातको २ बजे स्वयं ही कार द्वारा बाँधको चल दिये। आपने भक्तोंको आज्ञा दी कि जब बाबा कीर्तन करके जाने लगें तब उनसे कह देना कि वे बाँधको चले गये। ज्यों ही बाबा कीर्तन करके चलने लगे उन्हें किसीसे मालूम हुआ कि महाराजजी कार द्वारा बाँधको चले गये। यह सुनकर माताजी बहुत हँसीं और कहने लगीं, "मैंने कहा था न कि जो होना होगा स्वयं ही हो जायगा।" फिर जल्दीसे मोटरमें बैठकर सब चल दिये।

श्रीमहाराजजी सबेरे ५ बजे अनूपशहर पहुँच गये। आपको अकस्मात् मोटर द्वारा आये देखकर भक्तोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। सबसे बड़ा आश्चर्य और उल्लास तो इस बातसे हुआ कि आपने श्रीबाबाके प्रेमवश अपनी आजीवन किसी सवारीमें न बैठनेकी प्रतिज्ञा तोड़ दी। यह आपका अद्भुत त्याग था। पं० ललिताप्रसादने अन्य भक्तोंके सहित दौड़कर श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। तब आप स्वयं ही बोले, "अरे ललिताप्रसाद!

मैं तो रातको २ बजे ही वृन्दावनसे चल दिया। बाबा तो ५ बजे चले होंगे।" आपका यह अपूर्व त्यागमय स्नेह देखकर सब भक्त मुग्ध हो गये। फिर आप बोले, "वहाँ लोगोंने मुझे बहुत रोका; परन्तु मैंने तो बाबाकी इच्छाके विरुद्ध कभी कोई काम नहीं किया। जब मैंने देखा कि मेरे न जानेसे बाबाको दुःख होगा तो मैं चुपचाप राधेश्यामकी मोटरमें चल दिया।" ये सब बातें हो ही रही थीं कि श्रीहरिबाबाजीकी मोटर भी पुलपर आ गयी। ललिताप्रसाद आदि भक्तोंने दौड़कर प्रणाम किया। बाबाने उतरकर पूछा, "क्या तुम्हें बाबा मिले हैं?" ललिताप्रसादने कहा, "हाँ, ये सामने ही तो बैठे हैं।" तब हरिबाबाजी बहुत हँसे और बोले, "भाई! बाबा तो बड़े लीलाधारी हैं। कल कितना झगड़ा हुआ, किन्तु इन्होंने 'हाँ' या 'न' कुछ भी नहीं कहा और रातको चुपचाप चले आये। ठीक है **"लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति?"** भाई! समर्थोंका खेल समझना कोई सहज बात नहीं।" फिर आपने आज्ञा दी कि जाओ, हठ करके बाबाको मोटरमें बैठा दो। श्रीमहाराजजीने ललिताप्रसादसे कहा, "माँ और बाबाको भी बैठा दो, तीनों साथ चलेंगे।"

बाँधपर पहुँचते ही सङ्कीर्तन-मण्डलमें बड़ी धूमधामसे सङ्कीर्तन हुआ। उस दिन शिवरात्रि थी। दिनमें कथा-कीर्तनका कार्यक्रम हुआ और रात्रिमें शिवपूजन किया गया। श्रीमहाराजजीको एक सुन्दर चौकीपर बैठाया। बहादुरसिंह, छविकृष्ण, भगवती और सागरने आपका शिवरूपसे श्रृङ्गार किया। उस समय नीचे लिखी चौपाइयोंका सब लोग कीर्तन कर रहे थे—

शवहिं शम्भुगण करहिं सिंगारा। जटा-मुकुट अहि-मौर संवारा॥
कुण्डल कङ्कण पहिरे ब्याला। तनु विभूति पट केहरि छाला॥
शशि ललाट सुन्दर सिर गङ्गा। नयन तीन उपवीत भुजङ्गा॥
गरल कण्ठ उर नर-सिर माला। अशिव वेश शिवधाम कृपाला॥

फिर पूजन करते हुए रुद्राष्टकका गान किया। इस समय पूज्य बाबाने घण्टा बजाते हुए स्वयं सहयोग दिया। बीच-बीचमें हरिद्वारसे लाये हुए गङ्गाजलसे स्नान कराते थे और उसे पान भी कराते थे। अन्य सब लोग **"हर हर महादेव शम्भो। काशी-विश्वनाथ गंगे।"** इस ध्वनिका कीर्तन कर रहे थे। अन्तमें **"ॐ नमः शिवाय"** मन्त्रका कीर्तन हुआ। फिर रामचरितमानससे अन्त्याक्षरी और जलहरी बोली

गयीं। यह पूजन देखते ही बनता था। मानो स्वयं कैलास ही उतर आया हो। अन्तमें प्रसाद-वितरण हुआ। बाँधके भक्त प्रत्येक वर्ष शिवरात्रिपर इसी प्रकार श्रीमहाराजजीका शिवरूपसे पूजन करते थे।

बाँधके कुछ भक्त

बाँध प्रान्तके अधिवासी तो सभी हमारे बाबाके भक्त हैं। उनके तो जीवन-प्राण, गुरुदेव और इष्टदेव भी आप ही हैं। और जो आपके भक्त हैं वे प्रायः सभी हमारे श्रीमहाराजजीमें भी श्रद्धा रखते ही हैं। अतः यहाँ सबका परिचय देना तो सम्भव नहीं है। केवल उन्हीं सज्जनोंका कुछ उल्लेख किया जाता है जिन्होंने संस्मरणके रूपमें आपके प्रति अपने कुछ श्रद्धा-सुमन समर्पित किये हैं।

स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी बम्बईवाले—ये बड़ी उदार प्रकृतिके सरल सन्त हैं। इन्होंने संकीर्तनका अच्छा प्रचार किया, अतः लोग इन्हें संकीर्तनाचार्य कहते हैं। समाईमें लोग कहते थे कि श्रीमहाराजजीकी उदारताकी झाँकी इन्हींमें कुछ पायी जाती है। आपमें जो समयनिष्ठा, सङ्कीर्तनकी अभिरुचि और खान-पानकी शैली है उससे स्पष्टतया पूज्य बाबाकी अनुगति प्रकट होती है। श्रीमहाराजजी भी आपको बड़े प्रेमसे याद किया करते थे। तब मुझे जिज्ञासा हुई कि इनके जीवनमें इन दोनों महापुरुषोंके गुणोंका सम्मिश्रण कैसे हुआ। मैंने आपसे ही प्रश्न किया। उसपर आपने उत्तरमें जो लिखा उसीका कुछ अंश यहाँ उद्‌धृत करता हूँ—'मैं मन्द वैराग्यमें बम्बईसे भाग कर अनूपशहरमें श्रीभोलेबाबाजीके पास आया। चार-छः दिन रहनेके पश्चात् सुना कि रामघाटमें श्रीउड़ियाबाबाजी और बाँधपर श्रीहरिबाबाजी अच्छे सन्त हैं। तब मैंने रामघाट जाकर श्रीउड़ियाबाबाजीके दर्शन किये। उनके दर्शनसे मुझे अपार सुख हुआ और यह भावना हुई कि ये तो रामकृष्ण परमहंस ही हैं। तबसे मैं बाबाको निरन्तर गुरु और ईश्वर रूपमें देखता रहा हूँ और उनके सामने मैं अपनेको स्वामी विवेकानन्दकी श्रेणीमें मानता हूँ। मैं प्रायः बीस वर्ष बाबाकी छत्रच्छायामें रहा हूँ और आज भी उनकी छत्रच्छायामें ही हूँ। उनकी वाणीमें बड़ा ही मिठास था। उनके उपदेशसे सहस्रों नर-नारी कल्याणपथपर अग्रसर हुए और हो रहे हैं। बाबाकी कृपासे मुझे बड़े-बड़े सन्त-महात्माओंके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आप जैसा अधिकारी देखते थे उसे वैसा ही उपदेश करते थे।

मेरे जैसोंके सामने कहा करते थे कि जो साधु भिक्षा माँगनेमें शर्माता है वह आधा साधु है। और ऐसा भी कहा करते थे—

'तब लगि जोगी जगतगुरु, जग सों रहत उदास।
जब आसा मनमें लगी, जग गुरु जोगी दास॥'

बाबाको किसी भी सम्प्रदायविशेषका आग्रह नहीं था। वे सभी सम्प्रदायोंके महापुरुषोंका आदर करते थे, एकबार सत्सङ्गमें, जब श्रीहरिबाबाजी भी विद्यमान थे, मैंने आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्दपर कुछ कटाक्ष कर दिया। इसपर बाबा और हरिबाबाजी दोनों ही मुझपर बहुत अप्रसन्न हुए और बोले, "तुमने स्वामी दयानन्दको क्या समझा है।" मैं तो चुप रह गया।

पं० सुन्दरलालजी—आपका जन्मस्थान मुरादाबाद था। आपने काशीके सुप्रसिद्ध पण्डित श्रीकाशीनाथजीसे विद्याध्ययन किया था। उसके पश्चात् आप ज्वालापुर महाविद्यालयमें पढ़ाने लगे। आपकी धर्मपत्नी अत्यन्त रूपवती और पतिपरायणा थीं। अकस्मात् उनका देहान्त हो गया। इससे आपके हृदयमें वैराग्यकी ज्वाला भड़क उठी। सन् १९१६ में आप पूज्य बाबा और महाराजजीसे मिले। तबसे आप बराबर इन्हीं महापुरुषोंके साथ रहे और अब दो वर्ष हुए बाँधपर ही आपका देहावसान हो गया।

पण्डितजी अपने ढङ्गसे सरल, सरस और बालोचित स्वभाववाले सज्जन थे। श्रीमहाराजजी इनकी निःस्पृहता; अपरिग्रह और वैराग्यके विषयमें प्रेमसे चर्चा किया करते थे। ये मन, वचन और कर्मसे एक थे। इनमें कभी किसी प्रकारके छल-छिद्र या भेद-भावकी छाया नहीं देखी गयी। सरलता और सादगीकी मूर्त्ति तथा वृन्दावनके रसिक थे। अपनी नियमनिष्ठा में पक्के रहते थे। अधिकतर श्रीमद्भागवतका स्वाध्याय करते थे। कथा तथा रासलीलाके रसिक थे और हर समय 'गोपाल!' नामका उच्चारण करते रहते थे। उनका क्या भाव था, सो तो वे ही जानें, परन्तु श्रीमहाराजजी और बाबाके साथ बहुत खुलकर बोलते थे। यहाँतक कि कभी रूँठ भी जाते थे। बाबाके साथ उनका हृदयस्पर्शी और आनन्ददायी विनोद भी होता था। श्रीमहाराजजीके विषयमें कहते थे, "ये बाबा नहीं, माँ हैं।' श्रीमहाराजजी, बाबा और माँ श्रीआनन्दमयीसे इनका कोई सङ्कोच नहीं

था। माँ भी 'पिताजी ! पिताजी !' कहकर आदर करती थीं। फिर हमारे स्वामीजीका तो कहना ही क्या है ? उनके लिए सभी दरबार और सभी दरवाजे खुले हुए थे और सभी इनका आदर करते थे। उनका व्यवहार पानीकी लकीरकी तरह होता था। कभी किसीसे कोई कटु वचन बोल जाते तो तुरन्त क्षमा माँग लेते थे। किसीका चित्त दुखे यह उन्हें सहन नहीं होता था। हम लोग उनका पूर्ण आदर करते थे और यथाशक्ति उनकी आज्ञा-पालन करनेका प्रयत्न करते थे। वे कुछ भी कहें किसीको बुरा नहीं लगता था। उल्टा ऐसा लगता था कि इनका कितना अपनत्व है, हमसे कितनी सहानुभूति रखते हैं और हमारे कितने शुभेच्छु हैं। उनकी 'कम बख्त' शब्द द्वारा मीठी झिड़क अब भी याद है।

आनन्द ब्रह्मचारी—ये एक सरल और भावुक प्रकृतिके सन्त हैं। बहुत दिनोंसे श्रीवृन्दावनवास करते हैं। ये लिखते हैं—'मेरा एक विशेष अनुभव है। मैं गङ्गोत्तरी गया था। वहाँसे स्वाभाविक ही श्रीरामेश्वरजीको चढ़ानेके लिए गङ्गाजल लाया। नीचे आनेपर सुना कि इन दिनों बाबा कर्णवासमें हैं। अतः वहाँ जानेके लिए मैं राजघाट स्टेशनपर उतरा। वहाँ रात्रिको स्वप्नमें मैंने देखा कि अत्यन्त विशाल नन्दीश्वरसहित एक विशाल शिवलिंग है। इस स्वप्नसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और ऐसा अनुभव हुआ कि बाबामें और श्रीरामेश्वरजीमें अभेद है। प्रातःकाल उठकर कर्णवास आया। जब स्नान करके लौट रहा था, तब एक गुजराती परमहंसके दर्शन हुए। उन्हें मैंने स्वप्नकी घटना सुनायी। वे बोले, "तुम्हें रामेश्वरजीके दर्शन हुए हैं। मैं रामेश्वर गया हूँ। वहाँके नन्दीश्वर बहुत विशाल हैं।" इसके पश्चात् मैं बाबाके पास गया और गङ्गाजल उनके सम्मुख रख दिया। मनमें ऐसा सङ्कल्प हुआ कि यदि रामेश्वर जाता तो वहाँ शिवलिङ्गपर ही जल चढ़ाया जाता; यहाँ तो रामेश्वरजी प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। वे स्वयं मुख द्वारा इसे पान करें तो मुझे निश्चय हो जायगा कि श्रीरामेश्वरजीने ही मेरा जल स्वीकार किया है। बाबा बोले, "क्या है ?" मैंने कहा, गङ्गोत्तरीका जल है, शिवजी पर चढ़ानेके लिए लाया हूँ।" बोले, "चढ़ा दो।" मैं मौन रहा। तब वे तत्काल गङ्गाजली उठाकर उसे पान कर गये। उस समय जो लोग वहाँ बैठे थे वे आनन्दमग्न हो गये। तबसे प्रत्येक गुरुपूर्णिमा और शिवरात्रि पर बाबाके चरणोंमें अवश्य पहुँच जाता था। मैंने गुरुपूर्णिमा तो कुछ अन्य महापुरुषोंकी भी देखी है, परन्तु बाबाकी-सी कहीं नहीं देखी।"

छविकृष्ण दीक्षित—ये भिरावटीके रहनेवाले हैं और फलित ज्योतिष में बहुत कुशल हैं। श्रीमहाराजजीके विषयमें ये लिखते हैं—'विक्रम सं० १९७५ की बात है, मेरी आयु उस समय ग्यारह सालकी थी। मैं कर्णवासमें पक्के घाटकी पाठशालामें पढ़ रहा था। एक दिन खबर मिली कि मार्गशीर्ष शु० ११ को श्रीउड़ियाबाबा पधार रहे हैं। हम विद्यार्थियोंको उनके स्थानके परिष्कारका कार्य सौंपा गया। इस कार्यमें मैं सबका नायक था। भगवान् भास्कर अपनी दिनभरकी यात्रासे श्रान्त होकर पश्चिम आकाशमें ठिठके हुए थे। पूज्य बाबा भी चार-छः सन्तोंके साथ पूर्वसे आकर वहाँ खड़े हो गये। सबने श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। लोगोंने स्थानके परिष्कारका प्रश्न उपस्थित होनेपर मुझे श्रीमहाराजजीके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। आपने एक विचित्र कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखा और पास बुलाकर प्रसाद दिया। उस दृष्टि और प्रसादमें न जाने क्या जादू था, मैं नहीं कह सकता। बस, हर समय मेरा मन उसी रूपका चिन्तन करने लगा। स्वप्नमें तो प्रायः नित्य ही उस रूपके दर्शन होते थे। कभी उजाले-अँधेरेमें ऐसा भी अनुभव होता था कि बाबा सामनेसे आ रहे हैं और मुझे बुला रहे हैं। कभी तो उनकी आवाज भी सुनायी देती थी। मैं तो आधा पागल-सा हो गया था। बाबा वहाँ केवल पाँच दिन ठहरे, किन्तु मेरी यह दशा सवा वर्षतक रही।

'इसके पश्चात् बहुत दिनोंतक दर्शन नहीं हुए और मैं भी उन्हें भूल गया। परन्तु वे मुझे नहीं भूले। इसका पता लगा सात वर्ष पश्चात् जब आप बाँध पधारे। उस समय वहाँ अखण्ड कीर्तन चल रहा था और भिरावटीकी पार्टीकी ड्यूटी थी। उसमें श्रीबहादुरसिंह और रणवीरसिंह आदिके साथ मैं भी कीर्तन कर रहा था। आप आकर चुपचाप खड़े हो गये। हम लोग नेत्र बन्द किये कीर्तन कर रहे थे। स्वाभाविक ही हमारे कीर्तनमें बड़ा उत्साह और आनन्द बढ़ गया। उस समय मेरे और उपर्युक्त दो व्यक्तियोंके मनमें ऐसा भाव हुआ कि नामके परम रसिक श्रीसदाशिव हमारे कीर्तनमें आ गये हैं। साथ ही हमें अपने अन्तःकरणमें पूर्वसंस्कारानुसार श्रीशङ्करजीके दर्शन होने लगे। यद्यपि नेत्र बन्द होनेके कारण हम तीनोंमें से किसीको भी आपके आनेका पता नहीं था। और उन दोनोंने तो पहले कभी आपके दर्शन भी नहीं किये थे। तथापि आपकी विशेष प्रसन्नताकी परिचयस्वरूप आपकी दिव्य क्रीड़ा सभीके मनोंमें होने लगी और भीतर-

भीतर कभी शिव तथा कभी आप दीखने लगे। यह भाव और साक्षात्कार उस समय बहुत कीर्तनकारोंको हुआ। थोड़ी देरमें पार्टी बदली। उस समय नेत्र खुले तो सामने आपके दर्शन हुए। नेत्र बन्द रहनेपर भी शिवरूप में आपके ही दर्शन हो रहे हैं। अब अकस्मात् नेत्रोंके सम्मुख देखकर सबके सब चरणोंमें लिपट गये। इस समय अपने बालकोंको अपने प्राणाधार भगवन्नाममें तल्लीन देखकर आप भी न जाने कितने आनन्दमग्न थे। ऊपर से अवश्य मन्त्रमुग्धकी तरह खड़े थे। परन्तु आपको भी चेत तभी हुआ जब कुछ देर हम सब लोग श्रीचरणोंमें लिपटे रहे। फिर कुछ दूर चलकर बैठ गये और एक-एकके विषयमें पूछकर सबका परिचय प्राप्त किया। मुझे तो देखते ही ऐसा पहचाना मानो सदाकी जान-पहचान है। कर्णवासकी भी याद दिलायी। मैं तो बचपनके कारण भूल गया था, परन्तु वह कैसे भूलते। सब लोगोंने प्रार्थना की तो आपने भिरावटी आनेका वचन दिया। इसके पश्चात् सात दिन बाँधपर रहकर भिरावटी पधारे और वहाँ ग्यारह दिन चौधरी बहादुरसिंहके मकानपर चौबारेमें विराजे।

'जबसे शिवरूपमें आपके दर्शन हुए तबसे मेरा और चौधरी बहादुर-सिंहका यह नियम रहा है कि श्रावण और फाल्गुन मासकी कृष्ण चतुर्दशियों पर आप जहाँ भी हों वहीं जाकर हरिद्वारसे लाये हुए गङ्गाजल द्वारा आपका अभिषेक और पूजन करते हैं। एकबार आप फर्रुखाबादमें थे। हम दोनों शिवरात्रिपर वहाँ पहुँचे। किन्तु आप कुछ और ही लीला कर रहे थे। आपने किसी दीन भक्तका रोग अपने ऊपर लिया हुआ था और उस समय आपको १०६ डिग्री ज्वर था। सिविलसर्जनने उठनेके लिए मना किया हुआ था। आपने न जाने किस प्रकार हमें देख लिया। आप झट बाहर निकल आये और हमें बागके दूसरे किनारेपर जानेका संकेत कर दिया। आप भी वहाँ आ गये। हम तो डर रहे थे। आपने स्वयं कहा, "तुम अभी पूजन कर लो।" इस प्रकार स्वयं कहकर पूजन कराया, गङ्गाजल पिया और भोग भी लगाया। इतने हीमें एक भक्त महाशय जल ले आये। हम उन्हें देखकर डरे। परन्तु वे तो यह सब लीला देख चुके थे। वे हमपर बिगड़ने लगे तो आपने उन्हें डाँटते हुए कहा, "अरे! तू उल्लू है। और तेरा डाक्टर भी उल्लू है। मैं बिलकुल बीमार नहीं हूँ। देख, मेरी नब्ज और बुला ले डाक्टरको।" डाक्टरने आकर देखा तो सचमुच ही आप नीरोग थे। फिर आप उक्त भक्तसे कहने लगे, "तू इन बालकोंपर बिगड़ता है, मैं तो कलसे इनका रास्ता देख रहा

था। अब देख, मैंने हरिद्वारका गङ्गाजल पी लिया है, मैं ठीक हो गया हूँ। देखा तूने हरिद्वारके गङ्गाजलका प्रभाव।" वे तो अवाक् रह गये। हम भी बैठे सोच रहे थे कि यह गङ्गाजलका प्रभाव है या स्वयं इनका? यदि जल का ही प्रभाव है तो दूसरे लोग इस प्रकार गङ्गाजल पीकर क्यों नीरोग नहीं हो जाते। पर यह सोचकर चुप रहे कि शिवके लिए गङ्गा बड़ी हैं और गङ्गा के लिए शिव—**'को बड़ छोट कहत अपराधू।'** बड़ोंके खेल बड़े ही जानें। हमारे लिए तो दोनों ही बड़े हैं। इस प्रकार हमारा यह नियम अक्षुण्ण रूपसे चलता रहा है।

'भिरावटीमें आप कई बार पधारे थे। एक दिन प्रातःकाल आप जंगलमें जाकर एकान्तमें बैठे थे। बोले, "अरे! दर्शन क्या चीज है। कुछ नहीं। बड़ी बात तो यह है कि जब इच्छा हो तभी दर्शन हो जाय। और इससे भी बढ़कर यह है कि दर्शन करके हम अपनेको और जिसका दर्शन हो उसको भी भूल जायँ।" हम लोगोंने जब दर्शनकी इच्छा प्रकट की तो बोले, 'अच्छा, नेत्र बन्द करके बैठ जाओ।' आप भी नेत्र मूँदकर बैठ गये। हमने देखा कि आपके स्वरूपमें-से ही एक दिव्य कान्ति निकली और आपका स्वरूप बदलकर शिवरूप हो गया। फिर वह क्रमशः राम, कृष्ण और हमारे महाराजजी (श्रीहरिबाबाजी) के रूपमें बदला। हम यह सब देखकर घबरा गये। हमारे नेत्र खुल गये। तब भी हमें इस प्रकारका दृश्य दीखता रहा। तब हम स्तुति-प्रार्थना करने लगे और कुछ भयभीतसे हो गये। आपने हँसकर कहा, "अरे! ध्यान करते हो या स्तुति?" परन्तु अब किसका और कैसा ध्यान करते। हमारे सामने आप प्रत्यक्ष विद्यमान थे। प्रत्यक्षको छोड़कर अब आँखें क्यों मूँदें। भेद तो सब खुल ही गया था। उस दिनसे हम आपसे कोई बात छिपाते नहीं थे। आप घरकी, बाहरकी तथा देशकी सब प्रकारकी अच्छी-बुरी बातें हमसे एकान्तमें पूछते थे। आपने देश और हमारे भविष्यके विषयमें जो-जो बातें बतायीं वे सब ज्यों-की-त्यों होती जा रही हैं। हमें कोई कठिनाई होती और उनसे कह देते तो वहाँसे लौटते ही वह हल हो जाती थी। हमें उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता था। उनकी कृपासे हमें तो प्रकृति मानो अपने अधीन जान पड़ती थी। इतनी उदारता और कोमलता देखना तो दूर हमने संसारमें कहीं सुनी भी नहीं है।

'एकबार भिरावटीसे कर्णवासको चले। केवल मैं ही साथ था। गङ्गाजीपर पहुँच गये। परन्तु रास्ता छूट गया था। कुछ सचमुच छूट

गया, कुछ जानकर छोड़ दिया। घाट वहाँसे बहुत दूर था। आपने कहा, "यहाँ थोड़ा ही जल है, ऐसे ही पार कर लें।" बस, घुस गये। आप आगे और मैं पीछे। जल सचमुच कमरसे नीचे ही रहा। एक आदमी भागकर आ रहा था और पुकार-पुकारकर कह रहा था—"अरे! डूब जाओगे, यहाँ अथाह जल है।" परन्तु आपने उसकी एक न सुनी। जबतक वह आया हम गङ्गा पार कर चुके थे। चौथे दिन मैं घरको चला तो सोचा, उसी रास्ते चलें। परन्तु जब गङ्गा पार करने लगे तो जल सचमुच अथाह था और अनेकों मगर उछल रहे थे। वहाँसे डेढ़ मील लौटकर घाटपर गया, तब घर पहुँचा।

'एक समय बाँधपर मैं और बहादुरसिंह गङ्गा-स्नानको गये। उधरसे पं० सुन्दरलालजी आ रहे थे। सोचा कि यहीं स्नान कर लें। बस, हम गङ्गाजीमें घुस गये। वहाँ जबरदस्त कुण्ड था। पण्डितजीका घाट हमसे छूट गया था। एक-दो बड़े-बड़े मगर भी दिखायी दिये। हम डर गये। किनारेपर देखा तो आप खड़े हैं। हँसकर बोले, "अरे! डरते क्यों हो, खूब स्नान करो।" हमने अच्छी तरह स्नान किया और नित्य-कर्म भी। आप तो चले गये। पीछे हम ढायपर चढ़े तो देखा वहाँ दस-बारह मगर पड़े मुँह फाड़ रहे हैं। सचमुच उस दिन हमारी मृत्यु थी। हमारी रक्षाके लिए ही आप पधारे थे। हमने बाँधपर आकर सब बातें आपको सुनायीं तो आप हँस दिये और बोले, "बेटा! अब वहाँ मत जाना। वह स्थान अच्छा नहीं है।" ऐसी अनेकों लीलाएँ इन नेत्रोंसे देखी हैं, कहाँ तक लिखें। हमारी दृष्टिमें वे प्रत्यक्ष कामारि सदाशिव ही थे।'

रामेश्वरप्रसाद—ये गवाँके रहनेवाले थे। इनका परिचय तो पहले ही आ चुका है। ये लिखते हैं—'पूज्य बाबाकी बड़ी प्रसिद्धि थी। सन् १९२६ या २७ के लगभग श्रीरामनवमीपर बाबा बाँधपर पधारे। उस समय मेरे मनपर उनके इस गुणकी सबसे अधिक छाप पड़ी कि वे सबसे प्रेमसे मिलते थे। उनके प्रेममय व्यवहारसे चित्त आकर्षित होता था। फिर तो बाँधके अतिरिक्त जहाँ वे होते उनके दर्शनार्थ जाने लगा। उत्सवोंके अवसरोंपर श्रीमहाराजजी बाबाको बुलानेके लिए मुझे भेजते थे। बाँधके उत्सवोंपर जब-जब बाबा पधारते उनके परिकरकी सेवा मेरी होती थी। प्रबन्धके कामोंसे मुझे अवकाश बहुत कम मिलता था। इसलिए मैं बाबाके पास निश्चिन्त होकर थोड़ी देर भी नहीं बैठ पाता था। सारा प्रबन्ध बाबा स्वयं ही करते थे। वे स्वयं ही सबकी देख-रेख करते

थे, स्वयं ही मेरे पास चले आते और हर एक बात पूछते कि क्या प्रबन्ध करना है और क्या नहीं करना है। इससे उनके चरणोंकी छत्रच्छायामें मुझे इतना आनन्द रहता कि रात-दिनका भी कोई ध्यान नहीं था। कैसी भी चिन्ताजनक स्थिति हो बाबा कहते, "अरे! तू क्या चिन्ता करता है। तेरा अकल्याण कभी नहीं हो सकता।" उनके मुखसे ये शब्द सुनकर मैं निश्चिन्त हो जाता था। बाबा बहुत व्यवहारकुशल थे। घर-बारकी स्थिति के विषयमें भी वे पूरी जानकारी रखते थे। वे दूसरेकी रुचि और स्थितिका इतना ध्यान रखते थे कि मुझसे कभी कोई ऐसी बात करनेको नहीं कहा जो मैं कर न सकूँ। वे अनुकूलता-प्रतिकूलता, रुचि-अरुचि और सामर्थ्यादिको देखकर ही कोई बात कहते थे। इधर मेरे महाराजजीका फौजी ऑर्डर होता था, जिसकी कहीं अपील नहीं हो सकती थी। उन्हें भी मिलने-जुलने को फुर्सत नहीं और बात करनेका समय नहीं।

'बाबाका महाराजजीसे अत्यन्त प्रेम था। वे सदैव उनकी रुचिका ध्यान रखते थे। इनकी आँखें देखते रहते थे। जरा भी कीर्तनमें शिथिलता देखी तो पूछते थे, 'क्या बात है, बाबा प्रसन्न हैं या नहीं, पूछो।' वे अनेकों प्रोग्राम तो केवल श्रीमहाराजजीकी प्रसन्नताके लिए ही रखते थे। हम लोग तो प्रेम-प्रेम करते हैं, किन्तु प्रेम करना जानते ही नहीं। सच्चा प्रेम तो बाबा और महाराजजीका देखा। बाबा बहुत ही उच्चकोटिके सन्त थे। वैसे तो महाराजजीके अतिरिक्त मेरा हर किसीके प्रति आकर्षण नहीं होता। परन्तु बाबाके प्रति मेरा पूरा आकर्षण था। उसका एक यह भी कारण था कि वे मुझपर बहुत ही प्यार रखते थे।'

रामेश्वरप्रसादकी इच्छा थी कि मेरा शरीर पूज्य बाबा (हरि-बाबाजी) के सान्निध्यमें छूटे। भगवान्‌ने इनकी वह अभिलाषा पूर्ण की और सं० २०२३ वि० के होलीके उत्सवके समय होशियारपुरमें उनकी सन्निधिमें ही इनका देहावसान हुआ।

ठाकुर गुलाबसिंह—इनकी दोनों ही महापुरुषोंमें गहरी श्रद्धा थी। इनकी माताजीकी भी महाराजजीमें बहुत श्रद्धा थी। वह इनसे कहा करती थीं कि पहले हमारे महाराजजीका पूजन कर फिर अपने बाबाके पास जाना। यह बात इन्होंने जीवनभर निभायी। ये स्वभावके अत्यन्त सुशील थे। इनका दोनों ही महापुरुषोंमें हार्दिक अपनत्व था और इनके घरमें दोनों हीका पूजन होता था। इनके सारे परिवारका अद्भुत प्रेम

है। दिल्लीके भगवद्गुणगान महोत्सवके समय उत्सव-भूमिमें ही अकस्मात् हृदयकी गति रुक जानेसे इनका देहावसान हुआ।

बाबा गोपालदास—पूज्य बाबाका कथन था कि गोपालदास और मनोहरका हमारे महाराजजीमें गुरुभाव है। चलो, वहीं गुरुपूर्णिमा करेंगे। बस, आप भी प्रत्येक गुरुपूर्णिमापर श्रीमहाराजजीके पास ही आ जाया करते थे ये सं० १९९२ में श्रीमहाराजजीके पास थे और तभी उनसे प्रभावित होकर उनके श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया। ये बड़े ही शान्त और सेवापरायण व्यक्ति हैं। साधुसेवा, भण्डार, भिक्षावितरण और रासलीलाकी व्यवस्था ये सभी काम बड़े प्रेमसे करते हैं। इसलिए सभी लोग इनसे प्रसन्न रहते हैं। ये रासलीलाके अत्यन्त प्रेमी हैं। वल्लभसम्प्रदायमें दीक्षित हैं। व्रजके भावमय पदोंका बड़े प्रेमसे गान करते हैं। इनका जीवन भी बहुत नियमित और संयमित है। योगासनों में बड़े कुशल हैं और अपने समाजमें लीला आदिके समय उनका प्रदर्शन भी करते हैं। श्रीमहाराजजीने ही इन्हें पूज्य बाबाके सङ्कीर्तनमें पूरा साथ देनेको कहा था। उस समय स्पष्ट आदेश दिया था कि बाबा दुखी न हों—इसका पूरा ध्यान रखना। ये वृन्दावनके प्रेमी हैं और अब अधिकतर आश्रममें ही रहते हैं। आरतीके समय जब **'मोक्षगति दीजै'** पद आता है तो ये **'भक्ति मति दीजै'** बोलते हैं।

मनोहरदास—मनोहरजी अपने एक बिचित्र स्वभावके व्यक्ति हैं। उसके कारण ये दोनों महापुरुषोंके और फिर श्रीश्रीमाँ आनन्दमयीके भी अत्यन्त प्रीतिपात्र हुए हैं। ये लीला रचनेमें, अनुकरणमें और भावपूर्ण पदोंके गाने-बजानेमें बहुत निपुण हैं। ऐसा जान पड़ता है ये भगवान्‌के गुणीजनोंमें से हैं। इनका भाव तो ये ही जानें। परन्तु हमारे तीनों दरबारोंमें अपूर्व रसानन्दके ये मुख्य पात्र अवश्य हैं।

चन्दौसीके भक्त

श्रीमहाराजजीके चन्दौसीके भक्तोंने पहले-पहल बाँधपर ही आपके दर्शन किये थे। हमारे लिए तो सभी भक्त आदरणीय हैं। **'को बड़-छोट कहत अपराधू।'** परन्तु सबका विवरण देना सम्भव नहीं है। यहाँ श्रीगङ्गाशरणजी 'शील' के संस्मरणसे कुछ अंश उद्धृत किया जाता है। ये चन्दौसीके डिग्री कालेजमें हिन्दी-विभागके अध्यक्ष हैं। बड़े भावुक

सज्जन हैं। ये लिखते हैं—मैंने प्रथम बार 'श्रीउड़ियाबाबा' नाम भक्त कर्तारामजी से सुना था। मुझे यह नाम विचित्र-सा लगा; क्योंकि मैं तो कई जन्मोंसे इन्हीं चरणोंकी सेवा करता आ रहा हूँ। मालूम पड़ता है मेरा और बाबाका सम्बन्ध कई जन्मोंसे है। अतः **'प्रीति पुरातन लखै न कोई'** के नाते उनके प्रति मेरा आकर्षण हुआ। फिर प्रथम बारमें ही चिरपरिचित बालककी भाँति उन्होंने मुझे अपनाया। उस दिन मुझे श्रीमहाराजजीकी कई विशेषताओंका अनुभव हुआ। पूज्य श्रीमहाराजजी और बाबाकी असीम सहनशीलताका अनुभव तो मुझे बुलन्दशहरके उत्सवमें हुआ जब ब्रह्मलीन श्रीरामतीर्थ स्वामीके शिष्य श्रीनारायणस्वामीने बाँधके आश्रमों और मधुरभावकी उपासनाके कारण स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी बङ्गालीके प्रति गहरे कटाक्ष किये। किन्तु उनका उत्तर देनेकी आज्ञाके लिये लाख प्रयत्न करने पर भी मुझे अनुमति नहीं मिली।

हमारी बहिन हीरो आपकी अनन्य भक्ता थी। वह गुरुपूर्णिमाके अवसरपर आपके लिये एक अत्यन्त सुन्दर हार गूँथकर लायी और कहने लगी कि इस हारसे मैं बाबाकी पूजा तो अवश्य करूँगी, परन्तु मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि यह हार उनके करकमलों द्वारा तुम्हें प्रसादमें मिले। मैंने कहा, "बाबा अन्तर्यामी हैं। तुझे विश्वास न हो तो आज यह खेल भी देख लेना।" बात बड़ी विचित्र हुई। श्रीमहाराजजीके गलेमें फूलों और गोटेके सैकड़ों हार थे। अब हारोंका प्रसाद बाँटने लगे। जब हीरोवाले हारपर सरकारका हाथ पड़ा तो आपने बड़े प्यारसे मुझे बुलाया और हार देकर कहा, "यह तेरे लिए है।" बहिन हीरो इस घटनाको देखकर चकित हो गयी।

'उनकी कृपासे बिना किसी तैयारी और पुरुषार्थके हिन्दीमें एम० ए० परीक्षा दी और प्रथम श्रेणीमें आया। उनकी असीम कृपाके फलस्वरूप ही हिन्दीविभागका अध्यक्ष हुआ।

"एक दिन श्रीमहाराजजीने सत्सङ्गमें लोगोंसे पूछा कि गीताका सार चौथाई श्लोकमें क्या है? आपने सबके उत्तर सुनकर कहा, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गीताका सारांश इन आठ अक्षरोंमें है— **"सर्वभूतहिते रताः।"** इसीके लिये सन्तोंका आविर्भाव होता है तथा इसी निमित्तसे भगवान् अवतीर्ण होते हैं।"

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

कौन ऐसा कल्याणमार्गी आस्तिक भारतीय होगा जो कल्याण-सम्पादक श्रीभाईजीके नामसे परिचित न हो। इनके विषयमें कुछ भी कहना ऐसा हास्यास्पद लगता है जैसे कोई सोनेकी खानमें सोना ही लेकर जाय। 'कल्याण' ने भारतके कोने-कोनेमें अपना परिचय दिया है तथा 'कल्याण कल्पतरु' ने अन्तर्राष्ट्रीय विश्वमें आपके विश्वभ्रातृत्व को स्पष्टतया प्रकाशित कर दिया है। जिन्होंने श्रद्धेय भाईजीसे निकट सम्पर्क, सम्बन्ध और जीवन प्राप्त किया उनके लिये वे साक्षात् श्रीराधा-माधव-रस-प्रसाद ही हैं। मुझे एकबार गोरखपुरमें और चार-पाँच बार श्रीवृन्दावनमें उनके चिरअभिलषित दर्शन, मिलन और सम्भाषण प्राप्त हुए हैं। तब स्थालीपुलाक-न्यायसे ही आपकी सरसताका सौन्दर्य सौजन्यका माधुर्य और रसप्रदान एवं प्रतिपादनकी माधुरी पाकर मनमें यह आया कि जिन्होंने इनका निकट सम्बन्ध पाया वे कैसे भाग्यशाली हैं। वे केवल कल्याण-परिवारके ही भाईजी नहीं, सभी कल्याणाभिलाषी मानवोंके सच्चे हितस्वरूप भाईजी हैं। श्रीमहाराजजीसे आपका घनिष्ट सम्बन्ध था। उनकी अनमोल बोली आपसे सम्पादित 'कल्याण' ने भारतके कोने-कोनेमें स्थित अगणित प्राणियोंतक पहुँचायी। अब स्वयं भाईजीसे ही उनके मधुर सम्बन्ध और अनुभूतियोंके विषयमें सुनिये। वे लिखते हैं—

'पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी यथार्थमें क्या थे, कैसे थे—इस सम्बन्धमें कैसे कुछ कहूँ। मेरी समझसे वे पूर्ण महात्मा थे। मैंने उनका अत्यन्त स्नेह प्राप्त किया था। मुझपर उनकी बड़ी कृपा थी। इसे मैं अनुभव करता हूँ। मैंने उनसे एकान्तमें अनेक बार बातें कीं। तत्त्वके सम्बन्धमें, भगवत्प्रेमके सम्बन्धमें, और रसके सम्बन्धमें भी। व्यक्तिगत बातें भी मैंने उनसे बहुत बार कीं, जिनमें कुछ ऐसी भी थीं जो उनके जैसे सत्पुरुषके सामने उन्हींके सम्बन्धमें मुझ-जैसे नगण्य व्यक्तिको नहीं करनी चाहिये थीं। पर उन्होंने उनका जो उत्तर दिया वह अपार स्नेहभरा तो था ही, सन्तोचित भी था। उनके उत्तरने मुझे सन्तोष प्रदान किया। और शिक्षा तथा सुख भी।'

'एकबार वे बाँधपर गङ्गास्नान कर रहे थे। उस समय कुछ बच्चे उनपर निःसङ्कोच पानी उलीचने लगे और स्नान कर लेनेपर उनके कौपीनके लिये भी उनमें खींचा-तानी होने लगी। मैंने कुछ प्रतिवाद-सा

किया। तब उन्होंने मुझसे कहा, "बताओ मैं क्या करूँ। इनसे लड़ूँ या भाग जाऊँ।" एक ओर जहाँ वे महान् ज्ञानके भण्डार गम्भीर तत्त्वज्ञ थे, वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त सरलतासे बच्चोंके साथ खेलते भी थे।

'प्रयागमें कुम्भके अवसरपर एकबार एकान्तमें खान-पानके विषयमें मैंने कुछ शिकायत की और कहा कि ऐसा नहीं करना चाहिये। तब वे हँसकर बोले, "तो तुम बताओ, जैसे करूँ। कभी-कभी तो मुझे साठ-साठ घरोंमें भिक्षा करनी पड़ती है। मेरा पेट भर जाता है, मैं खाना नहीं चाहता तो लोग मेरे हाथ पकड़कर जबरदस्ती मेरे मुखमें भोजनसामिग्री ठूँसने लगते हैं। बताओ मैं क्या करूँ? दो-एक बार तो मैं चुपकेसे भाग भी गया था, पर मुझे पकड़ लाये।"

'मैं उनसे एकान्तमें सङ्कोच छोड़कर बातें करता था। बड़ा ढीठ हो गया था। परन्तु उन्होंने सदा ही स्नेह किया। यहाँ तक कि मेरे सम्बन्धमें कुछ ऐसी बातें वे अपने भक्तोंमें-से कुछको कह गये, जिनसे उनका अत्यधिक स्नेह सिद्ध होता है। मैं तो उनके उन वचनोंको आशीर्वाद मानता हूँ।

'उनका स्मरण करके मैं पवित्रताका अनुभव करता हूँ। इस समय भी उनका वह प्रसन्न-वदनारविन्द मेरे मानसनेत्रोंके सामने है। वे मुस्करा रहे हैं और अपना स्नेहदान दे रहे हैं। ज्ञान तथा भक्तिके निरूपणकी उनकी प्रणाली बड़ी ही विलक्षण थी। उनका व्यवहार बड़ा सरल और स्नेहपूर्ण होता था। इसीसे सभीको ऐसा लगता था कि वे केवल मेरे ही हैं, मुझपर ही सर्वाधिक स्नेह करते हैं। बाहरी व्यवहार से उन्हें समझना बहुत कठिन था। उन्हें तो उनकी कृपासे ही समझा जा सकता था।'

पं० राधेश्यामजी कथावाचक

आपके नाम और कामसे अधिकांश लोग परिचित ही हैं। जिनका इनसे सम्पर्क हुआ वे जानते हैं कि ये कैसे स्नेही और सरल स्वभावके सज्जन थे। श्रीमहाराजजीके प्रति इनकी गहरी श्रद्धा थी लिखते हैं—श्रीमहाराजजीकी प्रशंसा मैंने अपनी युवावस्थाके आरम्भमें कलकत्तेमें सुनी थी। प्यासा कुएँके पास पहुँच ही गया। मैंने वहाँ अपनी रामायणका केवटसम्वाद गाया। उसकी व्याख्या करते हुए मैंने कह डाला कि भगवान् तो बड़े हैं ही पर मैं आज एक भक्तके दर्शन कराता हूँ और वे भी सीधे-

सादे एक ग्रामीणके—मल्लाहके, जिसका आग्रह है कि चरण धोये बिना नावपर नहीं चढ़ाऊँगा। भगवान्‌को भक्तकी माननी पड़ी। तब तो सिद्ध हुआ कि भक्त भी बड़ा है। एक भक्त कहता है—

खुदाई आपकी ऐ जाने जहाँ मेरी बदौलत है।
सनम जिस दिन अकेले तुम हुए उस दिन कयामत है॥

मेरी इस व्याख्यापर मुझे श्रीमहाराजजीका आशीर्वाद मिला। मैंने अपनेको बड़भागी समझा।

'एक दिन बड़े प्रसन्न थे। फरमाने लगे, "रामायणकी भाँति अब तुम कृष्णायनको भी पूर्ण करो। कृष्णचरित्रमें बाँसुरीका रस और गीताका ज्ञान ही नहीं, संसारभरकी राजनीति और जीवनका संघर्ष भी है। अब ऐसा समय आनेवाला है कि विश्वमें दिनोंदिन संघर्ष बढ़ता ही जायगा। उस समय वही जीवनको सफल बना सकेगा जिसने श्रीकृष्णको खूब समझा होगा।"

'श्रीमहाराजजीके ये भविष्यसूचक वचन आज प्रत्यक्ष हैं।'

सत्सङ्ग

प्रश्न—सङ्कीर्तनके समय जिस नामकी ध्वनि उच्चारण करे उसके साथ नामीका ध्यान करना आवश्यक है। किन्तु महामन्त्रके उच्चारणमें तो पहले हरि और राम नाम हैं तथा दूसरी अर्धालीमें हरि और कृष्ण नाम है। सो क्या एक अर्धाली बोलते समय रामका और दूसरी अर्धाली बोलते समय उसे बदलकर कृष्णका ध्यान करना चाहिए। ऐसी दुविधा होनेसे तो ध्यान ठीक नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—भक्तको सदैव एकमात्र अपने इष्टका ही ध्यान करना चाहिए। मन्त्रमें जो इष्टदेवका नाम है वह तो उसका है ही। उसके अतिरिक्त जो अन्य नाम हैं वे भी अपने इष्टके ही समझने चाहिये। अतः महामन्त्रका जप या कीर्तन करते समय श्रीकृष्णके भक्तको तो श्रीकृष्णका ही ध्यान करना चाहिये। जब वह 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' का उच्चारण करे तब भी श्रीकृष्णका ही ध्यान रखे और यह समझे कि 'राम' भी श्रीकृष्णका ही नाम है, क्योंकि 'राम' उसीको कहते हैं जो सब जगह रमा हुआ है अथवा जिसमें योगिजन रमण करते हैं। श्रीकृष्णमें यह नाम पूर्णतया सार्थक है, क्योंकि वे सब जगह रमे हुए हैं और योगी उनमें रमण करते हैं। इसी प्रकार रामभक्तको जब

वह 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' उच्चारण करे तब भी श्रीरामका ही ध्यान करना चाहिए, क्योंकि रामका नाम 'कृष्ण' भी है। 'कृष्ण' का अर्थ है खींचने वाला। जैसे श्रीकृष्ण मनको खींचते हैं उसी प्रकार राम भी उसे अपनी ओर खींचते हैं। इसी प्रकार यदि शिवका नामकीर्तन करे तो भी राम या कृष्णके भक्तोंको अपने इष्टदेव का ही ध्यान करना चाहिए, क्योंकि उनके इष्टदेवका नाम 'शिव' भी है। 'शिव' का अर्थ है मङ्गलकारी, सो राम और कृष्ण भी मङ्गलकारी हैं ही। अतः उनका नाम 'शिव' भी हो सकता है। मैं तो यह कहता हूँ कि अच्छे-बुरे जो भी नाम हैं वे सब भगवान्‌के ही हैं। अतः भक्तको उनमें इष्टबुद्धि ही करनी चाहिए।

नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करि विचार देखहु मन माहीं॥

\+ + +

(१) मैं अपने अनुभवसे कह सकता हूँ कि आज-कल भगवन्नामजप और जितेन्द्रियता ही सब कुछ है। तत्त्वज्ञान कलियुगी जीवों की समझमें नहीं आ सकता। तत्त्वज्ञान तो पवित्र हृदयवालोंको ही होता है। और हृदय तब पवित्र होता है जब सब प्रकारकी पवित्रताओंका पालन किया जाय।

(२) कीर्तनसे एकाग्रता उत्पन्न होती है। शब्दमें रूपके समान ही आकर्षणशक्ति है। इसलिए श्रीकृष्णने वंशी और रूप दोनों हीसे सबको वशमें किया था। मिलकर कीर्तन करनेसे तुमुलध्वनि होती है। दूसरी बात यह है कि कीर्तन करनेवालोंमें-से यदि एकका चित्त भी सत्त्वगुणमें होगा तो सभीके चित्तोंमें सत्त्वगुणका आविर्भाव हो जायगा। इस प्रकार पहले कीर्तन द्वारा चित्तकी एकाग्रता-लाभ कर लेनेपर प्रभु का ध्यान होगा।

(३) जप और कीर्तन दो वस्तुएँ नहीं हैं। जो जप करता है वह कीर्तन भी कर सकता है। निराकारोपासक भगवान्‌की सेवा तो नहीं कर सकते, किन्तु जप या कीर्तन करनेका उन्हें पूर्ण अधिकार है। जप या कीर्तन करनेसे वृत्ति भगवदाकार होती है। लक्ष्य निर्गुण हो या सगुण दोनों हीमें कीर्तन करनेसे वृत्ति तदाकार हो जाती है। इसलिए जप या कीर्तन तो सभी कर सकते हैं।

(४) कीर्तनमें तीन बातोंपर दृष्टि रखनी चाहिए—कीर्तनका स्थान, कीर्तन करनेवाले और दर्शक लोग। स्थान परम सात्त्विक और भगवान्

के चित्र तथा ध्वजा-पताका आदिसे सुसज्जित होना चाहिए। दर्शकोंमें भी कोई नास्तिक या बहिर्मुख पुरुष न हो। कीर्तनकारोंको सब ओरसे चित्त हटाकर नेत्र मूंदे हुए अनन्यभावसे भगवान्की मधुर मूर्त्तिका चिन्तन करते हुए कीर्तन करना चाहिए। जब कीर्तन समाप्त हो जाय तभी नेत्र खोलने चाहिए। इस प्रकार कीर्तन करनेसे बहुत शीघ्र भगवत्कृपा होती है।

(५) हमारा कृष्णनाम तो सब नामोंसे बड़ा है। देखो, मुझे बङ्गाली स्वामीसे एक श्लोक प्राप्त हुआ है—

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुर्बिम्बोदयः।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम्॥[1]

महाप्रस्थान

अत्यन्त खेदके साथ लिखना पड़ता है कि जिस समय यह प्रसङ्ग लिखकर समाप्त हुआ तभी हमें पूज्य श्रीबाबाके महाप्रस्थानका समाचार मिला। आप गत श्रावणमाससे बहुत अस्वस्थ थे। इतनी अस्वस्थता आपके जीवनमें पहले कभी नहीं देखी गयी थी। इसलिए सन्देह होता था कि सम्भवतः लीलासंवरणकी दिशामें ही जा रहे हैं। आपने तो अपने जीवनमें कभी 'असम्भव' शब्दको स्थान ही नहीं दिया। उल्टे जब-जब कोई विपरीत परिस्थिति आयी उसे अपने सङ्कल्पसे उखाड़कर फेंक दिया। इस बार तो मानो स्वेच्छासे ही रोगको अपना काम करनेकी स्वीकृति दे दी थी। हृदय कुछ बढ़ गया था और रक्तमें जलीय अंशकी वृद्धि हो गयी थी। रोग-निवृत्तिके लिए आधुनिक वैज्ञानिक ढङ्गसे जो कुछ हो सकता था सभी किया गया। इन दिनों आप दिल्लीमें हमारी गुरु-बहिन लक्ष्मीदेवी और उनके दामाद गोविन्दशरण गुप्तकी कोठीपर ठहरे हुए थे। वहाँ प्रायः तीन मास रहनेके पश्चात् आपने चन्द्रलोक नई दिल्लीके माँ

१. 'कृष्ण' इन दो वर्णोंवाले नामकी जय हो। यह पापरूपी पर्वतोंके लिए वज्र, संसाररूप रोगके वेगकी अचूक औषध, अज्ञानरात्रिके सघन अन्धकार के लिए सूर्योदय, क्रूर क्लेशरूपी वृक्षोंके लिए प्रचण्ड ज्वालामालाओंसे मण्डित अग्नि और शान्तिसदनका खुला हुआ द्वार है।

श्रीआनन्दमयी आश्रममें जानेका आग्रह किया। २६ दिसम्बरको माताजी आश्रममें पधारीं और यह समाचार सुनाया कि महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज वाराणसीमें आपके दर्शन करना चाहते हैं। माताजी भी दिल्लीके आश्रममें एक सप्ताहसे अधिक नहीं ठहर सकती थीं। तब बहुत विचार-विमर्शके पश्चात् आपने भी वाराणसी जानेका निश्चय कर लिया। फिर ३१ दिसम्बरको चलकर १ जनवरी सन् १९७० को काशी पहुँच गये। परन्तु यात्राकी थकान आपके शरीरको असह्य सिद्ध हुई। वहाँ पहुँचनेपर प्रायः चौबीस घण्टे अर्धमूर्च्छित अवस्थामें रहे। दो दिन और ऐसी ही स्थितिमें निकल गये। ३ ता० को दशा और भी गिर गयी। परन्तु इस समय आपकी चेतना ठीक थी। माताजीके बोलनेपर आप उन्हें उत्तर भी देते थे। किन्तु रात्रिमें १ बजे अकस्मात् दशा बहुत गिर गयी और १ बजकर ४० मिनटपर आप स्वरूपस्थ हो गये।

तब प्रिय हरेकृष्णजीने माताजीसे आज्ञा लेकर आपके पवित्र शरीरको कारमें रखकर बाँधके लिए प्रस्थान किया और सायंकालमें ६ बजे अनूपशहर पहुँच गये। काशीसे साथमें स्वामी परमानन्दजी आदि माताजीके तीन सन्त आये। जहाँ-तहाँ सूचना देनेपर दिल्ली, वृन्दावन आदि स्थानोंसे अनेकों भक्त आ गये। वृन्दावनसे स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी अवधूत भी आये। फिर ता० ६ को प्रातःकाल १० बजेके लगभग बाँधपर धर्मशालाके चौकमें आपको समाधि दी गयी।

क्या कहें! आपकी वियोगव्यथा हृदयमें रह-रहकर एक असहनीय टीस पैदा कर देती है। ये वह हृदयाराध्य हैं जिन्होंने उस प्रान्तके समाजकी नींव हिला दी थी। अपनी 'हरिबोल' गर्जनासे उन्होंने अगणित जीवोंके हृदय हिला दिये और उनके जीवन पवित्र कर दिये। अपनी दीनदयालुताकी गति-विधियोंसे, सर्वहितकारिणी प्रवृत्तियोंसे रसपान करने और करानेकी अद्वितीय गुणगरिमासे आपने उन्हें मुग्ध कर दिया—चकित कर दिया आपको देखनेपर यह स्पष्ट अनुभव होता था कि ऐसा दिव्य और महान् मानव-शरीर रचकर ही, महान् आदर्शमूर्त्ति श्रीनिवास भगवान् मानवधरातलपर लीला करनेके लिए उसमें प्रकट होते हैं। उनके माध्यमसे ही भगवान् और उनके नित्य-परिकर अपने चिन्मयधामसे अवतरित होकर मानव-समाजसे मिलने, बोलने और खेलनेके लिए आते हैं। उसी महती लीलाके अवतरणके लिए उनमें निरन्तर

पवित्रताकी पराकाष्ठा ही प्रवाहित रहती है। उनके दिव्य-विग्रहमें साक्षात् श्रीनिवासका ही निवास रहता है और वह उनकी सर्वाङ्गश्रीसे जगमगाता है। अतः इनकी हँसी और उनकी हँसी एक ही होती है। 'अभिन्न' शब्द सुनते थे, परन्तु वह चरितार्थ हुआ यहीं। आपके दिव्य चिन्मय शरीरमें दिव्य भगवत्प्रेम अवतरित हो रहा है—यह आपकी दीप्तिमती मूर्त्तिसे स्पष्ट जान पड़ता था। आपके सान्निध्यमात्रसे मानसरोवरमें पवित्रताकी भावना तरङ्गित हो उठती थी और सङ्ग करनेपर भगवत्सान्निध्य समीप-समीप जान पड़ता था। इन अनुभूतियोंसे वहाँकी प्रजाने यह निश्चय किया था कि हमारे तो ये ही भगवान हैं ये ही सुहृद् हैं और ये ही सखा हैं। ये जिसे चाहें उसे भक्ति दे सकते हैं। उनकी सन्निधिमें रहनेसे यह अनुभव हुआ कि वे भौतिक पदार्थकी भाँति भक्ति दे सकते थे। उनका सङ्कल्पमात्र अनन्तको मानव-सेवा के लिए कटिबद्ध कर देता था।

ऐसे थे हमारे बाबा। सङ्कीर्तनाचार्योंमें आपकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। दिल्लीमें आप हीके तत्त्वावधानमें एक भगवद्गुणगान-सम्मेलन हुआ था। उसमें एक सुप्रतिष्ठित सन्तने कहा था कि यदि सत्ययुगका सन्त देखना हो तो इन्हें देखो। हमारे महाराजजीने हमारे कल्याणके लिए ही आपको गङ्गातटसे ले जाकर वृन्दावन-आश्रममें विराजमान किया था। उनका कथन था कि हमारे और हरिबाबाजीके बाद तुमको ऐसे सन्त नहीं मिलेंगे। वे अपने नेत्रके तारेकी तरह इन्हें प्यार करते थे। ऐसा प्रेम अन्यत्र नहीं देखा गया। परन्तु हमारे ऊपर प्रथम दुःख टूट पड़ा श्रीमहाराजजीके लीला-संवरणसे। उनके पश्चात् बाबाने हमारा खूब ख्याल रखा, हमें पूरा अपनाया। उनके लिए कोई अपना-बिराना नहीं था। क्या महाराजजीके, क्या स्वामीजीके, क्या माताजीके और क्या अपने सभीके दुःख-दर्दोंकी निवृत्तिमें सतत तत्पर रहे। मैं तो अपनी बात कहता हूँ। श्रीमहाराजजी तो थे ही, मैं तो इन महापुरुषोंकी मुसकानसे ही परमपुरुषकी प्रसन्नताकी झाँकी लेता था। जब-जब प्रसन्न होते मुझे ऐसा मालूम होता था मानो श्रीमहाराजजी ही प्रसन्न हो रहे हैं। हम और कुछ नहीं जानते थे। बस, बाबा प्रसन्न हो गये तो हमारा प्रयत्न सफल हुआ। इनकी दृष्टि ही हमारा सर्वस्व थी।

क्या कहें उस आनन्द और कृपाकी बात! बड़ी प्रसन्नता और सहयोगसे उनका आशीर्वाद पाकर श्रीस्वामी सनातनदेवजीके सहयोगसे

श्रीमहाराजजीकी लीलाओंका सङ्कलन कर रहा था। हृदयमें यही शौक था कि यह सब पूज्य बाबाको सुनायेंगे। परन्तु हाय! हमारा दुर्भाग्य! यह सङ्कल्प चरितार्थ होनेके पूर्व ही आपने लीलासंवरण करली। हमारे ऊपर मानो बिजली ही गिर गयी। विधाताकी कैसी अद्भुत लीला है। जब बाबाकी जीवनी लिखी गयी तो उसके प्रकाशनसे पूर्व ही श्रीमहाराजजीका लीलासंवरण हो गया और अब श्रीमहाराजजीकी जीवनी सामने आनेसे पूर्व ही आपने अपनी लीला सिमेट ली। इसके अतिरिक्त कैसी अद्भुत बात कि बाबाके हृदयधाम श्रीवृन्दावनमें हमारे महाराजजी समा गये और श्रीमहाराजजीके सदाशिवधाम काशीमें श्रीमाँकी सन्निधिमें आप अन्तर्हित हो गये। यह दिव्य प्रेम-सम्बन्ध दोनों महापुरुषोंने अपने-अपने लीला-संवरणमें भी दिखा दिया।

किन्तु इस जगत्में सूर्य-चन्द्रादिके उदय और अस्त होनेपर भी उनके अधिष्ठातृदेव कभी अस्त नहीं होते। वे जन्म-जन्मान्तरोंमें भी अनुग्रह करते रहते हैं। यह अवश्य है कि आँखोंसे ओझल होनेपर आँखें अकुला-अकुलाकर आँसुओंसे ही उन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हैं और हृदय डावाँडोल होकर ढूँढ़-ढूँढ़कर रोते ही रह जाते हैं। फिर भी सन्तोंकी यह सुनिश्चित अनुभूति है कि जन्म-जन्मान्तरमें अनुग्रह करनेवाले गुरुभगवान् कहीं नहीं जाते। परन्तु हृदयको कितना ही समझाऊँ विधाताकी यह मार है असह्य।



: ११ :

हमारी माताजी

मातृमहिमा

भारत स्वयं माँ है। इसकी महिमा माँ है। यही नहीं, इसका धार्मिक, सांस्कृतिक और उपासना-धर्मका दिव्य मधुर रस भी माँ है। माँकी अद्वितीय अनुपम वात्सल्यदृष्टिको अनावरण करते हुए सर्वदा यह गीत कर्णगोचर होता है—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

भगवान् भी यदि अपनी मातृदृष्टि लेकर न चलें तो वे सर्वसाधारणके लिए स्वीकार्य नहीं होते। इसलिए बच्चेको आँखें खोलनेपर पहली शिक्षा यही दी जाती है—**'मातृदेवो भव।'** **'वन्देमातरम्'** से ही प्रत्येक भारतीयका राष्ट्रीय जीवन पोषित होता है। भगवत्पूज्यपाद श्रीआदि-शङ्कराचार्यने सर्वकर्मसंन्यासके पीछे भी अपनी माँकी अन्तिम आराधना करके भारतका उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया था। यति-संन्यासी भी माँको प्रणाम करेगा, पिताको नहीं। स्वयं श्रुति माँ है। जहाँ मातृत्वकी महिमा आयी है वहाँ बताया है कि स्वयं शिव शव हैं। वे मातृयुक्त होनेपर ही मृत्युञ्जय रूपसे जाग उठते हैं। इस प्रकार मातृत्वकी अगाध महिमा सुननेमें आयी है, परन्तु देखनेमें नहीं आयी। सन्त तो मिले, किन्तु स्वयं मातृत्व ही मूर्त्तिमान् होकर नहीं आया। वह मातृत्व भी ऐसा हो जो अनादि आनन्द ही मूर्त्तिमान होकर प्रकट हुआ हो। जिनकी बोल-चाल, मिलन-जुलन और व्यवहार सब आनन्दमें ही वर्तते हैं, जिनका मुखारविन्द अविकृत आनन्द ही क्षरित करता है—आनन्दकान्तियाँ ही बिखेरता है—प्रसन्नता-पराग ही प्रसारित करता है, जो 'जय जय माँ' इतनी प्रार्थनासे भक्तोंको पाँचों पुरुषार्थ[1] प्रदान करती हैं, इतना ही नहीं जो सरसताकी सद्गेहिनी हैं, सद्धर्मकी सतत प्रवाहिनी हैं, भक्तिरसप्रदायिनी हैं, आर्यगौरवसंवर्धनी हैं, सन्तसौरभ-प्रसारिणी हैं और अद्वैतानन्दाभिव्यञ्जनी हैं, ऐसी माँ हैं श्रीश्रीआनन्द-मयी। ये वह माँ हैं जिन्हें सन्त और भक्तजन दुग्धपोष्य शिशुकी भाँति

---

१. अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष और प्रेम।

'माँ-माँ' कहकर पुकारते हैं। उनका दर्शन करनेपर मालूम हुआ कि निर्दोष शरच्चन्द्र ही आपका मुखारविन्द है, जो आनन्दाह्लादिनी प्रस्फुट किरण बिखेर रहा है। वस्तुतः तो ये किरणें नहीं, ये हैं करुणामयी माँके सहस्रों वात्सल्यमय करकमल, जो अगणित भक्तोंको दुलारनेके लिए स्वयं ही चारों ओर फैले हुए हैं। ये उनके हृदयोंसे आधि-व्याधिको निकालकर उनमें माँकी स्नेहमयी मूर्त्ति स्थापित करते हैं।

माँ स्वयं उज्ज्वल वस्त्र धारण करती हैं, जिससे आनन्द भी आनन्दित हो उठता है और जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि माँ भीतर-बाहर समान रूपसे उज्ज्वल हैं। स्थूल दृष्टिसे भी यह आपके सत्त्वमय विग्रहका ही परिचय देता है। माँके नेत्रोंसे भी स्पष्टतया आनन्दकी ही वर्षा होती है, मानो उनसे अनवच्छिन्न वात्सल्यरस प्रवाहित हो रहा है। जब वे श्रीमुख खोलकर बोलती हैं तो मानो मधुक्षरण ही होता है। उनकी बोली हित, मित और मधुररसबोरी होती है। उनके समीप रहनेपर मालूम होता है कि ये अपने अनन्त माधुर्यमें आविर्भूत अनन्त कृपाकी ही मूर्त्ति हैं। यह स्पष्ट अनुभवमें आता है कि अनादि मातृत्व ही अपने सर्वानन्दमें उल्लसित होकर मूर्त्तरूप हुआ है। आप एकरसताकी धनी हैं, समरसताकी दात्री हैं, नित्यानन्दप्रदायिनी हैं, मुक्तिश्रीकी उन्मुक्त मूर्त्ति हैं और भक्तिश्रीकी कल्लोलिनी हैं। आपमें आनन्दका माधुर्य, आह्लादका सौन्दर्य और करुणाका सौरम्य देखते ही बनता है तथा मर्यादाकी मधुरता, आनन्दकी अद्वयता और आत्मभावनासे सर्वसमाराधनाकी पल-पलमें झाँकी होती है। जैसे-जैसे माँका दर्शन करोगे, उनके वात्सल्यभाजन होते जाओगे। यह स्पष्ट अनुभूति होगी कि माँ का प्राकट्य उस अनन्त कृपारूप मातृत्वका तरङ्गायमान स्वरूप है। अनन्तरसावगाहनके लिए सन्तकृपा ही सविशेष-निर्विशेष, सस्पन्द-निःस्पन्दादि शब्द और अर्थोंके माध्यमसे उस परमपदका परिचय कराती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पूर्ण आनन्दमात्र कृपा ही माँके रूपमें प्रकट हुई है। उनकी प्रत्येक क्रिया भाव, बोली और चाल-ढाल उस आनन्दका ही प्रतिभान कराती है, जो

उनमें अन्तर्निहित है। वस्तुतः विंदुमें ही सिंधु है और सिंधुमें ही विंदु है। तरङ्गका तात्पर्य है समुद्र। यही इस प्रत्यक्ष आनन्दमयीमें परिपूर्ण आनन्दकी व्याख्या है। माँ कहती हैं कि तुम लोगोंकी प्रयोजनपूर्त्तिके लिए स्वयं ही इस शरीरमें अवस्थादिका प्राकट्य हुआ था। किंतु अवस्थादिके आने-जानेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो हूँ सर्वदा ज्ञप्तिरूपा। फिर ये अवस्थादि क्या हैं? जिस प्रकार चन्द्रमाकी पूर्ण कलाओंका दर्शन होनेसे समुद्रकी तरङ्गें उछलने लगती हैं, यह उनका स्वभाव ही है, उसी प्रकार भक्तानुकम्पिनी माँ बिना प्रयत्न अपनी कृपामें ही उछलती हैं, जिनकी धारणा करनेसे भक्त माँकी पूर्ण रूपसे प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। माँकी वे अवस्थायें नहीं, आनन्दकी अभिव्यक्ति हैं और भक्तोंकी लालसाकी परिपूर्त्ति हैं। वे जो अपने अविपरिलुप्त नित्य स्वरूपकी ओर इङ्गित करती हैं वह उनकी सार्वकालिक अनन्तताका द्योतक है। वह अभी है, फिर नहीं है—ऐसा नहीं। वह तो अखण्ड कृपाभण्डार है। वे उसे पानेकी प्रणाली भी बताती हैं। जैसे अण्डमें ब्रह्माण्ड है वैसे ही इस आनन्दविंदुमें ही आनन्दसिन्धु है। सतरङ्गके साथ ही अव्यवहितरूपसे अनवच्छिन्न निस्तरङ्ग है। जैसे धाराजीके साथ गङ्गा है वैसे ही आनन्दमयीके साथ अनन्त आनन्द है।

यह स्पष्ट देखनेमें आया है कि माँके देखते ही अगणित भक्तवृन्द प्रेमसे पागल हो जाते हैं और अपनी आनन्दमयी माँकी गोदमें आनन्दपूर्वक शयन करनेके लिए दुग्धपोष्य शिशुके समान मचल उठते हैं। इधर माँ भी अपने बालकोंको स्नेहसिक्त नेत्रोंसे निहारकर मानो उनपर प्रेमामृतकी वर्षा करती हैं। आप तो नित्य उत्सवस्वरूपा ही हैं। न जाने कितने भक्त आपके दर्शनोंके लिए लालायित रहते हैं। जब सर्वमान्य सन्त ही स्वयं बालक होकर आपको माँ कहकर पुकारते हैं तो इससे बढ़कर आपके मातृत्वका दिग्दर्शन क्या हो सकता है? यह उनका मार्गदर्शन नहीं, मातृदर्शन ही है। माँके श्रीचरणसान्निध्यसे अनुभव हुआ कि माँ अत्यन्त कोमला हैं कठोर नहीं, पोशिका हैं शोषिका नहीं, दानी हैं हारिणी नहीं। तब यह स्पष्ट अनुभूति होती है—

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
नमस्ते त्र्यम्बिके देवि नारायणि नमोस्तुते॥

शरणागतदीनार्त्त आर्त्तत्राणपरायणे।
सर्वत्रार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

माताजी साक्षात् जगदम्बा हैं। निराश्रितोंकी आश्रय हैं, अनाथोंकी नाथ हैं, चिन्तार्त्तोंकी चिन्तपूर्णी हैं और भक्तोंकी भगवती हैं। इनकी मेधा देखकर महामेधा ही याद आती है, स्मृति देखकर महास्मृतिका स्मरण होता है तथा ब्रह्मविद्यादि समस्त विद्याओंमें प्रवेश देखकर यह अनुभव होता है **'विद्याः समस्तास्तव देवि रूपाः।'** इसके महान् वैभवका प्रकाश देखकर महामाया महेश्वरी ही याद आती है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी— इतना वैभव होते हुए भी इतना निरभिमानताका माधुर्य है कि वह आश्चर्य-चकित कर देता है। प्रतिष्ठाकी पराकाष्ठाके साथ ऐसी सरल सरसताका सदावर्त्त देखकर दङ्ग रह जाता हूँ। इतने हृदयोंकी आराध्य, फिर भी सबके लिए हार्दिक वात्सल्यकी ऐसी लूट! सचमुच यह अनन्तानन्दविग्रहा माँ हर किसीके लिए अनन्तानन्दप्रदायिनी है। हर किसीमें हरको देखना और उसकी आराधना करना यही इनकी दृष्टि है। माँके जीवन, रहन-सहन बोलचाल और व्यवहारसे यही स्पष्ट होता है—**'अर्चयेद्दानमानाभ्यां मैत्राभिन्नेन चक्षुषा।'** अर्थात् अभिन्नभावसे दान, मान और मित्रतापूर्ण दृष्टिसे सबका पूजन करना।

जब आदरणीय सन्त आपका मातृत्व पहचानकर 'माँ-माँ' पुकारते हुए सबको आपका परिचय देते हैं और मातृभावसे आपकी आराधना करनेका संकेत करते हैं तब माताजी अपने सहज स्नेहसे बालिकारूपमें अपना परिचय देती हैं और कहती हैं, "पिताजी मैं तो आपकी बच्ची हूँ, पगली हूँ।" इस प्रकार माँ हम अबोध बालकोंको याद दिलाती हैं कि अरे! आँखें खोलो और देखो, ये सन्त ही सच्चे पिता हैं इनके श्रीचरणोंमें अबोध बालककी भाँति सरल भावसे प्रपत्ति ही परमार्थप्रदायिनी है, परलोककी नसैनी है और पुनरावृत्तिसे छुड़ानेवाली है। यही हारे हुओंको हिम्मत देती है और जीवको उसका खोया हुआ स्वर्ग दिलाती हैं। यह संसार-सन्तप्तोंको सान्त्वना प्रदान करती है, लुटे हुओंको धीरज बँधाती है और मरे हुओंको मृत्युञ्जय शिव होकर जीवन प्रदान करती है। इस प्रकार आचरण करके माँ सिखाती है कि तुम बालक या बालिका होकर सन्तचरणोंके सम्मुख जाओ क्योंकि ये सन्त ही निर्बलोंके बल, आर्त्तोंके आश्रय, व्यथितोंकी सञ्जीवनी, मुक्तिश्रीके स्रोत और भक्तिश्रीके भण्डार हैं। बस यही आराधना करो। **"नमो नारायण, नमो नारायण, नमो नारायण"**। इस प्रकार सत्यसार, जीवनसार, समरससार सन्तआराधनाकी स्पष्ट शिक्षा-दीक्षा मिलती है। इस आराधनामें आपकी

अमियरसबोरी बोली ही अमृतवर्षी अभिषेक है, सर्वत्र नारायणदृष्टि ही अर्चना है और निरुपम सत्कार ही पुष्पाञ्जलि है। बस, माँसे पद-पदपर यही शिक्षा-दीक्षा मिलती है—'**अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।**' अर्थात् स्वयं निर्मान होकर और दूसरेका मान करते हुए ही सर्वदा श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिए।

भक्तोंका कथन है कि स्वयं महाकाली ही माँके रूपमें प्रकट हुई हैं। माँ तो स्वयं कनककमनीय मूर्त्ति हैं, परन्तु जब उनकी अन्तर्निहिता काली अपने आनन्दक्रन्दनमें अभिव्यक्त होती है तो माँ स्पष्टतः रङ्ग, रूप, लावण्य, रस और लीलामें सर्वतोभावसे कालीरूप हो जाती हैं। इससे निश्चित होता है कि महाभावरूपा माँ काली ही प्रत्यक्ष माँ हैं। इस प्रकट मूर्त्तिमें अनवरत तरङ्गायमान भावरसवैचित्र्य आनन्दकी ज्वार-भाटाकी भाँति उफन-उफन कर भाग्यशाली भक्तोंको सरावोर कर देता है। तब भक्तोंको अनुभव होता है कि जैसे श्रीकृष्ण चन्दनचर्चित हैं वैसे ही माँ विविध-भावचर्चित हैं। माँको भीतर-बाहरके विभागपूर्वक ग्रहण करना तो बड़ी भूल होगी। जो भीतर है वही बाह्य रूपसे आविर्भूत हुआ है। देवता होकर देवताको भजा जाता है, अतः माँ होकर माँको पाना है। भावराज्यका हृदय है तद्भावभावित होकर रसास्वादन करना।

माँ कभी साधारण, कभी निर्विशेष आनन्दरूपा और कभी महाभाव क्रन्दनरूपा दिखाई देती हैं। यही तो रसाभिव्यञ्जनकी माधुरी तथा रसवर्धन की प्रणाली है। इससे माँ कृपा करके दिग्दर्शन करा रही हैं कि मैं अनन्त-मातृरूपा और अनन्तकलाकारिणी हूँ। यह आनन्दमयी मूर्त्ति ऐसी आनन्द-चुम्बक है कि खींचकर आनन्दाम्बुधिमें ले जाती है, जहाँ कृपामयी विविध देवमूर्तियाँ विविध रसक्रीड़ायें कर रही हैं। यह मूर्त्ति सम्पूर्ण भावोंकी सारभूता है। तथा भाव और क्रिया दो नहीं हैं, इसलिये आश्चर्यमय क्रिया-कलापकी भी अभिव्यञ्जनी है माँके द्वारा जो श्लोक, स्तोत्र और मन्त्रादिकी स्फूर्त्ति हुई है वह वस्तुतः महामायाकी ही अभिव्यक्ति है। यह व्यक्तित्व तो एकमात्र कृपा ही की देन है, जिसे अपनाकर जीव सहजरूपसे भावोन्मुख होकर अग्रसर हो सकता है। यहाँ पद-पदपर आनन्द है। नेति-नेति रूप निर्मम मार्गकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। ज्यों-ज्यों साधक आनन्दरसमें भीगता जाता है त्यों-त्यों जलधिमें लवणकणिकाके समान आनन्दाबुधिमें चित्त कणिका घुलती चली जाती है।

अब श्रीमाँके मुखसे ही माँको समझिये। एक स्त्रीने प्रश्न किया, "लोग कहते हैं, आप माँ हैं, आपकी सन्तान कहाँ हैं?" माँने अपनी ओर संकेत करके कहा, "यहाँ।" प्रश्न हुआ, "आपके पति कहाँ हैं?" माँने कहा, "यहाँ।" फिर पूछा, "आपके माँ-बाप कहाँ हैं?" माँ मुसकराकर बोलीं, "मेरे हृदयमें।" फिर पूछा, "घर कहाँ है?" माँ ने कहा, "यहाँ।" प्रश्न करनेवाली स्त्री कुछ समझ न सकी। उसका चित्त भ्रमित हो गया। तब माताजीने उसका चित्त-विभ्रम मिटानेके लिए अपने करुणामय ढङ्गसे कहा, "विश्वके सारे पदार्थ, सगे-सम्बन्धी माँ-बाप, पति-पुत्रादि, जो भी सर्जन किये हुए हैं, सब इस शरीरमें हैं। एकमें ही सब उत्पन्न हुए हैं, स्थित हैं और लय होते हैं। इससे स्पष्ट विदित हुआ कि सम्पूर्णको रचनेवाली स्थिति ही माँ हैं।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।।
अनादि त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वाः।।[१]

(श्वे० उ० ४।३।३,४)

आपके उदार हृदयका परिचय इन शब्दोंसे मालूम होता है—'प्रत्येककी तृप्ति ही मेरी तृप्ति है, प्रत्येक प्राणीका सुख ही मेरा सुख है, प्रत्येकका दुःख-दर्द ही मेरा दुःख-दर्द है।' फिर अपना कृपामय स्वरूप बताती हैं:—'मैं तो अधिकार-अनधिकारकी ओर नहीं देखती हूँ। मैं गङ्गाजीकी धाराके समान अनवरत कृपा—दया प्रदान करती हूँ। यह मेरा स्वभाव है।' माँके विषयमें सब भक्तोंकी ऐसी धारणा है—**'तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।'**[२] (योगसूत्र)

माँके अपने द्वारा अभिनीत जीवनक्रमके विकासमें हमें निम्नलिखित सत्योंका प्रत्यक्ष होता है। इनकी स्थिति-गति महायोगसे मिलती-जुलती है। माँमें ये सब अनुभूतियाँ अनायास स्वयं ही प्रकट हुई थीं। आपकी

---

१. तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है, तू ही कुमारी है और तू ही बूढ़ा होकर डण्डेका सहारा लेता है। इस प्रकार उत्पन्न होकर तू ही सर्वरूप हो गया है। तेरा कोई कारण नहीं है, तू विभुरूपसे स्थित है, जिससे कि सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं।

२. ईश्वरको यद्यपि अपने लिए किसी अनुग्रहकी अपेक्षा नहीं है तो भी सब जीवोंपर अनुग्रह करना यह प्रयोजन तो उसे है ही।

प्रणालीमें क्रमशः चित्तसमाधान, भावसमाधान, व्यक्तसमाधान, पूर्णसमाधान और निर्विकल्पसमाधान पाये जाते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है।

१. **चित्तसमाधान**—अन्तःकरणकी व्याकुलता ही भगवत्प्राप्तिमें प्रधान सहायक है। यदि भगवान्‌को प्राप्त करना हो तो दिनपर दिन, मासपर मास और वर्षपर वर्ष सदाके लिए सभी अवस्थाओंमें सोते-जागते उठते-बैठते सब कर्मोंके आरम्भ और अन्तमें उनके लिए एक प्रकारकी वेदना जगाये रहना चाहिए। संसारके सुख-सम्पत्ति, आराम और आडम्बर किसीसे भी उन्हें भुलाना नहीं चाहिए। संसारकी वासनारूप जल सूख जाय और ज्ञानरूप अग्नि लगते ही वह स्वाहा हो जाय। इसीको भावशुद्धि भी कहते हैं।

२. **भावसमाधान**—यह प्रथम समाधानकी प्रगतिशीलताका फल है। इसमें साधक इतना तद्भावभावित रहता है कि उसे बाहरका चेत नहीं रहता। यह भाव ही बाहर भी प्रवाहित होने लगता है।

३. **व्यक्तसमाधान**—इसमें भीतर-बाहर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। तब साधक एक अखण्ड आत्मामें ही निमग्न रहता है। परन्तु इस स्थितिमें भी रूप और अरूपद्वैतका भाव रहता है।

४. **पूर्णसमाधान**—इस भूमिकामें हर प्रकारकी द्वैतगन्ध जल जाती है, क्योंकि इस समय सबका अतिक्रम करके साधक एक अद्वितीय सत्यमें एकमेक हो जाता है। यह सर्वातीत भी है और सर्वरूप भी तथा निर्गुण, सगुण और दोनोंसे परे भी है। यह भावातीत स्थिति है, जिसमें सङ्कल्प-विकल्पों का स्पन्दन नहीं रहता। यही समाधि है, क्योंकि इसमें समाधानकी पूर्णत्ता है और यह ज्ञान एवं अज्ञानसे परे है।

५. **निर्विकल्पसमाधान**—इस प्रकार जिसमें अहंबुद्धिकी चरम आहुति सम्पन्न होती है वह निर्विकल्पसमाधान है। उसमें ऐसी स्थितिका परिपाक होता है जिसे ग्रहण करनेमें बुद्धिकी भी गति नहीं है, फिर शब्दके द्वारा उसका वर्णन कैसे हो सकता है? इसमें सर्वाङ्गमें सब क्रियायें निःस्पन्द हो जाती हैं। यदि यह अवस्था अधिक रहे तो शरीर नष्ट होनेकी सम्भावना है, परन्तु जिनका प्राकटच जगत्कल्याणके लिए हुआ है उनकी स्थित्ति शरीरमें चलती है।

माँका कथन है कि यदि असीमको पाना है तो पहले अपनेको सीमामें आबद्ध करके चलना चाहिए। पीछे अनन्तके आभाससे सीमाका बन्धन खुल जाता है। माँके अपने जीवन-अभिनयमें हम इस सत्यको स्पष्ट देख

सकते हैं। ऐसी माँ जिनका जीवन सहज ही आनन्दक्रान्तिकी कहानी है उनको श्रीमहाराजजी और पूज्य बाबाने हमें दिया। पहले-पहले श्रीमाँ कर्णवासमें श्रीमहाराजजीके पास आयी थीं। हमारे बाबाको खोज थी कि एक दिल, एक प्राण, एक मनसे, सम्पूर्ण विश्वको प्रेम वितरण किया जाय। उनकी इस माँगकी पूर्त्तिके लिए भगवदीय विधानसे उन्हें श्रीमाताजीका सहयोग मिला। यह अवश्य कह सकते हैं कि पूज्य बाबा तथा बाँध और वृन्दावनके उत्सव ही पूज्य श्रीमहाराजजीके साथ पूजनीया माँके घनिष्ठ सम्बन्धके निमित्त बने। श्रीमहाराजजीकी प्रत्यक्ष लीलामें आपका आश्रम ही पूज्य बाबाकी तरह श्रीमाताजीका भी आश्रम था। उत्तरोत्तर इन तीनोंकी घनिष्ठता इतनी बढ़ गई कि इनमेंसे किसी एकके न रहनेपर कोई उत्सव होता ही नहीं था।

श्रीमाँके आगमनसे श्रीमहाराजजीके पूर्णानन्द-उल्लासमें और पूज्य बाबाके सङ्कीर्तनमें महान् आनन्द ही उमड़ पड़ा। सङ्कीर्तनके समय माताजी अपने मातृपरिकरके साथ आगे खड़ी रहती थीं। इससे सूचित होता था कि आनन्द पहले और सब पीछे, यही सृष्टिका क्रम है तथा साधक और सिद्धके जीवनमें भी यही क्रम है कि यदि आनन्द पहले रहेगा तो और सभी गुण उनका अनुवर्तन करेंगे। सङ्कीर्तनमें माताजी केवल निरपेक्ष द्रष्टा ही नहीं रहतीं, कभी-कभी यह भी देखनेमें आया कि वे आनन्दोद्रेकसे उन्मत्त होकर ऊर्ध्वबाहु हो अपने घूर्णित नेत्रोंसे आनन्दामृतकी वर्षा करती सब कीर्तनकारोंके साथ मण्डलीमें घूमने लगती थीं। तब तो बाबाके आनन्दका पारावार नहीं रहता था और वे उन्मत्त होकर कीर्तनको भावतरङ्गोंसे तरङ्गायमान करने लगते थे। यों तो स्वयं माँ मधुर कीर्तन कराती हैं। वह पान करते ही बनता है। जब उनसे प्रश्नोत्तर होते हैं तो वे कहती हैं, "यह बाजा है, जो राग-रागिणी बजाओगे वही मिलेगा।" अर्थात् कर्म ज्ञान, भक्ति जिसके विषयमें पूछोगे उसीका उत्तर मिलेगा। माँकी स्पष्ट देन यही है कि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** अर्थात् मेरे पास जो जिस भाव से आता है उसे मैं उसी रूपसे प्राप्त होती हूँ।

जब-जब माताजी आश्रममें पधारती थीं श्रीमहाराजजी उनके तथा उनके परिकरके आवास तथा सेवादिकी व्यवस्थाका स्वयं ख्याल रखते थे। एक बार जब माँ और बाबा वृन्दावन पधारे तब आपने हमें आज्ञा की कि सारे आश्रमका परिष्कार करके सजावट करो। खूब

धूम-धामसे स्वागत किया गया। जब माताजीने वृन्दावनमें अपना आश्रम बनानेका विचार किया तो श्रीमहाराजजीके हाथसे उनकी नींव डलवाई। उत्सवोंमें माँके द्वारा श्रीमन्महाप्रभुका आवाहन तथा सङ्कीर्तन होता तो एक अद्भुत रसमाधुरीका सञ्चार हो जाता था। कभी-कभी माँ कुछ विनोद भी करती थीं। श्रीमहाराजजी प्रसाद बाँटते तो स्वयं भी घूँघट निकालकर पीछे बैठी माताओंकी ओरसे आकर प्रसाद लेतीं। माताजीके भक्तवृन्द होलीके अवसरपर जो मधुर कीर्तन करते थे श्रीमहाराजजी उसकी बड़ी प्रशंसा करते हुए उसे आस्वादन करते थे और कहते थे—'बेटा ! यह है मधुर होली।' वह पद यह था—**'होली खेलत आये नन्दलाला।'** होलीके अवसरपर ही माँके भक्त एक फ्रेञ्च सज्जन आये थे। वे श्रीमहाराजजीका बड़े प्रेमसे दर्शन कर रहे थे। लोगोंने उनपर रङ्ग डालकर उन्हें सराबोर कर दिया। वे वृद्ध थे, सर्दीसे ठिठुरने लगे। झट श्रीमहाराजजीने सबको हटाकर उन्हें अपनी बगलमें दबा लिया। पीछे उन्होंने कहा, "मुझे उनकी बगलमें ऐसी गर्मी लगी मानो बिजलीका हीटर हो।"

माँके साथ उनकी जननीका भी दर्शन होता है। वे सन्यासिनी हैं। लोग उन्हें दीदी माँ कहते हैं। ये शान्तिकी मूर्त्ति हैं और सहज मौनमें स्थित रहती हैं। माँके अनुगत जितने संन्यासी महानुभाव हैं उन्होंने इन्हींसे दीक्षा ली है। माँके पिताजी थे श्रीविपिनविहारी भट्टाचार्य तथा माँका आविर्भाव हुआ था ज्येष्ठ कृ० ४ सं० १९५३ वि० (३० अप्रैल सन् १८९६ ई०) को। आपका पाणिग्रहणसंस्कार बारह वर्ष दस मासकी आयुमें श्रीरमणीमोहन चक्रवर्तीके साथ हुआ था किन्तु पीछे सब लोग उन्हें श्रीभोलानाथ बाबा कहते थे। माँकी अनन्यभक्ता हैं श्रीगुरुप्रियादेवी। ये बालब्रह्मचारिणी हैं, सब लोग इन्हें 'दीदी' कहकर पुकारते हैं। आपने भक्तोंको माँका चरितामृत प्रदान करके बड़ा उपकार किया है। स्वामी परमानन्दजी और दीदी माँके दायें-बायें हाथोंकी तरह हैं। कार्यक्षेत्रमें इनके बिना एक क्षण भी नहीं चलता। स्वामीजी सादगी और सन्त स्वभावकी मूर्त्ति हैं। माताजीके महान् वैभवका सञ्चालन करते हुए भी पूर्ण योगी हैं। आपमें निरभिमानताका नित्य सौन्दर्य निवास करता है।

एक बार श्रीमहाराजजीसे किसीने पूछा था कि माँ क्या हैं ? तब आपने कहा, "जो मैं हूँ सो माँ है और जो माँ हैं सो मैं हूँ।" ★

:: १२ ::

प्रयाग-यात्रा

सर्वात्मरसमूर्तिका अभिवादन

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगाद-
गति च गतिमत्तां प्रापदेकमनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां
प्रणतभयनिहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ।।[१]

यही अद्वितीय अनन्त ब्रह्मका प्रतिपाद्य स्वरूप है और यही हमारे महाराजजीके अभिन्न जीवन और ब्रह्मदर्शनका विशुद्ध प्राकट्य है। आपका जीवन 'अगति' शब्दलक्षित परात्पर ब्रह्मके रसघनत्वकी आनन्दकान्तियाँ बिखेर रहा है। आपका जीवन स्पष्ट निर्देश कर रहा है कि पाण्डित्यनिर्वेदनपूर्वक निर्वासनिक मौनमें ही इस अगतिलक्षित अनादि अनन्त ब्रह्मामृतसिन्धुका सच्चा अवगाहन होता है। पाण्डित्य से निर्वेदन इसलिए है, क्योंकि ब्रह्म अव्यपदेश्य है, अलक्ष्य है और अचिन्त्य है। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यह शिव और अद्वैत भी है। पाडित्यनिर्वेदनके पश्चात् ही आपका जीवन उस ब्रह्मरसमें निश्चिन्त निमज्जन करके उस अनन्त-रसघनके आलिङ्गन की महिमा अगतिस्थ होकर जिज्ञासुवर्गके प्रति प्रकट कर रहा है। आपकी यह मौन मूर्त्ति ही प्रौढ़ विचारविनियमके द्वारा स्वमहिमा की स्थितिको तथा ब्रह्मके अगतिरसत्त्वके सौन्दर्य-माधुर्यको अभिव्यक्त कर रही है। इस अगति ब्रह्मरसके अवगाहनके पश्चात् ही जो गतिमत्ता होती है उसीसे ब्रह्मकी गतिमत्ताका रसास्वादन होता है। आपकी गति-विधि उसी गतिमान् मधुपुरुषके

---

१. अपने मायारूप ऐश्वर्यके कारण जो अजन्मा होकर भी जन्म लेनेवाला हो गया, गतिहीन होनेपर भी गतिशील हो गया और एक होनेपर भी अनेक हो गया तथा मायामुग्ध दृष्टिवालोंके लिए जो विभिन्न विषयोंको ग्रहण करनेवाला बना हुआ है, ऐसा जो अपने शरणागतोंके भयका नाश करनेवाला ब्रह्म है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

मधुररसका आस्वादन करानेवाली मधुमयी लीला है। इसीसे हमारे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वामी अखण्डानन्दजी आपका 'फड़कता ब्रह्म' कहकर निर्देश करते हैं।

इस प्रकार आप स्वयं रसघन होकर अगति ब्रह्मके आनन्दरस-घनत्वकी मूक व्याख्या करते हैं जिसे शास्त्र गुरुदेवका 'मौन व्याख्यान' कहते हैं। तथा फड़कते ब्रह्मरूपसे स्वयं गतिमान् होकर अपने गतिशील ब्रह्मको गतिमत्ताके सरस सौन्दर्यकी स्थापना की। फिर अपने **'प्रापदेकं अनेकम्'** (एक अनेक हो गया) का विशुद्ध रस प्रकट किया। इस ब्रह्मका जो एक होकर भी अनेक रूपोंमें भासना है वही इसके **'एकोऽहं बहु स्याम्'** की आनन्दरूपताका निदर्शन है। शास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्मकी अगति-गतिमें और एकता-अनेकतामें तथा आपकी अगति-गति और एकता-अनेकतामें केवल इतना-सा अन्तर ही जान पड़ता है कि ब्रह्मने अपने मायामय अनन्त ऐश्वर्यके द्वारा इस - विवर्त्तको प्रकट किया और आपमें अगति तो अजात ब्रह्मका मायामलसे रहित विशुद्ध रसदर्शन है और गति उस आनन्दकी अनन्त-स्वरूपताके माधुर्यका प्राकट्य है। इसी प्रकार आप एकतासे तो अपने ही अखण्ड पूर्णत्वका अवगाहन करते हैं तथा अनेकतासे अपने ही कार्य-कारणत्वका सौन्दर्य-माधुर्य प्रकट करते हैं। मायामलरहित आनन्द क्या है इसकी पूर्णतया आपसे आपमें ही नित्य झाँकी होती है। यही आप ब्रह्मविद्वरिष्ठका शान्त-ब्रह्म-सौन्दर्य है। आपके पग-पगमें क्षण-क्षणमें नित्यप्राप्त मूर्त्तिमान् शिवस्वरूपकी महिमा लहराती है। अतः आपकी प्रत्येक गति-विधि अगतिकी गति है। ऐसे विशुद्ध आनन्द-ब्रह्म आपको हम नमस्कार करते हैं, क्योंकि हम संसार-भयसे आक्रान्त हैं। अतः आपके अकुतोभय चरणारविन्दकी शरण ग्रहण करते हैं। यही है इस पूर्णानन्द-ब्रह्मका असङ्ग-ससङ्ग, एक-अनेक तथा विशुद्ध-विशिष्ट सर्वात्म-सौष्ठव। आइये, अब आगे इनकी प्रयाग-यात्राका दर्शन करें।

श्रीमहाराजजीके अद्भुत रसावतार और वितरणने वास्तवमें ब्रह्म-द्रवा गङ्गाका ही रूप धारण कर लिया था। गङ्गावतरणके लिए अन्शुमानसे लेकर भगीरथ तक प्रत्येक पीढ़ीके आराधना करनेपर जब वे प्रसन्न हुई तब भगवान् शिवके अनुग्रहसे उनके जटाजूटमें किलोल करते हुए धरातलपर अवतीर्ण हुईं और फिर मार्गमें शापदग्ध सहस्रों सगरपुत्रोंका उद्धार करके अपने प्रियतम पयोधिसे मधुर मिलन होनेपर उसीसे अभिन्न

हो गयीं। प्रेममें व्यक्तित्वका व्यवधान नहीं रहता। सर्वथा समा जाना ही सार है। इसीप्रकार हमारे श्रीमहाराजजीने आनन्दगङ्गारसके अवतरण के लिये प्रचण्ड तपरूप पुरुषार्थ किया, जिससे प्रसन्न होकर स्वात्म-शिवने स्वयं ही आपको वरण किया। केवल इतना ही नहीं किया, प्रत्युत सहस्र-सहस्र अमृतरसधाराओंसे आपको सराबोर कर दिया। फिर वह आनन्दरसकी अमृतमयी धारा सगरपुत्ररूप संसारदग्ध अनन्त प्राणियोंको पावन करती अनन्तरससागर सर्वात्मदेवमें ही निरन्तर समाती जा रही है। जैसे श्रीगङ्गाजी और उनकी धारा दो नहीं हैं, एक ही हैं, उसी प्रकार यह आनन्दरसधारा और आपकी जीवनधारा दो नहीं, एक ही हैं। श्रीगङ्गाजी जैसे अपने प्रियतमसे मिलनेके लिए किलोल करती, आनन्दमें लहराती, नृत्य करती और बीच-बीचमें अनेक धाराओंमें फट-फटकर फिर प्रेमालिंगनके लिये सिमटती प्रवाहित होती हैं उसी प्रकार आपकी विशुद्ध परात्पर ब्रह्म-आनन्दधारा भी अपने अनन्त अनवच्छिन्न सर्वात्मरससागरसे मिलनेके लिए चलती हैं। उस चालमें एक आनन्द-प्रदायिनी चमत्कृति है। जब मौज होती है आप प्रफुल्लित नेत्र-कमलोंसे लहराते हुए चलते हैं और जब मौज होती है भीतर सिमट जाते हैं। इस प्रकार मानो फड़कता हुआ ब्रह्म ही अपने आनन्द-नृत्य की अङ्ग-भङ्गीके अनुसार सङ्कोच और विकासका प्राकट्य करते हुए चल रहा है। वह कभी अपनी ऐश्वर्य-माधुर्य-वात्सल्यमयी धाराओंमें फटता है और कभी सिमट जाता है जन समाज और भक्तजन जो आपके स्वागतके लिये आनन्दसे प्रफुल्लित होकर लहराते हैं वही मानो सर्वात्मरससागरका अपनी प्रियतमाके प्रेमालिंगनके लिये उल्लास है। यह इनकी रसयात्रा ही स्वयं शुद्धरसस्वरूप ब्रह्म और स्वयं सरस-विहारी सर्वात्मब्रह्म हैं। जैसे ब्रह्मद्रवा गङ्गाको राजा भागीरथ गङ्गा-सागरतक ले गये वैसे ही इस आनन्दरसधाराको प्रयागराज ले जानेका श्रेय है स्वनामधन्य ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीको। भागीरथजीकी प्रेमपुकारसे जैसे ब्रह्मद्रवा श्रीगङ्गाजी चल पड़ीं उसी प्रकार उनकी प्रेममयी प्रार्थनासे साक्षात् पूर्णानन्द ही श्रीउड़ियाबाबारूपसे आनन्द उड़ेलते सन्तसमाजसे मिलनेके लिये प्रयागकी ओर चल दिये।

ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी

हमारे पूज्य ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीकी कीर्तिकौमुदी तो भारतमें सर्वत्र व्याप्त है। ये देशभक्तोंमें रत्न हैं और सङ्कीर्तनप्रेमियोंके लिये तो

आचार्य स्वरूप ही हैं। इनके देशप्रेमने तो देशान्तरोंकी जनताको भी आर्कषित किया है। उनकी स्पष्टनिष्ठा और सतत सावधानी इस श्लोक द्वारा अभिव्यक्त होती है।

संगं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रयाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
पुञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥[1]

(भाग० ९-६-५१)

उनका समग्र जीवन यह प्रश्न करता है—'क्या साथ लाये क्या ले चलोगे ? फिर तो आपके हृदयमें स्थित इसका उत्तर स्वयं बोल उठता है—'लाये यही साथ सदा पुकारो—'**श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारी हे नाथ नारायण वासुदेव !'** बस-बस, यही धारा अनिवच्छिन्न चलती रहती है। यही उनके जीवनका उद्‌गीथ है। देखा जाय तो प्रयाग और प्रभुदत्तजी दो नहीं, एक ही हैं। आप हमारे श्रीमहाराजजीके स्वभाव और प्रभावसे चमत्कृत हैं। यह आप स्वयं उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—'रामघाट मेरी जन्मभूमिके समीप है। हमारे यहाँसे गङ्गास्नान करने के लिए लोग रामघाट जाया करते हैं। उसी सम्बन्धसे मैं बाल्यकाल से ही आपके नामसे परिचित था। उन दिनों आपके ज्ञान-वैराग्य, त्याग-तितिक्षा एवं सुन्दर स्वभावकी इस प्रान्तमें ख्याति थी। सहस्रों स्त्री-पुरुष आपके दर्शनोंके लिए दूर-दूरसे आते रहते थे। महाराजजी जहाँ भी जाते वहाँ एक मेला-सा लग जाता था। आप बड़े दयालु और सरल प्रकृतिके थे। जो एक बार आपके दर्शन कर लेता वह सदाके लिए आपका ही बन जाता था। आप जैसा अधिकारी देखते उससे वैसी ही बातें करते थे। युवक आपसे अधिक प्रवाहित होते थे। आप एक दृष्टिमें ही दर्शनार्थियों को अपना बना लेते थे। मुझे तो प्रथम दर्शनमें ही ऐसा अनुभव होने लगा मानो ये मेरे अत्यन्त आत्मीय हैं। इस अधमपर इतना अनुराग प्रदर्शित किया कि इसमें उसे व्यक्त करनेकी क्षमता नहीं है। सत्पिता जैसे पुत्रकी

---

१. मुमुक्ष पुरुषको दाम्पत्य धर्ममें स्थित संसारी लोगोंका सहवास सर्वथा त्याग देना चाहिये। अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख नहीं होने देना चाहिये। वह सर्वदा एकान्तमें अकेला ही निवास करे, चित्तको एकमात्र अनन्त ईश्वरमें लगा दे, यदि सङ्ग करना हो तो भगवत्परायण साधुपुरुषोंका ही सङ्ग करे।

प्रत्येक बातका ध्यान रखता है उसी प्रकार वे मेरी बातोंका ध्यान रखते थे। मैं जब-जब भी उनके चरणोंमें गया तब-तब ही मुझे नूतन स्फूर्त्ति प्राप्त हुई। उन दिनों उनकी युवावस्था थी त्याग और वैराग्यकी पराकाष्ठा थी। एक काष्ठके कमण्डलुके अतिरिक्त वे और कुछ नहीं रखते थे। तथा स्वयं घर-घर माधूकरी भिक्षा करनेके लिए जाते थे। एक दिन आपने अपनी भिक्षाकी एक घटना मुझे सुनायी। आपने बतलाया—मैं एक गाँवमें भिक्षा करता डोल रहा था। भिक्षा करते-करते मैं एक स्त्रीके यहाँ पहुँचा। उसका लड़का कामपर नहीं जा रहा था। उसने उस लड़केसे मेरी ओर संकेत करके कहा, "देख, कामपर नहीं जायगा तो इस प्रकार भीख माँगता डोलेगा।" मैं हँसकर वहाँसे चल दिया।' बेचारी बुढ़ियाको क्या मालूम था कि ऐसा पुरुष बनना हँसी-खेल नहीं है। एक प्रसङ्ग आपने और भी सुनाया था—'व्रजमें एक जगह सदावर्त बँटता था। वहाँ तीन प्रकारसे दिया जाता था—(१) दण्डिस्वामियोंको आदरपूर्वक चौकमें बिठाकर भोजन कराते थे, (२) साधु-संन्यासियोंको पंक्तिमें और (३) कङ्गालोंको रोटियाँ बाँट दी जाती थीं। हम कङ्गालोंमें बैठ गये, चार बड़ी-बड़ी रोटियाँ मिलीं। उन्हें लेकर हम बागमें चले आये। सब तो हमसे खायी नहीं गयीं। खानेसे जो बचीं उन्हें हमने दूसरे दिनके लिए जमीनमें गाड़ दिया। दूसरे दिन जब यह बात सेठको मालूम हुई तो वह अपने दल-बलसहित आया और साथमें भाँति-भाँतिकी चीजें लाया। हमने कहा, "पहले अपनी कलकी भिक्षा समाप्त कर लें तब खायेंगे।" इन बातोंसे आपके व्यक्तित्वका थोड़ा-बहुत पता लग सकता है। एक ओर तो यह हाल था और दूसरी ओर आपके बहुतसे भावुक भक्त आरती उतारते थे। इन पंक्तियोंके इस अधम लेखककी समालोचक दृष्टि सदा श्रीमहाराजजीके मुखकी ओर लगी रहती थी कि इससे इनके मनोभावमें कोई अन्तर तो नहीं आया। परन्तु मैं अपनी बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझ सकता था उसका सारांश यही है कि वे मान-अपमान दोनों हीमें उदासीन भावसे रहते थे। उधरके नगर और गाँवोंमें आपका भारी मान था। मुझे जानकीप्रसादने बताया था कि एक बार जब महाराजजी हाथरस पधारे थे तो उनके पास मिठाई कितनी आयी इसका तो मुझे अनुमान नहीं है, किन्तु हाँ, उस दिन आपके ऊपर कई मन फूल अवश्य चढ़ गये होंगे। सम्पूर्ण शहर फल और मिठाई लेकर टूट पड़ा था। एक ओर आपके इस भारी

सम्मानकी ओर देखते हैं और दूसरी ओर आपको घर-घर भिक्षा माँगते देखते हैं तो हमारी बुद्धि चक्करमें पड़ जाती है। तभी तो स्थितप्रज्ञके विषयमें कहा है—'**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।**'

'उन दिनों मेरे जीवनमें भी त्यागकी एक क्षीण-सी रेखा उदित हुई थी। उन्होंने मुझे प्रेमसे नहला दिया। मुझ अधमसे भी कोई इतना स्नेह कर सकता है—यह मैंने कल्पना भी नहीं की थी। उन दिनों मैं काशीमें साहित्यिक जीवन व्यतीत कर रहा था। उसे छोड़कर मैं इस सङ्कल्पसे हिमालयकी यात्रा कर रहा था कि जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होगी तबतक हिमालयसे लौटकर नहीं आऊँगा। मेरे इस भावकी पुष्टिके निमित्त ही आपने मुझे बुद्ध भगवान्‌का तपोमय चित्र दिखाया था। उनके मुखमण्डलपर एक विचित्र ओज और तेज था। उनकी वाणीमें भी बड़ा आकर्षण था। श्लोक इस लयसे बोलते थे कि सुनते-सुनते रोंगटे खड़े हो जाते थे। उनके मुखसे यह श्लोक मैंने जब-जब सुना तब-तब जीवनमें एक विचित्र स्फूर्ति मिली और हृदयमें एक विचित्र भाव उत्पन्न हुआ। वे तन्मय होकर गाते थे—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं विलयं तु यान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकालदुर्लभ मिहासनान्नैव समुच्चलिष्ये॥[1]

पण्डित पद्मसिंह शर्मा और नरदेव शास्त्री प्रभृति विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे आपकी प्रशंसा की थी। पं० पद्मसिंह शर्माने मुझसे कहा था कि महाराजजी की वाणीमें जितना माधुर्य है उतना तो किसी भी साधुकी वाणीमें नहीं देखा, तिसपर भी असीम पाण्डित्य सोनेमें सुहागा है।'

'अस्तु। हिमालयसे रुग्ण होकर मैं पुनः श्रीचरणोंमें लौट आया और अपनी असफलता बतायी। तब आपने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा, "भैया! कोई बात नहीं, असफलतामें सफलता छिपी रहती है। तुम्हारी लिखने-लिखानेकी ओर प्रवृत्ति है। तुम पुस्तकें लिखो।" तब मैंने चैतन्यचरितावली लिखी।'

---

१. यहाँ आसनपर भले ही मेरा शरीर सूख जाय तथा त्वचा, अस्थि और मांस नष्ट हो जायँ तथापि जिसकी प्राप्ति बहुत कालमें भी कठिन है उस बोधको प्राप्त किये बिना मैं इस आसनसे हिल नहीं सकता।

यात्राका विवरण

अब आप स्वयं ही समझ लीजिये कि श्रीब्रह्मचारीजीके साथ श्रीमहाराजजीका क्या सम्बन्ध था और क्या आपपर उनका प्रभाव था। ब्रह्मचारीजी स्वयं कहते हैं कि जब झूसीमें चौदह महीनेका अखण्ड कीर्त्तन और साधनानुष्ठान हुआ तब मैंने आपसे पधारनेकी प्रार्थना की। ढाई-तीन सौ कोस पैदल चलकर आना कोई सामान्य बात नहीं थी। किन्तु आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और गढ़मुक्तेश्वरसे चलकर झूसी पधारे। इस यात्राका विवरण हमारे गुरुभाई श्रीरामदास बाबाने दिया है। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

'आप बीस-पच्चीस भक्तोंके साथ गढ़मुक्तेश्वरसे झूसीके लिए चल पड़े। सौभाग्यसे मैं भी इस यात्रामें आपके साथ था। श्रीमहाराजजीके साथ पैदल-यात्राका आनन्द भी बड़ा विलक्षण था। मैं देखता था कि चलते समय चुप्पी सधती तो दो-दो, तीन-तीन घण्टेतक सब लोग मीलों चुपचाप चले जाते, कोई भी कुछ न बोलता। और यदि सत्सङ्ग छिड़ जाता तो मीलों सत्सङ्गमें ही निकल जाते। मालूम ही नहीं पड़ता था कि हम इतनी दूर चले आए हैं। भक्ति और ज्ञानकी ऐसी धारा प्रवाहित होती कि उसमें सब लोग निमज्जित हो जाते। श्रीमहाराजजीका एक मिनट भी बेकार नहीं जाता था और न अपने पास रहनेवालोंको ही वे समयका दुरुपयोग करने देते थे। जो सुकुमार प्रकृतिके लोग कभी पैदल नहीं चले थे वे भी आपके साथ पन्द्रह-पन्द्रह मील चलनेपर भी नहीं थकते थे। दिन या रात्रिमें जहाँ भी आप विश्राम करते वहीं दर्शनार्थियोंकी भीड़ लग जाती थी। भोजनके लिए विविध पदार्थ उपस्थित हो जाते थे। इस पैदल यात्रामें भी हम श्रीमहाराजजीको पैर फैलाकर सोते नहीं देखते थे। दिनभरकी थकानके कारण जब सब लोग निद्रादेवीकी गोदमें सो जाते तब भी आप सिद्धासन लगाकर रात्रिभर ध्यानस्थ हुए बैठे रहते थे। अधिकसे अधिक मैंने यही देखा कि दोनों कुहनियोंको दोनों घुटनोंपर टेककर हस्ततलपर मुट्ठी रखकर विश्राम कर लेते। कभी-कभी यदि ब्राह्मी मुहूर्त्तका समय हो जाता और हम लोग सोते रहते तो आप कहते, "अरे रामदास! ओ सियाराम! अरे भैया! उठो। यह मनुष्यजन्म सोनेके लिये थोड़े ही मिला है। भजन करो, ध्यान करो।" इसी प्रकार अपने कृपा-पात्रोंपर आप सदैव कृपादृष्टि रखते थे। प्रातःकाल अँधेरेमें ही चल देते थे और नौ-दस बजे तक चलकर ठहर जाते

थे। फिर भोजनकी व्यवस्था होती थी। कभी-कभी सायङ्कालमें भी दो घण्टा चलते और रात्रिमें कहीं ठहर जाते। भिक्षाका प्रबन्ध प्रायः गाँववालों की ओरसे हो जाता था। अथवा हम लोग सामान माँग लाते और दो-तीन ब्रह्मचारी मिलकर भोजन बना लेते थे।'

'यात्रामें श्रीमहाराजजी प्रायः किसी वृक्षके तले विश्राम करते थे। हम लोग कुछ पत्ते इकट्ठे करके आसन लगा देते थे। उसीपर आप विराज जाते थे। कभी-कभी आपसमें खूब विनोद भी होता था। हम लोगोंको पृथक्-पृथक् वृक्षोंके तले आसन लगानेकी आज्ञा थी। सायङ्कालमें जब कहीं ठहरना होता तो हम लोग झटपट घने-घने वृक्षोंके तले अपना-अपना आसन लगा लेते और पल्टू बाबाके लिये सूखा ठूँठ छोड़ देते। जब उन्हें कोई स्थान न मिलता तो वे महाराजजीके पास पहुँचकर हमारी शिकायत करते। बाबा उन्हें अपने पास ही आसन लगानेको कह देते। तब हम उन्हें अपने लिए चुने हुए स्थानोंमें से ही कोई जगह दे देते।'

'यात्रामें श्रीमहाराजजीके तीनों समयके सत्सङ्गोंका कार्यक्रम चलता था। बीच-बीचमें कीर्तन भी होता था। कासगंज, सोरों और फर्रुखाबाद आदि मुख्य-मुख्य स्थानोंमें तो आपको चार-चार, पाँच-पाँच दिनों तक ठहरना पड़ा। वहाँ तो उत्सवका-सा रूप बन गया। आपके दर्शनार्थ जो लोग एकत्रित होते थे उनमें सभी वर्गोंके व्यक्ति होते थे और उन सभीके साथ आपका जो स्नेहपूर्ण व्यवहार होता था उससे जान पड़ता था मानो आप संन्यासी, वैरागी, उदासीन, गृहस्थ और ब्रह्मचारी आदि सभीके अपने हैं। बस सत्सङ्ग एवं कीर्तनादिकी धूम मच जाती और ज्ञान तथा भक्तिकी गङ्गा-यमुना प्रवाहित होने लगतीं। गढ़मुक्तेश्वरसे कासगञ्जतक भक्तोंसहित आपकी भिक्षाकी व्यवस्था गोरहेके रईस ठाकुर कञ्चनसिंहजी और उनकी धर्मपत्नीने की। वे दोनों ही श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त थे।'

'कासगञ्जसे चलकर आप सोरों पहुँचे। यह वह स्थान है जहाँ गोस्वामी तुलसीदासजीका बाल्यकाल व्यतीत हुआ था और जहाँ उन्होंने नरहरि-दासजीसे भगवान् श्रीरामका चरित सुना था। उससे आगे शहबाजपुर पड़ा। यहाँ अमरसावाले स्वामी रामानन्दजी सरस्वतीसे भेट हुई। श्रीमहाराजजीसे मिलकर वे बड़े प्रसन्न हुए। वहाँ तीन दिन विश्राम करके फर्रुखाबाद पहुँचे। यहाँ ला० रामभरोसेलालके बागमें ठहरा करते

थे। वहाँ आपके करकमलोंसे शिवजीकी प्रतिष्ठा भी हुई थी। श्रीराम-भरोसेलालका पौत्र बहुत बीमार था, उसके जीवनकी ओरसे भी निराशा थी। उसे आपने एक किशमिश उठाकर दी और तभीसे वह स्वस्थ होने लगा। इसी समय यहाँ पं० चन्द्रसेनजी मिले। इन्होंने काँग्रेसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता-संग्राममें काम किया था और कई बार जेल भी जा चुके थे। श्रीमहाराजजीसे मिलनेपर ये इतने प्रभावित हुए कि उन्हें आत्मसमर्पण कर दिया। आगे चलकर ये दण्डिस्वामी आत्मबोधतीर्थ नामसे प्रसिद्ध हुए। फर्रुखाबादसे आगे सड़ियापुरतक इन्होंने ही सबके भोजनकी व्यवस्था की। फर्रुखाबादके अन्य प्रेमियोंमें पं० लक्ष्मीनारायणजी शास्त्री, बा० मथुराप्रसाद दीक्षित, बा० श्याम-सुन्दरजी (बड़े बाबूजी), बा० रामचन्द्रजी (छोटे बाबूजी) और पं० शीतलाप्रसादजीके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। ये सभी उच्च-कोटिके भगवद्भक्त थे। यहाँ सहस्रों नर-नारियोंने श्रीमहाराजजीके दर्शन और सत्सङ्गसे लाभ उठाया।

जब आप सड़ियापुर पहुँचे तो वहाँ आपको स्वामी हीरानन्दजी मिले। ये श्रीमहाराजजीके पूर्व-परिचित और अत्यन्त प्रेमी थे। कहते हैं, परमपद प्राप्त होनेके समय इनकी आयु एक सौ तीस वर्ष की थी। इन्होंने आपके विषयमें लिखा है—'बाबामें सबसे बड़ी सिद्धि मैंने यही देखी कि वे सदैव प्रसन्न रहा करते थे। मैं उनके साथ दस-दस दिनतक रहा हूँ। तथापि उन्हें सदैव प्रसन्न देखता था। स्वरूपबोध हुए बिना ऐसी प्रसन्नता नहीं रहती। यह सिद्धि तो सभी सिद्धियोंकी सिरमौर है। हम भगवान्‌की शरणमें हैं, उनपर हमारा विश्वास है—इस बातकी कसौटी यह है कि सदैव प्रसन्न रहा जाय। नहीं तो दुःख घेर लेता है।' यही थी श्रीमहाराजजीके प्रति आपकी आन्तरिक धारणा और प्रेम। श्रीमहाराजजीसे मिलकर आपको अपार आनन्द हुआ और समस्त मण्डलीकी सुविधाके विचारसे आप श्रीमहाराजजीसे चार मील आगे-आगे चलने लगे। इस प्रकार [illegible]ानपुरतक प्रायः सौ मील चलकर आपने सबके भोजनकी सुन्दर व्यवस्था की। इससे श्रीमहाराजजीके प्रति आपका अपूर्व अनुराग प्रकट होता है। कन्नौजमें आपने महाराजजीको पाँच-छः दिन ठहराया।

'फिर बरुआघाटवाले वयोवृद्ध सन्त श्रीज्ञानाश्रयजीके दर्शनार्थ गये। इनका आप गुरुतुल्य आदर करते थे। कुशलप्रश्नके पश्चात् जब आपने

उनसे पूछा तो उन्होंने अपना सर्वहितकारी अनुभव इस प्रकार बताया, "प्रत्येक विचार जो मनमें आता है वह एक तीरके समान होता है। उसमें जितनी शक्ति और तीव्रता होगी उसीके अनुसार वह दूसरोंके हृदयोंमें जाकर प्रभाव डालेगा और लौटकर हमपर भी अपना भला या बुरा प्रभाव डालेगा। अपनी आत्मिक शक्तियोंको अपने वशमें रखो। ऐसा करनेसे तुम अपने बाह्य जीवनको जैसा चाहो वैसा बना लोगे। जो अपने मनको उपयोगी और बलवान् बनाना तथा प्रसन्न रखना चाहता हो उसे अनिष्ट, घृणित और अपवित्र विचारोंको अपने मनमें नहीं आने देना चाहिये। यदि तुम क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या या अन्य किसी वासनाके अधीन रहते हुए उत्तम स्वास्थ्यकी इच्छा करो तो यह असम्भव है। शक्तिका विचार करोगे तो तुम शक्तिमान् हो जाओगे। जो विचार दृढ़ होते हैं वे सफलता मिलनेपर लय नहीं होते। स्वार्थहीन विचारोंको ही सत्य या उत्तम विचार कहते हैं। दृढ़ विचार वे कहे जाते हैं जिनमें मन, वाणी और कर्मका सहयोग हो।

मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।
परब्रह्मको पाइये, मन हीके परतीत॥

यह बात अच्छी तरह समझ लो कि तुम्हारा विचार ही पदार्थरूपमें परिणत होता है और सब काम तुम्हारे विचारोंके अनुसार ही होता है। एक योगीका कथन है—"जैसे ऊपर तैसे नीचे जैसे भीतर वैसे बाहर।" तुम्हारा आन्तरिक रूप तुम्हारा विचार ही है और बाहरी रूप उसीका प्रतिबिम्ब है। उचित विचारोंसे ही उचित अनुभवशक्ति बढ़ती है। उस अनुभवशक्तिसे तुम सम्पूर्ण दुर्बलताओंको दूर कर सकते हो। किसीपर विचारद्वारा आघात करना उसे नीचा दिखाना है। अतः जब किसीसे विचार-विनिमय करो तब दया, आरोग्यता और आनन्दका ही विचार दो।"

उनसे यह अनुभवामृत पानकर श्रीमहाराजजी परिकरसहित कानपुर पहुँचे। वहाँ हम सब श्रीगङ्गाजीकी रेतीमें ठहरे। यह समाचार जब सेठ कमलापतिकी धर्मपत्नीने सुना तो वे तुरन्त श्रीमहाराजजीके दर्शनोंको आयीं। ये प्रसिद्ध उद्योगपति श्रीपद्मपति सिंघानियाकी माताजी थीं। इनकी पहलेसे ही साधु-सेवामें बड़ी रुचि थी। श्रीमहाराजजीको देखकर ये अत्यन्त भावविभोर हो गयीं, मानो इनकी पूर्वपरिचिता हों। उन्होंने

श्रीमहाराजजीका अपूर्व स्वागत किया और अत्यन्त आग्रह करके कई दिन कानपुरमें रोके रखा। यहाँ भी सहस्रों नर-नारियोंने आपके दर्शन और सत्सङ्गसे लाभ उठाया। कानपुरसे चलकर हमलोग फतहपुर पहुँचे। यहाँ एक सुप्रसिद्ध वकील श्रीशङ्करलालजीने आपका बड़े समारोहसे स्वागत किया। ये अपनेको श्रीमहाराजजीका शिष्य मानते थे। इनकी शिष्यत्व ग्रहण करनेकी घटना भी बड़ी विचित्र थी। एक रात्रिमें इन्हें स्वप्नमें दर्शन देकर श्रीमहाराजजीने बताया कि मैं रामघाटमें रहता हूँ। वकील साहब उठकर दूसरे ही दिन रामघाट गये और वहाँ आपको देखकर श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया। फतहपुरतक तारकोलकी सड़कपर चलनेके कारण श्रीमहाराजजीके तलवे घिस गये थे और उनमें रुधिर झलकने लगा था। अतः वकील साहबकी धर्मपत्नी और पुत्रीने आपके चरणोंमें मखमलकी गद्दियाँ बाँध दीं।

प्रयागमें

वहाँ तीन दिन ठहरकर आपने पुनः यात्रा आरम्भ कर दी और विभिन्न स्थानोंमें ठहरते एकादशीके दिन प्रयागराज पहुँचे। यहाँ अनूपशहरवाले पं० शिवशङ्करजी कई दिनोंसे आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि मेलेकी बहुत भीड़ थी तथापि दैवयोगसे अनायास ही उनसे हमारी भेट हो गयी। श्रीमहाराजजीको देखते ही वे हर्षोल्लाससे उछल पड़े और उन्होंने हम सबके फलाहारकी व्यवस्था की। फलाहारके पश्चात् हम लोग झूसीमें ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीके आश्रमपर पहुँचे। ब्रह्मचारीजीने अपूर्व प्रेमका परिचय दिया। स्वागत-सत्कारके पश्चात् सबको यथायोग्य विश्राम कराया। ब्रह्मचारीजी नित्यप्रति स्वयं डोंगी लेकर श्रीमहाराजजीको त्रिवेणी स्नान करानेके लिए ले जाया करते थे। साथ ही दूसरी डोंगियोंमें अन्यान्य भक्तगण जाते थे। श्रीब्रह्मचारीजीके यहाँ कथा-कीर्तन तथा सत्सङ्गकी बड़ी सुन्दर चर्या थी। श्रीमहाराजजी वहाँके प्रत्येक कार्यक्रममें सम्मिलित होते थे। एक ओर तैलधारावत् अखण्ड कीर्तन चलता रहता था तथा दूसरी ओर कथा-प्रवचनादिका कार्यक्रम रहता था। ब्रह्मचारीजी स्वयं लिखते हैं—'आप दर्शकोंमें बिना आसनके सर्वसाधारण लोगोंके साथ बैठ जाते और दूसरे लोग गद्दी-तकिया लगाकर आसनपर बैठते। आप नीचे बैठे-बैठे सुनते रहते। इससे आपने कभी अपना अपमान अनुभव नहीं किया। कुछ मण्डलेश्वर आये। वे गद्दी-

तकिया लगाये बैठते थे। आप साधारण व्यक्तिकी भाँति आगे भूमिपर जाकर बैठ जाते। कोई कहता—'आसन दो', तो आप कह देते—'आसनकी क्या आवश्यकता है, पृथ्वी ही आसन है।'

'इसी जगह हमें पहले-पहले श्रीमद्भागवतके प्रकाण्ड विद्वान् श्रीशान्तनुविहारी द्विवेदीकी रसमय कथा सुननेको मिली। इनकी कथा सुन-कर श्रीमहाराजजी बहुत प्रसन्न हुए। तथा श्रीमहाराजजीसे प्रश्नोंके स्पष्ट उत्तर पाकर उनका चित्त सदाके लिए आपकी ओर आर्कार्षित हुआ। इनके अतिरिक्त श्रीजयरामदासजी 'दीन' और बाबा रामदासजी करहवालोंसे भी यहीं परिचय हुआ। तथा यह प्रेमसम्बन्ध ऐसा जुड़ा कि उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। स्वामी श्रीकरपात्रीजी और विरक्तप्रवर श्रीरामदेवजी मेलेके बीचमें ठहरे हुए थे। ये अवकाश पानेपर दूसरे-तीसरे दिन श्रीमहा-राजजीसे मिलनेके लिए आते रहते थे। वहाँके प्रायः सभी गण्यमान्य विरक्त श्रीमहाराजजीसे परिचित थे। आप सभीसे मिले। कई जगह श्रीकरपात्रीजी भी साथ रहे। इस अवसर पर गीताप्रेसके संस्थापक श्रीजयदयालजी और हनुमानप्रसादजी भी कुम्भस्नानके लिए आये थे। जयदयालजीके साथ सम्भवतः यह आपकी सर्वप्रथम भेंट हुई। एक दिन अमेरिकाकी योगदा सोसाइटीके संस्थापक स्वामी श्रीयोगानन्दजी भी पधारे। उनके साथ कुछ सत्सङ्ग भी हुआ और फिर उनके अमेरिकन शिष्यने दोनों महा-पुरुषोंका फोटो भी लिया।'

'श्रीब्रह्मचारीजीके यहाँ जो अनुष्ठान चल रहा था उनकी पूर्णाहुति हरिहारके महोत्सवके साथ हुई। अन्तमें व्रती साधकोंने श्रीमहाराजजीके सम्मुख भविष्यमें भी नामजप करते रहनेकी प्रतिज्ञा करके अपना मौन खोला। इस अवसरपर स्वामी श्रीएकरसानन्दजीने दीक्षान्त भाषण दिया। उत्सवके पश्चात् ब्रह्मचारीजीने सन्तमण्डलीके साथ तीर्थराज प्रयागकी बहुत दिनोंसे लुप्त परिक्रमा करनेका विचार किया। श्रीमहाराजजीने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। फिर सहस्रों नर-नारी, सन्त-महन्त और लीलामण्डलीके साथ तीन-चार दिनोंमें यह परिक्रमा पूरी हुई।'

सत्सङ्ग

वहाँ श्रीमहाराजजीके साथ जो सत्सङ्ग हुआ उसमें-से कुछ नीचे दिया जाता है—

(१) भक्तिका चरम लक्ष्य क्या है? भक्तिका चरम लक्ष्य है भगवत्प्रेम, दुःखका अभाव और नित्य परमानन्दकी प्राप्ति। भगवान्‌के सोपाधिक और निरुपाधिक दोनों ही रूप स्वयंप्रकाश हैं। सविशेष उपासना निर्विशेष उपासनाका साधन है—यह विचार ठीक नहीं। प्रेमी भगवान्‌के सविशेष-निर्विशेष किसी भी रूपसे प्रेम करे वह भगवान्‌से ही प्रेम करता है। भगवान्‌के इन रूपोंमें किसी प्रकारका तारतम्य मानना ठीक नहीं है। हाँ, भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपको समझनेके लिए यदि ऐसा भेद किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त नहीं है। भगवान्‌का सगुण रूप भी वस्तुतः निर्गुण ही है, क्योंकि भगवान् तो भक्तानुग्रहविग्रह हैं। भक्तोंको आनन्दित करनेके लिए उनकी भावनाके अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपोंमें भासते हैं। वस्तुतः तो वे सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

निरगुण ब्रह्म सगुन भये कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

(२) एक ओर भगवान् हैं और दूसरी ओर संसार है। हमें एकसे प्रेम करना है तो दूसरेको छोड़ना पड़ेगा। जैसे लड़की ससुराल जाती है तो पिताके घरको बड़े दुःखसे छोड़ती है। पर ससुरालमें मन लग जानेपर पिताका घर बहुत कम याद आता है। इसी प्रकार साधकको सारे संसारसे आसक्ति हटाकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिए। आरम्भमें दुःख-सा होगा। परन्तु भगवान्‌में प्रेम होनेके पश्चात् संसार याद नहीं आवेगा। यह मोह केवल वेदान्तविचारसे थोड़े ही छूटेगा, क्योंकि आजकल वेदान्त विचारनेवाले तो बहुत देखे जाते हैं, परन्तु मोह विरलोंका ही छूटता है। इसलिए भगवान्‌का आश्रय लेकर निरन्तर उनका भजन करनेसे मोह छूटता है।

(३) भगवान्‌में मन जोड़नेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है। जैसे विषयोंके सङ्गसे विषयोंमें प्रेम होता है वैसे ही भक्तोंके सङ्गसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। प्रेम किये बिना हमसे रहा नहीं जाता। प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँच जाना, प्रेमस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना ही भजनका मुख्य लाभ है।

(४) भक्तिके साधकको पहले श्रद्धा करनी चाहिए और फिर सत्सङ्ग। सत्सङ्ग भी भक्तोंका करे, वेदान्तियोंका नहीं। जो भगवत्प्रेम चाहता हो

वह अद्वैतवादके ग्रन्थ न सुने, न पढ़े और न उसकी निन्दा ही करे, क्योंकि भक्तोंमें तो द्वैतभाव रहता है। जो अद्वैतके ग्रन्थ पढ़ता-सुनता है उसकी भक्ति दब जाती है। वेदान्तविचार करनेवाला तो भक्ति भी कर सकता है, किन्तु यदि भक्त वेदान्तविचार करेगा तो उसकी भक्ति दूर हो जायगी। भक्तको तो भगवान्‌के गुणानुवाद ही सुनने चाहिए और उनकी भक्ति ही करनी चाहिए।

(५) किसीकी निन्दा भूलकर भी नहीं करनी चाहिए। निन्दा करनेसे जितनी हानि होती है उतनी किसीसे नहीं होती। निन्दाको भगवन्नामजपमें पहला अपराध माना है। इसलिए किसीके दोष नहीं देखने चाहिए और न किसीकी निन्दा ही करनी चाहिए।

(६) श्रीगीताजीके अध्याय ८ श्लोक १४ में भगवत्प्राप्तिका सबसे बड़ा साधन बताया है। इसको सब धर्म और मतवाले मानेंगे। इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं हो सकता—

अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥[१]

(७) यह विश्वास रखना चाहिए कि प्रभु हमारी रक्षा करेंगे ही। जीवकी ओरसे चिन्तन ही कर्त्तव्य है, फिर तो प्रभुकी ओरसे कृपा होगी ही। जितना-जितना चिन्तन बढ़ेगा उतना-उतना ही आनन्द बढ़ेगा।



१. जो अनन्यचित्त होकर सर्वदा मेरा स्मरण करता है, हे पार्थ ! उस नित्य योगीको मैं सुगमतासे प्राप्त हो जाता हूँ।

:: १३ ::

हमारे स्वामीजी

[अवतरणिका]



सर्वतन्त्रस्वतन्त्र परमपूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजको ऐसा कौन भारतीय विद्वान् है जो न जानता हो। भूगर्भसे प्रकट हुए कोहनूर हीरेके समान ये भागवत-चिन्तामणि पहले अपने अद्वितीय सौन्दर्यको लेकर कल्याणके सम्पादकीय परिवारमें अपनी प्रतिभा, दीप्ति और माधुर्यके साथ देदीप्यमान हुए। अक्रूरके हाथोंमें जैसे स्यमन्तकमणि थी उसी प्रकार कल्याणके सम्पादकीय परिवारमें यह भागवत-चिन्तामणि छिपी हुई थी। इसकी मधुमयी कान्ति कल्याणके पृष्ठोंद्वारा ही शान्तरसवाहिनी होकर शान्तनुविहारी द्विवेदीके नामसे प्रसारित होती थी। वहाँ इसे निष्कामकर्मरूप बाँधने ही सीमाबद्ध किया हुआ था। कहना न होगा कि सीमाबद्ध ब्रह्मण्यमूर्त्तिको, जो स्वयं अनन्त असीम रससागर ही था, प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूपसे असीम भारतमण्डलमें चमकानेका श्रेय हमारे श्रीमहाराजजीको ही है। इस अनावरणका माधुर्य ऐसा ही है जैसे पञ्चकोशसे अनावृत ब्रह्मका। तथा इसका वैसा ही महान् वैभव है जैसे समष्टि उपाधिसे निर्मुक्त अनन्त ब्रह्मका। वास्तवमें आप हमारे श्रीमहाराजजीकी कौस्तुभमणि ही हैं। आपके जीवनका उद्‌गीथ या सामगान यही है—सत्प्रतिष्ठाका क्या सौन्दर्य है? सदायतनका क्या अनुपम रहस्य है? स्वमहिमाका क्या माधुर्य है? श्रीभागीरथी जैसे अनवरत अपना गीत गाती हैं और श्रीबाँकेविहारीजी जैसे रसवाहिनी वंशी बजाते रहते हैं वैसे ये अपनी मौजमें ब्रह्मविद्याका गान करते रहते हैं। इनके द्वारा श्रीमद्भागवतरसामृत अनन्त रूप धारणकर भारतमें अगणित भक्तोंके हृदयोंको आप्लावित करता रहता है। आपका रसवितरण तो स्पष्ट है, किन्तु रस-आस्वादन अति गुप्त है। वह सुगमतासे बुद्धिगम्य नहीं होता। जिस प्रकार गोपीहृदय ही अनन्तरूप धारणकर सर्वभूतात्मा प्यारे श्यामसुन्दरसे मधुर आलिङ्गनके लिए दुस्त्यज आर्यमर्यादाको तोड़कर दौड़ पड़ता है उसी प्रकार रसवितरणके समय मानो शास्त्रहृदय ही

ग्रन्थसीमाको तोड़कर अपने अनन्त माधुर्यके साथ असीम रसवैचित्र्यको लेकर आपके हृदयका आलिङ्गन करनेके लिए दौड़ने लगता है। उस हृदयस्थ मधुर मिलनका अधूरालाप ही आपका कथारसामृत है। जिन्होंने इनके चरणोंमें रहकर इनका अध्ययन किया है तथा इनकी कथाका रसास्वादन किया है उनकी ऐसी ही अनुभूति होगी। सभी रसोंको उनके वास्तविक धरातलपर प्रकट करना—यही इनकी अद्भुत प्रतिभाकी अनोखी देन है। आप भयानक वाक्योंसे भयभीत नहीं करते, दुरवगाह्य कहकर निराश नहीं करते—थाह लेनेके लिए चलनेवाले जिज्ञासुका दिल नहीं दहलाते, प्रत्युत उनका उत्साह ही बढ़ाते हैं। कहते हैं—'किसी भी बातको लेकर दिलको डिगाओ मत, यह मार्ग तो सर्वथा स्वाभाविक और सुगम ही है। यह आयाससाध्य नहीं, अनायास ही नित्यप्राप्त है। यहाँ छेदन-भेदनका काम नहीं है, बस इतनी ही बात है कि समझदारीसे विचार करो। तनिक निश्चिन्त होकर बैठो। फूल तोड़नेमें तो आयास है, किन्तु इस पदको प्राप्त करनेमें नहीं। प्रत्यक्ष या परोक्ष पदार्थको प्राप्त करनेमें तो कुछ प्रयास हो सकता है, किन्तु जो साक्षात् अपरोक्ष अपना आप ही है उसकी प्राप्तिमें क्या आयास होगा ? यहाँ तो **'विमुक्तश्च विमुच्यते'**—मुक्त हुआ ही मुक्त होता है।

इनके सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वेदान्त प्रतिपादनका विस्पष्ट घोष सुनिये—जिस जीवत्वको लेकर अवस्था, स्थिति और गतियोंकी धारणा करते हैं वह जीव है या नहीं—इसका विचार करो। बालकोंके वेदान्तकी बात दूसरी है, प्रौढ़ या चोटीका वेदान्तदर्शन तो घोषणा करता है—

'न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥'[1]

जब जीव नहीं है तो जीवाश्रित स्थिति, गति या अवस्थाओंका प्रश्न ही क्या हो सकता है ? यहाँ तो सत्यानुसन्धान करना है, किसी अवस्थाका परिपाक नहीं; विशुद्ध ज्ञानभूमिको खोजना है, भूमिकाओंका परिपाक नहीं। यहाँ तो सर्वत्याग ही निर्द्वन्द्वता है, ग्रहणके बोझसे क्या मतलब ? यहाँ पकड़ना नहीं है, अपितु **'येन त्यजसि तत्त्यज'** के स्वराज्यकी स्थापना है। स्वमहिमामें सापेक्षता नहीं है, वृत्ति, व्यक्ति और व्यक्तित्व-

१. कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता, उसकी उत्पत्ति है ही नहीं। उत्तम सत्य तो यही है कि कहीं कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।

निरपेक्ष सत्यस्वरूपमें वृत्ति, व्यक्ति और व्यक्तित्व सापेक्ष स्थिति-गतिका प्रश्न ही कहाँ है ? यहाँ तो केवल पर्दाफाश करना है; और वह केवल श्रुतिप्रामाण्यसे ही होता है—

'साक्षात्कारो निर्विकल्पस्य शब्दादेवोपजायते।'

बोध श्रवणमात्रसे ही होता है।' यह है आपका प्रौढ़ अजातब्रह्मदर्शन।

श्रीमहाराजजी जब अविद्यालेशरहित दृष्टिका विश्लेषण करते थे तब आप मुझसे कहते—"आञ्जनेय ! 'आत्मा माने मैं' इस प्रकार अनुसन्धान करना। तब यह बात समझमें बैठेगी।" श्रीमहाराजजी कहने लगते कि अरे ! आत्मा तो स्वयं है, फिर क्या परोक्ष और क्या अपरोक्ष। **'आत्मन आकाशः सम्भूतः'** इस वाक्यमें 'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा है, किन्तु 'आकाश' का अर्थ है 'कुछ नहीं।' अर्थात् आत्मासे कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ; बस, आत्मा ही आत्मा है। तब आप कहते, "आञ्जनेय ! यह बात तुम प्रक्रियासे समझो, तब बुद्धिमें बैठेगी। इस अद्भुत आनन्दमें आरूढ़ होनेके लिए श्रुत्युक्त शैली ही उपयुक्त है। श्रुत्युक्त प्रक्रियासे ही उस पूर्ण वस्तुका अवगाहन होगा।" इसके लिए आप 'तत्' और 'त्वं' पदके अर्थोंका विचार-विमर्श अनिवार्य बताते हैं। और उसीके द्वारा पूर्ण वस्तुके पूर्णत्वका हृदयङ्गम होना सम्भव मानते हैं।

आपकी दृष्टिमें भागवतका तात्पर्य

श्रीमहाराजजीने श्रीमद्भागवतका निम्नाङ्कित मङ्गलाचरण बोलकर कहा कि सम्पूर्ण भागवत इसीकी व्याख्या है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः॥
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥[1]

इसपर श्रीस्वामीजीने कहा, "आञ्जनेय ! इस बातको उपक्रम आदि षड्विध लिङ्गोंसे समझना। परीक्षितका क्या प्रश्न है—इसपर ध्यान दो।

१. जिससे इस जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत्पदार्थोंसे पृथक् है, जड़ नहीं चेतन है, परतन्त्र नहीं स्वप्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं प्रत्युत उन्हें अपने सङ्कल्पसे जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है, जिसके सम्बन्धमें

वे पूछते हैं—'भगवान् ! बताइये कि मनुष्यमात्रको क्या करना चाहिए। वह किसका श्रवण, किसका जप, किसका स्मरण और किसका भजन करे तथा किसका त्याग करे ? इसका उत्तर सूत्ररूपसे श्रीशुकदेवजीने दिया—'परीक्षित ! जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता है उसे तो सर्वात्मा सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए।" फिर आपने विषय प्रयोजन और उपसंहार बताते हुए कहा कि इस ग्रन्थका विषय है चतुःश्लोकी भागवत। वहाँ स्पष्टतया जीव और ब्रह्मकी एकताका ही प्रतिपादन किया है। इसके सिवा भगवान् एकादश स्कन्धमें कहते हैं—

बद्धमुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न तत्त्वतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मुक्तिर्न बन्धनम्॥

अर्थात् बद्ध और मुक्त यह व्याख्या गुणोंके ही कारण है, वास्तवमें नहीं है; और गुण मायामूलक हैं, अतः वास्तवमें न मेरी मुक्ति है न बन्धन। फिर प्रयोजनकी ओर संकेत करते हुए आपने बताया कि उद्धवजीने भगवान्का उपदेश सुनकर स्वयं ही प्रयोजनका उल्लेख किया है—

'विद्रावितो मोहमहान्धकारो य आश्रितो मे तव सन्निधानात्।'

अर्थात् मैं मोहके महान् अन्धकारमें भटक रहा था। आपके सत्सङ्गसे वह सदाके लिए भाग गया। इस प्रकार प्रयोजन भी अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति ही बताया गया है। प्रयोजनके बिना कभी किसीकी किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। यही बात उपसंहारमें भी श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षितसे कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नंक्ष्यसि॥

बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें ये त्रिगुणमयी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या होनेपर भी अधिष्ठान सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योतिसे सर्वदा सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं।

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ।।
दशन्तं तक्षकं पादे लिलाहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ।।

(भाग० १२।५।२, ११-१२)

अर्थात् हे राजन् ! अब तुम यह पशुओंकी-सी अविवेकमूलक धारणा छोड़ दो कि मैं मरूँगा । जैसे शरीर पहले नहीं था, अब पैदा हुआ और फिर नष्ट हो जायगा वैसे ही तुम भी पहले नहीं थे, तुम्हारा जन्म हुआ और मर जाओगे—यह बात नहीं है । तुम इस प्रकार चिन्तन करो कि मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ और सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही मैं हूँ । इस प्रकार तुम अपने-आपको अपने वास्तविक एकरस अनन्त अखण्डरूपमें स्थित कर लो । उस समय अपनी जीभ लपलपाते हुए तक्षक अपने विषैले फणसे तुम्हारे पैरमें काटेगा भी तो भी तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर इस शरीरको तो क्या सम्पूर्ण विश्वको भी अपनेसे प्रथक् नहीं देखोगे ।

"यह सब सुनकर परीक्षित अपना अन्तिम उद्गार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ।।

(१२।६।७)

अर्थात् आपके द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान और विज्ञानमें परिनिष्ठित हो जानेसे मेरा अज्ञान सर्वथाके लिए निवृत्त हो गया है । आपने मुझे भगवान्के परमकल्याणमय स्वरूपका साक्षात्कार करा दिया है ।

"अन्तमें श्रीशौनकजी इस ग्रन्थका सार इस प्रकार बताते हैं—

सर्ववेदान्तसारं यत् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकसयोजनम् ।।

(१२।१३।१२)

अर्थात् जो ब्रह्म और आत्माकी एकतारूप अद्वितीय तत्त्व सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) का सार है उसीमें इस ग्रन्थकी निष्ठा है तथा कैवल्य ही इसका एकमात्र प्रयोजन है ।"

इस प्रकार इन नवीन शुकाचार्यके मुखसे द्रवित होकर श्रीमद्भागवत यथानाम तथागुण रूपसे अखण्डानन्दमें पर्यवसित होती है । वह श्रोतृगणको उन्मज्जित-निमज्जित करने लगती है । इतना ही नहीं आपका

प्रवचन तो श्रोताओंको भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्रबोध सभी रसोंका भरपूर अवगाहन करता है।

आपका प्रेमदर्शन

आपके प्रेमदर्शनके विषयमें आदरणीय दादा लिखते हैं—'आपका कथन है कि प्रेमका सर्वोत्तम रूप समरसता ही है। एकांगी प्रेम केवल प्रेमकी पूर्वावस्था है, क्योंकि उसमें व्याकुलता है, अभाव है और सामनेका कोई आकर्षण नहीं है। चातक, चकोर, मछली, कुमुद और कमल सब इसी कक्षामें आते हैं। यह पूर्ण प्रेमका प्रकाश नहीं है। सारसमें वियोग नहीं, चक्रवाकमें संयोग नहीं; इसलिए वे भी प्रेमके अधूरे उदाहरण हैं। सम्पूर्ण प्रेमकी अभिव्यक्ति केवल राधा-कृष्णके प्रेममें ही है। अभिसारमें भी देरी और दूरी है, छद्ममें भी देरी और दूरी है। इसलिए देश-कालकी उपाधि से युक्त यह प्रेम पूर्ण नहीं हो सकता। हाँ, पूर्णताकी प्राप्तिका साधन हो सकता है। अभिसार और छद्म दोनोंमें ही प्रत्यक्ष विरहकी स्थिति है। मिलनेकी अवस्थामें भी मिलनकी प्रतीति चित्तकी विपरीतता है और वह भी प्रेमका लक्षण होनेपर भी प्रेमका स्वरूप नहीं है। जो संजोगमें बढ़े और वियोगमें घटे अथवा संयोगमें घटे और वियोगमें बढ़े—वह तो प्रेम ही नहीं है। प्रेमपर देरी और दूरीका प्रभाव नहीं पड़ता। भ्रान्ति चाहे अविद्याजन्य हो चाहे प्रेमजन्य दुःखका ही कारण बनती है। और उसमें परम आह्लाद-स्वरूप प्रेमकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। मानमें भी न्यूनाधिकताका भाव रहता है, भले ही क्षणिक हो। परन्तु प्रियतममें दोषका अध्यारोप भी तत्काल दुःखका ही कारण होता है। इसलिए प्रेमका उत्कृष्ट रूप युगलका सामरस्य ही है। प्रेमके तरङ्गायित रूपमें कृष्ण राधा और राधा कृष्ण होते रहते हैं। यह कोई निर्गुण, निष्क्रिय ब्रह्मका स्वरूप नहीं है, सगुण, सक्रिय स्पन्दनात्मक ब्रह्म ही है। इसलिए प्रेममें किसी प्रकारके भेदकी उपस्थिति नहीं रहती। उसकी अनिर्वचनीयता भी स्वयंप्रकाश एवं अनुभवमात्र है। इसीसे इसे प्रेमाद्वैत या रसाद्वैत कहते हैं। यह ब्रह्म-शक्तिका परिणाम या विक्षेप नहीं है, स्वयं सविशेष ब्रह्म ही है।' यह है आपके प्रेम दर्शनका स्पष्ट उद्गार।

आपकी प्रतिभा

इस प्रकार श्रीमहाराजजीकी ब्रह्मानन्दलहरियोंके साथ श्रीअखण्डानन्द की सिद्धान्त-सौन्दर्यलहरियोंका गान सुनते-सुनते हम ईश्वरानुग्रहके बलिहारी

होते गये। जिस प्रकार नन्दालयमें श्रीकृष्णलीलारस मिलता है उसी प्रकार हमारे श्रीमहाराजजीके आश्रममें श्रीस्वामीजी महाराजके श्रीमद्भागवत-प्रवचन द्वारा भक्तिमहारानीका अनुपम नृत्य और रस-आस्वादन करनेको मिलता है। भक्तिके साथ ज्ञान-वैराग्यका तो नित्य सम्बन्ध है ही। वैराग्यका निरूपण करते हुए आप कहते हैं—

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे।
आत्मेति धीर्यत्कुणपे त्रिधातुके जयत्यसौ काच न मोहलीला ॥

अर्थात् पत्थरके टुकड़ोंमें भी रत्नबुद्धि होना, रक्त और मांसके पिण्डमें कान्ताबुद्धि होना तथा वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओंसे बने इस शवमें आत्मबुद्धि होना—यह मोह महाराजकी लीला जयको प्राप्त हो रही है।

इस प्रकार आप भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका बड़ा अद्भुत प्रतिपादन करते हैं। आपके जीवनमें इस प्रकार शास्त्र-हृदयका साङ्गोपाङ्ग आविर्भाव देखकर मेरी दृष्टि शास्त्रकृपा, ईश्वरकृपा और आत्मकृपा इन तीन प्रकारकी कृपाओंकी ओर गयी। आपमें तीनोंका सन्निवेश स्पष्टतया देखा गया है। अतः मेरा सङ्कल्प इन कृपामूर्त्तिमें इन तीनों कृपाओंका स्वरूप समझनेका हुआ। यह जाननेकी इच्छा हुई कि किस प्रकार इनमें इन तीनों कृपाओंका आविर्भाव हुआ।

जब श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें आपका पद-पदमें सुस्वादु प्रतिपादन श्रवण करनेको मिला तब मैंने मन ही मन कृपामय प्रभुको प्रणाम किया। मैं तो बचपनमें एक श्लोक सुनता था और चाहता था कि मुझे कोई ऐसे श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ सन्त मिलें जिनकी स्थिति इस श्लोकमें बताये हुए सन्तके सदृश हो। श्रीविद्यारण्य स्वामी अपने गुरुदेवकी वन्दना करते हुए कहते हैं—**'पारंगतं सकलदर्शनसागराणामात्मोपकारचरितार्थितसर्वलोकम्।'** अर्थात् जो सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र रूप समुद्रोंको पार कर चुके हैं और अपने उपकारोंसे सम्पूर्ण लोकोंको कृतकृत्य कर चुके हैं यह बात मुझे यहाँ देखनेको मिली। श्रीमद्भागवत जैसे सम्पूर्ण पुराणोंमें तिलक है वैसे ही ये भागवतमूर्त्ति विद्वानोंमें तिलक हैं आप विद्वानोंमें विद्वान् हैं, सन्तोंमें सन्त हैं, कवियोंमें कवि हैं, संस्कृतिके सारभूतस्वरूप हैं, सभाओंके सौन्दर्य हैं, विद्याविनोदकी मधुरिमा हैं और अपौरुषेय वेद-ज्ञानके प्रचण्ड भास्कर हैं। आपकी प्रवचनशैलीसे श्रोता मुग्ध और आश्चर्यचकित हो जाते हैं तथा रसपान करते-करते भी प्यासे रहते हैं कि



अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

अभी और मिले। आप सरसताकी मूर्त्ति हैं, आपके स्वभावमें निरभिमानताकी मिठास लबालब भरी हुई है, सच्चे स्वाभिमानका सौन्दर्य लहराता है, औदार्यका माधुर्य पग-पगपर स्पष्ट प्रतीत होता है तथा अपने भक्तोंके आप सर्वस्व हो हैं। भगवान् रामानुजाचार्यने अत्यन्त गोपनीय गुरुदत्त मन्त्रको, सब प्राणी वैकुण्ठप्राप्तिके अधिकारी हो जायँ इस करुणासे आविष्ट होकर, शिखरपर चढ़कर सभीको सुना दिया था। वैसी ही करुणा आपमें भी देखी जाती है। सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त कर लें—ऐसी करुणासे प्रेरित होकर आप भी निरन्तर अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते हैं तथा निर्द्वन्द्व होकर स्पष्टतया सिद्धान्तभूत तुरीयपादका ही गीत गाते हैं, जहाँ जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति भी नगण्य हो जाती हैं। एक दिन आप कह रहे थे कि मेरी यह नित्य नवीन उन्मेषशालिनी बुद्धि एक दिनमें थोड़े ही विकसित हुई है। मेरे पितामहजीने मुझे दस सालकी आयुमें ही व्यासगद्दीपर बैठा दिया था। तबसे बराबर हमारी खोज चल रही है। अब आगे संक्षेपमें आपकी जीवनकथाके द्वारा हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार आपमें ऐसी चमत्कारिणी प्रतिभाका विकास हुआ।

जीवन-परिचय

भारतमें काशीमण्डल ही सदासे सार्वभौम विद्यापीठ रहा है। इस अनादि ज्योति:शिवमण्डलने ही भारतकी अधिकांश विद्वद्विभूतियोंकी प्रतिभाको चमत्कृति प्रदान की है। जिस प्रकार इस शिवधाममें सदासे कोई-न-कोई सिद्ध सन्त रहते ही हैं उसी प्रकार यहाँ कोई-न-कोई विशिष्ट प्रतिभाशाली विद्वान् भी सर्वदा रहते आये हैं। इस वाराणसीमण्डलके महराई नामक गाँवमें सरयूपारीण ब्राह्मण वंशमें सं० १९६८ वि० की श्रावणी अमावस्याको आपका आविर्भाव हुआ था। इस गाँवसे गङ्गाजी थोड़ी ही दूर हैं। प्रत्येक महापुरुषके आविर्भावका कारण कोई-न-कोई दैवी संयोग होता है। इसकी खोज करनेपर मालूम हुआ कि इनके पितामहने व्रजमें शान्तनुकुण्डपर श्रीशान्तनुविहारी भगवान्की पूजा करके पौत्रकी याचना की थी। उसीके परिणामस्वरूप आपका प्राकट्य हुआ। इस दैवी कृपाकी स्मृति सदा बनी रहे—इस उद्देश्यसे पितामहजीने आपका नाम भी शान्तनुविहारी ही रखा। आपका यह नाम आपके जीवनमें अन्वर्थ सिद्ध हुआ, क्योंकि आप शान्तरसप्रधान ब्रह्मविद्यामें पारङ्गत हैं और व्रजरससार-सर्वस्व श्रीविहारीजी आपके जीवनप्राण हैं।

आपके जन्मसे पूर्व आपके एक बड़े भाईकी मृत्यु हो चुकी थी, इसलिए आप सारे घरके नयनोंके तारे रहे। सबकी दृष्टि आपपर ही लगी हुई थी। जीवनके विकासके साथ-साथ आपमें सौरस्य, सौशील्य और सौन्दर्य आदि गुणोंका भी विकास होने लगा। यों तो ब्राह्मणमात्र जन्मसे ही अन्य वर्णोंका गुरु होता है, फिर आपका तो वंश भी गुरुओंका ही वंश था। जब आपके पौत्र हुआ तब मैंने आपके पुत्र विश्वम्भरजीसे पूछा कि क्या बालक सकुशल है ? यहाँ आया है ? उन्होंने कहा, "हाँ, छोटे बाबाजी यहीं हैं ?" तब मुझे मालूम हुआ कि इनके वंशमें बाबा ही जन्म लेते हैं। इस प्रकार ये वंश-परम्परासे ही प्रजाके जन्मसिद्ध कुलगुरु हैं। इनका घर और वंशपरम्परा ही धर्मनिर्णय और न्यायका पीठ है। इनके पिता और प्रपितामह शुद्ध सनातन-धर्मी और शास्त्रोंके विद्वान् थे।

जब इनकी सात वर्षकी आयु हुई तभी पिताश्री [हरगेन (हर्षेन्दु) द्विवेदी] का देहान्त हो गया। अतः आपके पालन-पोषणका सारा भार माताजी (श्रीभागीरथीदेवी) तथा पितामह [श्रीटेंगरी (चन्द्रशेखर) द्विवेदी] जीपर पड़ा। माताजी जब रामचरितमानसका पाठ करतीं और उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु ढुलकने लगते तो बालक शान्तनुविहारी भी सजल-लोचन हो जाते और अक्षरोंकी पहचान करने लगते। ये सोचते कि सब अक्षर काले भेड़-जैसे एक-से हैं, इनमें ऐसी क्या बात भरी है कि लोग रोने-हँसने लगते हैं। इस प्रकार मानसपर ही आपका अक्षरारम्भ संस्कार हुआ। आपको अनेकों दोहे-चौपाई कण्ठस्थ हो गये। आप जो सुनते थे वही कण्ठस्थ हो जाता था। आठ-नौ वर्षकी आयुतक सत्यनारायण कथा, दुर्गासप्तशती और मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि पुस्तकें पूरी-पूरी याद हो गयीं। दस वर्षकी आयुमें लघुसिद्धान्तकौमुदी, रघुवंश और तर्कसंग्रहका स्वाध्याय हो गया। दस वर्षकी आयुमें इनके पितामहजीने इन्हें सिंहासनपर बिठाकर तिलक किया, माला पहनायी और पहले-पहले व्यासगद्दीसे भागवतका पाठ कराया। इस प्रकार जन्मजात शुकाचार्यकी भाँति श्रीमद्भागवत जो वैष्णवोंका धन और पुराणोंका तिलक है, इस वंशतिलकको मिला। यह भागवत तो साक्षात् श्यामघन ही है, रसालय है और ब्रह्मरसपरा है। श्रीमद्भागवत इनके सामने क्या आयी, इस रूपमें यानो इनका हृदय ही आ गया। अब स्पष्टतः अन्त-र्निहित ज्ञानका द्वार खुलने लगा और 'विहारी शब्दवाच्य रसिकविहारीके प्रति हृदयमें प्रेमाकर्षण चालू हुआ। मानो 'शान्त' शब्दसे तो शान्त ब्रह्म अवतरित

हुआ और 'विहारी' नामसे रसिकविहारी श्यामका विहार होने लगा। तथा 'नु' पदसे दोनोंका सामानाधिकरण्य हो गया। इस प्रकार आपके जीवनमें जो शान्त ब्रह्मदर्शन और प्रेमदर्शन दो नेत्र थे खुलने लगे। **'ज्यों-ज्यों भीजै स्याम रँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।'** अतः श्यामके वाङ्मय विग्रह श्रीभागवतकी कृपासे आप आगे चलकर स्वयं ही रसालय हो गये।

आपके अध्यापक भी आपका आदर करते थे। जब आप वाराणसीमें अध्ययन करने लगे तब जिन विद्वानोंसे आपका सम्पर्क हुआ वे सभी बड़े आस्तिक और भगवद्भक्त थे। पं० रामभवनजी उपाध्याय महान् वैयाकरण थे, पं० काशीनाथजी विष्ठावान् वेदान्ती थे, पं० रामपरीक्षण शास्त्री सम्पूर्ण दर्शनोंके चमत्कारी विद्वान् थे और स्वामी मनीषानन्दजी भी बड़े प्रसिद्ध विद्वान् सन्त थे। इनके सत्सङ्ग, स्वाध्याय और अनुसरणसे इनके मन और बुद्धिमें तीक्ष्णताका सञ्चार हुआ। गङ्गास्नान, अन्नपूर्णा और विश्वनाथजीके दर्शन और राममन्दिरमें जाकर भूपनारायण मिश्रसे श्रीमद्भागवत श्रवण करना—इनका दैनिक कृत्य बन गया था। **'स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'** यह आपका जीवन ही हो गया था। इस प्रकार जन्मतः प्राप्त प्रतिभा, भाव और विचारकी छः सालतक परिपुष्टि होती रही।

आप बचपनसे ही गोबरमें गौरी, सुपारीमें गणेश तथा कलश स्थापित करके उसमें विष्णु-रुद्रादिका आवाहन-विसर्जन आदि कृत्योंको बड़ी पैनी दृष्टिसे देखते थे। इस आवाहन और विसर्जनने आपके हृदयमें अध्यारोप और अपवादका रहस्य खोल दिया। इतना ही नहीं, इस आवाहन-विसर्जन कालमें जो पूजनका आनन्द है वह हमारे अन्तःकरणमें ही स्थित है—इस बातकी भी स्पष्ट जानकारी होने लगी। इस आनन्दको ग्रहण करनेवाला अपना-आपा इस आनन्दसे भी भिन्न है इस प्रकार सांख्यविचारकी रश्मियाँ हृत्मण्डलमें फैलने लगीं। ये तो एक प्रकारसे सांख्याचार्य कपिल ही हैं, क्योंकि जैसे वे अपनी माता देवहूतिके गुरु हुए उसी प्रकार ये भी अपनी माताके गुरु और अगणित जिज्ञासुओंके परमाराध्य हुए। कहनेका तात्पर्य यह है कि क्रियार्थ आम्नाय (वेदके कर्मकाण्ड) के साथ आपके भीतर ज्ञापनार्थक विचार आम्नाय (वेदका ज्ञानकाण्ड) भी चालू हुआ। स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं कि आध्यात्मिकता और विद्या तो वे हैं जो पहलेसे ही मानवमें विद्यमान हैं।

अत: आपमें जो पहलेसे ही विद्यमान था उसीका प्राकट्य हो रहा था। बाहरी परिस्थिति और संस्कार विद्यमानका ही अनावरण करते हैं और वही यहाँ हो रहा था। जैसे-जैसे आयुके साथ बुद्धिका विकास हुआ आपको यह अनुभव होता गया कि उपनिषद् आदिमें गम्भीर सत्य नहीं, ध्रुव सत्य—अनादि सत्य है। उसे सरलतासे अवगाहन करनेके लिए घर-गृहस्थीमें नित्य व्यवहारमें आनेवाले घट, पट, आकाश, मरुमरीचिका आदि दृष्टान्तों द्वारा आप दार्ष्टान्त सत्यको समझाते थे। आपके विचारके विकासक्रमको देखकर श्रीमहाराजजीकी यह अनुभवपूर्ण उक्ति याद आती है कि पूर्वकालमें पहले कर्म और उपासना खूब कराते थे, पीछे ज्ञान देते थे। आप भी यही कहते हैं कि जबतक कर्म और उपासनामें होकर नहीं निकलेंगे अध्यारोप-अपवादका रहस्य नहीं खुलेगा। करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें कर्ता स्वतन्त्र है—यह रहस्य तबतक समझमें नहीं आ सकता जबतक हम कर्तृतन्त्रप्रधान उपासनाश्रित धर्ममें होकर नहीं निकलेंगे। किन्तु ज्ञान कर्तृतन्त्र नहीं है, यह वस्तुतन्त्र है; इसलिए उसे करने, न करने या अन्यथा करनेमें कर्ता स्वतन्त्र नहीं है। ये सब रहस्य स्वयं ही आपके हृदयाङ्गणमें उद्‌भासित होने लगे। आपके लिए ये निमेषोन्मेषके समान सर्वथा सहज और स्वाभाविक हो गये। इसके अतिरिक्त आपकी विचार-सरणिमें एक अलौकिक सुन्दरता यह प्रकट हुई कि विचारमें आयास नहीं है, सारा दु:ख प्रज्ञापराध ही है। आपने कई बार कहा है कि अनादि प्रवाही सृष्टिमें होनेवाले इन नदी-नाव सदृश संयोगोंमें क्या अच्छे-बुरेकी कल्पना और क्या शत्रु, मित्र, उदासीनकी मानसी विडम्बना। ये तो 'प्रवाह' शब्द उच्चारण करते-करते भूतके गर्भमें लीन हो जाती हैं। यह सुस्पष्ट विचार आपमें जन्मत: विद्यमान है कि इस जीवनको निश्चिन्त और निर्भय द्रष्टा होकर बिता दे।

वैराग्यकी ओर

आपके विषयमें ज्योतिषियोंका यह निश्चित विचार था कि इनकी जन्मकुण्डलीके अनुसार उन्नीस वर्षकी आयुमें इनका मृत्युयोग है। पितामह स्वयं ज्योतिषी थे ही। इसलिए यह आस्था हृदयमें जम गयी। पितामहकी मृत्युके पश्चात् आपके मनमें बार-बार मृत्युकी कल्पना उठती थी और चित्तमें उसका आतंक-सा छा जाता था। कई बार घरसे भागकर अयोध्या, ऋषिकेश आदि स्थानोंमें चले जाते थे। वहाँ महात्माओंसे

मिलते और उनसे मृत्युसे बचनेकी युक्ति पूछते थे। अच्छे-अच्छे महात्माओंने कहा कि प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाली मृत्युसे बचनेका उपाय तो हम नहीं कर सकते, परन्तु ऐसा ज्ञान दे सकते हैं जिससे सदाके लिए मृत्युकी विभीषिका मिट जाय। अब आपके हृदयमें यह दृष्टि चालू हुई कि जिससे मैं मृत्युसे भी नहीं बचता उसे लेकर मैं क्या करूँगा।

अब यह देखना है कि किस प्रकार आपके जीवनमें विचारका उन्मेष हुआ और उसके परिणाममें अमृतब्रह्मकी प्राप्ति खिल उठी। आपके गाँवसे चार-पाँच मील दूर गङ्गा-तटपर परमहंस रामकृष्णके प्रशिष्य स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराज निवास करते थे। आपसे श्रीमद्भागवत सुनकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। आपने उनसे दीक्षा-ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की। उन्होंने आपको वेदान्तके श्रवण और मननकी प्रेरणा दी। इसपर आपने उन्हें गोसाईंजीकी यह चौपाई सुनाई—'भरि लोचन विलोकि अवधेशा। तब सुनिहऊँ निरगुन उपदेशा॥' इससे वे बहुत प्रसन्न हुए और पहले चौबीस लक्ष गायत्रीका पुरश्चरण कराकर फिर श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा दी। आप गुरुदेवकी सेवा करते और वर्षों नित्यप्रति दश सहस्र कृष्णमन्त्र जपते रहे इस मन्त्रानुष्ठानसे आपके जीवनमें महान् परिवर्तन हुआ। आपको श्रीकृष्णका दर्शन हुआ और उन्होंने सिरपर हाथ रखकर कहा, 'जो मैं हूँ सो तुम हो, जो तुम हो, सो मैं हूँ। हमारा कभी वियोग नहीं है, संयोग भी नहीं है, सदा एकरस मिलन है। सब मैं ही हूँ, यह जगत् जो दीखता है वह भी मैं ही हूँ।' इस प्रकार श्रीमद्भागवतके हृदय श्रीकृष्णका मिलन हुआ और स्वयं बाँकेविहारीजीने ही आपके हृदयमें बैठकर अपनेको और अपने शास्त्रको निरावरण कर दिया।

इस प्रकार आपके जीवनमें ईश्वरकृपा और शास्त्रकृपा छा गयी। फलतः आत्मकृपा भी जाग्रत् हो गयी। उसके पश्चात् आपने वेदान्त-ग्रन्थोंका अध्ययन किया, जिन्होंने वेदान्तके आवरणरहित अर्थको प्रकाशित कर दिया। 'कल्याण' में आपने श्रीमहाराजजीके उपदेश पढ़े। उनके कारण उनके प्रति आपकी गहरी श्रद्धा हो गयी। तब उनके दर्शनार्थ आप कर्णवास आये श्रीमहाराजजी इस समय रामघाटमें थे और इनके दीक्षा गुरु स्वामी योगानन्दजी कर्णवासमें ठहरे हुए थे। आप रामघाट जाने लगे तो उन्होंने रोक लिया। तब आप उनकी सेवामें संलग्न रहकर श्रीकृष्ण-मन्त्र जपते हुए वहीं ठहर गये। फिर आपको संकल्प हुआ कि घरवाले

दुखी होंगे, उनसे मिल आऊँ। जब यह बात अपने स्वामीजीसे कही तो वे बोले, "यह सब मनका खेल है, भजनकी एकाग्रतासे बचनेके लिए यह सब बखेड़े रचता है। वे लोग स्वस्थ हैं, चिन्ता मत करो। भजनमें मन लगाओ।" परन्तु आपका मन न माना। फिर जब घर जाकर देखा तो स्वामीजीकी बात सच निकली। इससे आपके मनपर यह छाप पड़ी कि मनमें दूसरेके प्रेम और दुःखकी कल्पना एकाङ्गी होती है। तथा मित्रताके व्यवहारमें यह अनुभव हुआ कि मन अपने आप ही बहुतसे सम्बन्धों और प्रियताओंकी कल्पनाका जाल बना लेता है और उसमें अटकता-भटकता रहता है। कहीं-न-कहीं अटक जाना उसका स्वभाव है। वस्तुस्थितिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

इस प्रकार आपके जीवनमें प्राप्त परिस्थितियाँ सर्वदा आपके जन्म-जात संस्कारोंके पूर्ण विकासमें सहायक बनीं। मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष-संश्रयत्वका पूर्ण विकास आपके जीवनमें हुआ। वंशपरम्पराकी रक्षाके लिए, मारकयोगके कारण, पितामह चिन्तित थे, क्योंकि इनके पिता और ज्येष्ठ भ्राताकी मृत्यु हो चुकी थी। अतः काशीके विद्वानोंसे परामर्श करके उन्होंने बारह वर्षकी आयुमें विवाह कर दिया तथा उन्नीस वर्षकी आयु होनेसे पहले ही आपके कमला नामकी पुत्री और विश्वम्भर नामके पुत्र ये दो सन्तानें हो गयीं। उन्नीस वर्षकी आयुमें मारकेश तो अपना प्रभाव नहीं डाल सका, किन्तु आपने मन-ही-मन घर गृहस्थीके सम्बन्धका त्याग कर दिया। फिर आपको सिद्ध सन्तोंका सम्पर्क मिला। आपके गाँवसे थोड़ी दूर मोकलपुरवाले बाबा गङ्गाजीके बीचमें एक टापूपर रहते थे। वे अन्तर्यामी थे और वहाँकी प्रजाके लिए तो कल्पवृक्षस्वरूप ही थे। उन्होंने आपको उपदेश दिया कि घाससे माँस और माँससे घास बनता है। इसका नाम संसार है। यह गङ्गारूप महामायाकी गोदमें उन्मज्जन-निमज्जन करता रहता है। वह बाँगड़ (परमात्मा) इसमें रहकर इसे बिना छुए ही टुकुर-टुकुर सब देखता रहता है, क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ भी दीखनेवाला पसारा है वह सब मायाका खेल-मेल मुझसे पृथक् नहीं है। दूसरी बात उन्होंने यह कही कि गुड़ ! करने-धरनेसे संसार कटता नहीं; हटता नहीं और सटता नहीं बिना किये-करे-धरे ही इतना हो गया है। इसे मिटाना हो तो इसके मूल मर्मको जानना होगा। अधिष्ठान ज्ञानके बिना अविद्या एवं तन्मूलक संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। इनके सिवा आपको मघईपुरके बाबाका भी सत्संग

मिला। इस प्रकार सत्सङ्गसे निःसंगता और निःसंगतासे निर्मोहता आपमें उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

आपमें अद्भुत आन्तरिक विकासके साथ-साथ गरीब-अमीर दृष्टि-रहित सर्वहितकारी सौन्दर्य भी आरम्भसे ही है। कहते हैं, आपके गाँवके पास ही हरिजनोंके चार-पाँच घर थे। उन दिनों छुआछूतकी प्रबल भावना-के कारण हरिजनोंको गाँवसे बाहर ही रहनेका स्थान मिलता था। एक दिन एक हरिजनके घरमें आग लग गयी। कोई भी सवर्ण उसे सहायता देने-के लिए नहीं पहुँचा। युवक शान्तनुका कोमल चित्त यह सहन न कर सका। वे सामाजिक विरोधीकी परवाह न करके अकेले ही दौड़े और स्त्री, बच्चे तथा सामग्री आदिकी जितनी भी रक्षा कर सके आगसे जूझकर की। उनके अदम्य उत्साह और साहसको देखकर अन्य ग्रामवासियोंने भी सहयोग दिया और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

श्रीमहाराजजीसे प्रथम मिलन

श्रीमहाराजजीका प्रथम दर्शन आपको प्रयागमें ही हुआ। उसका आप स्वयं इस प्रकार उल्लेख करते हैं—'प्रत्यक्षदर्शनसे पूर्व भी सत्सङ्गियों द्वारा उनकी महिमा सुनकर तथा 'कल्याण' में उनके उपदेश पढ़कर मेरे हृदयमें उनके प्रति महान् आकर्षण था। परन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य तो तब प्राप्त हुआ जब वे स्वयं कृपा करके प्रयागराज पधारे। उन दिनों मैं कथाके अतिरिक्त और कछु नहीं बोलता था। कथामें ही उस चलते-फिरते ब्रह्मका दर्शन करनेके अनन्तर सायङ्कालीन सत्सङ्गमें मैंने उनसे प्रश्न किया कि पुनर्जन्म किस वस्तुका होता है। मैंने अपने मनमें यह सोचा था कि वे वेदान्तियों और वेदान्तग्रन्थोंमें प्रसिद्ध यह उत्तर देंगे कि सत्रह तत्त्वोंवाले लिंग शरीरका ही पुनर्जन्म होता है। साथ ही कहेंगे कि मनुष्य इस जन्मसे जो सुख-दुःखरूप फल भोग रहा है उससे पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंकी सिद्धि होती है। तथा इस जन्ममें किये जाने-वाले कर्मोंके फल अभी देखनेमें नहीं आते, इसलिए आगामी जन्मकी भी सिद्धि होती है। ऐसा न माननेपर अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश दो दोषोंकी प्राप्ति होगी। तथा ईश्वरमें पक्षपात और निर्दयताके दोषोंका प्रसङ्ग उपस्थित होगा; अतः पुनर्जन्म अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इसके पश्चात् पूछनेके लिए मन ही मन यह सोच रखा था कि लिंग शरीरका जन्म होता है तो हुआ करे, मैं तो द्रष्टा हूँ, उससे मेरा क्या

सम्बन्ध है ? मैं आत्मा तो द्रष्टा हूँ, इसलिए मेरे लिए तो पुनर्जन्मके निवारणका प्रयत्न करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह तो मेरा मनोराज्य था। उनका उत्तर था अश्रुतपूर्व। उन्होंने कहा, "विचार पुनर्जन्मके निषेधके लिए किया जाता है, सिद्धिके लिए नहीं।" इतना कहकर वे हँसने लगे। मैं इस अतर्कित उत्तरपर आश्चर्यचकित रह गया। बात कितनी सीधी-सादी परन्तु मर्मस्पर्शी है। अविद्यासे सिद्ध वस्तुके लिए विचारकी क्या आवश्यकता है ? उसकी तो निवृत्तिका ही प्रयत्न करना चाहिए।'

'उन्हीं दिनोंकी बात है, महाराजश्रीके तत्वावधानमें एकवर्षीय नामयज्ञकी पूर्णाहुतिका समारोह हुआ। अन्तमें प्रयाग-पंचक्रोशीकी परिक्रमा हुई। बाबाके एक निजजन थे ब्रह्मचारी कृष्णानन्दजी। निजजन क्या, भक्तोंकी भावनानुसार तो वे बाबाके पुत्र ही थे। बाबामें भक्तोंका शंकरभाव था और ब्रह्मचारीजीको साक्षात् गणेश ही मानते थे। अधिकतर इसी नामसे उनकी प्रसिद्धि भी थी। एक दिन उनसे कुछ परमार्थ-चर्चा होने लगी। गणेशजीने पूछा, "भगवान् कृष्णके उपासक विविध रूपोंमें उनकी उपासना करते हैं। कोई बालरूपमें कोई किशोररूपमें, कोई गोपीवल्लभ-रूपमें और कोई पार्थसारथिके रूपमें। इन सबको क्या एक ही कृष्णके दर्शन होते हैं ?"

मैं—एक ही कृष्णके दर्शन क्यों होंगे ? भक्तोंके भावभेदके अनुसार श्रीकृष्ण भी अनेक होंगे।

गणेशजी—ऐसा कैसे हो सकता है ? इस प्रकार तो अनेक ईश्वर सिद्ध होंगे।

मैं—ईश्वर तो एक ही है। परन्तु भगवान्‌का साकार विग्रह तो भक्तकी भावनाके अधीन है। वह भक्तोंका भगवान् है इसीसे भावुक भक्त-वृन्द वृन्दावनविहारी, मथुरानाथ और द्वारकाधीशको अलग-अलग मानते हैं।

'इस प्रकार कुछ देर हम दोनोंका विचार-विनिमय होता रहा। गणेशजीका कथन था कि एक ही कृष्ण भक्तोंकी भावनाके अनुसार विभिन्न रूपोंमें दर्शन देते हैं। और मैं कहता था कि परमार्थतत्त्वमें ईश्वरता तो आरोपित है। ईश्वरका अस्तित्व तो भक्तकी भावनाके अधीन है। अतः भक्तोंके भावभेदके अनुसार वे सब अलग-अलग हैं। फिर यही प्रश्न श्रीमहाराजजीसे किया। उन्होंने कहा, 'अरे ! प्रत्येक भक्तके श्रीकृष्ण

अलग-अलग हैं—यही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक भक्त भी जब-जब दर्शन करता है उसे नवीन कृष्णका ही साक्षात्कार होता है, क्योंकि दृष्टि ही सृष्टि है। प्रत्येक दृश्य हमारी दृष्टिका ही तो विलास है। भगवद्दर्शन भी क्या बिना ही वृत्ति हो जाता है। अतः भक्त जब-जब भगवदाकार वृत्ति करता है उसे नवीन भगवन्मूर्त्तिका ही दर्शन होता है। भगवान् तो एक भी हैं और अनेक भी। स्वरूपतः वे एक हैं और भक्तोंके लिए अनेक।'

आपका हृदय श्रीमहाराजजीकी महन्मूर्त्तिका दर्शन पाकर दीवाना हो गया। आप स्वयं अपनी रसमयी शैलीसे इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—'हमारे श्रीमहाराजजी तत्त्वनिष्ठ नहीं, स्वयं तत्त्व ही थे। उनकी वाणी तत्त्वज्ञकी नहीं स्वयं तत्त्वकी ही होती थी। वे उसीकी भाषामें बोलते थे। इन्हीं दिनोंकी बात है, कल्याणका वेदान्ताङ्क प्रकाशित होनेवाला था। उसके लिए आपके उपदेशोंका संग्रह करनेके लिए कल्याण-परिवारके कुछ सदस्य आये हुए थे। उनके तथा अन्यान्य जिज्ञासुओंके साथ आपका वेदान्तविषयक सत्सङ्ग चलता था। उसमें मैं भी सम्मिलित होता था। एक दिन मैंने पूछा, "महाराजजी! आत्मा तो अपना स्वरूप ही है; अतः वह अपनेसे परोक्ष कभी हो ही नहीं सकता। फिर आत्माका परोक्ष ज्ञान कैसे ?"

'मैं तो समझता था कि आप कहेंगे कि ज्ञान सर्वदा अपरोक्ष ही होता है। परन्तु आपने बड़ा चमत्कारपूर्ण उत्तर दिया। बोले, "ज्ञान अपरोक्ष भी नहीं होता। जो स्वयं है उसका क्या परोक्ष और क्या अपरोक्ष, केवल जिज्ञासुओंका भ्रम मिटानेके लिए ही परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञानकी कल्पना की जाती है।" मैं सुनकर चकित रह गया। मैंने इस प्रकारका खुला उत्तर पहले कभी नहीं सुना था। यद्यपि उस समय मुझे दृढ़ निश्चय था कि मैं तत्त्वज्ञानी हूँ। इसी प्रकार एक बार मैंने पूछा, "महाराजजी! जीवन्मुक्ति श्रेष्ठ है या विदेहमुक्ति ?" तो आप बोले, "भैया! इनका सङ्कल्प ही अमङ्गल है।" ऐसी थी आपकी तत्त्वदृष्टि।'

संन्यास

श्रीमहाराजजीकी विवेककी स्फुटता, स्नेह, वात्सल्य और जीवन्मुक्ति-सुखकी विशेष मस्ती तथा उनका आश्चर्यमय स्वरूप देखकर आप मुग्ध होकर सदाके लिए उन्हींके हो गये। उनके स्नेहका आकर्षण इतना प्रबल था कि आपको जब-जब 'कल्याण' के कामसे अवकाश मिलता

उनके पास आ जाते थे। श्रीमहाराजजी होनहारको पहचानते थे। अब संन्यास-ग्रहणकी आन्तरिक प्रेरणा देने लगे। आपने संकेतमें कहा, "निष्काम भावसे भी कर्म करते रहनेपर उसका अभ्यास हो जानेसे कर्मासक्ति हो जाती है। साथ ही निष्काम कर्म करनेवाले सज्जनोंमें रहनेसे उनके प्रति भी ममता-मोहका उदय हो जाता है।" आपका संकेत भी विचित्र होता था। मालूम होता है कि सर्वसाधारणके लिए उपदेश दे रहे हैं, किन्तु जिनके लिए कहा जाता उनके हृदयमें सीधे खटक जाता था। इस प्रकार जब-जब ये आते इन्हें कुछ-न-कुछ संन्यासकी प्रेरणा मिल जाती। तब इन्होंने कल्याण-परिवारसे, जो अपने घर-कुटुम्बसे भी अधिक ममतास्पद हो चुका था, संन्यास-ग्रहणकी स्पष्ट प्रेरणा समझी और जैसे श्रीमहाराजजीकी रुचि थी कि ब्राह्मणको विधिवत् दण्डग्रहण करना चाहिए, आप संन्यास लेनेके लिए प्रयाग कुम्भके समय झूसी पहुँचे।

इन्हीं दिनों मैं मातृभूमिसे प्रयाग आया था। यहाँ आपका परिचय मिला। देखा कि आपमें देहाती सादगी है, बोलनेमें सरस माधुरी है और प्रवचनमें नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा है। फिर आपने ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीस्वामी ब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास लिया और स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीके नामसे विख्यात हुए। संन्यासके पश्चात् आप कुछ काल आचार्यचरणके साथ रहे और फिर श्रीमहाराजजीके पास बाँधपर पहुँच गये। मैं भी वहाँ पहले ही पहुँच चुका था। उस समयकी आपकी विरक्ति देखते ही बनती थी। अनवरत ब्रह्मचर्चा चलती रहती थी। वह पान करते-करते हृदय अघाता न हीं था। फिर व्यासगद्दीपर विराजमान हुए। तब आपके दर्शन करके वक्ताके पाँच वकार याद आये—

१. **वपुष्**—आपका शरीर बड़ा ही सुडौल और दर्शनीय है।

२. **वस्त्र**—वस्त्र ऐसे थे जो सुन्दरको भी सुन्दर करते थे। मानो बालसूर्यप्रभा की कान्तियोंको बिखेरते हुए सन्तमण्डलीमें मुक्तिश्री मूर्त्तिमती होकर विराज रही हो।

३. **विद्या**—कैसी अद्भुत विद्या थी। मुख खोलते ही मोती-से झड़ते थे। आपकी निर्दोष अमृतरसपूर्ण कथा पाकर हृदयको ऐसा अनुभव हुआ मानो अध्यात्मविद्या मूर्त्तिमती होकर अपना रहस्य बखान कर रही हो।

४. **विनय**—आपमें विनयकी मिठास लबालब भरी हुई थी। उसे अनुभव करके 'विद्या ददाति विनयम' इस वाक्यकी यथार्थता अनुभव हुई।

५. **वक्तृत्व**—कैसी अद्‌भुत प्रतिपादनशैली थी। प्रत्येक विषयको सजीव और मूर्त्तिमान् करके प्रस्तुत करते थे।

यह सब देखकर ऐसा जान पड़ा मानो साक्षात् विद्याभास्कर ही उदित हुए हैं। जब व्रजरसप्रधान प्रसङ्ग प्रस्तुत करते तो व्रजयुगल-माधुरीकी महिमा ही महँक उठती। मैं इनकी असाधारण प्रतिभासे मुग्ध हो गया।

श्रीमहाराजजीको सन्निधिमें

संन्यासके पश्चात् आप अधिकतर श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें ही रहने लगे। आप जब-जब वहाँ रहते थे आपका श्रीमद्‌भागवतका प्रवचन चलता रहता था। आप दण्डिस्वामी थे। उन्हें यह शिक्षा दी जाती है कि दण्डिस्वामीके सिवा और किसीको अभिवादन न करें और वह भी उसी दण्डीको जो अपनेसे चातुर्मास्यमें अधिक हो। आपमें विनय स्वाभाविक थी। अतः इस शिक्षाके कारण आपके चित्तमें दुविधा रहती थी। इसलिये आपने श्रीमहाराजजीसे पूछा कि क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा, "दीक्षा या उपदेश ग्रहण करना हो तब तो ब्राह्मण या दण्डिस्वामीसे ही करना चाहिये। किन्तु प्रणाम तो भगवद्‌बुद्धिसे किया जाता है, मनुष्यबुद्धिसे नहीं। प्रणाम तो विनयका सूचक है, एक सद्‌गुण है। अतः तुम जिन महात्माओंको पहले प्रणाम करते रहे हो उनके वर्णादिका विचार किये बिना ही प्रणाम करो।" इससे आपका समाधान हो गया।

आप सचमुच विनयकी मूर्त्ति हैं इतने बड़े विद्वान होकर भी ऐसी विनय ! कहते हैं, जिस दिन आपने संन्यास लिया था उसी रात स्वप्नमें आपके पिता और पितामह आदिने आपको एक सिंहासनपर बिठाकर आपका अभिषेक किया। इनके शील और पाण्डित्य आदिसे इनके पितर भी मुग्ध हैं। स्वप्न-जाग्रत अथवा स्थूल-सूक्ष्म शरीरका विचार विवेचन-काल हीमें है। विचार किया जाय तो शरीर एक ही है, दो नहीं। जाग्रत् स्वप्न प्रपञ्च भी एक ही हैं, दो नहीं। इसलिए स्वप्नकी बात कहकर इसका महत्त्व कम मानना भूल है। वैष्णवाचार्य तो स्वप्नादिको भी

मिथ्या नहीं मानते। उसमें होनेवाले अनुभव भी अपना महत्त्व रखते हैं। उन दिनोंका आपका वैराग्य देखकर मेरे मनमें प्रश्न हुआ कि ये इतने निःस्पृह और अपरिग्रही क्यों हैं? त्याग ही महापुरुषोंका धन होता है और इनमें स्पष्ट त्यागलक्ष्मी दीख रही थी। तब खोजनेपर मालूम हुआ कि घरमें स्वयं गुरु होते हुए भी इन्होंने शिष्योंसे दक्षिणा लेना बन्द कर दिया था।

अब आप श्रीमहाराजजीके साथ ही रहने लगे। आपने सुनाया कि एक दिन बाबा गङ्गाजीकी रेतीमें बैठे थे। उस समय हाथोंमें गङ्गाजीकी बालुका उठाकर कहा, "शान्तनु! जबतक यह बालुका साक्षात् ब्रह्म न जान पड़े तबतक समझना कि अभी ब्रह्मज्ञान अधूरा है। ब्रह्मबोध होनेपर तो ब्रह्मसे पृथक् एक तृण और एक कण भी नहीं रहता। विवेक करते समय ब्रह्म स्थूल, सूक्ष्म और कारण सबसे विलक्षण है—यह बात कही जाती है। परन्तु ब्रह्मका बोध होनेपर तो एक अद्वय आत्मवस्तुके अतिरिक्त न ईश्वर है और न जगत् ही। ईश्वरकी अन्तता, जगत्का सत्यत्व और आत्माकी परिच्छिन्नता—ये तीनों ही ब्रह्मबोधसे बाधित हो जाती हैं।" आपको यह बात बहुत पसन्द आयी। उनके सान्निध्यमें रहनेपर आप उन्हें जैसा अनुभव करते थे उसे आप इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—'वे मुझे नित्य नये ही जान पड़ते थे। उनका अनुग्रह क्षण-क्षणमें प्रकट होता रहता था। वर्षों बीत जानेपर भी उनकी गूढ़ोक्तियोंको सुनकर आश्चर्य होता था। हम ज्यों-ज्यों उनके निकट-सम्पर्कमें आते थे त्यों-त्यों उनका स्वरूप और भी आश्चर्यमय प्रतीत होता था। श्रीमद्भगवद्गीतामें आत्मतत्त्वके विषयमें जो आश्चर्यरूपताकी बात कही है वह उनके व्यक्तित्वके विषयमें चरितार्थ होती थी, कारण कि वे अपने व्यक्तित्वको सर्वथा मिटा चुके थे। अब जो चरम और परमतत्त्व निषेधावधि-रूपसे अवशिष्ट था वही भक्तोंकी भावनासे व्यक्तित्वके रूपमें भासता था। स्वयं अपनी दृष्टिमें तो वे सर्वातीत या सर्वरूप ही थे।'

श्रीमहाराजजीका यह स्वभाव था कि कथा या प्रवचनके पश्चात् वे पुनः उस प्रसङ्गपर विचार किया करते थे। एक दिन स्वामीजीने प्रसङ्गवश कहा कि जीव अपनेको भगवान्का भोग्य समझने लगे, इसीका नाम भक्ति है। भक्तकी दृष्टि अपने सुखपर कभी नहीं होती, वह तो सर्वदा अपने प्रियतमको ही सुख प्रदान करना चाहता है। कथा समाप्त

होनेपर सायंकालमें जब ये आश्रमकी छत्तपर श्रीमहाराजजीके सत्सङ्गमें गये तो इस प्रसङ्गको लेकर चर्चा चली। आप बोले, "भैया ! जीवका परमप्रेमास्पद तो अपना आत्मा ही है, वह भ्रमसे भले ही किसी अन्यको अपना प्रियतम माने। जीव चेतन है अतः वह कभी किसीका भोग्य या दृश्य नहीं हो सकता। वस्तुतः वही सबका भोक्ता या द्रष्टा है। जो जीव विषयका भोक्ता होता है उसे संसारी कहते हैं और जो भगवान्‌का भोक्ता होता है वह भक्त कहलाता है। इसी प्रकार समाधिका भोक्ता योगी कहा जाता है और जो भोक्ता एवं भोगका बाध कर देता है वह ज्ञानी है। मैं भगवान्‌का भोग्य हूँ—इस भावनामें जो दिव्य एवं अलौकिक रस है भक्त उसका भोक्ता ही है। मैं भोग्य हूँ—यह भावना तो उसकी भोग्य ही है। अतः 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' यह श्रुति समान रूपसे सभी जीवोंके स्वभावका निर्देश करती है।

इस प्रकार श्रीस्वामीजी और महाराजजीमें जो विचार-विमर्श होता था उससे विचारमें सफाई और रसमें पुष्टि मिलती थी। स्वामीजी स्वयं कहते थे कि श्रीमहाराजजीके सत्सङ्गमें रहकर मेरे कई विचार स्पष्ट हो गये। उन्हें तो जो लाभ हुआ सो हुआ पर हमारे लिए अवश्य यह परम लाभ हुआ कि ये अपनी शास्त्रीय सरल प्रक्रिया द्वारा सिद्धान्तका सौन्दर्य और श्रीमहाराजजीकी गूढोक्तियोंका माधुर्य खोल देते थे। उधर श्रीमहाराजजी इनके त्याग और जन्मसे लेकर जीवनभरका शास्त्रीय दृष्टिसे शोधन और शोषण प्रदर्शित करते थे आप संकेत करते थे कि देखो, इनके जीवनमें कर्म और उपासनाके पश्चात् ही स्थिति-गतिनिरपेक्ष विशुद्ध ज्ञान हुआ है। श्रीमहाराजजी कहा करते थे—**'ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति वेदान्तडिण्डिमः'** अर्थात् मोक्ष केवल ज्ञानसे ही हो सकता है, यह वेदान्तका ढिंढोरा है। श्रीस्वामीजी इसका जोरदार प्रतिपादन करते थे और शास्त्रक्रमसे बताते थे कि **'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** इसीमें शास्त्रका चरम तात्पर्य है।

आपके साधननिरपेक्ष सत्यात्मस्वरूप प्रतिपादनसे कोई ऐसी भूल न कर बैठे कि आपकी दृष्टिमें साधनका कोई मूल्य नहीं है। यह बात आप स्वयं इस प्रकार समझाते हैं—'इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व भी किसी साधन या प्रमाणकी आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है। ऐसा समझनेसे बात उल्टी हो जायगी, क्योंकि तुरीय तत्त्वका अधिगम महावाक्यके द्वारा होता है। 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ जाननेके लिए

पहले तत् त्वं और असि इन पदोंका अर्थ जानना होगा। तब महावाक्यका अर्थ समझमें आवेगा। अतः वाक्यार्थज्ञानके लिए पदार्थज्ञान और पदार्थ-ज्ञानके लिए उपाधि और उपहित दोनोंका ज्ञान आवश्यक है। इसलिए साधनकी उपयोगिता है। त्वं पदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए योगकी आवश्यकता होती है। सम्पूर्ण चित्तवृतियोंका निरोध करके यह अनुभव होता है कि मैं असङ्ग द्रष्टा हूं। तत् पदार्थका ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए बार-बार उसके चिन्तनकी आवश्यकता है। इस बार-बार चिन्तनका नाम ही भक्ति है। जीवकी उपाधि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए धर्मानुष्ठान आवश्यक है। अन्तःकरणमें जो काम-क्रोधादि हैं उनकी निवृत्तिके लिए पाप-वासनाओंका प्रशमन आवश्यक है और वह धर्माचरणसे ही होता है। अतः धर्म योग और भक्ति दोनों हीमें उपकारी है, क्योंकि काम-क्रोधादिसे दूषित चित्त न तो भगवान्‌में लगता है और न उसकी वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं। भगवान्‌में लगाना हो या वृत्तिनिरोध करना हो तो चित्तकी शुद्धि परम आवश्यक है।'

इस प्रकार आपके प्रतिपादनमें शास्त्रीय विधिसे धर्म, भक्ति आदिको सहायक साधन रूपसे स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि समाजके वर्णाश्रम धर्म और शास्त्रके विधि-निषेध ये सब भी आत्मलाभके लिए वैसे ही सहायक हैं जैसे कि अवान्तर वाक्य। साक्षात् साधन तो महावाक्यका श्रवण ही है। इस प्रकार आप आधुनिक मानवको समाज, संस्कृति साधन और तत्त्वज्ञानके शृङ्खलाबद्ध सम्बन्धका सौन्दर्य दिखाते हैं। भारतका स्वरूप और सौन्दर्य प्रकाशरत प्राणी ही है। उस प्रकाशके सम्पादनमें भारतके समाज, संस्कृति और साधन सभी साङ्गोपाङ्गरूपसे सहायक हैं, जैसे शरीरके सौष्ठव, सौन्दर्य और प्रतिभाके विकासके लिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर परस्पर एक-दूसरेके सहायक और पोषक होते हैं। समष्टि भारतकी भव्य मूर्त्तिकी यही चित्रणा आपसे मिलती है। इसलिए आप तत्वज्ञानके साक्षात् साधन श्रवणादिमें अन्य साधनोंका मिश्रण नहीं करते। हमारे स्वामीजी शुद्ध वेदान्तदर्शन-प्रिय लोगोंके लिए रात-दिन डंके की चोट यही कहते हैं कि—

अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार।
न कुछ हुआ न है कछू ना कछू होवनहार॥

इस प्रकार हमारे स्वामीजीका श्रीमहाराजजीके साथ जो सम्बन्ध था उसकी गहराई समझमें आ गयी होगी। आपने अपने धर्म और

योगादिके विश्लेषणमें यह स्पष्ट दिखलाया है कि प्रत्येक ग्रहणकी परिसमाप्ति त्यागमें ही होती है। इसी प्रकार समाज, संस्कृति तथा वर्णाश्रमोंके सामान्य और विशेष धर्म सभी त्यागकी दिशामें ले जाकर मनुष्यको आत्मोन्मुख कर देते हैं। जब उसका नित्यप्राप्तकी अप्राप्तिका भ्रम निवृत्त हो जाता है तब उसका कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभवद्वारा आपकी स्पष्ट घोषणा है कि हमारा धर्म और ब्रह्म असीम है। अतः जहाँके-तहाँ रहते हुए ही अपने अद्वितीय ब्रह्मत्वको जानकर निर्लेप नारायण रह सकते हो। तत्त्वज्ञके सर्वाधिकार और सार्वभौमत्वको आप इस श्लोक द्वारा व्यक्त करते हैं—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

अर्थात् वेद-शास्त्रका मर्मज्ञ पुरुष सेनापतित्व, राज्य और सम्पूर्ण लोकोंके आधिपत्य—इन सभीकी योग्यता रखता है।

उपसंहार

अब श्रीमहाराजजीके साथ रहते-रहते मुझे यह अनुभव हुआ कि आपके दरबारमें विद्याकी अनन्तश्री जगमगा रही है। फिर और गहराईमें गया तो स्पष्ट दीखा कि श्रीपूर्णानन्द तीर्थके तटोंमें विद्यारण्य ही अपनी हरियालीमें लहरा रहा है। सारी वृक्षावली निरन्तर विविध विद्या-मधु उड़ेल रही है। फिर अधिक खोज करनेपर यह मालूम हुआ कि ये वृक्ष नहीं, रसप्रवाहिनी नदियोंके जन्मस्थान हैं, जहाँसे ताम्रपर्णी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, यमुना और गङ्गा आदि अनेकों नदियाँ भक्ति, सांख्य और योगरूप रसको प्रवाहित कर रही हैं और भावरोगकी औषधियोंके सार अपने साथ ला रही हैं। ये सब दौड़ रही हैं श्रीपूर्णानन्द-समुद्रमें मिलनेके लिए। एक ओर नाम-नरेशका उद्घोषश्र कर्णगोचर होता है, अगणित नाम-केसरी अपनी दहाड़ोंसे आकाश-पातालको एक कर रहे हैं। दूसरी ओर वेदान्तकेसरियोंकी गर्जना दिग्भेदन ही नहीं करती, अपितु अनादि अविद्याका भी भेदन करती है। इन विद्यारण्य-स्थलोंमें होकर जब हम श्रीपूर्णानन्द-तटोंमें मस्तक नवाते हैं तो देखते हैं कि वह आनन्दाह्लादिनी तरङ्गमाला आकाशको चूमते हुए अपनी शानमें उछलती-कूदती आ रही है। उस निःस्पन्द ब्रह्मकी अद्भुत शान्ति तथा उस तरङ्गायमान

अनन्तगुणाकर सस्पन्द ब्रह्मकी नित्य-मधुरता भी देखते ही बनती है, जिसकी उत्ताल तरङ्गोंमें वेदरससागर, भक्तिरसामृत और वेदान्तपीयूष अपने अनन्त वैभवमें आविर्भूत होकर मिलते हैं। इस प्रकार आनन्द तो आया किन्तु यह डर भी है कि उसमें हृदय फट न जाय, क्योंकि हृदय तो छोटा-सा है। इस नन्हेसे मनसे ऐसे महान् रसका अवगाहन कैसे हो ? मैं इस चिन्तामें था कि इसे दूर करनेवाले देवाधिदेव श्रीगुरुदेव, जो मूर्त्तिमान् पूर्णानन्द-समुद्र ही हैं, अपनी अद्भुत आनन्दमयी मुसकानके साथ प्रकट हुए। फिर वे अपने साथ नाम-नरेशरूप बाबाको लाये और फिर विद्यारण्यमूर्त्ति श्रीस्वामीजी को। इस त्रिमूर्त्तिने मुझे इसी प्रकार निश्चिन्त कर दिया जैसे अनसूयाको ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवने उनकी गोदमें दत्तात्रेय होकर। मैं निर्भय होकर उनके चरणोंमें लिपट गया। ये हैं हमारे देवत्रय।



: १४ :

काशी, अयोध्या और खाँड़ेमें

(वह झाँकी)

प्रयागकी अर्धकुम्भीमें इस फड़कते हुए ब्रह्मके दर्शनकर सबको यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि सरस जीवनके सौन्दर्यका सार्वभौम विकास ही सन्त हैं। अनन्त रसमाधुरी ही उनका प्रसाद है, प्रेमपीयूष ही उनकी करुणा है, आकाशकोष ही उनका विग्रह है, अगाध अपनत्व ही उनकी महिमा है तथा निरभिमानता ही उनकी ब्रह्मनिष्ठाकी अभिव्यञ्जनी है। इससे आपमें परिपूर्ण औदार्यकी झाँकी मिलती है। सब लोग आपका दर्शन करके मस्त, श्रवण करके चमत्कृत और सत्सङ्ग करके कृतकृत्य हो गये। फिर सतत सान्निध्यसे उन्हें बुद्धिग्राह्य परन्तु अनिर्वचनीय आनन्द मिला। जो आपके नित्य पार्षद हैं उनका तो कहना ही क्या ? इस प्रकार आपके अद्भुत व्यक्तित्वकी धाक छा गयी। आपका वचनामृत पान करके सभी आनन्दमें सराबोर हो गये। भेदन-छेदनका बखेड़ा समाप्त हो गया। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि किसी भी अभावके लिए कोई स्थान नहीं रहा, क्योंकि सदा हाजिरा-हुजूर आनन्दरस हस्तगत हो गया। संसार मरु-मरीचिकाकी तरङ्गोंका चमत्कार लुप्त हो गया तथा आत्मानन्दकी तरङ्गोंने जिज्ञासुओंके अन्तःकरणोंको आप्लावित कर दिया। विवर्त्त-वेदना भी सदा-सर्वदाके लिए मिट गयी तथा अजात नित्य शिवरसकी असंदिग्ध महिमा स्पष्ट हो गयी। आनन्द-ब्रह्मका समरस आनन्द आपकी मधुर मुसकानके द्वारा सब ओर छलकने लगा। यह है इन ब्रह्मविद्वरिष्ठकी अद्भुत महिमा। जिस प्रकार भक्तके बिना भगवान्की सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार इन ब्रह्मविद् महाविभूतियोंके बिना ब्रह्मका भी पता नहीं लगता। इनका यह स्पष्ट सौन्दर्य है कि जो ब्रह्म **'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'** इस श्रुतिके अनुसार पूँछमें बैठा है उसे दिखा दिया कि **'आत्मैवाधस्तादात्मो परिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वम्**। (छान्दो० ७।२५।२) अर्थात् आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाहिनी ओर है,

आत्मा ही बाईं ओर है, आत्मा ही यह सब है। आपने स्पष्ट दिखा दिया कि ब्रह्म ही फड़क रहा है, ब्रह्म ही बोल रहा है और वही जीवनमें तथा रोम-रोममें चमक रहा है।

आपकी मूर्ति ही मानो शिवमहिम्नस्तोत्रकी व्याख्या है। वह सर्व-रहित सर्वात्माका स्पष्ट सामगान गा रही है। सर्वात्मब्रह्मकी दिग्विजय परात्पर ब्रह्मानुभवप्रधान वीरविजयसे[1] भी अति मधुर है। जैसे व्रजकी गौएँ अपने गोपोंको अपने-आप झरते हुए दुग्धसे सींचती हैं वैसे ही आपने अपने मुखचन्द्रसे स्वयं झरते हुए ब्रह्मरसामृतसे विषयदग्ध चित्तोंको उज्जीवित किया। आप मायावियोंके भी मायावी होकर मृत्युञ्जय रस-वितरण करते जा रहे हैं, सत्यका सार देते जा रहे हैं, चित्तोंको चैतन्य करते जा रहे हैं और आनन्दकी अभिव्यक्ति करते जा रहे हैं। यहाँ इतनी उदारता है, फिर ऐसा क्यों गाते हो—**'असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।'** वे तो देखो, तुम यह हो, ऐसा घटवत् स्पष्ट दिखाते हैं। यहाँ संशयका प्रश्न नहीं है, फिर विपरीत भावनाको तो स्थान ही कहाँ है? इस प्रकार आप अपनेको साक्षात् मुकुन्द (मुक्तिदाता) प्रकट कर रहे हैं।

दिन-रैन अपने लीलामय आनन्द-विग्रहमें यह आनन्द ब्रह्म-रसका आस्वादन कराते आप अपनी लोकपावनी यात्रामें चल रहे हैं, क्योंकि महा-पुरुष ही तीर्थोंको तीर्थत्व प्रदान करते हैं। आपकी यात्राकी यही रसरूपता है, जैसी कि इस श्लोकमें चित्रित की है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥[2]

(विवेकचूडामणि ३६)

आप मुमुक्षुओंके सर्वस्व हैं, आपसे मुमुक्षुओंने यही सर्वस्वसार पाया है—

आत्माम्भोदेस्तरङ्गोऽस्म्यहमिति गमने भावयन्नासनस्थः।
संवित्सूत्रानुविद्धो मणिरहमितिवाऽस्मीन्द्रियार्थप्रतीतौ॥

---

१. सबका निषेध करनेपर एकमात्र सर्वाधिष्ठान शुद्ध ब्रह्मकी अनुभूति करना यहाँ 'वीरविजय' कही गयी है और सबको ब्रह्मरूप देखना 'दिग्विजय'।

२. शान्त और महान् सन्तजन वसन्त ऋतुके समान सम्पूर्ण लोकका हित करते हुए निवास करते हैं। वे भयङ्कर संसारसागरसे स्वयं तरे होते हैं तथा दूसरे लोगोंको भी बिना किसी निमित्तके तारते रहते हैं।

दृष्टोऽस्म्यात्मावलोकादिति शयनविधौ मग्न आनन्दसिन्धौ।
अन्तर्निष्ठो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः ॥[1]

(शतश्लोकी १२)

आपकी मूर्त्ति, आपके जीवन, आपके भाषण और आपकी क्रियाने सर्वत्र इस ध्रुव सत्यकी स्थापना की—

चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः ॥[2]

श्रीमहाराजजीकी निज दृष्टिमें स्वयं और सब ब्रह्म ही हैं। जो ब्रह्मका परिकर है वही आपका भी परिकर है। अत: सभीसे आपको भरपूर आत्मीयता मिलती थी, क्योंकि आप तो सबकी आत्मा ही थे और इस रूपमें प्रकट होकर सबको अपने स्नेह-सलिलसे नहला रहे थे। श्रीकृष्ण सहस्रों महिषियोंसे पाणिग्रहण करके पूरे गृहस्थ हो गये थे, तथापि जब द्वारकामें प्रवेश करते थे तो देवकी-रोहिणी आदि माताओंके स्तनोंमें दूध भर आता था। ऐसा था उनका स्नेह। आपके सामने तो सबके रूपमें सर्वात्मा श्रीकृष्ण ही आते थे, अत: आपके द्वारा सभीके लिए सच्चा आत्मीय रस छलक-छलककर सबको सींचता और उनका परिपालन करता था। सबका ऐसा स्पष्ट अनुभव था कि श्रीमहाराजजी हमारी माँ हैं, हमें ही सबसे अधिक प्यार करते हैं। आपका तो कोई अपना या पराया था नहीं; यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिसे चरणप्रपन्नके साथ स्पष्ट सम्बन्ध स्वीकृत होता ही है। अत: जिन्होंने उन्हें वरण किया अथवा जिनके ऊपर अपना जादू डालकर उन्होंने वरण किया वह उनका परिकर था अवश्य, परन्तु जो भी इस सगुण ब्रह्मके सम्पर्कमें आया वह बार-बार इनके सहज स्नेहका ही अमर गीत गाता था और कहता था कि ये प्रेमकी मूर्ति हैं।

---

१. जो पुरुष चलते-फिरते समय ऐसी भावना करता है कि मैं आत्मसमुद्रका तरङ्ग हूँ, आसनपर बैठा होनेपर अथवा इन्द्रियोंके विषयोंकी प्रतीति होनेपर सोचता है कि मैं चैतन्यरूप धागेमें पिरोया हुआ मणि हूँ, तथा शयनके समय आनन्द-सिन्धुमें डूबकर ऐसा अनुभव करता है कि आत्मदृष्टिसे मैं अपना साक्षात्कार कर रहा हूँ—जो इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता है वह निश्चय ही देहधारियोंमें अन्तर्निष्ठ मुमुक्षु है।

२. यहाँ चेतन ही है, यह चिन्मात्र है, यह चिन्मय ही है, तुम चित् हो, मैं भी चित् हूँ और सब लोक भी चित् ही हैं—यह संक्षेपमें (सबका सार) है।

आपका स्नेह पाकर यह अनुभव होता था कि ब्रह्म केवल चिन्मात्र नहीं आनन्दमात्र भी है। वह ब्रह्मका आनन्द ही आपकी गोद थी, जिसे पाकर त्रिविधताप-तप्त जनता रोना-धोना छोड़कर चुपचाप निश्चिन्त निद्रा लेती थी। वह आनन्दका श्वास लेती और फिर ताजा होकर प्रमादको झाड़ आनन्दमूर्त्ति होकर खड़ी हो जाती। बस, अनादि अनन्त आनन्द ही आपकी गोद थी, वही जीवन था और वही भोजन था। आपमें यह बात स्पष्ट देखी कि जीव, जीवन और जगत् तीन नहीं, एक ही हैं।

काशीमें

ऊपर हम प्रयागकी पञ्चक्रोशी परिक्रमाकी चर्चा कर चुके हैं। उसके पश्चात् आप काशी पधारे। वहाँ ज्ञानवापीके समीप श्रीगौरीशंकर गोयनका-के मकानमें हम सबके ठहरनेकी व्यवस्था थी। इन दिनों हिन्दूविश्वविद्यालयके रजिस्ट्रार थे अनूपशहरवाले पं० गङ्गाशङ्कर मेहता। ये श्रीचरणोंमें बहुत प्रेम रखते थे। श्रीविश्वनाथजीके दर्शन करके आपने कहा, "अभी तो विश्वनाथजीके आधे दर्शन हुए हैं, पूरे दर्शन तो पं० मदनमोहन मालवीयसे मिलनेपर होंगे। श्रीमेहताजी आपको विश्वविद्यालय ले गये। वहाँ श्रीमालवीयजीके बँगलेपर जाकर खिड़कीसे झाँका। वे विश्राम कर रहे थे। आपने कहा, "आराम करने दो।" किन्तु मेहताजीने उन्हें सूचना दे दी। वे भी मिलनेके लिए उत्सुक थे। सुनते ही दौड़े आये। दोनों महापुरुष एक-दूसरेसे लिपट गये और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु छलक आये।

वहाँ प्रायः दो सप्ताह ठहरकर आप पुनः झूसी लौट आये। फिर अनुष्ठान समाप्त होनेपर आगेके कार्यक्रमपर विचार होने लगा। तब श्रीब्रह्मचारीजीने अयोध्या जानेका प्रस्ताव रखा। रामनवमी समीप ही थी, अतः अयोध्या जानेका निर्णय हो गया और ठीक समयपर आप अपने परिकरसहित अयोध्याजी पहुँच गये। श्रीब्रह्मचारीजी और करहवाले बाबा रामदासजी भी साथ ही रहे।

अयोध्यामें

अयोध्यामें आप श्रीहनुमत्निवासमें ठहरे। रामनवमीके दिन सब लोगोंके साथ सरयूमें स्नानकर श्रीहनुमानगढ़ी पहुँचे। उत्तमगढ़ीवाले दारोगा किशनसिंह यहाँ मेलेमें ड्यूटीपर आये हुए थे। वे और मथुरा-

प्रसाद दीक्षित आगे-आगे चले। उस समय एक बड़ा बन्दर मेलेमें आ गया। उसके कारण भीड़ स्वयं ही इधर-उधर दो भागोंमें बँट गयी। इससे लोगोंको बड़ा कुतूहल हुआ और कहने लगे कि स्वयं हनुमानजीने महाराजजीके लिए रास्ता बना दिया। एक भक्त आगे-आगे घण्टा बजाते चलते थे और सब लोग **"जय सियाराम जय जय सियाराम"** का कीर्तन करते चल रहे थे। आपके साथ अनेकों विरक्त और गृहस्थ थे। अतः जनता स्वतः ही रास्ता दे देती थी। आपका नाम सुनकर मन्दिरके पुजारियोंने भी सब दर्शनार्थियों-को एक ओर करके अच्छी तरह दर्शन कराये। इस प्रकार यहाँ रहते हुए सबने श्रीहनुमानगढ़ी, कनकभवन और जन्मस्थान आदि सभी प्रमुख स्थानोंके दर्शन किये।

अयोध्याके अनेकों सन्तोंसे भी आप उनके स्थानोंपर जाकर मिले। उनमें स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी, श्रीमौनीबाबाजी और श्रीअञ्जनी-नन्दनशरणजी (श्रीशीतलासहायजी) के नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। श्रीरामवल्लभाशरणजी उस समयके प्रमुख सन्त थे। वे बड़े विद्वान्, तेजस्वी और भगवान्के अनन्य भक्त थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। श्रीमौनी-बाबाकी छावनी अयोध्याके दक्षिणमें सरयूतटपर थी। इनके स्थानपर **'जय सियाराम जय जय सियाराम'** की अखण्डध्वनि होती रहती थी। इस समय इनकी आयु सौ वर्षके लगभग थी। शरीर बहुत रुग्ण था, इसलिए किसीसे मिलते-जुलते नहीं थे। किन्तु जब उनके एक शिष्यने आपके पधारनेकी बात कही तो तुरन्त भीतर बुला लिये। आपके साथ सब परिकरको भी उनके दर्शन हो गये।

मानसपीयूषके सम्पादक श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी बड़े विलक्षण सन्त थे। वे जैसे भगवत्प्रेमी थे वैसे ही सन्तप्रेमी भी थे। उनका नियम था कि वे केवल सन्तोंका उच्छिष्ट प्रसाद ही पाते थे। एक दिन उन्होंने परिकर सहित श्रीमहाराजजीको निमन्त्रित किया। तरह-तरहके व्यञ्जन तैयार कराकर सबको भोजन कराया और फिर हाथमें थाली लेकर सब सन्तोंसे उच्छिष्ट प्रसादकी भिक्षा माँगी। पीछे जब भगवान्की आरती करने लगे तो प्रेममें ऐसे विह्वल हो गये कि आरतीकी थालीभी दूसरोंको सँभालनी पड़ी। जब श्रीमहाराजजी वहाँसे चलने लगे तो आप उनके चरणोंपर सिर रखकर साष्टांग पड़ गये। बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब उन्होंने श्रीमहाराजजीके पैर नहीं छोड़े तो महाराजजीने ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीकी ओर देखा। वे क्या करते ? बस, श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजीके

पैरोंपर सिर रखकर वे साष्टांग पड़ गये। इसपर अञ्जनीनन्दनशरणजीके एक भक्त ब्रह्मचारीजीके चरणोंपर सिर रखकर बैठ गये। कोई किसीको छोड़ता नहीं था। यह अद्भुत प्रसङ्ग देखकर श्रीमहाराजजीके सब भक्त कीर्तन करते इस दण्डवती शृङ्खलाकी परिक्रमा करने लगे। कुछ देरमें यह शृङ्खला खुली। तब सब सङ्कीर्तन करते अपने निवास स्थान हनुमत्‌निवास पहुँचे।

श्रीचेतनदेवजी कहते थे कि श्रीमहाराजजी जिस घाटपर सरयूस्नानके लिए जाते थे वहाँ श्रीराम और लक्ष्मणजीने अश्वारोही रूपमें आपको दर्शन दिये। वहाँ श्रीसीता और रामजीके दो स्वरूप रहते थे। अयोध्यामें जहाँ भी उनकी झाँकी होती थी वे श्रीमहाराजजीको बुलाते थे। ये दोनों स्वरूप जैसे सुन्दर थे वैसे ही दयालु भी थे। एक बार उन्होंने एक वैष्णव साधुको उदास देखा। उदासीका कारण पूछनेपर उसने बताया कि मेरी इच्छा श्रीरामेश्वरजीकी यात्राको जानेकी है, किन्तु पासमें पैसा है नहीं। तब रात्रिमें उन्होंने उस साधुके वस्त्रोंमें यात्राके लिए पुष्कल रुपये बाँध दिये। पोटली देखकर साधु बहुत प्रसन्न हुआ और उसी दिन यात्राके लिए चल दिया।

अलीगढ़वाले श्रीमक्खनलालजी केला इन दिनों जिला बस्तीमें डिप्टी-कलक्टर थे। वे एक दिन सम्पूर्ण भक्तमण्डलीके सहित श्रीमहाराजजीको सरयूके दूसरी ओर बस्ती जिलेके विक्रमज्योति डाक बँगलेपर, जहाँ वे ठहरे हुए थे, ले गये। इसके लिए उन्होंने दो नौकाएँ भेजी थीं। उनके द्वारा वहाँ की यात्रा हुई। जिस डाक बँगलेपर अँग्रेजोंका निवास और अँग्रेजी विलासिताका बाहुल्य रहता था उसीपर भगवान्‌की पूजा, सन्त-महात्माओंकी सेवा, भगवन्नामकीर्तन और कथा-सत्सङ्ग आदिका शुभ संयोग देखकर ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी आनन्दावेशमें विह्वल होकर रोने लगे। उस दिन एकादशी थी, अतः श्रीकेलाजीने सभीको फलाहारी भोजन कराया।

अयोध्यासे प्रस्थान करनेपर सब लोग सायङ्कालमें फैजाबादसे आगे सरयूके किनारे गुप्तार घाटपर ठहरे। इसी स्थानसे श्रीरघुनाथजी प्रजाजन-सहित अपने परमधाम साकेतको सिधारे थे। यहाँ सुप्रसिद्ध सन्त श्रीनारायण-स्वामीजीके कृपापात्र श्रीमौनीबाबा मिले, जो टाटकी लँगोटी लगाते थे उनके प्रेमपूर्ण आग्रहसे यहाँ श्रीमहाराजजी दो-तीन दिन ठहर गये। श्रीनारायण-स्वामीकी माताजी और भाईने सम्पूर्ण भक्तमण्डलके भोजनकी व्यवस्था की।

लखनऊकी ओर

श्रीमहाराजजी जहाँ जाते थे वहाँ प्रयाग आदि सब तीर्थ उनके साथ ही रहते थे। भगवान्‌का जन्मदिन मनानेके लिए वे अयोध्या गये। परन्तु उनकी दृष्टि-सृष्टिमें तो सर्वदा ही रामनवमी है। और जहाँ वे थे वहाँ तो सभी तीर्थ उपस्थित रहते थे। प्रयागराज स्थूल दृष्टिसे भले ही किसी देश-विशेषमें हों, परन्तु अधिदैव दृष्टिसे तो आपके साथ ही थे। श्रीगोसाईंजीने जिस रूपमें उनका वर्णन किया है उस रूपमें तो वे सबको प्रत्यक्ष ही थे—

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्मविचार प्रचारा॥
विधि निषेधमय कलिमल हरिनी। कर्म कथा रविनन्दनि बरनी॥
हरिहर कृपा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुदमंगल देनी॥

ब्रह्मचारीजीके कुछ प्रेमियोंने झूसीमें ही श्रीमहाराजजीसे लखनऊ पधारनेकी प्रार्थना की थी और आपने वहाँ जानेका वचन भी दे दिया था। अतः अब अपने भक्तपरिकरसहित लखनऊकी ओर प्रस्थान किया। लखनऊ पहुँचनेपर आपके सत्सङ्ग और बाबा रामदासजीकी कथासे वहाँके सहस्रों नर-नारियोंने लाभ उठाया। प्रायः दस दिनतक वहाँ सन्तसमागमकी धूम रही। लखनऊमें आपको भिक्षाके लिए जो भी बुलाता वहीं उसकी प्रसन्नताके लिए चले जाते थे। कभी-कभी तो एक दिनमें साठ-सत्तर घरोंमें भिक्षा हो जाती थी। कभी ब्रह्मचारीजी भी आपके साथ रहते थे। वे कहते हैं कि मैं तो ऊबकर लौट आता था; परन्तु आप सबका मन रखते थे। आप स्वयं दुःख उठाकर भी दूसरोंका दुःख नहीं देख सकते थे। मैंने भी जीवनभर आपकी यही चाल देखी थी। परन्तु आप कहते थे, "तुम लोग भूलकर भी इस चक्करमें मत पड़ना। मैं जानता हूँ कि किस प्रकार इसे चलाया जाय। मैं इतने घरोंमें भी उतना ही खाता हूँ जितना मेरी खुराक है।" आप इतनी जगह भिक्षा करके भी सत्सङ्गमें आसन लगाकर सहज-समाधिमें गोता लगा जाते थे। आरामका कोई प्रश्न नहीं था। यह भी कहते थे कि मैं जब अनेक घरोंमें खाता हूँ तब एक स्थानमें खानेके बराबर भी मेरा पेट नहीं भरता। (अर्थात् बहुत थोड़ा-थोड़ा खाता हूँ।)

इन दिनों यहाँ अखिल भारतीय काँग्रेसका वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। उस साल पं० जवाहरलाल नेहरू उसके अध्यक्ष थे। मुनिलाल-

जीने बरहजवाले बाबा रामदासजीके सहयोगसे महात्मा गाँधीजीके साथ आपकी भेटकी व्यवस्था की। निश्चित समयपर आप कुछ सन्तोंके साथ वहाँ गये। महात्माजीने खड़े होकर सन्तोंका अभिवादन किया। आपके त्याग-वैराग्यको देखकर बहुत प्रभावित हुए। इस समय वहाँ श्रीरामचरित-मानसका गान हुआ। उसके समाप्त होनेपर आप चले आये, कोई विशेष बातचीत नहीं हुई।

लखनऊसे बाबा रामदासजी करह चले गये और ब्रह्मचारीजी सनातन धर्म सभाके उत्सवमें कानपुर। श्रीमहाराजजी खाँड़ेके ब्रह्मसत्रके लिए चल दिये।

खाँड़ेका ब्रह्मसत्र

श्रीमहाराजजीकी ब्रह्मस्वरूपता चतुर जिज्ञासु, विद्वज्जन और सन्तों-ने पहचान लीं। हमारे श्रीस्वामीजीका भी कथन है—'हमारे महाराजजी तत्त्वनिष्ठ नहीं स्वयं तत्त्व ही थे। उनकी वाणी तत्त्वज्ञकी नहीं, स्वयं तत्त्वकी ही होती थी और वे उसीकी भाषामें बोलते थे।..........वे अपने व्यक्तित्व-को सर्वथा मिटा चुके थे। अब जो चरम और परमतत्त्व निषेधावधि रूपसे अवशिष्ट था वही भक्तोंकी भावनासे व्यक्तित्वके रूपमें भासता था। स्वयं अपनी दृष्टिमें तो वे सर्वातीत अथवा सर्वरूप ही थे।'

जिला आगरामें खाँड़ा नामक एक गाँव है। यहाँ पं० चोखेलाल, घूरेलाल और प्यारेलाल आदि कुछ वेदान्तप्रेमी सत्सङ्गी थे। ये कभी कुछ महापुरुषोंको आमन्त्रित करके सत्सङ्गके विशेष आयोजन किया करते थे, जो ब्रह्मसत्र कहलाते थे। इस बार उन्होंने यह आयोजन बहुत विशाल रूपमें किया था। श्रीमहाराजजीने प्रयागसे लौटते समय उसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था। आपके आगमनके लिए अपूर्व समारोहसे तैयारी की थी। जनतामें बड़ी जागृति फैलायी—'श्रीमहाराजजी आ रहे हैं, यह अवसर मत चूको, अवश्य उनके दर्शन और सत्सङ्गका लाभ उठाओ।' इससे सब जगह बड़ी उत्सुकतासे आपकी प्रतीक्षा हो रही थी। श्रीमहाराजजीके अतिरिक्त उसमें और कई अद्‌भुत विभूतियाँ आमन्त्रित हुई थीं। जैसे—विद्याभास्कर, पण्डितस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी, स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी, विरक्तशिरोमणि श्रीकरपात्रीजी, परम विरक्त स्वामी सच्चिदानन्दजी और बालब्रह्मचारी पं० जीवनदत्तजी।

पूज्य श्रीमहाराजजीने लखनऊसे विचरते हुए और मार्गमें अपने परमपावन दर्शनोंसे लोगोंके नेत्रोंको आनन्दित करते हुए यहाँ पदार्पण किया। फिर क्या था शोभाकी शोभा बढ़ गयी, उत्साहका भी उत्साह बढ़ गया। जनताका प्रेम हृदयका बाँध तोड़कर उद्वेलित हो उठा, जनता मानो उन्मत्त-सी हो गयी। यह सब हुआ क्यों? क्योंकि आपके दिव्यमंगलविग्रह - रूपसे सबका अन्तरात्मा ही मूर्त्तिमान् हुआ था। दर्शनोंके लिए जनता ऐसी लालायित हुई कि धक्का-मुक्कीमें कई तख्त टूट गये। पहले हम दर्शन करें—इसके लिए लोगोंमें होड़-सी पड़ गयी। सब लोग बृहदारण्यकके मधुपुरुषको निहार रहे थे और कह रहे थे कि जैसे सुने थे उससे भी बढ़कर हैं। ये कृपाकी मूर्त्ति हैं और आनन्दके भण्डार हैं। वहाँ पहुँचनेपर अवागढ़के राजा साहब श्रीसूर्यपालसिंहने अपने बैण्डके साथ सङ्कीर्तन करते हुए आपका स्वागत किया। उस समय जो नगाड़ा बजता था वह ऐसा जान पड़ता था मानो ब्रह्मके विजयघोषकी रणभेरी है, जो यह घोषणा कर रही है कि अरे! संसार आजा, तू कितने ही रङ्ग-बिरङ्गे खेल-खेल, हमारे ये साक्षात् ब्रह्म टस-से-मस नहीं होंगे। आप तो उन्हें मुसकराकर मानो मधु उड़ेल रहे थे। उन्हें तो यह सब अपना विनोद ही दीखता था, कोई अन्य सत्ता थी ही नहीं, सब अपना ही भृकुटिविलास था। आपके दर्शन करके भक्तोंको ऐसा लगा मानो **"जानत तुम्हहि - तुम्हहि ह्वै जाई"** यह श्रीगोसाईंजीकी उक्ति उन्हींमें चरितार्थ हुई है।

अब अवसर मिल गया था, क्यों चूकें। अत: नित्य नये-नये ढङ्गसे बैण्ड बजाते हुए सङ्कीर्तन होता था। मालूम होता था मानो उत्साह उछल-उछलकर उत्सवमें नृत्य कर रहा है। श्रीमहाराजजी ऐसे जान पड़ते थे जैसे नक्षत्रमें चन्द्रमा। हमारे स्वामीजी उस समय पं० शान्तनुबिहारी थे। शान्त ब्रह्मकी तरह केवल साक्षीमात्र होकर निहार रहे थे। श्रीमहाराजजी उन्हें इस प्रकार कबतक टुकुर-टुकुर निहारने देते। अपनी दृष्टिमें यद्यपि वे अनावृत ब्रह्म ही थे, तथापि श्रीमहाराजजीको इस ब्रह्मसत्रके ब्रह्मर्षिमण्डलमें अपनी इस छिपी हुई निधिको अनावृत करना था। इसलिए आप प्रयागमें ही इनसे ब्रह्मसत्रमें आनेके लिए कह आये थे। अब आपने आज्ञा की कि श्रीमद्भागवतका फल (एकादश-स्कन्ध) का आस्वादन कराओ। फिर तो उन्होंने बड़े उत्साहसे अपने हृदय-धन श्रीभागवतका प्रवचन किया। क्या कहें उस कथारसकी माधुरीके

विषय में। वह तो मानो श्रीश्यामसुन्दरकी अमृत उड़ेलनेवाली वंशीकी ही स्वरलहरी थी। वह ब्रह्मसत्र क्या था, साक्षात् ब्रह्मसमुद्र ही आनन्दमें हिलोरें ले रहा था। इसके अतिरिक्त आपने पञ्चदशीका भी प्रवचन किया। अन्य सब महानुभाव भी वेदान्तग्रन्थोंका ही प्रवचन करते थे। किन्तु जिज्ञासुओंके प्रश्नोत्तर प्रायः हमारे श्रीमहाराजजीके साथ ही होते थे। आपके वदनारविन्दसे जो सरल, सरस वाणी प्रवाहित होती थी उसमें तो ब्रह्मानन्दका ही स्वारस्य रहता था। उसमें घटावच्छिन्न-पटावच्छिन्न इत्यादि परिभाषाओंके लिए स्थान नहीं था।

नीचे आपके साथ हुए कुछ प्रश्नोत्तर दिये जाते हैं—

प्रश्न—ज्ञानका अधिकारी कौन है ?

उत्तर—जिसे देखी-सुनी किसी भी वस्तुसे मोह न रहे। सम्पूर्ण संसार और भगवान्‌से भी वैराग्य हो जाय। जिसके मल-विक्षेप निवृत्त हो गये हों तथा जो अत्यन्त वैराग्यवान् हो वही ज्ञानका अधिकारी है।

प्रश्न—ज्ञानी पुरुषकी संसारके विषयमें क्या धारणा रहती है ?

उत्तर—ज्ञानीकी धारणाका यथावत् वर्णन नहीं हो सकता, तथापि व्यवहारदृष्टिसे उसका इस प्रकार विभाग कर सकते हैं—

१. संसार मिथ्या है—यह मन्द ज्ञानीकी धारणा है।

२. संसार स्वप्नवत् है—यह मध्यम ज्ञानीकी धारणा है।

३. संसारका अत्यन्ताभाव है अर्थात् कभी हुआ ही नहीं—यह उत्तम ज्ञानीकी धारणा है।

प्रश्न—आपने कहा था कि एक ज्ञान तो वह होता है जो सुन-सुनाकर होता है और दूसरा अनुभवगम्य है। इनमें पहला ज्ञान बोध नहीं कहा जा सकता; अतः कृपया यह बताइये कि अनुभव-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर—इसके लिए शास्त्रोंमें अनेकों साधन बताये हैं। इसमें जैसा मेरा विचार है वह कहता हूँ। प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखनेके लिए यह आवश्यक है कि अपनी आँखें साफ हों और दर्पण भी स्वच्छ हो। आत्मानुभवमें विवेककी स्फुटता ही आँखोंका साफ होना है और चित्तका राग-द्वेष रहित होना ही दर्पणकी सफाई है।

प्रश्न—विवेककी स्फुटता और चित्तशुद्धि—ये दोनों ही चित्तके धर्म हैं। इनमें आँख और दर्पणके समान भेद कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर—विवेक दो प्रकारका होता है—(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक और (२) तत्त्वविवेक। नित्यानित्यविवेक तो अज्ञानके रहते हुए ही हो जाता है। उसमें वस्तुतः अनित्य वस्तुमें ही नित्य और अनित्य दो विभाग कर लिये जाते हैं। चित्तकी दो अवस्थाएँ हैं—(१) कार्यावस्था और (२) कारणावस्था। इनमें कारणावस्थाको नित्य और कार्यावस्थाको अनित्य मान लिया जाता है। परन्तु वस्तुतः वे दोनों अनित्य हैं। किन्तु तत्त्वविवेकमें साक्षी सम्पूर्ण प्रपञ्चसे अलग रहता है और सारा प्रपञ्च एक ओर होता है। इसलिए इसमें चित्त अलग रहता है और अपना शुद्धस्वरूप अलग। अतः यह अपनी आँखोंकी सफाईके समान है और इसमें चित्त दर्पणके तुल्य है। परन्तु यह तत्त्वविवेक भी पूर्ण बोध नहीं कहा जा सकता। इसमें भी अपनेसे भिन्न दृश्य वस्तुकी सत्ता बनी रहती है। यह अद्वैत बोधके बिना निवृत्त नहीं हो सकती।

प्रश्न—इसके लिए साधकको क्या करना चाहिए ?

उत्तर—जब साक्षी और साक्ष्यका विवेक हो जाय तब यह विचारना चाहिए कि यह जितना प्रतीयमान दृश्य है वह अलग-अलग है या एक। जिस समय वह एक निश्चय हो जायगा उसी समय उसके अत्यन्ताभावका बोध हो जायगा और अद्वैत तत्त्वमें स्थिति हो जायगी।

प्रश्न—समस्त दृश्यकी एकताका अनुभव हो जानेसे ही उसके अभावका बोध कैसे माना जा सकता है ? जिस प्रकार भेददृष्टि रहनेपर वह अपनेको परिच्छिन्न उपाधिका साक्षी और उससे असङ्ग समझता था उसी प्रकार वह अपनेको सम्पूर्ण प्रपञ्चका साक्षी और उससे असङ्ग अनुभव करते हुए भी दृश्यको सत्य ही क्यों न समझेगा ?

उत्तर—जब सारा दृश्य एक सत्तामें आ जायगा तब उसका कोई कारण न मिलनेसे वह सत्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। सांख्यने जो प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्वोंको सत्य माना है वह युक्ति और अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। जो दो स्वतन्त्र तत्त्व सत्य हैं तो उनका कोई आधार भी होना चाहिए, क्योंकि बिना आधारके कोई भी आधेय पदार्थ रह नहीं सकता। और जब वे दो हैं तो आधेय ही हैं। इसलिए ऐसी अवस्थामें दृश्यकी सत्यता कभी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जब दृश्यका अत्यन्ताभाव बोध हो जाता है तो उसे समस्त दृश्य अपनेमें ही अनुभव होने लगता है। इस अवस्थामें उसका किसी भी वस्तु अथवा क्रियासे राग या द्वेष नहीं रहता। विवेकीको तो सत्यमें राग और असत्यमें द्वेष होता है, परन्तु

उसकी सभीमें समदृष्टि रहती है, जैसा कि गोसाईंजीने कहा है—

सबके प्रिय सबके हितकारी । सुख दुःख सरिस प्रसंसा गारी ।।

शास्त्रोंमें ऐसे बोधवान व्यक्ति तीन प्रकारकी क्रिया करते देखे जाते हैं—(१) कर्मकाण्डी, जैसे वसिष्ठादि (२) उपासक, जैसे नारदादि और (३) विरक्त, जैसे शुकदेव वामदेवादि । इस प्रकार यद्यपि इनके व्यापार अलग-अलग हैं तो भी बोधमें कोई अन्तर नहीं है । उनकी वे क्रियाएँ बालवत् क्रीड़ामात्र होती हैं ।

प्रश्न—आपने जिस प्रकार ये अलग-अलग व्यापार बतलाये उसी प्रकार एक ही बोधवान समय-समयपर इन सभी व्यापारोंको भी तो कर सकता है न ?

उत्तर—हाँ, क्यों नहीं कर सकता । नाटकमें, देखते नहीं हो, एक ही व्यक्ति कितने व्यापार करता है । इसी प्रकार वह भी समय-समय पर विभिन्न व्यापार करके भी उनसे अलिप्त रहता है । परन्तु इस प्रकार सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करता; क्योंकि उसकी दृष्टि प्रपञ्चके अत्यन्ताभावमें स्थित रहती है ।

प्रश्न—जिस प्रकार आपने ज्ञानीके व्यापारके तीन भेद बतलाये हैं उसी प्रकार वह नीतिनिष्ठ भी तो हो सकता है, और यदि नीतिनिष्ठ होगा तो नीतिके प्रति राग और अनीतिके प्रति द्वेषका प्रदर्शन भी आवश्यक होगा ?

उत्तर—हाँ, नीतिनिष्ठ भी अवश्य हो सकता है । परन्तु उस अवस्था में तथा पहली तीन अवस्थाओंमें भी उसका जो राग-द्वेषका प्रदर्शन होगा वह केवल लीलामात्र होगा, वास्तविक नहीं । यदि उसके राग-द्वेषमें वास्तविकता आ जाती है तब तो उसे बोधवान् क्या, विवेकी भी नहीं कह सकते, क्योंकि राग-द्वेषकी दृढ़ता दृश्यकी सत्ता माने बिना नहीं हो सकती और दृश्यकी सत्यता तो तत्वविवेक हो जानेपर ही निवृत्त हो जाती है ।

प्रश्न—ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिए तो विचार ही मुख्य जान पड़ता है, इसके लिए ध्यानादिकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जब तक प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव बोध नहीं होता तबतक तो विचार मुख्य हैं, परन्तु जब यह निश्चय हो गया तो उसपर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है । वह गौण हो जाना चाहिये । फिर तो ध्यान ही मुख्य होना चाहिये । विचारसे भी वृत्ति प्रपञ्चके अत्यन्ताभावको

ग्रहण तो करती है, परन्तु उसपर स्थिर नहीं रहती, किन्तु ध्यानसे उसमें स्थिरता आती है। यदि ध्यानादिमें न लगकर विवेकमें ही लगा रहेगा तो उसे उसीका व्यसन हो जायेगा और वह जीवन्मुक्ति-अवस्थासे वञ्चित रह जायेगा। इसीको शास्त्रवासना भी कहते हैं।

प्रश्न—यह कब समझना चाहिये कि बोधकी प्राप्ति हो गयी ?

उत्तर—जिसमें जीव, ब्रह्म आदि किसी भी प्रकारका अहंभाव नहीं है, जो व्यवहारमें सब काम ठीक-ठीक करता है, परन्तु परमार्थतः सबका अत्यन्ताभाव देखता है तथा जिसकी दृश्यमें मिथ्यात्वबुद्धि भी निवृत्त हो गयी है उसे बोधवान् समझना चाहिये। जिसके कुछ हुआ है अथवा कुछ नहीं है—ये दोनों ही भाव निवृत्त हो गये हैं वह बोधवान् है। कुछ हुआ है—इससे व्यवहार सत्तामें राग रहता है और कुछ नहीं हुआ—इससे उसमें द्वेष रहता है। बोधवान्में ये दोनों ही नहीं होते। कुछ नहीं हुआ—यह बात वह केवल जिज्ञासुके लिए कहता है, क्योंकि 'हुआ है' अथवा 'नहीं हुआ' ये दोनों ही भाव अहंबुद्धिको लेकर रहते हैं। प्रपञ्च हुआ है—यह भाव अनात्मबुद्धिसे होता है। और नहीं हुआ—यह आत्मबुद्धिसे होता है। ये दोनों ही वृत्तिके कार्य हैं, परन्तु आत्मस्वरूप इन वृत्तियोंसे परे है। इसलिये बोधवान्में ये दोनों ही भाव नहीं रहते।

प्रश्न—इस प्रकारकी पूर्ण स्थिति हो जानेपर भी व्यवहारमें वृत्ति आदिसे तादात्म्य क्यों हो जाता है ?

उत्तर—बोधवान्का वृत्ति आदिसे तादात्म्य कभी नहीं होता। उसकी जो कुछ चेष्टा होती है वह नाटकवत् है। जिस प्रकार नाटकका निपुण पात्र सब प्रकारका अभिनय करते हुए भी अपनेको राजा, मन्त्री अथवा और कुछ कभी नहीं समझता उसी प्रकार बोधवान् भी बुद्धि आदिका अत्यन्ताभाव देखता हुआ सर्वदा अपनेको उनसे असङ्ग अनुभव करता है। परन्तु ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त तीव्र अभ्यासकी आवश्यकता है।

प्रश्न—यह अभ्यास किस प्रकारका होना चाहिये ? यह बतलाइये।

उत्तर—अभ्यास दो प्रकारका है (१) विवेक कालीन और (२) बोध प्राप्तिके पश्चात् किया जाने वाला। विवेक कालीन अभ्यासका नाम ही निदिध्यासन है। निदिध्यासनका तात्पर्य है सजातीय प्रत्ययका प्रवाह और अनात्मकार-वृत्तिका तिरस्कार करना। इससे त्वं पदका शोधन होता है। निदिध्यासनमें अपनेको पञ्चकोशका साक्षी निश्चय

किया जाता है। फिर जब अपनेको पञ्चभूतके साक्षीसे अभिन्न अनुभव करनेपर अखण्डाकार-वृत्ति होती है तब बोधकी प्राप्ति कही जाती है। निदिध्यासनमें पञ्चभूत और पञ्चकोशके द्रष्टाओंमें भेद रहता है। इनका अभेद अनुभव हो जानेपर जो स्थिति होती है उसे निदिध्यासन नहीं कह सकते। वह तो ब्राह्मी स्थिति है। उस समय उसे सारा प्रपञ्च अपना मनोराज्य प्रतीत होता है। वह मनोराज्य शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकारका होता है। जो अपठित होते हैं उन्हें अशास्त्रीय मनोराज्य होता है और जो पठित होते हैं उन्हें शास्त्रीय मनोराज्य हुआ करता है। इस मनोराज्यकी निवृत्तिके लिए तथा ज्ञानरक्षा, तप, विसंवादाभाव, दुःशनाश और सुखप्राप्ति—इन पाँच प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए उसे हर समय नाम-रूपमय जगत्का बाध करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते जब वृत्ति स्थिर हो जाती है तब उसीको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं।

प्रश्न—जीवन्मुक्त और अवतारमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—जीवन्मुक्तमें केवल ज्ञाननिष्ठा ही रहती है, किन्तु अवतारमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों निष्ठाएँ पूर्ण रूपसे पायी जाती हैं। हाँ, सत्ता दोनोंकी दृष्टिमें एक ही रहती है।

(ब्रह्मसत्रके पश्चात्)

जिस समय ब्रह्मसत्र हुआ था उस समय तक मैं श्रीचरणोंमें नहीं आया था। उसके पश्चात् एक बार पं० चोखेलाल, घूरेलाल और प्यारेलालजी वृन्दावन आये हुए थे। उस समय मैंने उनसे पूछा कि आप लोग श्रीमहाराजजी पर इतने मुग्ध क्यों हैं ? उनसे मिलकर इतने प्रफुल्लित और रसोन्मत्त क्यों हो जाते हैं ?

वे मुझपर वात्सल्य रखते थे। उन्होंने कहा, "देख, महाराजजी ये हैं। तुम कभी उनके चरण मत छोड़ना। ये हमारे संत-समाजके गौरव और अवधूतशिरोमणि हैं। शास्त्रने जो 'अवधूत' शब्दके प्रत्येक वर्णकी व्याख्या करते हुए कहा है वे सब लक्षण आपमें मिलते हैं। शास्त्र कहता है—

अ—आशापाशविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तनिर्मलम् ।
आनन्दं वर्तते नित्यमकारस्तस्य लक्षणम् ॥
व—वासनावर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम् ।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारस्तस्य लक्षणम् ॥

धू—धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः ।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥
त—तत्त्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जिता ।
तमोऽहंकारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम् ॥[1]

हम लोगोंने यह स्पष्ट अनुभव किया है कि जो ब्रह्म है वही बाबा हैं। मैंने पूछा, "बाबा क्या हैं ?" तब वे बोले—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥

अर्थात् यह बैठा हुआ भी दूरतक जाता है और सोते हुए ही सब ओर पहुँचा हुआ है, मुझसे भिन्न ऐसा कौन है जो उस मद (हर्ष) युक्त और मद-हीन देवको जान सके। यही निःस्पन्द और सस्पन्द ब्रह्म बाबा हैं। जो इस मन्त्रको समझेगा वही मन्त्रात्मा श्रीमहाराजजीको भी समझ सकेगा।

इस प्रकार आपके रूपमें जो अपूर्व और अनपर ब्रह्म है वही इस ब्रह्मसत्रमें प्रकट हुआ। जैसे क्षीर-समुद्रमें अमृतकलश लेकर धन्वन्तरि प्रकट हुए थे, वैसे ही आप अमृतरूप ब्रह्मविद्या लेकर यहाँ प्रादुर्भूत हुए। आप ही कलश हैं, आप ही अमृत हैं, आप ही अमृतप्रदाता हैं और आप ही पान करनेवाले हैं। वहाँ जो मूर्त ब्रह्म प्रकट हुआ उसके श्री-चरणोंके चञ्चरीक होकर, उसकी वाङ्मयी मूर्त्तिकी आराधनाकर तथा उसके अमृतवर्षी नेत्रोंको निहारकर सब मुग्ध और चकित हो गये। उनके हृदय बिना मोल बिक गये तथा नेत्र सदाके लिए निछावर हो गये। आपके दर्शन करनेसे यह अनुभव हुआ मानो निवृत्तिका निरुपम

---

१. अ—जो आशारूप जालसे छूटा हुआ है, आदि, मध्य और अन्तमें निर्मल है तथा जिसे नित्यानन्द प्राप्त है उसका लक्षण अकार है।

व—जिसने वासनाकी दूर कर दिया है, जिसका कथन निर्दोष है और जो वर्तमानमें रहता है उसका लक्षण वकार है।

धू—जिसके अङ्ग धूलिसे भरे हुए हैं, जो चित्तसे निर्मुक्त है, निर्दोष है तथा धारणा और ध्यानसे भी छूटा हुआ है, उसका लक्षण धूकार है।

त—जिसने तत्त्वचिन्तन धारण किया है, सब प्रकारकी चिन्ता और चेष्टाएँ छोड़ चुका है तथा तमोगुण और अहङ्कारसे रहित है, उसका लक्षण तकार है।

सौन्दर्य अपनी कान्ति बिखेर रहा है तथा निर्विशेष ब्रह्मके सौष्ठवकी अगाध रसरूपता उछल रही है। अबतक जो 'एकमेवाद्वितीय सत्' ब्रह्मका तटस्थ एवं स्वरूपलक्षण-रूपसे निर्वचन सुनकर भी ब्रह्मसे साक्षात् आलिंगन न पानेके कारण दूर-दूर रहनेसे निराशामें डूबे हुए थे वे आपको पाकर चरितार्थ हो गये। इतना ही नहीं वे आपकी कृपासे अनुप्राणित होकर जाग गये। आप मृत्युञ्जय शिवस्वरूप हैं, आपको पाकर वे केवल अनुप्राणित ही नहीं हुए अपितु आनन्दोद्रेकसे उल्लसित हो गये। आपका सर्वात्मरूपसे आलिंगन पाकर पूर्णानन्दकी रसमयी-लास्यमयी लीला ही चालू हो गई। तब यह मालूम हुआ कि उनका अनन्त हृदय ही अपनी सरस गतिमें धड़क रहा है, बोल रहा है। जो सत्य समस्त शास्त्रोंमें अस्ति या सत्तारूपसे निर्वचनमात्र रहकर श्मशान की अस्थिमात्र ही जान पड़ता था वही आपको पाकर सतत सजीवतासे चमत्कृत हो उठा, जो चित् चित्रलिखित दीपकके समान प्रकाशहीन रहता था आपका अति अद्भुत चैतन्य पाकर स्वयं अनन्त चैतन्य होकर अपनी अद्वितीय अनुपम चेतनामें देदीप्यमान हो गया तथा जो आनन्द पंचाङ्गकी वर्षाके समान केवल शास्त्रोंमें ही वास करता था, उसे पानेके लिये जो जाते वे निराश ही लौटते थे, अब वही अनवरत अनवच्छिन्न धाराओंमें अपनी अद्वितीयता और दृश्यनिरपेक्षताका रङ्ग बिखेरते हुए मधुरातिमधुर रस होकर इस मधुपुरुषके रोम-रोमसे उल्लसित होकर प्रवाहित होने लगा। उसने सबको प्रभावित कर दिया, मुग्ध कर दिया और मूकास्वादन प्रदान किया।

अब यह मालूम हुआ कि गुरु भगवान्से अनुप्राणित होनेपर ही मन्त्र मन्त्रत्व प्राप्त करता है, वेदका अपौरुषेय ज्ञान अपने वास्तविक स्वरूपमें जाग उठता है और शिष्य अपने खोये हुए गुरुत्वको प्राप्त करता है। इसलिए प्राणोंके भी प्राण, मनके भी मन तथा अनन्त जगत्के असली अस्ति, भाति, प्रिय आप ही थे। जब आप 'तत्त्वमसि' कहते तभी शिष्यके भीतर लहरा-लहराकर ब्रह्मानन्द जाग उठता। अब वह शयन नहीं करता, चहल-पहल करता हृदयाङ्गणमें चल पड़ता। यह है अनन्तं-प्राप्तिका वास्तविक विज्ञान। श्रीगुरुमुखसे दिया हुआ मन्त्र चैतन्य होकर समस्त जीवनका आश्चर्यमय विकास करता है। वैसे ही इन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेवसे प्राप्त ब्रह्मविद्या ही सबल और स्थायी होती तथा आश्चर्यमय चमत्कार करती। जैसे मन्त्र चैतन्य होकर चमत्कृत करता

वैसे ही आत्मचैतन्य भी आपसे अनावृत होकर बादलके हट जानेपर सूर्यके समान निर्मल चिदाकाशमें अपने नित्य-निरतिशय प्रकाशमें जगमगाने लगता। वह अपनी अद्वितीय रसमाधुरी पान कराता तथा विवर्त्त अपने रङ्ग-विरङ्गे डब्बेका ढक्कन फेंककर उसमें रक्खे हुए आत्म मणिकी अनन्त कान्तिका स्पष्ट दिग्दर्शन कराता। आपकी कृपासे इस चिन्तामणिको पाकर चिन्ता निश्चिन्त हो जाती। इतनी तृप्ति होती कि संसारकी भूख-प्यास और तृष्णा' बाधित हो जाती। प्रत्युत यह अनुभव होता कि हमारे सान्निध्यसे ही अनन्त जगत्का जीवन है, आहार है और सच्ची तृप्ति है। इतना ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान-मूर्त्ति आपमें निवृत्तिका निरतिशय सौन्दर्य, ज्ञाननिष्ठाकी पराकाष्ठाका प्रभाव और स्वभाव तथा पूर्णानन्द भगवान्का अप्रतिहत आनन्द मानो सजीव होकर बोल रहा था।

आपकी मधुर मूर्त्ति रोम-रोमसे अविकृत मधुमय जीवनका विषय निरपेक्ष आनन्दरूप मधु सतत उड़ेल रही है और कह रही है, "देख, पागल! पागलखानेकी चाल मत चल। यह सारा संसार अविद्याग्रस्त पागलखाना है, चेता हुआ मसान है। तू भूतग्रसित जीवन मत बिता। समझ ले और इसका अनुभवकर कि निवृत्तिनिष्ठा, आत्मबोध और आत्मप्रेमकी अद्भुत चमत्कृति क्या है? सरस समरसका स्वाद क्या है? आपके श्रीचरणोंमें रहकर अनुभव हुआ कि सन्त ही सत् और सत् ही सन्त है। ये एकमेक होकर क्या अद्वितीय रस प्रदान करते हैं, पान करते ही बनता है।" आपने आकाशरूप आदर्शको वास्तविकताके धरातलपर लाकर रोम-रोमसे चमका दिया। आकाशस्थ ध्रुव नक्षत्र या दिक्सूची यन्त्रकी अपेक्षा नहीं रही, क्योंकि स्वयं अनन्त ही अत्यद्भुत कर्णधार होकर इस जीवन-नौकाको चला रहे हैं। वे सतत सन्निकट हैं तथा यहाँ और वहाँ सर्वत्र समान रूपसे सर्वदा विद्यमान हैं। वें मुक्तिश्रीका सर्वस्व दे रहे हैं, स्वमहिमाका सामगान गा रहे हैं तथा स्वतन्त्रताका सच्चा स्वराज्य दे रहे हैं। वेद तो स्तुतियों द्वारा भगवान्को जगाते हैं, किन्तु आप अपने वचनामृतसे अगणित जीवोंको अपने अद्वितीय, पूर्ण और निरतिशय आनन्दमें जगा रहे हैं। कह रहे हैं कि यह जन्म सोनेके लिए नहीं, जागनेके लिए है। छेदन-भेदनके नामसे केवल मुर्दाघाटके कपाल-मोक्षकी तुष्टिमें मत रहना, प्रत्युत असली ब्रह्माण्डको विदारकर पिण्ड-ब्रह्माण्डको पारकर अपने अत्युद्भुत ब्रह्मत्वको जानना है। केवल जानना ही नहीं उधर ही रह जाना है। यह तो चित्त-लवकणिकाके लिये

लवण-खण्डके समान आत्मसमुद्रकी थाह लेनेकी कहानी है। यही भगवान्‌को अपने अधीन करनेकी पद्धति है। उनके अधीन रहकर सोना-जागनारूप प्रकृति-विकृतिमें निवास करना नहीं। इस जातके गर्भमें अजातको खोजना है। और अगाध रसमें समा जाना है। ऐसा एकमेव होकर समा जाना है कि अनन्तके अगणित रूप-रस-गन्धादि स्वयं आनन्दकी बोलीमें बोल उठें, खेल उठें और खिल उठें। यही श्रीपूर्णानन्द तीर्थतटोंमें प्राप्त ब्रह्मसत्रका प्रसाद है। इसे बाँटते जाओ तो घटेगा नहीं, पाते जाओ तो अघाओगे नहीं, पीते जाओ तो प्यास बुझेगी नहीं। बस, दूसरी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं है। उनके श्रीचरणोंमें ही अनन्तकी अनन्यता विद्यमान है।



: १५ :

हमारे प्रिय गुरुभाई

(विरक्तबन्धु)

स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती—जब मैं प्रयाग-कुम्भके पश्चात् बाँधपर श्रीचरणोंमें आया तब शङ्करलाल नामके एक नवयुवक मेरी कुटीके बगलमें ठहरे हुए थे। उनकी दृष्टिसे दृष्टि मिलते ही ऐसा लगा जैसे बिछुड़े हुए दो भाई मिल गये हों। उनकी सादगी, गम्भीरता, नियमनिष्ठा और समयनिष्ठा देखते ही बनती थी। उनकी निष्ठा थी—'आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।' यह नित्य अनुभव करके बड़ा आनन्द आता था। उस समय वे श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे श्रीरामचरितमानसके एक सौ आठ नवाह्न पारायणोंमें संलग्न थे। उनका यह शौक था कि सिद्धासनसे बैठकर चुपचाप श्रीमहाराजजीको निहारते रहें। ऐसा लगता था कि आँखोंके द्वारोंसे वे अपने हृदय द्वारा करुणागारकी मुखाम्बुजश्रीमें लवलीन हो रहे हैं। उनकी श्रद्धाके तारे श्रीमुखकी ओर ही लगे रहते थे। वे आँखोंके प्यालोंसे गुरुभक्तिका ही पान करते थे तथा श्रवणके दोनोंसे उनके वचनामृत ही पीते रहते थे। यह था उनका मूकास्वादन। इनकी स्पष्ट निष्ठा थी—'प्रिय राजीमें ही राजी हैं।' आप अँग्रेजीमें एम० ए० थे। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि इन्हें श्रीमहाराजजीके आसन और शाम्भवी मुद्रामें विशेष रुचि है। श्रीरामायणजीके प्रति भी आपका बड़ा प्रेम था। एक बार इन्होंने प्रश्न किया कि भगवान् रामकी देन क्या है? तब कोई बोला—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोइ न राम सम जान यथारथ ॥' किसीने पितृवाक्यके परिपालनकी ही मुख्यता बतायी। फिर सबने आपसे ही पूछा कि आप अपना विचार कहिये। तब आप बोले, "भगवान राम की देन हैं तुलसीदास। देखो, वे रामायणमें कभी भावावेशमें बोलते हैं, कभी भगवदावेशमें और कभी संतके आवेशमें। अतः कहना यह है कि ये सब तुलसीदास ही हैं।"

ये मेरे और श्रीमहाराजजीके बीचमें दुभाषिया बने रहे। साथ रहनेसे परस्पर हमारा प्रेम बढ़ता गया। अँग्रेजीके ऐसे विद्वान् होनेपर भी उनकी

वैसी सादगी, सरलता और निःस्पृहताने मुझे मुग्ध कर दिया। अपरिग्रह तो आपमें स्वभावसे ही है। त्यागकी मूर्त्ति हैं। फिर इनकी और मेरी साथ ही दीक्षा हुई। ये हो गये दण्डिस्वामी श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती। फिर मेरे मनमें यह जिज्ञासा हुई कि मैं इनके जन्मस्थानादिके विषयमें कुछ पता लगाऊँ। खोज करनेपर पता लगा कि आपने खेतड़ी जिलेके गौरीर नामक ग्राममें एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवारमें १५ दिसम्बर सन् १९१४ ई० को जन्म लिया था। इनके एक बड़े भाई थे श्रीमुरारीलालजी। इनकी माताजी नारनौल निवासी पं० रघुनन्दनजीकी पुत्री थीं। पण्डितजीके कोई पुत्र नहीं था, इसलिए इन दोनों दौहित्रोंको वे अपने पास ही रखते थे। पं० रघुनन्दनजी अँग्रेजीके धुरन्धर विद्वान् थे। इन्दौरमें राज-परिवारके कई लोग इनसे पढ़ते थे। उनकी ऐसी प्रतिभा देखकर इन्हें भी शौक हुआ कि मैं अँग्रेजीका ऐसा ही विद्वान् बनूँ। बचपनमें इनकी दादीने इन्हें भगवान् शङ्करके मन्दिरमें जाकर भगवान्‌की आरती और प्रार्थना करनी सिखायी। तबसे आपकी विद्याप्रदाता पुरारिके प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति बढ़ गयी। इनका माँसे विशेष प्रेम था। परन्तु वह छिप-छिपकर प्रकट होती थीं। ये दुखी होते तो कहतीं, "बेटा! जब मैं नहीं रहूँगी तो तुम्हें दुःख होगा।" इस प्रकार माताजी इन्हें निर्ममता और असंगताकी शिक्षा देती थीं। इनका चित्त बड़ा कोमल था। बाल्यावस्थासे ही ये सत्यके पुजारी थे। एक बार इनके भाईका किसीसे झगड़ा हो गया। उसने कहा कि शङ्करलालमें मेरा विश्वास है। वह जैसा निर्णय करेगा मुझे स्वीकार होगा। और जिसका दोष होगा उसकी पिटाई होगी। इन्होंने अपने भाईको ही दोषी बताया। अतः उन्हें मार खानी पड़ी। घर आकर उन्होंने इन्हें पीटा और कहा कि भाई होकर तूने पिटवाया? तुझे लज्जा नहीं आती। किन्तु इन्हें तो पिटनेमें आपत्ति नहीं थी, परन्तु झूठ नहीं बोल सकते थे।

पढ़ने-लिखनेमें बहुत तेज थे। प्रायः प्रथम उत्तीर्ण होते थे। किन्तु दसवीं कक्षामें कुछ मुसलमान लड़कोंका सङ्ग हो जानेसे इन्होंने आराधना छोड़ दी। इसलिए अनुत्तीर्ण रहे। फिर इष्टदेवसे क्षमा माँगी और फिर आगेकी कक्षाओंमें पूर्ववत् बहुत अच्छी सफलता प्राप्त की। इन्होंने हाईस्कूलकी शिक्षा नारनौलमें प्राप्त की और उच्च शिक्षाके लिए महाराजा कालेज जयपुरमें भर्ती हुए। वहाँसे बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इन्हें गान-विद्याका भी व्यसन था। जयपुरमें सरसमाधुरीजीके अनुयायी कुछ

सत्सङ्गी थे। उनसे इनका मेल-जोल हो गया और ये श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान करने लगे। मेरे सामने इनसे कुछ विद्यार्थियोंने पूछा कि हमें पढ़ना चाहिए या ध्यान करना चाहिए। ये बोले, ध्यान करनेसे पढ़ना स्वयं आ जाता है। देखो, मैं श्रीकृष्णका ध्यान करता था। मेरा ध्यान इतना सूक्ष्म हो गया कि उसके प्रभावसे मैं जो पुस्तक देखता था वही हृदयङ्गम हो जाती थी।" जब आप जयपुरमें पढते थे तब बच्चोंको ट्यूशन भी पढ़ाते थे। उस समय केवल उस बच्चेसे ही बात करते थे, शेष सब समय मौन रहते थे। व्यायाम और खेल-कूदका भी खूब शौक था। रहते थे श्रीशम्भुनाथ वकीलके यहाँ। वहाँ इन्हें शोभाराम नामके एक साधक मिले। ये हमारे श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त थे। इनसे श्रीमहाराजजीकी गुणगरिमा सुनकर कई लोग उनकी ओर आकर्षित हुए। इनकी सादगी, ध्यानमुद्रा और तपोमय जीवनसे भी सब लोग प्रभावित हो जाते थे।

शोभारामजीने श्रीमहाराजजीके सम्पर्कमें आनेकी बात इस प्रकार लिखी है—'मैं अपनी ज्ञानपिपासाकी शान्तिके लिए श्रीभूदेव शर्माके साथ अच्युत स्वामीजीके पास जा रहा था। प्रस्थानके दिन ही प्रातःकाल स्वप्नमें मैंने देखा कि श्रीगङ्गाजीके किनारे उज्ज्वल रेतीमें पूज्य बाबा (श्रीमहाराजजी) विराजमान हैं। भक्तमण्डली उन्हें चारों ओरसे घेरे बैठी है। वे मुझसे कह रहे हैं, 'तू उधर कहाँ जा रहा है, इधर आ।' इससे मेरी विचारधारा बदली। उनके पास जाकर मैंने ठीक वही दृश्य ज्यों-का-त्यों देखा। पूज्य बाबाका मुखमण्डल ब्रह्मज्ञानसे देदीप्यमान हो रहा था। मैंने श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। दर्शन करके चित्त गद्गद हो गया। श्रीमहाराजजी बोले, "अरे भैया! अबतक तू कहाँ था? मैं तो तुझे बहुत दिनोंसे याद कर रहा था।"..........श्रीमहाराजजी मेरी परीक्षाके समय भी मुझे उठाकर सजग कर देते। मेरी प्रत्येक शङ्काका स्वप्नमें ही उत्तर मिल जाता था।' इनके भाई चिन्तामणि भी श्रीशम्भुनाथ वकीलके पास ही ठहरे हुए थे। वे भी श्रीमहाराजजीकी गुणगरिमा सुनाते रहते थे। इससे श्रीमहाराजजीके प्रति श्रीशम्भुनाथजी, उनके पुत्र मनमोहनजी और शङ्करलालजीके मनमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। सभीको दर्शन करनेकी लालसा बढ़ी। पहले मनमोहनजीने श्रीमहाराजजीके दर्शन किये। उन्होंने उनके रोम-रोमसे प्रेम, दया और करुणाका स्रोत प्रवाहित होते देखा। उनकी आत्मीयतासे ये सदाके लिए

उनके हाथ बिक गये। फिर आकर पिताजी और शङ्करलालजीसे कहा कि मैं तुम्हें ऐसे महाराजजी दिखाऊँगा जिन्हें देखकर तुम भगवान्को भी भूल जाओगे। तब शङ्करलालने कहा, "कैसी अटपटी बातें करते हो। महात्माके दर्शन करके भगवान्की याद आती है या वे भूल जाते हैं।" मनमोहनजीने कहा, "तुम स्वयं देख लेना इस वचनका रहस्य स्वयं खुल जायगा।"

उन दिनों श्रीशङ्करलालजी श्रीकृष्णका ध्यान, द्वादशाक्षर मन्त्रका जप और मौन रहते हुए विद्याध्ययन करते थे। मैट्रिकमें पढ़ते समय माँकी मृत्यु हो गयी थी। सगाई हो चुकी थी। परन्तु माँके स्वर्ग सिधारनेपर इन्होंने सगाई छोड़ दी और आजीवन अविवाहित रहनेका निश्चय किया। ये अत्यन्त सजग रहकर अपने शील और सदाचारकी रक्षा करते थे। ऐसी सजगता यदि मानवमें जाग्रत् हो जाय तो क्या कहना, फिर तो भारतमें स्वर्णयुग ही आ जाय। इन्हें पढ़नेका बड़ा चाव था। कई लोगोंने इन्हें प्रलोभन दिये कि तुम यदि हमारी लड़कीसे सम्बन्ध स्वीकार कर लो तो हम तुम्हारी विदेशोंमें जाकर पढ़ाई करनेकी व्यवस्था करा देंगे। किन्तु इन्होंने अपने आजन्म अविवाहित रहनेके सङ्कल्पको अडिग रखा और उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।

फिर इन्होंने शोभारामके साथ वृन्दावन जाकर यमुना-किनारे भरत-पुरवाली कुञ्जमें श्रीमहाराजजीके दर्शन किये। प्रणाम करते ही श्रीमहा-राजजीने पूछा, "शोभाराम, यह लड़का कौन है? क्यों आया है?" ये बोले, "महाराजजी, दर्शन करने आया हूँ।" श्रीमहाराजजीने कहा, "नहीं, कुछ और बात है।" इस प्रकार सायङ्कालतक चलता रहा। फिर श्रीमहा-राजजीने यमुना-किनारे इन्हें बाँह पकड़कर बैठाया और इनके मनकी आगे-पीछेकी सब बातें कह दीं। फिर कहा, "तुम जल्दी मत करना, समय पर सब हो जायगा।" इससे अपनी बुद्धिमें ही विश्वास रखनेवाले विद्या-भिमानी शङ्करलालको पूर्ण विश्वास हो गया कि ये ही मेरे गुरु हैं और ये सदाके लिए श्रीचरणोंमें समर्पित हो गये, सच्चे शरणापन्न हुए।

फिर इन्होंने जयपुर जाकर सब बातें श्रीशंभुनाथजीको सुनायीं। वकील होनेके कारण पहले शोभाराम और मनमोहनके कहनेसे उन्हें पूर्ण विश्वास नहीं हुआ था। शङ्करलालके विषयमें उनकी धारणा थी कि यह बातको ज्योंकी त्यों कहेंगे, बढ़ा-चढ़ाकर नहीं। जब दृष्टिमात्रसे

घायल हुई गोपीके समान शङ्करलालजी श्रीमहाराजजीकी गुणगाथा गाने लगे तो वकील साहबकी आस्था पक गयी और उनके मस्तिष्ककी उलझन दूर हो गयी। अब वे श्रीचरणोंके दर्शनोंके लिये लालायित हो उठे। इन्हें श्रीमहाराजजीका प्रथम दर्शन प्रयागमें हुआ। दर्शन करते ही इन्हें अनुभव हुआ कि जितना सुना था उससे भी अधिक पाया। पाया क्या, बस स्वयं भी श्रीचरणोंमें खो गये। फिर स्वयं आप ही नहीं इस सगुण ब्रह्ममूर्तिको पाकर सारा परिवार ही शरणापन्न हो गया।

इस प्रकार श्रीशम्भुनाथजी, मनमोहनजी और शङ्करलालजी श्रीचरणोंके चञ्चरीक बन गये। मनमोहनजी अधिक-से-अधिक श्रीचरणोंमें रहकर सेवाका आनन्द लूटने लगे। इनके सौम्य स्वभाव, आज्ञापालन और निरन्तर सेवापरायणताने इन्हें श्रीमहाराजजीका विशेष कृपापात्र बना दिया। हमारे परिकरमें, प्रेमी सेवकोंमें इन्हें सर्वप्रथम कहा जा सकता है। इन्होंने श्रीमहाराजजीकी कृपापात्री एक वृद्धा रोगिणीकी ऐसी सेवा की कि श्रीमहाराजजीके मुखसे यह आशीर्वाद निकल गया— 'जा, तेरी बन गयी।'

ये सभी सज्जन श्रीमहाराजजीके पास आते-जाते रहते थे। शङ्करलालजीको आपने अपना ही ध्यान बताया था। पहले ये श्रीकृष्णका ध्यान करते थे। फिर कभी श्रीकृष्णका और कभी श्रीमहाराजजीका ध्यान होने लगा। तब इन्हें यह उलझन हुई कि किसका ध्यान करूँ श्रीमहाराजजीने कहा, "तुम करते जाओ, जो रहना होगा रह जायगा।" उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कुछ दिनोंमें श्रीमहाराजजी ही रह गये। श्रीकृष्ण उन्हींमें अन्तर्भूत हो गये, क्योंकि 'सर्वदेवमयो गुरुः'— गुरुदेव तो सर्वदेवमय होते हैं। श्रीमहाराजजीने एक आसनपर बैठे अपने शान्त ध्यानस्थ स्वरूपका ही ध्यान बताया, लीलाके लिए मना कर दिया, क्योंकि इससे चित्त चञ्चल होता। उन्हें इनमें स्थितप्रज्ञ-जीवनको जगाना था। भाई शङ्करलालजी बड़े बुद्धिमान थे। उन्हें ध्यानकी कोई नयी कल्पना नहीं करनी थी। जो हो रहा था उसीमें सम्मिलित होना था। किसी प्रकारका आयास-प्रयास नहीं करना था। नित्य उपासनामें जो हो रहा था उसीमें चित्त उत्साहपूर्वक सम्मिलित हो जाय। आप समय-समयपर रामघाट, कर्णवास आदि स्थानोंमें जाते रहते थे तथा श्रीमहाराजजीको विविध रसमय नित्य आनन्दस्वरूपमें

देखकर मुग्ध होते थे। आपने बराबर यही देखा कि श्रीमहाराजजी अपने स्वरूपमें लवलीन हैं, उन्हें यह होश ही नहीं है कि कौन सेवा कर रहे हैं और किसकी सेवा हो रही है। उन्हें और कहीं कोई ऐसे दिखायी नहीं देते। ऐसे गुरुदेवकी सेवासे ही सब प्रकारका लाभ हो सकता था।

इस प्रकार इनका श्रद्धा-विश्वास सुदृढ़ हो गया और इनकी भक्ति अनुरागमें परिणत हो गयी। कभी-कभी तो यह देखते कि श्रीमहाराजजी बड़ी करुणामयी लीला कर रहे हैं। वह झाँकी देखते ही बनती थी। लोग पूजनके लिए आये हैं और वे उनके हाथसे माला छीनकर स्वयं ही पहन लेते हैं तथा पैर फैलाकर जल्दी चरणामृत लेनेके लिए कह रहे हैं। एक ओर तो आप इतने लवलीन रहते और दूसरी ओर इतनी करुणा! यह आस्वादन करते ही बनता था। यह सब देखकर शङ्करलालका दिल तो दीवाना हो गया—'गिरिधर तेरे हाथ बिकानी।'

श्रीमहाराजजीने, रामघाटमें जिस वृक्षके नीचे आप विराजते थे और जिसकी डालियाँ आपके चरण-स्पर्शके लिए झुक आयी थीं, शङ्करलाल-को खड़ा किया और यह प्रतिज्ञा करनेका आदेश दिया कि मैं विवाह नहीं करूँगा। शङ्करलालको तो यह अभीष्ट ही था। उन्होंने सब परिकरके सामने प्रतिज्ञा की—'मैं विवाह नहीं करूँगा, मैं विवाह नहीं करूँगा, मैं विवाह नहीं करूँगा।' शङ्करलालका विचार बी० ए० से आगे पढ़नेका नहीं था। परन्तु श्रीमहाराजजीने आज्ञा दी कि बेटा! एम० ए० कर लेना। ये जयपुर जानेके लिए बिस्तर बाँध रहे थे तभी एक साथीने कहा, "शङ्करलाल! तुम जयपुर स्टेटमें प्रथम उत्तीर्ण हुए हो। तुम्हें राज्यकी ओरसे छात्रवृत्ति मिलेगी।" बस, अब तो एम० ए० में पढ़ना निश्चित हो गया। शङ्करलालने सोचा कि यह सब श्रीमहाराजजीकी लीला है।

एम० ए० में पढ़ते समय भी ये बार-बार श्रीमहाराजजीके पास आते थे। अतः कालेजवालोंने शिकायत की कि यह तो साधुओंके चक्करमें है, क्या पढ़ेगा। इन्होंने कहा, "मेरे विषयमें आप निश्चिन्त रहें।" राम-घाटमें इन्हें खूनी पेचिश हो गयी। उसमें जान पड़ता था मानो कोई गला दबा रहा है, अब शरीर नहीं बचेगा। पर श्रीमहाराजजीने बड़े प्यारसे दवा करायी, उससे रोग शान्त हो गया। इन दिनों कुँवर कञ्चनसिंह नित्य प्रति एक मन जलेबी श्रीमहाराजजीको भोग लगाते थे। महाराजजी सबको दो-दो जलेबी बाँट रहे थे। मनमोहनने इनसे कहा, "क्या देखते हो, प्रसाद

ले लो।" ये आगे बढ़े। श्रीमहाराजजीने इन्हें बहुत-सी जलेबियाँ दे दीं। तब मनमोहनने कहा, "चुपचाप सब खा लेना, किसीको एक किनका भी मत देना।" इन्होंने सब जलेबियाँ खा लीं। श्रीमहाराजजीने कहा, "अब तुम ठीक हो गये।" इन्हें भी ऐसा जान पड़ा मानो खोया हुआ बल लौट आया। फिर जब एम० ए० की परीक्षा हुई तो सारी कक्षामें केवल ये ही द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए और कोई विद्यार्थी पास नहीं हुआ। इस कृपाको स्मरण करके ये गद्‌गद हो जाते थे और कहते थे कि श्रीमहाराजजीने ही मुझे एम० ए० कराया था।

ये कर्तव्यदृष्टिसे घरवालोंकी कुछ सेवा करना चाहते थे; परन्तु उन्होंने कहा कि यदि विवाह करो तब तो कमाई करना, नहीं तो हमें तुम्हारी कमाईकी आवश्यकता नहीं है। उनकी ऐसी निर्ममता देखकर इनका चित्त घरवालोंकी ममतासे हट गया। इन्होंने निश्चय कर लिया कि अब मैं फिर कभी घर नहीं जाऊँगा। तब श्रीमहाराजजीने ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम चूरूमें निष्काम सेवा करनेका आदेश दिया। सेठ जयदयालजी इन्हें वेतन देकर अथवा घरवालोंको भेजकर आर्थिक सहायता करना चाहते थे; परन्तु इन्होंने किसी तरह पैसा लेना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार कुछ समय निष्काम सेवा करके ये श्रीमहाराजजीके पास लौट आये। मैं जिन दिनों श्रीचरणोंमें पहुँचा था उन्हीं दिनों ये संन्यास लेनेके सङ्कल्पसे वहाँ आये थे। तबसे मुझे इनके साथ रहनेका सुअवसर प्राप्त हुआ और फिर साथ-साथ ही दोनोंकी दीक्षा हुई। ये कहा करते थे कि श्रीमहाराजजी के मुखारविन्दके चारों ओर मुझे दिव्य ज्योत्स्ना दिखायी देती है। ऐसा प्रकाश ईश्वरीय मूर्तियोंमें ही देखा जाता है।

संन्यासके पश्चात् इन्हें आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा हुई। तब श्रीमहाराजजीने समझाया कि यह जो पञ्चकोशात्मक शरीर है तुम इसके निरपेक्ष द्रष्टा हो। ऐसा ही तुम अभ्यास करो। इस उपदेशसे अपने नित्यमुक्त स्वरूपको जानकर ये गुरुदेवकी कृपामूर्तिपर बलिहारी हो गये। मुझसे कहते थे, आञ्जनेय! कैसी सरल बात है। जैसे एक (कारण) के ज्ञानसे सब (कार्यवर्ग) को जान लिया जाता है उसी प्रकार श्रीमहाराजजीकी पद्धतिमें यह कैसा सुन्दर रहस्य है कि इस एक शरीरसे असङ्ग होनेसे सभीसे असङ्गता हो जाती है। इस प्रकार सहज हीमें सर्वत्याग हो जाता

है और यह स्पष्ट अनुभवमें आ जाता है कि आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति क्या है। यह पञ्चकोश इस अमरगुफाका पञ्चरङ्गी दरवाजा है। बस, इसे अलग निकालकर रखा कि अमरगुफा हाथ लगी ही हुई है।

मैंने पूछा कि इस शरीरको अलग करनेका आपने क्या तात्पर्य समझा? वे बोले, "शरीरमें उपादेयबुद्धि न रखकर यदि इसका ध्यान किया जाय तो यह देह घटके समान अलग रखा जा सकेगा। यह वह जड़ है जिसे असङ्गशस्त्रसे छेदन करना है। फिर तो सब सरल ही है। इस एकके त्यागसे सबका त्याग हो जाता है। फिर तो यदि शरीरमें आग लग जाय तो भी उससे नहीं घबरायेंगे। यह पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है। इस पिण्डसे पीछा छुड़ा लिया जाय तो ब्रह्माण्ड तो छूटा ही पड़ा है।"

मैंने कहा कि 'मुझे चिन्ता बहुत रहती है।' तब आपने याद दिलाया कि श्रीमहाराजजीके सारे उपदेशका सार है चिन्तन। भगवच्चिन्तन या आत्मचिन्तनसे चिन्ता पूर्णतया मिट जाती है। चिन्ता महान् ज्वर है, चिन्ता सर्पिणी है। इसका कारण वासना है। श्रीमहाराजजीने हजारों बार घोषित किया है—'वासना विसारि डारै यही बड़ी बात है।" इसका उपाय है असङ्गव्यवहार और संसारका चिन्तन न करना। नित्य मरनेवाले शरीरको मरा हुआ देखें। शरीरके जन्मादि विकार क्या हैं? ये शरीरकी नित्य मृत्युका मूक गीत ही तो गा रहे हैं। भगवच्चिन्तन तो चिन्तनकालमें ही अमृतकी वर्षा करनेवाला है। यह चर्माविष्ट शरीर से छुड़ाकर चरम लक्ष्यपर ले जाता है। इसके सिवा श्रीमहाराजजीने हजारों बार कहा है—'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिः।' अतः अनन्य जप-निष्ठ हो जाओ। वह जप ही उपांशुसे मानसिक स्तरमें पहुँचकर अपनी करामात दिखायेगा। जप ही ध्यान है और ध्यान ही जप है—ऐसी अनन्यता अहर्निश रहनी चाहिए। जैसे मुखमें रखे हुए ग्रासका एक रस है और चबाये हुएका दूसरा तथा खाकर पचा लेनेपर उसका शरीर, प्राण और बुद्धि सभी स्तरोंमें अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार जप से भी भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्रबोध सभी प्राप्त हो जाते हैं। जप मानो गुरुदेवकी पकड़ाई हुई एक जञ्जीर है, जिसे पकड़कर प्राणी संसारकूपसे सहज हीमें निकल आता है। बस, अनवरत जपना ही चढ़ना है। परन्तु यह अवश्य होना चाहिए कि जगदम्बा पार्वतीके समान अनन्य गुरुनिष्ठा और इष्टनिष्ठा हो। वे कहती हैं—

गुरु के वचन प्रतीति न जेही । सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ।।
जेहि कर मन रमु जाहि सँग, ताहि ताहि सन काम ।।
अब मैं जनमु सम्भु हित हारा । को गुन औगुन करै विचारा ।।
जनमु कोटि लगि रगर हमारी । बरउं संभु न तु रहउँ कुआँरी ।।

आपके तो गुरु और इष्ट एक ही हैं। उनका नाम ही आपका जप है। आपने मौन धारण करके महान् तप किया है। तब मुझे ऐसा लगता था कि ये स्वामीजी तो मूर्तिमती तपस्या ही हैं। फिर आपका सङ्ग करनेपर अनुभव हुआ—'तप सुखप्रद दुःख-दोस नसावा।' एक बार मैंने अपने पूज्य गुरुभाई पं० गयाप्रसादजीसे पूछा कि श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो और उसकी पुष्टि कैसे हो ? इसपर आपने श्रीमहाराजजीसे जो उपदेश मिला था उसीको दुहराते हुए कहा, "यह जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंके अधीन है।" मैंने कहा, "संस्कारोंके ऊपर छोड़नेसे तो निराशा ही हाथ लगती है। कोई सरल उपाय बताइये।" तब आपने बताया कि "जिसके पास श्रद्धा-भक्ति भरपूर है उस गुरुभक्तका सङ्ग करो। इससे अपने भीतर जो कमी होगी वह पूरी हो जायगी और श्रद्धा-भक्ति बढ़ जायगी।" मुझे यह बात जँच गयी। सौभाग्यसे मुझे स्वामी प्रबोधानन्दजी मिल गये, जिनके संगसे मुझे श्रीचरणोंके प्रति प्रीति, श्रद्धा और भक्तिकी सब प्रकार पुष्टि होती रही। वे स्वयं भी लगते थे और मुझे भी लगाते थे।

एक बार मेरा गोवर्धनकी परिक्रमाका विचार हुआ। मैंने आपसे चर्चा की। आप बोले, "एक गोवर्धन क्या, मैं तुम्हें सम्पूर्ण तीर्थोंकी परिक्रमा और स्नान करा दूँगा, चलो। तब जिस प्रकार गणेशजीने सम्पूर्ण विश्वकी परिक्रमाका फल अपने पितृदेवको परिक्रमा द्वारा प्राप्त किया था उसी प्रकार मुझे ले जाकर आपने श्रीमहाराजजीकी दण्डवती परिक्रमा करायी और स्वयं भी की। उस समय श्रीमहाराजजी कुटियामें विराजमान थे। आपने कहा, "यह कुटिया शिवमन्दिर है और हमने कुटियाकी परिक्रमा की। आपकी यह सुनिश्चित धारणा है कि गुरु-उपासनासे ही सम्पूर्ण दुःख-दोषोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होगी।"

जयन्तने जगदम्बा श्रीजानकीजीको चरणकमलोंमें चोंच मारकर महान् अपराध किया और फिर भगवान्‌की ओर पीठ करके गिरा। तो भी करुणावरुणालय श्रीजनकनन्दिनीने उसे भगवान्‌के सम्मुख करके उसका अपराध क्षमा कराया। इसी प्रकार मुझ नगण्यको आप ही

कृपापूर्वक करुणागार श्रीसरकारके सम्मुख करते थे। इतना ही नहीं, मेरे हितके लिए मेरे दोषोंको छिपाकर भी श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना करते थे। मेरी इच्छा होती कि मैं श्रीमहाराजजीसे आज्ञा लेकर विचरने चला जाऊँ, तो आँखोंमें आँसू भरकर कहते, "आञ्जनेय ! चूक मत जाना। और सब कुछ मिल जायगा, परन्तु यह लीला जो चल रही है फिर नहीं मिलेगी। पता नहीं, यह कब संवरण कर लें।" इसी प्रकार निरन्तर श्रीचरणोंके सान्निध्य, सेवा और कृपा प्राप्त करानेमें मुझपर उनका हाथ रहा। श्रीमहाराजजी तो सर्वस्व हैं, परन्तु कहना न होगा कि मेरे बड़े गुरुभाई होनेके नाते इन्होंने सच्चे ज्येष्ठ भ्राताकी तरह अपने भ्रातृत्व, मातृत्व और पितृत्वका सरस वात्सल्य प्रदान करके मेरी श्रीचरण-भक्तिका पोषण किया है। श्रीमहाराजजीका स्वास्थ्य शिथिल रहने लगा था, इसलिए सब लोग दुखी थे। उस समय ये जी-जानसे उनकी परिचर्यामें लगे रहे।

बाँधकी अन्तिम यात्राके समय श्रीमहाराजजीकी सेवामें मैं नहीं था। आप साथ गये थे। वहाँ एक दिन इन्होंने देखा कि एक योगी गङ्गाजीकी धारापर सिद्धासन लगाये बहावकी ओरसे ऊपरकी ओर जा रहे हैं। इन्होंने उन्हें प्रणाम किया और श्रीमहाराजजीके लिए दवा देनेको कहा। वे बोले, "मैं तुम्हारे श्रीमहाराजजीको जानता हूँ। वे जहाँ बैठते हैं वहाँ उनके आस-पास अनेकों योगी बैठे रहते हैं। मैं कल तुम्हें दवा दूँगा। दूसरे दिन वे बहावके नीचेकी ओर जा रहे थे। तब इन्हें दवा दी। इन्होंने सब समाचार श्रीमहाराजजीको सुनाकर वह दवा दे दी, किन्तु उन्होंने हँसकर बात टाल दी। सम्भवतः वे लीला-संवरणका निश्चय कर चुके थे। इन महापुरुषोंका पता नहीं लगता, कई बार ये दूसरोंका प्रारब्ध भोग भी अपने ऊपर ले लेते हैं और कभी प्रेमकी परीक्षा करनेके लिए भी वैसी लीला करते हैं।

श्रीमहाराजजीकी सेवामें रहकर आपने यह स्पष्ट दिखा दिया कि सेवा किसे कहते हैं। सतत सावधान रहना, उनकी कोई वस्तु स्वयं न लेना, न किसीको देना और न स्पर्श करना, भले ही वह सड़ जाय। साथ ही चकोरकी भाँति सरकारके मुखचन्द्रको निहारना, चातककी भाँति बाट जोहना तथा चकवाकी तरह सतत संयोगकी अभिरुचि रखना। ये तो बस श्रीचरणोंके प्रेमी थे, और कुछ नहीं जानते। इनका निश्चय है कि प्रेम करके उसे निरन्तर निभाना परम आवश्यक है।

श्रीमहाराजजीके लीलासंवरणके पश्चात् इन गुरुभक्त महापुरुषने अपनी गुरुनिष्ठाका अद्भुत परिचय दिया। पल्टू बाबा कहा करते थे कि "कृपालु! इनका शरीर तो अत्यन्त दुर्बल है, ये क्या भिक्षा माँगेंगे।" किन्तु श्रीमहाराजजी तो पक्के पारखी थे। वे कहते, "नहीं पल्टू! ये बहुत अच्छे निकलेंगे।" इन्होंने निर्वाणके पूर्व आपका संकेत पाकर चरण पकड़कर प्रतिज्ञा की कि "मैं पैसा न तो रखूँगा न छूऊँगा और न कहीं कुटिया बनाऊँगा।" इन प्रतिज्ञाओंसे इन्हें श्रीमहाराजजीने ऊपरसे तो आबद्ध किया, परन्तु भीतरसे अपने प्रिय बालक प्रबोधानन्दको फकीरीकी निष्काम और निरपेक्ष सुनहरी पगडण्डीपर डाल दिया। श्रीमहाराजजीकी आज्ञाओंको तोड़ना, मरोड़ना और शब्दोंकी ओट लेकर सुख-सुविधा उत्पन्न करना हमारे पतनके हेतु बन सकते हैं। साधुका काम तो इतना ही है कि यथाप्राप्त वस्तुका उपयोग कर ले। प्रेरणा करके या अपनी किसी चेष्टा द्वारा अनुकूलताओंको जुटाना जीवनको कलङ्कित करना ही है। प्रेरणा और स्वीकृतिमें थोड़ा ही अन्तर है। दोनों सगी बहनें हैं। त्यागकी तराजूमें इन दोनोंका भार समान है। सुरक्षित और सुखदायी मार्ग तो उस प्रत्येक खर्चेसे बचनेमें ही है जिसके बिना हम रह सकते हैं। श्रीगुरुदेवकी आज्ञा और इच्छासे मुझे एक इञ्च भी नहीं हटना है। अपने साधुजीवनकी रक्षा करनी है। साधुजीवनकी दृष्टिसे भी विचार करूँ तो मुझे दो-चार वस्त्र और चार-छः रोटियोंके अतिरिक्त भूलकर भी कोई वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिए। देखो, जब मैं अपने रोगी शरीरके लिए किसीसे पाव भर दूध भी स्वीकार नहीं करता तो तुम्हारा इतना खर्चा कैसे करा सकता हूँ? प्रतिग्रहसे तप और त्याग नष्ट होता है—यह दूसरी बात है, मेरे लिए तो यह गुरु-आज्ञाका प्रश्न है।

यह तो रहा इन्होंने जैसा स्वांग किया उसके अनुरूप इनका पूरा खेल। इनका आन्तरिक निश्चय है कि Person is God and personality is man (पुरुष भगवान् है और व्यक्तित्व मनुष्य है) इस अनुभूतिके लिए वासनाओंको निर्मूल करना ही एकमात्र उपाय है। देखो, जरा नामकी राक्षसीने शरीरके दो खण्डोंको जोड़कर जरासन्धको सजीव किया और वह मल्लविद्यामें अत्यन्त निपुण निकला। उसे जीतना भीमके लिए भी कठिन हो गया। तब श्रीकृष्णने तृण चीरकर भीमको सचेत किया और भीमने तत्काल जरासन्धकी एक टाँगको पैरसे दबाकर

दूसरीको खींचते हुए उसे चीर डाला। इसी प्रकार जरारूपा इस माया-राक्षसीने जरासन्धरूप द्वैतकी सृष्टि की है, जो स्वयं न सत् है, न असत् है, न सदसत् है, अपितु अनिर्वचनीय है। जिज्ञासारूप भीमकी इससे कुश्ती चली तब गुरुदेवरूप श्रीकृष्ण विवेकद्वारा इसे चीरनेका संकेत करते हैं और जिज्ञासु गुरुदेवके इङ्गितका अनुसरण करके आत्मविजय प्राप्त करता है। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह मानो तीन पुर हैं, इनमें वासनारूप राक्षस रहता है। श्रीगुरुदेव, जो साक्षात् भगवान् सदाशिव ही हैं, अपने उपदेशात्मक पाशुपतास्त्रसे उसे मार डालते हैं।

श्रीमहाराजजी ब्रह्माभ्यासका प्रतिपादन प्रायः करते ही थे। आप उसके विषयमें तर्क किया करते थे। तब श्रीमहाराजजीने कहा, "ब्रह्माभ्यास के विषयमें विधि न हो तो निषेध भी नहीं है। तुम लोगोंने शास्त्रविधिसे ठीक-ठीक साधन नहीं किया, जिसके द्वारा मलविक्षेपकी निवृत्ति होकर आत्मबोध होता। जो श्रवण-मननादिमें प्रवृत्त हो जाता है, उसकी अन्य साधनमें रुचि नहीं रहती। और यदि भगवद्विषयक रुचि भी रह जाती है तो ठीक-ठीक जिज्ञासा नहीं होती। फिर जिसमें जिज्ञासा जाग्रत् हो जाती है वह तो उस ओर जायगा भी क्यों? साक्षात्कार हो जानेपर तो जिसकी खोज थी उसकी उपलब्धि हो जाती है। जो स्वयं परिपूर्ण हो फिर उसके सिवा दूसरा कोई रहता ही नहीं। इसलिए फिर तो वही रह जाता है, उसकी ओरसे ध्यान लौटता ही नहीं। इसीका नाम है ब्रह्माभ्यास। यह कोई प्राप्तव्य, ज्ञातव्य या कर्त्तव्यदृष्टिसे नहीं होता। यह तो तत्त्वज्ञका स्वभाव ही है। इसे आत्मप्रेम कहते हैं। प्रेम तो वही होता है जिसके बिना हम रह न सकें। अतः ब्रह्माभ्यास तो मेरा शौक है। शौक यही है कि मैं प्रेम किये बिना, ध्यान किये बिना रह नहीं सकता। इस प्रेममें संस्कार नामसे जो संसारकी झीनी-सी स्वीकृति है वह जड़-मूलसे उखड़कर बह जाती है, जैसे गङ्गाजीकी धारा अपने मार्गमें आये हुए वृक्षोंको जड़से उखाड़-कर फेंक देती है।"

जब आपसे यह शङ्का की गयी कि तत्त्वज्ञ भी अपने स्वभावके अनुसार ही आचरण करता है तो आपने कहा, "तुम स्वभावका अनुसरण मत करना। इससे दुर्बलता आती है। स्वभावको जीतना ही शूरवीरता है—**'स्वभावविजयं शौर्यम्।'** जो स्वभावको नहीं जीतता वह पशु है। यह आत्मप्रेम स्वभावको उखाड़कर फेंक देता है। यह बुद्धिको भी जो सर्प और बिच्छुओंकी टोकरीके समान है, दूर फेंक देता है। इस आगकी

भट्टीको जो खोदकर फेंक देता है वही जीवन्मुक्त है। यहाँ व्यक्तित्वको सर्वथा मिटानेकी पद्धति है। इस प्रेमगलीमें जो आता है वह सिरको हाथपर रख लेता है। ज्ञान तो एक दृष्टि है, आनन्द तो प्रेममें है। यही ज्ञान विज्ञान-परिनिष्ठता है और यही आत्मानुरागीका जीवन है।"

स्वामी प्रबोधानन्दजी स्वयं प्रेम-दीवाने हैं। वे इस प्रेमपंथमें टूट पड़े हैं। गत सोलह वर्षोंसे इनका मौन चल रहा है। आपके पास अब गङ्गामण्डल और जयपुरके भक्त आकर्षित होकर आते हैं। परन्तु इस बढ़ते हुए भक्त-परिकरमें भी आप अपने प्रिय महाराजजीको नहीं भूलते। सब भक्तोंके द्वारा आराधनामें पहले श्रीमहाराजजीकी छबि रखवाते हैं, पीछे अपनी। इन निवृत्तिनिष्ठ स्वामीजीको देखकर श्रीमहाराजका स्वभाव और उनके प्रतिपादित निवृत्तिमें निहित नित्यसौन्दर्य मानस-पटलपर चमक उठते हैं। निवृत्ति ही आत्मप्रेमकी द्योतक है। स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीका शरीर बाल्यावस्थासे ही रोगी है। फिर भी इनका त्याग-वैराग्य और निवृत्तिमें इतना आग्रह क्यों है—इसका कारण है एकमात्र इनकी गुरुभक्ति। इनकी गुरुभक्ति कैसी अद्‌भुत है! एक बार पूजनके लिए श्रीगुरुभगवान्‌की छबि सिंहासनपर स्थापित की और पं० सूर्यदत्तसे कहा कि पूजन कराओ। वे अपने स्वभाववश **'अपवित्रः पवित्रो वा'** बोलकर पूजन कराने लगे, तो झट इन्होंने रोककर कहा—'श्रीमहाराजजी स्वयं विराजमान हैं, फिर अपवित्रताका क्या काम? इनकी तो दृष्टिसे ही सब पवित्र हो जाते हैं। आप भगवान्‌के नामों द्वारा पूजन कराओ।" इनके लिए 'महाराजजी' शब्द मन्त्ररूप है। एक बार इन्हें एक प्रेतने पकड़ लिया। उस समय इष्टमन्त्र तो भूल गये, केवल 'महाराजजी' शब्दका उच्चारण हुआ और इसीसे वह प्रेत इन्हें छोड़कर चला गया। आपकी दृष्टिमें 'महाराजजी' शब्द सब मन्त्रोंका सार है। नाम और नामी दो नहीं। इस ब्रह्मका इन्हें इसीके द्वारा आस्वादन होता है। उस ब्रह्मका यह ब्रह्मसूत्र है। यह अगणित भक्तोंसे आराधित और परिपोषित है। जैसे आस्तिक भारतीयोंका भावमय प्रवाह ही गङ्गारूपमें आनन्दकल्लोल करता बह रहा है, वैसे ही 'श्रीमहाराजजी' यह मन्त्र ही सब भक्तोंका भावरस लेकर आनन्द-गङ्गारूपमें प्रवाहित हो रहा है।

श्रीराममोहनशरणजी और वामदेवजी—ऊपर हमने मनमोहनजीकी चर्चा की है। उन्होंने तो अपने मन, कर्म, वचन, भाव और भाषामें स्वामी-सेवक सम्बन्धके दिव्य रसमाधुर्यको ओत-प्रोत करके सबके मनोंको मोह

लिया है। गुरु भगवान् स्वयं रामरूप ही हैं इसमें कहना ही क्या है। जब सर्वात्मा गुरुभगवान् प्रसन्न होते हैं तो सारी सृष्टि ही प्रसन्नताकी वर्षा करने लगती है। यही इनके विषयमें हुआ। ऐसे प्रेमभाजन हमारे मनमोहनजी हैं। इन्होंने अपने स्वभाव, प्रेम और परिचर्यासे रामरूप गुरुदेवके मनको मोह लिया, इसलिए अब ये मनमोहनसे राममोहनशरण हो गये हैं। इन्होंने अयोध्यामें विरक्तवेषकी दीक्षा ले ली है। इस प्रकार जब पुत्र राममोहन हो गये तो पिता 'शम्भुनाथ' कैसे रहते। वे महान् उदार सत्पिता थे, इसलिए वे भी संन्यासाश्रम स्वीकार करके स्वामी वामदेव हो गये। अब इनका पार्थिव शरीर नहीं है। इनके छोटे पुत्र प्यारेमोहन भी परम भक्त हैं। वे भरतकी भाँति घरकी देख-भाल करते हैं।

स्वामी प्रेमानन्दजी—ये भी पूर्वाश्रममें जयपुरके ही रहनेवाले थे। नाम था प्रेमचन्द। ये शङ्करलालजीसे पहले ही श्रीमहाराजजीके प्रभावमें आकर साधु हो गये। इन्होंने 'कल्याण' मासिकमें श्रीमहाराजजीके उपदेश पढ़े थे। उनसे इन्हें ऐसा निश्चय हुआ कि जिस प्रकार दुःख बिना चाहे टूट पड़ता है उसी प्रकार सुख भी स्वयं ही आता है। अतः सुखके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। पुरुषार्थ या प्रबल प्रयत्न विषयनिरपेक्ष आनन्दके लिए ही करना चाहिए। फिर इन्होंने विचार किया कि यह बात समझ लेनेपर भी मेरी प्रवृत्ति यह क्यों है कि मुझे सुख ही मिले, दुःख न आवे। इसका कारण जन्मान्तरके अभ्याससे पोषित विषयानुराग ही हो सकता है। अतः आत्मानुसन्धानकी अनवरत धारा इस संस्कारका गला घोंटने पर ही चल सकती है। इस प्रकार इन्हें यह बात जँच गयी कि आत्मानुराग के द्वारा ही विषयानुराग कटेगा। इसलिए ये पदार्थ सम्बन्धवाला शहरी जीवन छोड़कर विरक्त हो गये और शास्त्रसम्मत प्रणवका आश्रय लेकर आमेरके पास नाहरगढ़में नरसिंह बुर्जपर एकान्तमें अभ्यास करने लगे। वहाँ इन्होंने कई वर्षतक खूब तपस्या की। इन्हें आसनका अच्छा अभ्यास था और प्रणवका दीर्घ उच्चारण करके मनोराज्यपर विजय प्राप्त करनेका प्रयत्न चालू रहा। प्राणायामकी समताका भी शौक था। नरसिंह बुर्ज बहुत एकान्त स्थान है। वहाँ शेर भी रहते हैं। वे कभी-कभी इनके दर्शनार्थ आते भी थे। किन्तु इनका प्रणवघोष सुनकर भाग जाते थे। ये शेरोंके शेर थे। सर्वथा निर्भीक होकर अपने साधनमें संलग्न रहे। जयपुरके कई लोग इनसे प्रभावित हुए। उनकी कामनापूर्ति भी होने

लगी। अब आप वयोवृद्ध तो हैं ही। शरीर वातग्रस्त हो गया है। चलना-फिरना कठिन है; परन्तु रहते अब भी गल्ताके समीप घाट महादेवके एकान्त मन्दिरमें ही हैं।

ब्रह्मचारी रामस्वरूप—हमारे श्रीमहाराजजीके ब्रह्मचारियोंमें ये गुप्त धन हैं। वास्तवमें तो ये रामस्वरूप नहीं सेवास्वरूप हैं। परन्तु सेवास्वरूप हैं सरकारके ही लिए। अपने लिए तो रामस्वरूप ही हैं। रात-दिन रामधुनमें लगे रहते हैं। जपके शौकीन हैं, नियमनिष्ठ हैं और इन्हें आसनोंका बहुत अभ्यास है। दो घण्टा शीर्षासन करते हैं। फक्कड़ स्वभावके सन्त हैं, लँगोटीके पक्के हैं। जो स्वाध्याय करते हैं वह कण्ठस्थ है। इनकी तितिक्षा देखते ही बनती है। विरक्ति अपने विपुल मार्गमें चहल-पहलसे चल रही है। खाने-पीनेका इन्हें कोई शौक नहीं है। यदृच्छा-लाभमें सन्तुष्ट रहते हैं। माधूकरीका खूब अभ्यास है। स्वभाव नारियल-पाक है, ऊपरसे कठोर भीतरसे मधुर। उतना ही सामान रखते हैं जो हर समय साथ रह सके। निर्भयताकी मूर्त्ति हैं, निर्द्वन्द्व फकीरी जीनन है और निर्लोभता इनका सहज स्वभाव है। श्रीमहाराजजीकी सेवाके लिए कभी कहना नहीं पड़ता था उनके मनमें विचार आते ही तुरन्त उसकी पूर्त्ति करते थे। रस्मरिवाज इनके पास तक नहीं फटका। सच्चा प्रेम, सच्ची लगन, सच्चा हित देखना हो तो इन्हें देखे। ढूढ़नेपर मालूम हुआ कि इनके पिता-पितामह गार्हस्थ्यमें रहते हुए भी ब्रह्मचर्य पालन करते थे। वह वंशानुगत ब्रह्मचर्य ही इनमें प्रादुर्भूत हुआ है। ये स्वामी शास्त्रानन्दजीकी भी खूब सेवा करते हैं। पूज्य बाबामें भी श्रद्धा रखते हैं और हमारे स्वामीजीसे गुप्त प्रेम है।

स्वामी आत्मानन्दजी—ये बहुत सरस और सरल प्रकृतिके सन्त हैं। इन्हें विचारनेका शौक रहा है वेदान्तविचारमें विशेष रुचि है। सेवाभाव भी रहा है। आरम्भसे ही ये बड़ी सौम्य प्रकृतिके रहे हैं। अपने कामसे काम रखते थे। किसीसे लड़ाई-झगड़ा करना इनके स्वभावमें नहीं है। गान विद्याका भी अच्छा अभ्यास है। किसी सम्प्रदायविशेषका आग्रह नहीं है। मधुकरके समान सभी आचार्योंसे सार ग्रहण कर लेते हैं। ये सादगीकी मूर्त्ति हैं, मितभाषी हैं और सत्सङ्गके शौकीन हैं। इनका श्रीचरणोंमें प्रेम देखकर मुझे इनके विषयमें जाननेकी इच्छा हुई। खोजनेपर मालूम हुआ कि पहले ये खुरजाके रहनेवाले थे। इनका नाम था प्यारेलाल। जब इनकी ग्यारह सालकी आयु थी तब इन्होंने सुना

कि श्रीमहाराजजी सूरजमलके बागमें पधारे हैं। सुनते ही इन्हें दर्शनोंकी लालसा हुई और वहाँ जाकर इन्होंने दर्शन किये। बस, तभीसे उनकी दिव्य मूर्त्तिने सदाके लिए इनके हृदयमें घर कर लिया। फिर बहुत दिनों पश्चात् जब ये अपनी ननिहाल मडराकमें थे, इन्हें सड़क पर ही श्रीमहाराजजीके दर्शन हुए। उनके हृदयमें अपने प्रति सहज स्नेह पाकर ये कृतकृत्य हो गये। 'कल्याण'में श्रीमहाराजजीके उपदेश पढ़कर इनके स्नेह और श्रद्धा-लताको पुष्टि मिली। पिताजी तो सत्सङ्गके लिए कहीं जाने नहीं देते थे और न वे घरमें बैठकर भजन करने देते थे। इसलिए इन्होंने छोटी आयुमें ही घर छोड़ दिया। फिर अयोध्या, काशी और चित्रकूट आदि कई स्थानोंमें घूमते रहे। सर्वत्र निराश होकर रोने लगे। बहुत देर रोते रहनेपर इन्हें श्रीमहाराजजीका स्मरण हुआ। तब ये वृन्दावनमें श्रीमहाराजजीके आश्रममें चले आये। उन दिनों वहाँ रामलीला हो रही थी। ये आपके दर्शन और लीलाका आस्वादन करते रहे। एक दिन श्रीमहाराजजीने कहा, "अब उत्सव समाप्त हो गया, भाग जा।" यही इनपर उनकी पहली कृपा थी। सुनते ही इनके रोम-रोममें आनन्दकी लहर दौड़ गयी। धीरे-धीरे इन्हें कुछ सेवा भी मिल गयी। इससे श्रीचरणोंमें रहनेका आश्वासन मिला। कभी-कभी ये विचरने भी चले जाते थे, किन्तु वहीं लौट आते थे। श्रीमहाराजजी इन्हें फिर सेवामें ले लेते। यद्यपि उनकी निजजन-निष्ठुरता इनपर अधिक थी। इससे इनके चित्तमें हुआ कि श्रीमहाराजजी मुझे भजन-साधनमें लगाना चाहते हैं, केवल सेवा ही कराना इन्हें अभीष्ट नहीं है। ये मुझे स्वावलम्बी और संयमी बनाना चाहते हैं। आप जब डाँटते तो यही कहते थे कि पहले तू भजन-पाठ आदि किया करता था, अब कुछ नहीं करता। रात-दिन काममें ही लगा रहता है। इस प्रकार जीवनके असली लक्ष्यको दिखाकर वे इनके प्रमादको झकझोरकर निकाल रहे थे।

इनसे इन्हें बहुत शिक्षा मिली और इनकी भक्तिकी भी पुष्टि हुई। ये लिखते हैं—'मेरे शरीरमें आँख, कनपटी, पैर और कमरपर श्वेत कुष्ठके दाग हो गये थे। उनके लिए बाबाने मुझे कहा कि शिवमन्दिरमें जाकर झाड़ू लगा आया कर, तेरे दाग ठीक हो जायेंगे। मैं पहले तो पाँच-सात दिन शिवमन्दिरपर गया। फिर विचार किया कि बाबाका आश्रम भी तो शिवमन्दिर ही है। तब मैं वहीं झाड़ू लगाने लगा। अब मेरे सब दाग मिट गये हैं, कोई पहचान भी नहीं सकता कि कभी

मेरे शरीरपर श्वेत कुष्ठके दाग थे। बस, इस कृपासे मैंने यह बात गाँठ बाँध ली कि "तेरा गुरु भरपूर है, तेरा घर भरपूर है।" अतः तुझे कुत्तेकी तरह घर-घर जाकर डण्डा खानेकी जरूरत नहीं है।'

ये पूज्य श्रीहरिबाबाजीकी सेवामें भी रहे हैं। उनकी इनपर पूर्ण कृपा रही है। पीछे ये जोधपुरमें रहने लगे। भारत-सरकार जैसे नहर ले जाकर मरुस्थलको हरा-भरा करनेका प्रयत्न कर रही है उसी प्रकार ये भी पूज्य बाबा, पूजनीय माँ और श्रीस्वामीजी महाराजको कई बार जोधपुर ले गये। वहाँ मैंने इनका अच्छा प्रभाव देखा। पहली बारकी यात्रामें मैं भी साथ था और दोनों ही ओरसे मेरा सम्बन्ध था। बाबाकी यही रुचि थी कि इनका कुछ खर्च न कराया जाय। उन्होंने वैसा ही किया भी। परन्तु पीछे जोधपुरके लोगोंने प्रकारान्तरसे उनकी सेवा कर दी। अब ये अधिकतर वहीं रहते हैं।

स्वामी विज्ञानभिक्षु—भाई श्रीचिरञ्जीलालजी, जिन्हें विशारदजी भी कहते थे, जिला आगरेके कस्बा मिडाकुरमें अध्यापक थे। श्रीमहाराजजी-की विशेष कृपासे साधु हो गये और अपनी आन्तरिक माँगके अनुसार इन्हें योगपट्ट मिला 'विज्ञानभिक्षु'। ये जानते थे कि ज्ञान तो पण्डितोंसे भी मिल सकता है, परन्तु विज्ञान तो सन्तोंके ही पास मिलेगा। मैंने आपको जबसे देखा आपका शरीर रोगी ही पाया। परन्तु इस रोगी शरीरने उनके भीतर नित्य निहित निःस्पृहता, निर्ममता और निरभिमानका उद्घाटन किया। इतना ही नहीं, उनमें वास्तविक मस्ती भी पायी जाती थी, जो शरीरकी स्वस्थता-अस्वस्थताकी कोई अपेक्षा नहीं रखती। आपमें प्रसन्नताका नित्य निवास था; तथा आप निर्द्वन्द्वताके पुजारी, सादगीकी मूर्त्ति और यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट रहते थे। शीतोष्णको हँस-हँसकर सहन करते थे। शरीरकी ऐसी अस्वस्थता-में भी यह आदर्श देखकर दङ्ग रह गया। इनसे मिलकर प्रसन्न हुआ। समा-गम और सत्सङ्ग होनेपर तृप्ति मिली और समझा कि साधुजीवनका सार तो यह मूर्त्ति है। फिर इनके जीवनका विकास और श्रीमहाराजजीसे मिलनका प्रसङ्ग जाननेकी उत्कण्ठा हुई। तब आपने बताया कि सन् १९४४के चैत्र मास की बात है, मेरे साथी अध्यापकोंने कहा कि गङ्गातटसे श्रीउड़ियाबाबाजी पधारे हैं, उनके दर्शन कर आवें। आप उनकी गुणगरिमा सुन चुके थे। अतः सुनते ही चल दिये और सहतामें भाई कन्हैयालालके बागमें पहुँचे। उस समय सत्सङ्ग हो रहा था। इन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस समयका

श्रीमहाराजजीका वक्तव्य इनकी हृदयस्थित शङ्काओंको इसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर रहा था जैसे बादलोंको हवा। इससे इनका छिपा हुआ विश्वास जग उठा। तब ये बोले कि मैंने जैसा सुना था उससे भी अधिक पाया और पाया अपनी समझसे परे—नहीं-नहीं, बहुत परे।

इन्होंने कुछ और पूछनेकी इच्छासे करबद्ध होकर प्रणाम किया। पण्डित शिवदयालजीने श्रीमहाराजजीको बताया कि ये चिरञ्जीलाल हैं। श्रीमहाराजजी बोले, "अच्छा, यही चिरञ्जी है।" ये लिखते हैं—'इन शब्दोंको सुनकर मेरी क्या दशा हुई, लिखनेकी बात नहीं। यही वात्सल्यमय सम्बोधन भविष्यमें सर्वदा श्रीमहाराजजी करते रहे। उन्होंने आज्ञा दी कि विवाहके चक्करमें मत पड़ना। फिर आज्ञा हुई कि कल रविवार है, आ जाना। रातभर मुझे नींद नहीं आयी। श्रीसन्तोंकी महती महत्ता और अपनी तुच्छताका विचार रह-रहकर आता रहा। अन्ततः यही निश्चय हुआ कि श्रीमहाराजजीने मुझे अपना लिया है। सन्तोंकी कृपा अकारण ही होती है—यह ध्रुव सत्य है। दूसरे दिन ठीक समयपर गया। आपने सभी शङ्काओंका श्रुतिप्रमाणपूर्वक समाधानकर बड़ी सरलतासे अभ्यासकी विधि समझा दी। फिर कुछ काल पश्चात् नौकरी छोड़नेकी आज्ञा हुई।'

इसके पश्चात् ये साधु होकर श्रीमहाराजजीके पास रहने लगे। एक दिन ये एक पुस्तक लाये। श्रीमहाराजजी रातभर उसे देखते रहे और उसमें लाल पेंसिलसे चिह्न लगा दिये। उन्होंने कहा, "महाराजजी! आज तो आप रातभर नहीं सोये" इसपर आपने बड़ी गम्भीर वाणीसे कहा, "जीवका सोना तो स्वभावसिद्ध है, वह सदैव सोता रहता है। जागनेपर जीव नहीं रहेगा।"

एक दिन श्रीमहाराजजीने यह प्रश्न उठाया कि महात्माकी सबसे बड़ी हानि क्या है। फिर आपने ही बताया कि चित्तमें क्षोभ आ जाना ही—चाहे वह पानीकी लकीरकी तरह ही हो—महात्माकी सबसे बड़ी हानि है। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि उत्तेजना पैदा करनेवाले शब्दोंको चिड़ियाकी चहचहाट समझो, चिड़ियाएँ बोल रही हैं—ऐसा मानो। तत्त्व पर दृष्टि रखो। अपमानकी भूमि इस मल-मूत्रके थैलेसे अपनेको हटा लो। यदि इस थैलेको ही सर्वस्व समझे हुए हो तो वास्तवमें अपमान और निन्दाके पात्र ही हो। अन्यथा किसकी सामर्थ्य है जो तुम्हारी निन्दा कर सके।

एक दिन यह प्रश्न हुआ कि ज्ञान होनेपर ध्यानकी आवश्यकता है या नहीं ? आप बोले, "भैया ! मेरी समझसे तो ज्ञानके बिना ध्यान और ध्यानके बिना ज्ञान पंगु है।" इस सम्बन्धमें आपका यही आदेश था कि 'जब आनन्दमय कोशको भी अपनेसे भिन्न देखोगे तब असङ्ग भावना होगी। जब जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके अतिरिक्त सुख-दुःखसे भी असङ्ग होगा, तभी वास्तविक असङ्गता होगी। उस परम शान्तिका क्या ठिकाना ?

ये अधिकतर मिडाकुरमें ही रहते थे और सात-आठ साल हुए वहीं इनका देहावसान हुआ।

बाबा सुखराम—भाई सुखराम तो सुखराम ही हैं। ये तो आजतक इस प्रकार श्रीचरणोंसे बँधे हुए हैं जैसे खूँटेसे बछड़ा। इन्हें देखनेपर ऐसा भाव होता है कि श्रीमहाराजजी अवश्य यहीं होंगे। श्रीगुरुदेवके सान्निध्यकी महिमा देखनी हो तो इन्हें देखना चाहिए। इनका चित्त राग-द्वेषहीन है, स्वभाव निरभिमान है, यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट रहते हैं और सदा प्रसन्नमूर्त्ति हैं। हित, मित, मधुर भाषणके धनी हैं, स्वभावतः उदार हैं। ये सबको सरकारके सम्मुख करनेमें सहायक थे, अतः मैं और सब बालक भी इनके सदा ऋणी रहेंगे। इनकी गुरुनिष्ठाका सूत्र यह था कि यदि श्रीमहाराजजी दिनको रात कहें तो ये कहेंगे, 'हाँ, महाराज !' और रातको दिन कहें तब भी कहेंगे, 'हाँ, महाराज !' श्रीमहाराजजीकी लीलाओंमें इन्होंने कभी तर्क नहीं किया। इतनी निर्दोष दृष्टिवाले कोई विरले ही मिलेंगे। ये ही एक ऐसे भाग्यशाली हैं जिन्हें महाराजजी अपना निजी शारीरिक कष्ट बता देते थे। ये भी चतुरचूड़ामणि हैं कि कोई ऐसा सीधा-सा नुस्खा निकालते कि जैसे ही उसे करके देते वे ठीक हो जाते थे। इन्हें सेवा और सान्निध्य सभी प्राप्त हुआ था। अनोखे नामका एक भक्त था। वह किसी बातपर इनसे चिढ़ गया और लाठी लेकर मारने लगा। इन्होंने उससे बस यही कहा, "अरे क्या करता है ?" फिर जियालाल आदि उसे पीटनेको दौड़े तो उन्हें रोका और कहा, "अरे ! यह अपना ही भूला भाई है।" स्वयं श्रीमहाराजजीसे कोई शिकायत नहीं की। जब उन्होंने सुना और पूछा तब भी इन्होंने कोई शिकायत नहीं की, उल्टा उसीका हित साधा। इससे श्रीमहाराजजी बहुत प्रसन्न हुए। इनमें क्रोधका तो नाम भी नहीं है, फिर क्षोभका क्या प्रश्न !

वासुदेव ब्रह्मचारी—ये और गङ्गासहाय ब्रह्मचारी अतरौलीके पास चखातर गाँवके रहनेवाले हैं। इनमें-से वासुदेव ब्रह्मचारी अब वृन्दावन आश्रममें रहते हैं और गङ्गासहाय चखातरमें। श्रीवासुदेवजी और भगवद्दासजी ही श्रीमहाराजजीको वृन्दावन लानेमें प्रधान निमित्त हैं। वयोवृद्ध होनेके कारण सब लोग इन्हें 'ताऊजी' कहते हैं। श्रीमहाराजजी और बाँकेबिहारीजीमें इनकी अनन्यनिष्ठा है। वृन्दावन-आश्रमकी भूमि इन्हींके नामपर थी। इन्हें लोगोंने बहुत बहकाया। किन्तु किन्हींकी बातोंमें न आकर इन्होंने निःस्पृहतापूर्वक आश्रमके ट्रस्टको दे दी। शरीर अत्यन्त वृद्ध है, आँखोंसे दिखायी नहीं देता और ताँगेसे टकरानेके कारण टाँगें भी काम नहीं देतीं, फिर भी ये मस्त रहते हैं और प्रायः हर समय रामधुन करते रहते हैं। गङ्गासहाय ब्रह्मचारी बहुत आचारनिष्ठ हैं। इनकी देवीजीके अनुष्ठानोंमें विशेष निष्ठा है। ये प्रतिवर्ष श्रावणमासमें रामघाट आश्रममें श्रीमद्भागवतका सप्ताह कराते हैं। यही वहाँका वार्षिक उत्सव है। संस्कृतके विद्यार्थियोंकी भी ये सहायता करते रहते हैं।

स्वामी अद्वैतानन्दजी—ये जन्मतः गोसाईं हैं। रामघाटवाले रूप-किशोरके मामा हैं। इनकी बाल्यकालसे ही विष्णुभगवान्‌में श्रद्धा थी। जब इन्होंने श्रीमहाराजजीको देखा तो इन्हें ऐसा लगा कि ये विष्णु भगवान् ही हैं। श्रीमहाराजजीने जब इनपर दृष्टिपात किया तो इन्हें बड़ा आनन्द हुआ। जब उन्होंने दृष्टि हटाई तो इनका ऐसा मन हुआ कि अभी और मेरी ओर ही देखते रहें। तब श्रीमहाराजजीने कहा कि बादशाहसे एक बार मिलनेपर ही जीवनभरके लिए निहाल हो जाते हैं, फिर सद्‌गुरुकी एक दृष्टि मिल जाय तो क्या कहना। ये श्रीमहाराजजीके बड़े प्रेमी और आज्ञाकारी हैं, विरक्तिका स्वभाव है। प्रणवके दीर्घ उच्चारण द्वारा चित्तको समाहित करनेका अभ्यास करते हैं। अधिकतर रामघाटमें ही रहते हैं।

बुद्धिसागर—ये भी गोसाईं बालक हैं, सिरसाके रहनेवाले हैं तथा श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त और सेवक हैं। इनमें अभिमानका नाम भी नहीं है। अक्रोधी स्वभाव है और सहनशीलता स्वाभाविक है। इन्हें प्रसाद बाँटने और जोर-जोरसे कीर्तन करनेका शौक है। भक्तमात्रकी सेवा करते हैं। गुरुभक्तिकी चमत्कृति इनके जीवनमें मिलती है।

जीवाराम ब्रह्मचारी—ये दफ्तराके रहनेवाले हैं। सदाचारी जीवन है, अपने नियमके पक्के हैं। पहले बहुत कालतक श्रीमहाराजजीकी सेवामें रहे हैं और उनकी बहुत-सी लीलाएँ सुनाते हैं।

ऋषिजी—ये पहले चन्दौसीके रहनेवाले थे। श्रीमहाराजजीसे प्रभावित होकर फिर अधिकतर उनकी सेवामें ही रहने लगे। इन्हें विशेष-रूपसे यही शौक रहा है कि किसी-न-किसी तरह उन्हें कुछ खिला दें। अब भी उन्हें भोग लगानेका ही विशेष शौक है। ये बड़े सेवापरायण हैं और श्रीरामचरितमानसका नियमसे पाठ करते हैं। परिकरके श्रीमान् लोगोंसे इनका अच्छा प्रेम है इसलिए आर्थिक दृष्टिसे भी अच्छी सेवा कराते रहते हैं। लगनके पक्के और बड़े अध्यवसायी हैं। इनके प्रयत्न और परिश्रमसे ही श्रीमहाराजजीका संगमरमरका मन्दिर बना है।

दण्डिस्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती—इनका नाम पहले डम्बरसिंह था। ये जिला अलीगढ़के रामपुर नामक गाँवके रहनेवाले एक ब्राह्मण हैं। श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे इन्होंने रामघाट आश्रममें रहकर गायत्रीका पुरश्चरण किया फिर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी शान्तानन्दजी सरस्वतीसे दीक्षा लेकर दण्ड ग्रहण किया। अब पक्षाघातके कारण शरीर अशक्त हो गया है। फिर भी मस्त रहते हैं।

प्रकाशानन्द सरस्वती—इनकी जन्मभूमि उड़ीसा प्रान्त थी। श्रीमहाराजजीके पास ये साधुवेशमें ही आये थे इनका नाम निर्मलदास था। ये बड़ी सौम्य प्रकृतिके मितभाषी सन्त थे। फिर हम लोगोंके साथ ये जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीसे दण्ड ग्रहण करके प्रकाशानन्द सरस्वती हो गये। उसके थोड़े दिन पश्चात् ही हसनगढ़में दृगपालसिंहके यहाँ इनका देहान्त हो गया।

गणेशानन्द—ये जाटशरीर थे। फक्कड़ स्वभावके साधु थे। श्रीचरणोंमें बड़ी श्रद्धा थी। रामघाटमें इनका देहान्त हो गया।

लम्बे नारायण—ये गाँगनीके रहनेवाले ब्राह्मण थे। नाम था गङ्गासहाय। बड़ी सरल प्रकृतिके सज्जन थे। इन्होंने स्वयं ही संन्यास ले लिया था। श्रीमहाराजजी इन्हें 'लम्बे' कहकर बोलते थे, इसलिए इन्होंने 'लम्बे नारायण' नाम रख लिया। अधिकतर वृन्दावन आश्रममें ही रहते थे। अब इनका भी देहान्त हो गया है।

ब्रह्मचारी गौरीशङ्कर—ये सैंड़ोल गाँवके रहनेवाले एक ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थामें ही श्रीचरणोंमें आ गये थे। पहले इन्होंने खूब सेवा की थी। अब जिला अलीगढ़ और उसके आस-पास इनका अच्छा आदर है। अच्छे विद्वान् और अनुभवी सन्त हैं। कथा और प्रवचनादि भी करते हैं। शान्त और गम्भीर स्वभाव है।

प्रकाशानन्द—ये भी सैंड़ोलके ही रहनेवाले थे नाम था ख्यालीराम। ये भी पहले श्रीचरणोंकी सेवामें रहते थे। श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे इन्होंने बाबा रामदासजीसे विरक्तवेशकी दीक्षा ले ली। नाम हुआ रामसरनदास। पीछे स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी बम्बईवालोंके साथ रहने लगे और गेरुआ वस्त्र धारण करके प्रकाशानन्द हो गये।

प्यारेलाल और कन्हैयालाल—ये दोनों ममेरे और फुफेरे भाई हैं। व्रजके ही रहनेवाले हैं और पहले दोनों ही प्राइमरी स्कूलमें अध्यापक थे। दोनों ही परम धन्य हैं, जिनका स्वयं श्रीमहाराजजीने 'अपना' कहकर बखान किया। रामघाटमें जब आपकी कुटिया बन गयी और माताजी दुर्गाकुँवरि तथा ठाकुर सहाब श्रीकञ्चनसिंहजीके आग्रहसे आप रामघाट पधारे तथा इक्कीस दिन वहाँ रहे तब एक दिन कृपाकी मौजमें आपने स्वयं ही प्रश्न किया कि मेरा वास्तवमें परम प्रेमी भक्त कौन है? किसीने किसीका नाम लिया और किसीने किसी दूसरेका। किन्तु आप सबको मना करते गये। तब सबने प्रार्थना की कि कृपा करके आप ही बताइये। आपने श्रीमुखसे इन्हीं दोनों भाग्यशाली कृपापात्रोंके नाम लिये। फिर स्वयं ही बताया कि ये दोनों अत्यन्त गरीब हैं, प्राथमिक शिक्षाके अध्यापक हैं, नाममात्रका वेतन पाते हैं। फिर भी अधिक-से-अधिक तन-मन-धनसे सेवामें संलग्न रहते हैं। खाली हाथ कभी नहीं आते। भोग लगानेके लिए पराँवठे-शाक या व्रजकी मेवा टेंटीका अचार अवश्य लाते हैं। ये दोनों श्रीचरणोंकी प्रपत्तिमें ही सर्वानन्दका अनुभव करते, प्रश्नोत्तरका तो कोई प्रश्न ही नहीं था। इनके प्रति श्रीसरकारके प्यार-दुलारकी बात तो स्पष्ट ही है, वह तो स्वयं ही श्रीमुखसे छलककर प्रकट हो गयी।

अब प्यारेलाल साधु हो गये हैं। ये अब व्रजसे बाहर नहीं जाते और माधूकरी वृत्तिसे ही निर्वाह करते हैं। संग्रह-परिग्रहका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। वस्त्र भी फटा-पुराना और बहुत कम रखते हैं। गुरुभक्ति ही इनका हृदयधन है और श्रीकृष्णनिष्ठा तो जन्मसिद्ध ही है।

उसका पारिपोषक सहज वैराग्य है। यही इनके जीवनका सार है। ये पग-पगमें भावग्राही हैं और श्वास-श्वासमें नाम-जप करनेवाले हैं। वास्तवमें तो ये दोनों हमारे परिकरमें गुरुस्नेह और गुरुसेवारूप सिक्केके दो पार्श्व ही हैं।

सरजूदास—सैंडोलका ही एक तीसरा बालक था रोशना। यह परिकरकी सेवामें विशेष अभिरुचि रखनेवाला है। अवधयुगलसरकारके प्रति इसका सखीभाव है। इसने अयोध्यामें इसी भावकी दीक्षा भी ले ली है। तबसे इसका नाम सरजूदासी हो गया है। किन्तु अधिकतर इसे सरजूदास या सखी कहकर बोलते हैं। इसकी अच्छी सरल सरस प्रकृति है। अपने भावानुसार पदगान और नृत्यमें निपुण है। सदा प्रसन्न रहता है। जो कुछ संग्रह किया था वह महाराजजीके ट्रस्टको दे दिया है।

सत्यानन्द ब्रह्मचारी—एक बालक था भुल्ली। वास्तवमें उसका नाम मुरलीधर था, परन्तु परिकरमें सब 'भुल्ली' ही कहते थे। ये अपने आसन-भजन और ध्यानादिमें पक्के हैं। इन्होंने रामायणके बहुत पाठ किये हैं। पीछे नरदौलीमें स्वामी भूमानन्दजीसे नष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा लेकर सत्यानन्द ब्रह्मचारी हो गये। इन्हें विद्याध्ययनकी रुचि थी। अब संस्कृतका अच्छा ज्ञान है। स्वतन्त्र विचरते हैं।

हरी—हरी भी अपने ढङ्गका एक ही है। उससे श्रीमहाराजजीने कहा था, "बेटा! आश्रमका काम काम नहीं है, सेवा है भजन है।" तबसे यह इस प्रकार सेवामें संलग्न है कि सबकी सहता है और सभीको देता भी है। मालूम होता है, श्रीमहाराजजीने इसे मातृत्व दिया है। यह कभी क्षुब्ध नहीं होता और न चित्त बिगाड़ता है। सबकी सार-सँभाल और भण्डारेका पूरा काम यही करता है। अब भी इसे बड़े-बड़े अनुभव होते हैं।

भूपा—यह हमारे सुखरामजीका जोड़ीदार है। रहनेवाला है देदा-मईका। जातिका धीवर है, परन्तु वास्तवमें सरकारका नित्य पार्षद है। चित्तका अत्यन्त सरल और निर्दोष है। लोगोंकी सेवाके लिए इतना जल खींचता था कि श्रीमहाराजजीने इसका नाम 'जलशत्रु' रख दिया था। यह महाराजजीका अनन्य सेवक है। श्रीमहाराजजी इसके साथ निःसकोच खेलते भी थे। जान पड़ता था कि भूपा माँ है। यह इतना

उदार है कि इससे सभी जीव प्रेम करते हैं। बन्दर इसके सिरपर बैठ जाता है; गाय अपने बछड़ेकी तरह चाटने लगती है। यह लीला-स्वरूपोंकी खूब सेवा करता है। एकबार इसने श्रीमहाराजजीकी कुटियाके समीपवर्ती नीमको खूब सींचा। इससे वह हरियालीसे लहलहा उठा। उसकी ऐसी हरियाली देखकर पूज्य बाबाने भूपाको बुलाया। यह चरणोंमें लिपट गया। बाबाने खूब हँस-हँसकर सिरपर हाथ फेरा। यह कोई आश्चर्य नहीं। श्रीमहाराजजीकी इसपर पूर्ण कृपा थी। वे बगलमें चाय और गुड़की भेली दबाकर भूपाको ढूँढ़ते थे। भूपाकी रग-रग यही गीत गाती है कि श्रीमहाराजजीकी लीला ज्यों-की-त्यों चल रही है। श्रीस्वामीजीके प्रति भी इसका वैसा ही प्रेम और श्रद्धा है तथा इसका सारा परिवार उनकी सेवा करता है।

कुमरसेन और हरनाम—ये दोनों सिरसाके रहनेवाले नापित हैं। अब प्रायः सर्वदा ही आश्रममें रहकर सेवा करते हैं।

प्रेमीभक्त

हमारे श्रीमहाराजजीका प्रेमी भक्तमण्डल वास्तवमें सभी पूजनीय और आदरणीय है, क्योंकि जब जड़, चेतन सब राममय ही है तब भेद-भावका प्रश्न ही क्या? ये सब विराट् गुरुदेवके अङ्ग हैं, अङ्गी तो स्वयं सर्वात्मा प्रभु श्रीगुरुभगवान् ही हैं। एक दिन करुणावरुणालय सरकार प्रसन्न मुद्रामें कह रहे थे कि मेरा अलग-अलग राज्य है और अलग-अलग कानून है। इस सार्वभौम सन्तसम्राट्के राज्य और प्रजाको समझना क्या हमारे वशकी बात है? हमारी दृष्टि तो केन्द्रपर ही है। इसकी परिधि कितनी है—क्या कहा जाय? भगवान् और गुरुदेव तो एक ही हैं। और भगवान् तो वे ही हैं जिनका केन्द्र तो सर्वत्र है, परन्तु परिधि कहीं नहीं है। अतः भगवान् अनन्त हैं। अनन्तका अवगाहन असम्भव है। श्रीचरण ही ऐसा स्थान है जहाँसे कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है। सो, श्रीचरणोंकी आराधना चल रही है। उनके सान्निध्यमें जो प्रेमी भक्त मिले उनमें-से कुछकी चर्चा कर रहा हूँ।

जिरौलीके भक्त—जिरौली हीरासिंह जिला अलीगढ़का एक गाँव है। यहाँ श्रीचरणोंके कई प्रधान भक्त हैं। सबसे पहले पं० वासुदेवजीने रामघाटमें आपके दर्शन किये थे, उन्होंने अपने बड़े भाई श्रीरामप्रसाद और

शिवदयालुजीसे आग्रह किया कि तुम एक बार श्रीउड़ियाबाबाजीके दर्शन अवश्य करो। जिरौलीके प्राय: सभी भक्त स्वामी मौजानन्दजीमें विशेष श्रद्धा रखते थे और किसी भी साधुको उनके समान नहीं समझते थे। रामप्रसादजीपर आर्यसमाजका प्रभाव था। अत: यदि कभी शिवदयालुजी उन्हें श्रीमहाराजजीके दर्शनोंके लिए कहते तो वे यही लट्ठमार उत्तर देते थे—"तुम क्या जानो साधुको। गुफामें रहनेसे कोई साधु नहीं हो जाता। होगा कोई ठग !" इससे वासुदेवके चित्तको बड़ी चोट लगती थी। किन्तु पं० शिवदयालुके मनमें दर्शनोंकी लालसा थी। अत: वे अपने अध्यापकजीके साथ दर्शन करनेके लिए रामघाट गये। वे लौटनेपर बोले, "भैया वासुदेव प्राय: डेढ़ वर्षसे कह रहा था। परन्तु हमने श्रीमहाराजजीके दर्शन नहीं किये, बड़ी गलती की। वास्तवमें वे बड़े त्यागी और विरक्त महात्मा हैं। हम तो उनके दर्शन करके मन्त्रमुग्ध हो गये और उन्हींपर निछावर हो गये।" वासुदेव बोले, "मैं तो बहुत दिनोंसे कह रहा था, परन्तु आप लोग न जाने क्या समझते थे। संयोगवश उन दिनोंमें स्वामी मौजानन्द भी वहीं आये हुए थे। उनके सामने यह प्रसङ्ग चला। वे बोले, "अरे भाई ! उड़ियाबाबा तो बड़े त्यागी, विरक्त और योगनिष्ठ महात्मा हैं। उनके समान क्या इस देशमें कोई दूसरा साधु है ?" ये स्वामीजी सर्वत्र कहा करते थे कि ज्ञानका सूर्य उदय हुआ है, जाओ दर्शन करो। फिर तो जिरौलीके सब भक्त हमारे महाराजजीके भक्त हो गये।

पं० रामप्रसादने सबसे पहले कौड़ियागञ्जमें आपके दर्शन किये। बस, ये कृतकृत्य हो गये और अपने अपराधके लिए बहुत पश्चात्ताप करने लगे। श्रीमहाराजजी उनके चित्तसे यह पश्चात्ताप निकालनेके लिए उनसे यह सारा प्रसङ्ग सबके सामने कहलाकर बहुत हँसा करते थे। इनके साथ जो आर्यसमाजी थे वे तो ईश्वरको केवल निराकार ही मानते थे। परन्तु श्रीमहाराजजीने बताया कि ईश्वर साकार भी है निराकार भी। केवल निराकार माननेसे ईश्वरकी सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अत: वह साकार भी है और निराकार भी तथा साकार और निराकारसे भिन्न भी है। आपके इस कथनका उनपर अच्छा प्रभाव पड़ा और वे सभी आपके भक्त हो गये।

इसके पश्चात् ठाकुर नेत्रपालसिंह, नरसिंहपालसिंह और प्रतापसिंह तथा उनके परिवार आपके भक्त हो गये। श्रीमहाराजजी जब-जब जिरौली

जाते थे वहाँके सब ठाकुर बन्दूकों द्वारा आपका अभिवादन करते थे। जिरौलीके पासके अनेकों गाँवोंके लोग एकत्रित हो जाते थे और बड़े उत्साहसे आपके स्वागत-समारोहमें सम्मिलित होते तथा प्रसाद लूटते थे। नेत्रपालसिंह जब परिकरके सहित श्रीमहाराजजीको भिक्षा कराते थे तो ऐसा जान पड़ता था मानो किसी राजाके यहाँ राजकीय भोज हो रहा हो। सबको एक ही डिजाइनके पात्रोंमें भोजन परोसा जाता था तथा एक-सी ही कुर्सी-मेज लगायी जाती थी। उनके पुत्र रमेश और उमेश भी आपके अनन्य भक्त थे। नेत्रपालसिंह बड़ी सरल और सात्त्विकी प्रकृतिके सज्जन थे। वे 'बाबा ! बाबा !' के सिवा और कुछ नहीं जानते थे।

नरसिंहपाल और प्रतापसिंह इनके भाई थे। इनमें नरसिंहपालका शरीर अब शान्त हो चुका है। प्रतापसिंह तो श्रीमहाराजजीके सिवा और कुछ जानते ही नहीं। जिरौलीका नाम लेनेपर सब सन्त पहले प्रतापसिंहको ही याद करते हैं। ये अपने पुत्र महेशपालसिंह (तिलंगा) और सज्जन-पालसिंहके सहित अधिकतर श्रीचरणोंकी सेवामें ही रहते थे। श्रीमहा-राजजीने एकबार कहा था कि मेरा प्रताप ऐसा है कि यदि इससे आगमें कूदनेके लिए कहूँ तो कहनेमें देरी होगी, यह झट कूद जायगा। इनका पुत्र सज्जन वास्तवमें सज्जन ही है। वह बड़ा ही सरल और सेवानिष्ठ बालक है। महेश भी श्रीचरणोंका मूक भक्त है। इस प्रकार यह सारा ही परिवार आपका अनन्य प्रेमी और सेवक है। श्रीमहाराजजीकी प्रत्येक लीलामें इनका आन्तरिक अनुराग था। प्रतापसिंहजीकी गृहलक्ष्मी बड़ी ही पतिपरायणा थी। परन्तु इससे भी कहीं बढ़कर गुरुभक्ता थी। वह सारी जमीन और जमीदारी सँभालती थी तथा पति और पुत्रोंको निरन्तर श्रीचरणोंकी सेवामें रखती थी। स्वयं भी समय-समयपर आती रहती थी। एक दिन उसके हाथसे लालटेन गिर गयी। उससे उसके वस्त्रोंमें आग लग गयी। शरीर भी जल गया। चार दिन जीवित रही। किन्तु बड़े धैर्यका परिचय दिया। कोई रोना-धोना या बेचैनी नहीं। महामन्त्रका कीर्तन करती रही और महाराजजीका स्मरण करते हुए शरीर त्याग दिया।

शिवदयालजीका पुत्र सूर्यदत्त और रामप्रसादजीका पुत्र श्रीनिवास भी अपने पितृचरणोंका ही अनुसरण करनेवाले हैं, ब्रह्मचारी बिहारीलाल अधिकतर वृन्दावन आश्रममें ही रहते हैं। ये श्रीमहाराजजीके अनन्य

प्रेमी और भजनानन्दी हैं। इनके सिवा सूरजपालसिंह, नौवतसिंह, डम्बरसिंह, बड्डासिंह, सुवर्णसिंह और खलीफा भी जिरौलीके प्रेमी भक्त हैं। उस प्रान्तमें सब लोग श्रीमहाराजजीको गुरु, माता-पिता और संरक्षक मानते हैं।

राजेन्द्रमोहन कटारा—श्रीराजेन्द्रमोहन कटारा अच्छे रामायणी हैं। इनका जन्म-स्थान जिला आगरामें बमरौली कटारा है। इन्होंने श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे सर्विस छोड़ दी तथा श्रीरामचरितमानसका प्रचार करने लगे। जिरौलीके पं० शिवदयालजीसे श्रीमहाराजजीके विषयमें सुनकर इन्हें उनके दर्शनोंकी इच्छा हुई। इन्होंने जिस स्थितिमें उनके दर्शन किये थे वह उनकी सामान्य रहनी-सहनीका निदर्शन है, अतः उसे हम उन्हींके शब्दोंमें प्रस्तुत करते हैं। ये लिखते हैं—'मेरी आँखोंमें आज भी वह दृश्य नवीन-सा है जब कि सायङ्कालमें कुटीके बरामदेमें केवल बैठनेभरकी एक काष्ठपीडिकापर हमें निश्चल भावसे विराजमान एक सन्तशिरोमणिके दर्शन हुए। उनकी मुद्रा अत्यन्त शान्त थी। नेत्र अर्धोन्मीलित थे और शरीर प्रायः वस्त्रहीन था। शीतकालीन वर्षाके कारण अत्यन्त शीतल वायुके झकोरे हम सबको बहुत कुछ पहने-ओढ़े हुए होनेपर भी कम्पित कर रहे थे; किन्तु साधु बाबा अविचल भावसे ध्यानस्थ मस्त हुए बैठे थे। सहसा मेरे मनमें भगवान्का यह गीतोक्त वचन गूँजने लगा—'**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।**'

कटाराजी एक अन्य स्थानपर लिखते हैं—'एक बार दो बजेके लगभग किसीने कहा कि श्रीउड़िया बाबाजी आये है और मैंने उन्हें बेलनगञ्ज (आगरा) में जाते हुए देखा है। ज्येष्ठका महीना था और आगरेकी गर्मी। मैं पहुँच गया और मन ही मन प्रणाम करके पीछे-पीछे चलने लगा। जीवनी मण्डीके चौराहेपर एक-एक करके सब लोग खिसक गये अब आप प्रायः अकेले ही थे। सड़ककी पटरीपर रेत अंगारेके समान जल रहा था। उसीपर नङ्गे पैरों आपने जोन्स मिलके आगे एक यमुना-तटवर्ती शिवमन्दिरमें जानेके लिए गति बढ़ा दी। सड़क और उसके बगलकी रेतसे आग उठ रही थी। ऊपरसे सूर्यनारायण अग्निवर्षा-सी कर रहे थे। तेज लू शरीरको झुलसे डालती थी। उसी समय मैंने खुली आँखों देखा कि आप श्रीरामजीकी भाँति 'सहजहिं चले सकल जग स्वामी' इस चौपाईको सार्थक कर रहे हैं। यह देखकर मनमें आया कि कुछ

सहायता करूँ। इसी विचारसे साइकिलको दौड़ाकर आगे पहुँचा। देखते ही सहज भावसे हँस पड़े और बोले, 'अरे! तू कहाँ आ गया?' 'कुछ न पूछें, आप साइकिलपर बैठें, बड़ा कष्ट हो रहा है। आपके पैर जल रहे होंगे।' मैंने सङ्कोचसे प्रार्थना की। उस समय वास्तवमें मेरा तो रबड़का जूता नीचेसे पैर जलाये देता था। कान बन्द होनेपर भी गरम लूके थपेड़े तेल निकाले देते थे और शरीर मानो झुलसा जाता था। किन्तु आप चादर लपेटे बगलमें दबाये नग्न शरीर जहाँके तहाँ बालू रेतपर खड़े हुए निश्चल भावसे बोले, "बेटा! सवारीपर बैठनेका नियम नहीं है।" मैं अज्ञानी जीव क्या समझता महापुरुषोंकी शक्ति को। अतः अपने बालचापल्यसे कह उठा, 'महाराजजी! आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।' बस, बात पूरी कह भी नहीं पाया था कि बीच हीमें आप हँसते हुए बोले, 'बेटा! यह व्यवस्था गृहस्थोंके लिए ही है।' तात्पर्य यह कि बहुत आग्रह और अनुनय-विनय करनेपर भी आप साइकिलपर बैठनेके लिए सहमत नहीं हुए। बस, मत्त गजराजकी भाँति तपती हुई बालुकापर निर्भीकतासे चलने लगे। मैं भी साथ-साथ मन मारकर चलने लगा तो आपने ठहरकर कहा, 'तू साइकिलपर चढ़कर आगे चल। मैं मन्दिरपर आ रहा हूँ।' इन प्रेम भरे वाक्योंने मेरे ऊपर घड़ों पानी डाल दिया। आप उसी मन्द गतिसे चलते रहे, मानो आज सूर्यनारायणको अपनी सहिष्णुताकी परीक्षा दे रहे थे। हुआ भी यही कि सूर्यको मुँहकी खानी पड़ी, आप शिवमन्दिर पहुँच गये।

फिर ये लिखते हैं—'पूज्य श्रीबाबा वृन्दावनकी अपनी कुटियामें विराजमान थे। ज्वरका आक्रमण था और शरीरसे आगकी लपटें निकल रही थीं, फिर भी आप प्रसन्नवदन और निश्चल भावसे बैठे थे। न जाने कैसे 'आज भक्तोंने आपको अकेले रहने दिया था।……लोग क्षणभर भी आपको विश्राम नहीं लेने देते थे। आपको विश्राम मिले इसका ध्यान तो दो-चार भक्तोंको ही था। श्रीबाबाजीका तो लक्ष्य ही जन-सेवाके रूपमें जनार्दनकी सेवा थी। विश्रामके लिए प्रार्थना करनेपर कई बार आपको यह कहते सुना था कि भैया! संसार दुःखोंकी भट्ठीमें जल रहा है। हनुमानजीको भला कब चैन मिला। देखो, रामायणमें उन्होंने कहा है न—'रामकाज कीन्हें बिनां मोहि कहाँ विश्राम।'

'वर्षाकाल आनेवाला था। ग्रीष्म आनेवाले समयका चार्ज संभाल रहा था। भाग्यवश कई मासके पश्चात् समय निकालकर मैं भी वहाँ

जा पहुँचा। मैंने देखा, एक वृद्धा, जिसे मैं नहीं जानता, श्रीबाबाके समक्ष अश्रुपात करती, निवेदन कर रही है कि आप आज्ञा दें तो मैं रास और कीर्तनके स्थानपर छप्पर हटवाकर विशाल मण्डप बनवा दूँ। इसपर बाबा केवल इतना कहकर मौन हो गये कि मैं अपने मुखसे क्यों कहूँ, मुझे क्या आवश्यकता है। तब वृद्धाने कहा, "मैं बीस हजारके नोट साथ लायी हूँ। ये आपको अर्पण हैं, आप इन्हें स्वीकार कर लें। तब आपकी निष्किञ्चिनता और निःस्पृहताका निखार इन शब्दोंमें व्यक्त हुआ, "हम साधु हैं। हमें तो दो माधूकरी मात्र चाहिए। ये कागजोंके टुकड़े तो उन्हें दो जिनके दुधमुँहे नन्हें-नन्हें बच्चे दवा-दारूके लिए तड़प रहे हैं।' इतना कहते-कहते स्वाभाविक ही नेत्र बन्द कर लिए और तबतक नहीं खोले जबतक वह वृद्धा नोटोंकी थैली उठाकर चली नहीं गयी।

'दूसरी घटना तो स्वयं मेरेसे ही सम्बन्ध रखती है। एकबार मैं एक दानी सज्जनको साथ लेकर उसका धन किसी पुण्यकार्यमें लग जाय इस दृष्टिसे पूज्य बाबाकी सेवामें गया। मैंने बड़े सङ्कोचसे वह धनराशि जिससे सौ व्यक्तियोंका बड़े आनन्दसे एक वर्ष तक निर्वाह हो सकता था, स्वीकार करनेके लिए आग्रह किया। परन्तु आपने तो उस धनको हाथ तक नहीं लगाया। तब विवश होकर मैंने एक युक्ति प्रस्तुत की। मैं बोला कि आप आश्रममें एक बड़ा पुस्तकालय खुलवा दें। वह सदाके लिए आपकी पुण्य-स्मृतिके रूपमें रहेगा। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब वह धन और यह प्रस्ताव दोनों ही अस्वीकार करते हुए आपने कहा, "बेटा! साधुओंको स्मृति नहीं चाहिये। भला जो जीवित ही शिव और शव हो गया उसकी स्मृति क्या बनेगी?"

'वास्तवमें, जिन्होंने उन्हें समझा वे ही कुछ पा सके—'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।'

भगवद्दास—भगवद्दासजी आगरा जिलेके भक्तोंमें अग्रगण्य हैं। इन्हें सभी भक्त बड़े प्रेमसे याद करते हैं श्रीमहाराजजीको वृन्दावन लानेका श्रेय इन्हें और ब्रह्मचारी वासुदेवको ही है। श्रीमहाराजजीके विषयमें पं० श्रीशिवदयालुजीसे सुनकर इनका चित्त उनके दर्शनोंके लिए लालायित हो उठा। अतः इन्होंने दफ्तरा जाकर उनके दर्शन किये। वहाँ देखा कि आम्रवृक्षके नीचे मूर्त्तिमान् शान्त रसके समान आप विराजमान हैं। कोई प्रश्न करता है तो संक्षेपमें सारगर्भित उत्तर देकर मौन हो

जाते हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टासे ये प्रभावित हुए। दूसरे दिन जब श्रीमहाराजजी वहाँसे चले तो सैकड़ों स्त्री-पुरुष रोते हुए आपके साथ चलने लगे। लौटानेपर भी कोई लौटना नहीं चाहता था। इस दृश्यका इनके चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी है। ये श्रीमहाराजजीकी ऐसी-ऐसी गुणगरिमाएँ सुनाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट अनुभव होता है कि श्रीमहाराजजीमें ही यह चौपाई पूर्णतया चरितार्थ होती है—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान यथारथ ॥

ये निम्बार्क सम्प्रदायमें दीक्षित हैं। परन्तु श्रीमहाराजजीका दिया हुआ श्रीरामचरितमानसका पाठ और दासबोधका स्वाध्याय नियमसे करते हैं। उनके आज्ञापालनमें इनकी अनन्य निष्ठा है। मुझे श्रीचरणोंके साथ इनके गाँव सहतामें जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनका बाग और सेवा अभी तक याद हैं।

सन् १९३१ ई० के चैत्र मासमें इन्होंने रामनवमीका उत्सव किया। उसमें श्रीमहाराजजी पधारे और लगातार पेंतालीस दिन इन्हींके घरमें भिक्षा की। उस समय एक पण्डितसे श्रीरामचरितमानसके विषयमें इनका विवाद हो गया। पण्डितजी कहते थे कि यह एक उच्चकोटिका काव्य है और इनका पक्ष था कि यह मन्त्ररूप है। परस्पर कुछ निर्णय न होनेपर इस विषयमें श्रीमहाराजजीसे पूछा गया। उन्होंने कहा, "साहित्यिकोंके लिए यह उच्चकोटिका काव्य है और भक्तोंके लिए मन्त्ररूप है।" पण्डितजीने पूछा, "सत्य बात क्या है?" आप बोले, "दोनों ही बातें सच हैं।" उनके चले जानेपर आपने भगवद्दासजीसे कहा, "तू भक्त बनता है और जीतना भी चाहता है। भक्तका स्वभाव तो ऐसा होता है कि उसके पास जो कोई जिस अभिलाषासे आता है उसकी वही कामना वह पूरी कर देता है। तुमसे पण्डितजी विवादमें जीत ही तो चाहते थे। उनकी इच्छाके विपरीत तुमने उन्हें जीतनेकी इच्छा क्यों की? विवादमें जीतनेपर तुम्हें अभिमान होगा और उन्हें दुःख। यह क्या भक्तका लक्षण है?" यह बात इन्हें बहुत महत्वपूर्ण जान पड़ी। उत्सवके पश्चात् जब श्रीमहाराजजी जाने लगे तो इनके पिताजीने इन तीनों भाइयोंके सहित अपनेको श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया।

ये लिखते हैं कि जब हम एकबार भी श्रीभगवान् या किसी सन्तको आत्मसमर्पण कर देते हैं तो यह आवश्यक नहीं होता कि उनसे प्रार्थना

करनेपर ही रक्षा हो। वे बिना प्रार्थना किये भी रक्षा करते ही हैं। और प्रार्थना करनेपर भी रक्षा न हो तब उसे अपना कर्मफलयोग ही समझना चाहिए। श्रीभगवान् या सन्तकी कृपामें अविश्वास नहीं करना चाहिए। श्रीमहाराजजीके निर्वाणके तीन वर्ष पश्चात् सन् १९५२ की बात है मेरा लड़का प्रेमचन्द्र आश्विन मासमें बीमार पड़ा। हम सब लोग उसके जीवनसे निराश हो चुके थे। ऐसे विकट अवसरपर दयामय प्रभुने- स्वयं ही कृपा की। प्रेमचन्द्रको श्रीमहाराजजीने स्वप्नमें दर्शन दिया। वे आकर उसके सिरहाने खड़े हो गये। और उसके सिरपर अपना कर-कमल फिराते मधुर वाणीमें बोले, "बेटा, प्रेम! तू घबरा गया। देख, घबरा मत। दरवाजेपर मुखिया वैद्य खड़ा है, इसका इलाज करा, इससे तू अच्छा हो जायगा।" यह सुनकर प्रेमचन्द्र गद्गद हो गया। उसे रोमाञ्च हो आया। इतना कहकर श्रीमहाराजजी अन्तर्धान हो गये। प्रेमने यह स्वप्न मुझे सुनाया। मुखियाजीको बुलाया गया। उन्होंने तीन दिनमें तीन पुड़ियाएँ दीं। उनसे पहले दिन मूर्च्छा, दूसरे दिन दस्त, और तीसरे दिन ज्वर निवृत्त हो गया। तीसरे दिनकी रातको प्रातः ४ बजे श्रीमहाराजजीने मुझे दर्शन दिया और कहा, "अरे भगवद्दास! आज मुझे तीन दिन हो गये हैं, अब मैं जाता हूँ।" अपने हृदयसे तो बार-बार यही ध्वनि निकलती है—'अस स्वभाव कहुँ सुनहुँ न देखहुँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखहुँ॥'

पण्डित चोखेलाल, बरहन—यह सारा परिवार ही श्रीमहाराजजीका परम भक्त है। दोनों पुत्र माधव और मोहन, पुत्रियाँ प्रेमवती, ओमवती और पुष्पा तथा पण्डितानी सब-के-सब श्रीमहाराजजीके भक्त तो हैं ही उनके परिवारके अन्य सदस्य भी श्रीमहाराजजीके अनन्य सेवक हैं। इनकी बहिन और भानजा शंकरलाल भी बड़े प्रेमी और सेवापरायण हैं।

सिंहपालसिंहजी, गांगनी—ये ग्वालियरकी राजमाताके चाचा हैं। बड़े साधु स्वभावके सज्जन हैं। ब्रह्मचर्यनिष्ठ हैं, विवाह नहीं किया और बड़े सत्सङ्गप्रेमी भी हैं। ये लिखते हैं—स्वामी मौजानन्दजी एक सिद्ध पुरुष थे। वे श्रीमहाराजजीको ज्ञानका सूर्य कहा करते थे। वे मेरे और भाई साहब दृग्पालसिंहके यहाँ प्रायः आया करते थे। उनका शरीर पूरा होनेपर हम लोग भण्डारा करनेके लिए सोमना गये। वहाँका कार्य समाप्त करके कर्णवास पहुँचे। उस समय सेठ गणेशीलालजीका यज्ञ हो रहा था। वहाँ मालूम हुआ कि स्वामी मौजानन्दजीका शरीर छूटनेकी बात

श्रीमहाराजजीने पहले ही कह दी थी। उसके कुछ वर्षों बाद श्रीमहाराजजी जलेसर पधारे। अवसर पाकर भाई साहबने प्रार्थना की कि श्रीमहाराजजी ! हसनगढ़ पधारिये। बाबा बोले, "नहीं, एक सौ एक बार कहेगा तब चलेंगे।" भाई साहब उसी समय खड़े हो गये और हाथ जोड़कर अखण्ड रूपसे 'महाराजजी ! हसनगढ़ पधारिये।' इस वाक्यको रटने लगे। तब महाराजजी बोले, "अच्छा, बैठ जा चलेंगे।" हसनगढ़में श्रीमहाराजजीके अनुरूप प्रेमपूर्ण स्वागत हुआ। एक दिन भाई साहबने मेरे विषयमें कहा, "महाराजजी ! यह वेदान्ती है। हम लोगोंको बात नहीं करने देता।" महाराजजी बोले, "अच्छा, कल सारा समय सिंहपालका है। मैं पाँच मिनटमें इसका सारा वेदान्त निकाल दूँगा।" उस समयतक मेरा निश्चय था कि मैं प्रयत्नपूर्वक किसीको गुरु नहीं बनाऊँगा। जहाँ स्वाभाविक गुरुभाव होगा उन्हींको गुरु मानूँगा। दूसरे दिन सत्सङ्ग प्रारम्भ हुआ तो बाबा मुझसे बोले, "अच्छा, बता तू कौन है ?" मैंने अपने पुस्तकीय ज्ञानके आधारपर दो-चार बातें कहीं। मेरी बातें सुनकर बाबाने कहा, "पुस्तकीय ज्ञानको ताकपर रख दो, अनुभवकी बात बताओ।" मुझे अनुभव तो कुछ था नहीं, बहुत जोर मारा, किन्तु फिर बात करना बन्द हो गया। मैं झुक गया।

हम दोनों भाइयोंने पं० शिवदयालु द्वारा श्रीमहाराजजीसे प्रार्थना की कि हमें मन्त्र दे दें। श्रीमहाराजजीने कहा, "अब नहीं, रामघाट आना !" चार महीना बाद सन् १९३३ में रामघाटमें गुरुपूर्णिमा हुई। पूजनका बड़ा भारी समारोह था। लगातार पूजनके कारण दोपहर ३-४ बजेतक अवकाश नहीं मिला। फिर अकस्मात् सबके बीचमें उठ खड़े हुए और हम दोनोंको साथ लेकर एकान्तमें जा विराजे। हमारी पूर्व प्रार्थनाके अनुसार आपने हमें जपके लिए मन्त्र और इष्टदेवका ध्यान बताया। यही श्रीमहाराजजीके प्रति गुरुभावसे हमारी शरणागति हुई।

'एक दिन आप मुझसे बोले, 'भक्तिमार्गमें हार तो है ही नहीं, जीत ही जीत है। सुख-दुःख तो सभीको आते रहते हैं, परन्तु यदि भगवच्चिन्तन हो रहा है तो अन्तमें कल्याण ही है।'

कसीसोंके भक्त—हमारे श्रीमहाराजजीके कृपापात्रोंमें लक्ष्य, साधन, सत्सङ्ग, पारस्परिक प्रेम और संगठनकी दृष्टिसे कसीसोंके भक्त ही आदर्श कहे जा सकते हैं। ये सभी एक मन, एक प्राण और एक हृदय

हैं। इनमें पं० लक्ष्मीनारायणजी, ब्रजमोहनजी, बहिन लाली, बाबूराम, पुष्कर और केशवकी गणना होती है। इनमें सबसे वयोवृद्ध और माननीय हैं पं० लक्ष्मीनारायणजी वैद्य। ये गढ़िया, जिला आगराके रहनेवाले थे और शेष सब कसीसों, जिला अलीगढ़के अधिवासी हैं। वैद्यजी बड़ी सौम्य प्रकृतिके हैं तथा भजन-ध्यानादिमें संलग्न रहते हैं। नित्य नियमसे आसन और वायुसेवन भी करते हैं। ये सभी राधावल्लभीय सम्प्रदायमें दीक्षित हैं और ब्रजके रसिक उपासक हैं। पहले इन्हें 'कल्याण' पढ़नेका व्यसन था। उसमें श्रीमहाराजजीके उपदेश प्रकाशित होते थे। ये उन्हें चावसे पढ़ते थे। श्रीमहाराजजीका फिरोजाबादमें आगमन हुआ। सुनकर ये दर्शनार्थ गये। सत्सङ्ग हो रहा था। प्रसङ्गवश आपके मुखसे यह श्लोक सुननेको मिला—

हरिरेव जगज्जगदेव हरिः हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुत्तरति॥

दर्शन करके इनका चित्त बहुत आकर्षित हुआ। मध्याह्नमें पुनः जानेपर इनसे श्रीमहाराजजीने पूछा, 'तुम फिर क्यों चले आये? यहाँ क्या करते हो?' ये बोले, 'मैं यहाँ आयुर्वेदिक चिकित्साका काम करता हूँ। मुझसे नहीं रहा गया, इसलिए चला आया।' आपने इन्हें समीप बैठनेको कहा। ये लिखते हैं—'उस समय मुझे ऐसा अनुभव होता था मानो ये मेरे अत्यन्त निकटवर्ती हैं और मुझपर इनका अपार प्रेम है।' फिर आपने इनसे पूछा, 'तुम्हें कोई सन्देह तो नहीं है?' ये बोले, 'महाराजजी! मुझे साकार-निराकार उपासनाके विषयमें कुछ सन्देह है। इसका क्या कारण है कि कुछ लोग तो निराकारकी उपासना करते हैं और कुछ साकार की!' श्रीमहाराजजी बोले, 'मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—हृदयप्रधान और बुद्धि-प्रधान। जो हृदयप्रधान होते हैं उनमें श्रद्धा, भक्ति और भावकी प्रधानता होती है, इसलिए वे साकारोपासक होते हैं और जो बुद्धिप्रधान होते हैं उनमें विचार शक्तिकी प्रधानता होती है, अतः वे निर्गुण-निराकारकी उपासना करते हैं।'

इससे इनके हृदयका सन्देह निवृत्त हो गया। अब इनकी ऐसी इच्छा हुई कि मैं इन्हींके साथ रहूँ। फिर श्रीमहाराजजी इन्हें एकान्तमें ले गये और कहा, 'अरे भैया! तुम यहाँ क्या कर रहे हो? संसारी प्रपञ्चसे निकलनेका शीघ्र ही प्रयत्न करो।' फिर आपने इन्हें जपनेके लिए

द्वादशाक्षर मन्त्र दिया और श्रीकृष्णका ध्यान तथा रामायण और भागवतका स्वाध्याय करनेकी आज्ञा दी। धीरे-धीरे इनकी श्रीचरणोंमें बहुत आत्मीयता हो गयी तथा मन्त्रजाप और सिद्धासनके द्वारा चित्त संसारसे उपराम हो गया। तब ये संसारका सम्बन्ध त्यागकर श्रीमहाराजजीके साथ ही रहने लगे। अब ये निरन्तर श्रीवृन्दावनमें ही निवास करते हैं और इसे श्रीमहाराजजीकी महती कृपा मानते हैं।

व्रजमोहनजी कसीसोंके रहनेवाले हैं। इन्होंने अपने विद्यार्थी जीवनमें ही श्रीमहाराजजीकी महिमा सुनी थी। तभी इनके मनमें उनके दर्शनोंकी लालसा जगी। इनके गाँवमें एक अघोरी महात्मा रहते थे। उनसे इन्होंने अपनी भगवद्दर्शनकी इच्छा प्रकट की। तब महात्माने कहा कि आजसे आठवें दिन तुझे गुरु प्राप्त होंगे। बस, ठीक आठवें दिन श्रीमहाराजजी इनके गाँवसे एक मील दूर गोमतमें आये और ये वहाँ उनके दर्शनार्थ पहुँच गये। इन्होंने देखा कि उनके रोम-रोमसे शान्ति झरती है। उन्होंने कृपा करके इन्हें जपके लिए द्वादशाक्षर मन्त्र दिया और श्रीकृष्णका ध्यान तथा रामायणका पाठ करनेको कहा। दूसरे दिन श्रीमहाराजजी इनके गाँव गये। जब वे वहाँसे चले तो ये उनके साथ वृन्दावन चले आये। वहाँ इन्होंने श्रीमहाराजजीके साथ ही श्रीबाँकेबिहारी, राधावल्लभजी तथा अन्य ठाकुरोंके दर्शन किये। इन्हें ऐसा लगता था मानो श्रीबाँकेबिहारीजी और राधावल्लभजी प्रत्यक्ष श्वास ले रहे हैं। पन्द्रह दिन पश्चात् इन्हें घर जानेकी आज्ञा हुई। इन्होंने कहा, "श्रीमहाराजजी! मुझे छोड़ें नहीं।" आप बोले, "मैं एक बार पकड़कर छोड़ना नहीं जानता और तेरी तो क्या ताकत है जो मुझे छोड़ सके।"

फिर ये धीरे-धीरे श्रीमहाराजजीके ही चरणोंमें रहने लगे। इनका एक छोटा भाई था पुष्कर। उसकी मृत्यु हो गयी। तब इन्हें बड़ा शोक हुआ। प्रायः दो सप्ताहतक रोते रहे। एक दिन श्रीमहाराजजीने कहा, "हट्!" बस, तभीसे इनका चित्त बदल गया और वह शोक-मोह-निवृत्त होकर ऐसा अनुभव होने लगा कि यह भाई तो एक प्रकारसे मेरे भजनमें बाधक ही हुआ। अतः मुझे उसका मोह छोड़कर भगवान्में ही चित्त लगाना चाहिए।

पीछे इन्होंने राधावल्लभीय सम्प्रदायकी दीक्षा ले ली और अब निरन्तर वृन्दावनमें ही रहते हैं।

पीताम्बर पटवारी—ये चौमाँके रहनेवाले हैं और व्रजमोहनके मामा हैं। एकबार ये बहुत बीमार हो गये थे। मरणासन्न अवस्थामें श्रीमहाराजजीके पास आये थे। उन्होंने आश्रममें ठहरनेको स्थान दे दिया। कुछ दिनोंमें ये ठीक हो गये और अब प्रायः सर्वदा आश्रममें ही रहते हैं।

गिरीशचन्द्र, इटावा—इनका सारा परिवार श्रीमहाराजजीका भक्त है। बड़ी शान्त और प्रेमी प्रकृतिके सज्जन हैं। अपनी सन्ततिको ये श्रीमहाराजजीकी देन मानते हैं। पूज्य बाबा और श्रीस्वामीजीमें इनकी गहरी श्रद्धा-भक्ति है।

मुंशीलाल मास्टर, बुलन्दशहर—इनका भी सारा परिवार श्रीमहाराजजीका अनन्य भक्त है। 'प्रिय राजीमें ही राजी हैं' यही इनकी निष्ठा है। ऐसी निर्दोष दृष्टिवाला सेवक कोई विरला ही मिलेगा। ये लिखते हैं कि श्रीमहाराजजीने मुझे विनयपत्रिकाके तीन पद लिखवाकर यह आज्ञा दी थी कि इनके अनुसार अपना जीवन बनानेकी तुम चेष्टा करते रहना। वे पद इस प्रकार आरम्भ होते हैं—(१) कबहुँ कि हौं यहि रहनि रहौंगो। (२) जो मन लागहि रामचरन अस। (३) जो मन भज्यो चहै हरि सुरतरु। इनका विवाह भी श्रीमहाराजजीकी अनुमतिसे ही हुआ था। इनकी पुत्रीका विवाह श्रीमहाराजजीकी आज्ञा लेकर ही किया गया था। इनकी धर्मपत्नी द्रौपदी श्रीमहाराजजीमें अनन्यनिष्ठा रखती है। उसका कथन है कि श्रीमहाराजजीने हमें अनेकों विपत्तियोंसे बचाया है। सच तो यह है कि ये श्रीमहाराजजीके सच्चे निजजन हैं।

चुन्नीलाल वकील—अलीगढ़के भक्तोंमें ये सबसे पुराने कहे जा सकते हैं। इनकी वेदान्तनिष्ठा थी श्रीमहाराजजीके दर्शनार्थ प्रायः आते रहते थे और यथाशक्ति सेवा भी करते थे। ब्रह्मचारी कृष्णानन्दजी (गणेशजी) से भी इनका अच्छा प्रेम था। मेरा इनसे विशेष सम्पर्क नहीं हुआ।

मिश्रीलाल वकील—ये अलीगढ़के बहुत प्रतिष्ठित वकील थे। सार्वजनिक कामोंमें भी बहुत भाग लेते थे। अँग्रेजी और संस्कृतका अच्छा ज्ञान रखते थे। शास्त्रीय अध्ययन भी अच्छा था। इन्होंने आश्रमका ट्रस्ट बनानेमें पूरा वैधानिक सहयोग दिया, स्वयं भी उसके ट्रस्टी और उपाध्यक्ष तथा मन्त्री पदोंपर रहे। आगे चलकर इन्होंने महामण्डलेश्वर

स्वामी शुकदेवानन्दजीसे संन्यास ले लिया। तब इनका नाम हुआ स्वामी विद्यानन्दजी। ये लिखते हैं—'श्रीमहाराजजीके विशेष सम्पर्कमें मैं सन् १९४४-४५ में आया, जब ट्रस्टका सङ्गठन बन रहा था। इसे बनानेमें उन्होंने मुझे कई ऐसे सुझाव दिये जो एक साधारण पुरुषको नहीं सूझ सकते थे। इससे उन्हें दूरदर्शी कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो सर्वदर्शी थे। वे ज्ञानी ही नहीं, विज्ञानी भी थे। वे सिद्ध-महात्मा थे, योगी-संन्यासी थे, परमहंस-ज्ञानी थे, भक्त-शाक्त थे, शैव-महापुरुष थे, देवदूत-देवता थे अथवा अवतार—इसे तो जो वैसा ही महात्मा हो वह जान सकता है। हमको तो वे सब-कुछ जान पड़ते थे। उनकी नित्य समाधि रहती थी। उन्हें देहज्ञानका नितान्त अभाव रहता था और मैं तथा मेरा शब्द तो उनके मुखसे निकलते सुने ही नहीं गये। वे निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए भी जनसमाजमें व्यस्त प्रतीत होते थे। इतने व्यस्त कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता था जिसका उन्हें ध्यान न रहे। वे कब सोते थे और कब विश्राम लेते थे यह भी कहना कठिन है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता था कि वे सदैव तुरीय अवस्थामें ही रहते थे। उनके लिए जाग्रत् और सुषुप्तिमें कोई भेद नहीं था। उनके विषयमें तो गोसाईं तुलसीदासजीके ये वचन चरितार्थ होते हैं—

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥

आपको श्रीमहाराजजीका जितना सत्सङ्ग मिला उसका पूरा लाभ उठाया। उनकी असङ्गताकी प्रणाली अपनायी। आपने श्रीमहाराजजीके उपदेशोंको श्लोकबद्ध करना आरम्भ किया था। परन्तु वह काम अधूरा रह गया। आपने संन्यास तो स्वामी शुकदेवानन्दजीसे लिया था, परन्तु निष्ठा पूर्णतया श्रीमहाराजजीमें ही थी। मुझसे कहकर श्रीमहाराजजीकी तीन बड़ी छवियाँ बनवायी थीं और निरन्तर उन्हें अपनी आँखोंके सामने रखते थे। प्रायः दो वर्ष हुए इनका देहावसान हो गया है।

रामस्वरूपजी केला—इनका सम्बन्ध अलीगढ़के एक सुसम्पन्न माहेश्वरी परिवारसे है। सार्वजनिक कार्योंमें इनकी अच्छी रुचि है। अलीगढ़में ऐसी कोई संस्था मिलनी कठिन है जिससे इनका और श्रीदुर्गाशरणजीका सम्बन्ध न हो। अलीगढ़की चर्चा चलनेपर सन्त इन्हें याद करते हैं, क्योंकि सन्त-सेवामें इनकी अच्छी रुचि है। स्वभावसे बहुत हँसमुख और प्रसन्नवदन हैं, समागत अतिथियोंका बड़े प्रेम और मधुर वचनसे स्वागत करते हैं। इनके घरकी दीवारोंपर बहुत-सी चौपाई और

सन्तवचन अङ्कित हैं। अतः मार्गमें चलनेवाले लोग उसे मन्दिर समझकर प्रणाम करते हैं। इनके रहन-सहनमें परम्परागत और आधुनिक दोनों ही शैलियोंका सुन्दर सम्मिश्रण है। ये आदर्श गृहस्थ हैं। इनकी सन्ततिमें केवल एक पुत्र और छः पुत्रियाँ हैं। परन्तु इन्होंने पुत्रियोंकी शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषणमें किसी प्रकारकी कमी नहीं की। परिवारमें परस्पर बहुत प्रेम है। सत्सङ्गके धनी हैं। इनकी धर्मपत्नी आदर्श महिला हैं। सब लोग इन्हें भाभीजी कहते हैं। परन्तु 'भाभीजी' का अर्थ है 'माताजी'। ये मूर्तिमती गृहलक्ष्मी ही हैं, भावकी मूर्त्ति हैं, अत्यन्त उदार हैं, भजननिष्ठ हैं और श्रीमहाराजजीकी अनन्य भक्ता हैं। जब एकमात्र पुत्र मोहनस्वरूपका विवाह हुआ और पुत्रवधू घर आयी तो उसे यह आदेश दिया कि हमारी सबसे बड़ी सेवा यही है कि श्रीमहाराजजीके प्राणीमात्रकी प्राणपणसे सेवा करना। इनके यहाँ प्रत्येक कार्य श्रीमहाराजजी का पूजन करनेके पश्चात् ही होता है। ये श्रीकृष्णभक्त होनेपर भी रामायणके अत्यन्त प्रेमी हैं।

इनके घरमें वार-बार कन्याएँ ही जन्म लेती थीं। एक बार श्रीमहाराजजीने स्वयं आशीर्वाद दिया कि इस बार जो बालक होगा वह पुत्र होगा। उनका प्रसाद ही मोहनस्वरूप है। वह भी इनके समान ही सुशील और चरित्रवान् है। एक बार भाभीजीकी लालसा भगवान्का नित्यरास दर्शन करनेकी हुई। अन्तर्यामी गुरुदेव उनका भाव जान गये तब उन्हींकी कृपासे इन्हें वृन्दावन-आश्रममें नित्य रासलीलाका दर्शन हुआ।

श्रीकेलाजी श्रीमहाराजजीके ट्रस्टके प्रधान मन्त्री हैं और इनकी सेवा सराहनीय है।

साहबसिंह वैद्य—ये गाँव लोसराके रहनेवाले हैं। अलीगढ़में वैद्यक करते हैं। ये लिखते हैं कि मैंने आरम्भमें तो श्रीमहाराजजीको गुरुरूपमें पाया था। कुछ समय पश्चात् उनमें मेरी निष्ठा पितारूपमें हो गयी। और अन्तिम दिनोंमें उन्हें प्रत्यक्ष भगवान् पहचान चुका था। मेरे जीवनमें श्रीमहाराजजीके मिलनेसे क्या-क्या परिवर्तन हुए यह बात मैं कैसे लिखूँ। श्रीमहाराजजीके संसर्ग से मुझे मनुष्यत्व मिला, बुद्धि मिली और सांसारिक ज्ञान मिला। यदि मैं ऐसे महान् गुरुदेवको न पाता तो आज मनुष्य कहलानेके योग्य भी नहीं रहता। मैं क्या कहूँ? अपने जीवनफलसे मैं सन्तुष्ट हूँ। श्रीमहाराजजी से मुझे दुष्प्राप्य वस्तु मिली है। अधिक कहना तो आत्मश्लाघा ही होगी।

इनकी प्रिय पुत्री नारायणीने छः सालकी आयुमें ही श्रीमहाराजजीके दर्शन किये थे। यह बड़ी साध्वी है। इसने आजीवन कौमारव्रत धारण किया है। श्रीमहाराजजीने इसे वनवासी रामकी उपासना बतायी है। और उनमें **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'** इत्यादि श्लोकमें बताया हुआ भाव रखकर भजन करनेका आदेश दिया है। श्रीमहाराजजीने जाग्रत्में तो इस पर कृपा की ही है स्वप्नमें भी आश्वासन दिया है कि मैं सर्वदा तेरे पास हूँ। इसे ध्यानादिमें भगवान्के दर्शन भी होते हैं।

वैद्य श्रीसाहबसिंहजी श्रीमहाराजजीके प्रति अपनी धारणा इस पद्य द्वारा प्रकट करते हैं—

ब्रह्मचारी शास्त्रज्ञ बलिष्ठ पदाति वेदान्ती अभ्रान्त,
तपस्वी तान्त्रिक योगी यती ज्योतिषी पण्डित सिद्ध महान्त।
देखता हूँ पद-पदमें पूर्ण किन्तु कहते संकोच नितान्त,
आपमें धर्म महान् निविष्ट कहूँ क्या मेरे सन्त प्रशान्त॥



: १६ :

श्रीवृन्दावनधाममें

व्रजमाधुरी और श्रीमहाराजजी

सर्वात्मा श्रीगुरुभगवान् पहले ही संकेत करते थे कि चलो वृन्दावन गोलोकधाम। उसमें श्रीबिहारीजीसे एक कोना लेंगे, आश्रम बनायेंगे और वहीं रहेंगे। यह वास्तवमें श्रीमहाराजजीकी हृदयस्थ वृन्दावनलीला ही संकेत दे रही थी। यही नहीं प्रत्युत स्पष्टतया यह भी समझ लें कि जैसे ग्रहदशा प्रायः अनजाने ही परिस्थिति, समाज और सम्बन्ध उपस्थित कर देती है, वैसे ही महापुरुषोंकी लीलादेवी आश्चर्यमयी लीलाएँ और अद्भुत बल-पौरुष प्रकट कर देती हैं। उन लीलाओंके अनुसार धाम और लीलापरिकर आदि की भी सहज ही उपस्थिति हो जाती है। गांगेय भीष्मके समर्थ होनेतक जैसे उनकी माता गङ्गादेवीने उनका लालन-पालन पोषण और प्रशिक्षण करके समर्थ होनेपर उन्हें राजा शान्तनुको लौटा दिया वैसे ही ब्रह्मपुत्रमण्डलसे लेकर गङ्गामण्डलतक श्रीजाह्नवी, वनदुर्गा, शुद्ध परात्पर ब्रह्मने आपका उत्तरोत्तर पोषणकर फिर सर्व-समर्थ सर्वात्मदेवरूपसे वृन्दादेवीके श्रीवृन्दावनधाममें समर्पित कर दिया। जो जीवन वामन वटुरूप उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके रूपमें आरम्भ हुआ वही आगे चलकर ऐसा अनन्त हुआ कि उसने त्रिविक्रमरूपसे संसाररूप बलिको उसके सिरपर पैर रखकर रसातलमें ढकेल दिया। इस प्रकार तीन पादमें सम्पूर्ण विश्व लाँघकर अपने अमृत पादमें सुप्रतिष्ठित हो भगवद्धाममें प्रवेश किया। इनकी लीला मत्स्यावतार भगवान्के समान चल पड़ी। उन्हींकी भाँति ये कहीं भी न समा सके तो इस महान् रसधारामें प्रवेश किया। अब हम यह विचार करें कि श्रीमहाराजजी तथा अन्य रसिक सन्तोंकी दृष्टिमें यह भगवद्धाम है क्या? यह तो विश्वेश्वर विश्वस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्दलीलास्थली हैं, जहाँ भगवान्ने स्वयं लीलामानुषविग्रह धारणकर अपने अभिन्नरूप व्रजवासी गोप और गोपियोंकी निग्रहानुग्रहपूर्वक रक्षा करते हुए प्रेमरसवर्षी सख्य, दास्य, वात्सल्य और माधुर्यादि भावोंका स्वारस्य अपने नित्यपरिकर गोप और

गोपाङ्गनाओंको आस्वादन करानेके लिए नित्य नयी-नयी आनन्ददायिनी, प्रेमपीयूषवर्षिणी अनपायिनी लीलाएँ की थीं। यहाँ वे नित्य मंगलमयी आनन्दप्रदायिनी मुखाम्बुजश्रीसे सुशोभित हो नित्य नूतन उल्लासमें हुए लीलामृतका आस्वादन कराते हैं। तथा आनन्दसे वंशीवादन करते हुए बिहार करते हैं। आप स्वयं सौन्दर्यलक्ष्मीके निवासस्थान हैं, साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी इनके स्थानपर निवास करती हैं। यही नहीं, श्रीपदाङ्कित व्रजभूमिके सौभाग्यसे स्वयं वञ्चित न हो जायें, अतः इस रसानन्दको स्वयं लूटनेके लिए स्वयं लक्ष्मी भी वहाँ व्रजरज होकर आ बसी हैं। इस प्रकार श्रीजी केवल आपके चरणोंका लालन करनेमें ही सीमित नहीं रहीं, प्रत्युत व्रजरज होकर उन्होंने अपने वक्षःस्थलको ही आपका विहारस्थल बना दिया। फिर अपने प्रेमी रसिकजनोंको प्रेमरसकी रसालताका सतत आस्वादन करानेके लिए तथा रसिक-जनोंमें प्रेमपंथके अभिवर्धन और पुष्टिके लिए प्रियतमा श्रीरासेश्वरीके साथ आप अपनी नित्य अनपायिनी लीलाका विस्तार करते हैं। जैसे श्रीकृष्ण पूर्ण भगवान् हैं वैसे ही उनकी लीला भी पूर्ण रसोल्लास-प्रदायिनी और पूर्ण आनन्द-रसवितरणी है। अपने इस समग्र अवताररहस्य, निग्रहानुग्रहसामर्थ्य, असमोर्ध्व वैभव और प्रेमपीयूषकी वैचित्रीका विज्ञान और आस्वादन प्रदान करनेके लिए आप अपने अभिन्न-स्वरूप नित्यावतार सन्तोंके रूपमें आविर्भूत होते हैं। यदि युग-युगमें ऐसा न होता तो वास्तविकता और आदर्शका मर्म अविज्ञात ही रहता और इष्ट-प्राप्ति एवं प्रियतमके मिलनकी लीला असम्भव ही हो जाती। इतना ही नहीं ऐसा होनेपर तो विपरीत भावनाओंका जाल भी अकाट्य हो जाता। अतः युगपरिच्छेदोंको तोड़कर प्राणिमात्रके लिए इसकी प्राप्तिके अधिकार की सुरक्षा पोषित करते हुए उसका आस्वादन करानेके लिए समय-समयपर नित्यावतार सन्तजन प्रादुर्भूत होते रहते हैं। कहना न होगा कि ऐसे सुदुर्लभ सन्तसम्राटोंमें ही हमारे श्रीमहाराजजी हैं, जिन्होंने अपनी लीलाके समय सर्वाधिष्ठान ब्रह्मकी उपलब्धिके लिए ज्ञान, कर्म और उपासना आदि सभी साधनोंका स्वारस्य प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें स्थापित किया।

आपकी वृन्दावन-लीला क्या है? वह तो श्रीपूर्णानन्द प्रभुका पूर्ण उल्लास है; आत्मप्रेमका अद्भुत प्राकट्य है, परमपुरुषार्थका पुण्य प्रसाद है, नित्य वैभवका नित्य उत्सव है, सर्वात्मप्रभुकी सार्वभौम क्रीड़ा है, रस-प्रमत्त चित्तकी अद्भुत चहल-पहल है, मुक्तिश्रीकी वसन्त है, भक्तिश्रीकी

हरियाली है, आनन्दोल्लासकी मधुर होली है, नटराजकी अनोखी भाव-भङ्गिमा है, पूर्ण प्रवृत्तिमें पूर्ण निवृत्तिका अनुपम सौन्दर्य है और अनन्त कल्लोलमें अलिप्त अखण्ड धारा है। आपकी उस लीलामें आत्मदृष्टिसे सबका समादर है, पूर्ण दृष्टिसे पूर्ण मिलन है और गुरुरूपसे करुणाप्रसादन है। आप वात्सल्यके आगार हैं, सख्यरसके सागर हैं, दास्यरसके भण्डार हैं, और व्रजमाधुरीके मूर्त्तिमान् विग्रह हैं। भाव ही भगवान् हैं और भगवान् ही भाव हैं। वही आप भक्तोंके लिए भावरससागर हैं, योगियोंके लिए स्वरूपभूत शान्तरस हैं और मुमुक्षुओंके सर्वस्व हैं। सबके लिए मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और हमारे लिए लीलापुरुषोत्तम हैं। यह सब कुछ होते हुए भी कहना यही होगा कि 'सो जानहिं जेहि देहु जनाई।' मैं तो बस इतना ही जानता हूँ—'मो पै करहिं सनेह विसेषी।'

आप सब कुछ त्यागकर महामौनमें स्थित हुए। किन्तु इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं हुए। पराकाष्ठा करना आपका स्वभाव था। इसलिए इतने डूब गये कि शरीर चल रहा है या बैठा है—इसका भी होश नहीं था। किन्तु जब सर्वात्मदृष्टिका उन्मेष हुआ तो सब कुछ अपना आप ही हो गया। इस प्रकार कौएके नेत्रके समान समाधि और उत्थान दोनों अवस्थाओंमें जाते और बाहर-भीतर एक अजन्मा अखण्ड तत्त्वका अनुभव करते हुए भी आपके जीवनमें एक अद्भुत विलक्षणता देखी जाती है। उसका दिग्दर्शन इस श्लोक द्वारा कराया जा सकता है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयेषु निमज्जतोऽपि ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
सङ्गीततालपरिनृत्यवशंगतापि मौलिस्थ कुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव॥

अर्थात् जिसमें एक बाणके पिछले भागमें दूसरे बाणकी नोंक लगी हो ऐसी बाणपरम्पराके समान विषयोंमें निरन्तर डूबे रहनेपर भी योगीका मन इस प्रकार ब्रह्मानुभूतिका त्याग नहीं करता जैसे सङ्गीत और तालके अनुसार नृत्यमें तत्पर रहनेपर भी नटी अपने सिरपर रखे हुए घड़ेकी रक्षा का ध्यान नहीं छोड़ती।

अतः कहना न होगा कि अपनी मानसी कलाओंसे अभिभूत न होकर आप अपना सूर्यरूप जीवन दिखा रहे थे। जिस प्रकार सूर्यमें शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष-रूप घटाव-बढ़ाव नहीं होता वैसे ही पूर्णमें कभी किसी प्रकारका संकोच नहीं आता। यह देखा अवश्य जाता है कि जब सहस्रांशु सूर्य अपनी किरणोंको अपनेमें सिमेट लेते हैं तो उसे रात कहते हैं। इसी प्रकार जब वे अपनी सहस्रों कृपा-किरणोंको, जो वास्तवमें इन कृपामूर्त्तिके

सहस्रों कर (भुजाएँ) ही हैं, सिमेटकर रहते थे तो वही उनकी समाधि थी और जब उनका विस्तार कर देते थे तो वही उनका उत्थान होता था। आपकी वह जागृति ही जगत्के लिए कल्याणकारी अनेक प्रवृत्तियोंका कारण बनती थी। आपके सान्निध्यसे ही रसपानके लिए उत्सुक चित्तोंको रसोल्लासमयी सरस माधुरी मिलती थी। साथ ही आपके अप्रतिहत सामर्थ्य और एकरस अद्वितीय स्वमहिमाका भी परिचय मिलता था। जिस प्रकार रात और दिनको लेकर लोग सूर्यमें अस्त और उदयका आरोप करते हैं और भूलसे ही उसे तिमिरारि कहते हैं उसी प्रकार जब आप स्वरूपमें डूबते थे तो लोग उसे समाधि कहते थे और जब उत्थान होता तो उसे जाग्रत् कहते थे। वास्तवमें तो आपमें वे दोनों अध्यारोप ही थे। सूर्यमें जैसे उदय और अस्त हैं ही नहीं उसी प्रकार स्वरूपतः आपमें भी समाधि और उत्थानका कोई भेद है ही नहीं। आप तो वस्तुतः स्वतःसिद्ध नित्यप्रकाश ही हैं।

श्रीकृष्णाश्रमका मुहूर्त

श्रीमहाराजजी वर्षोंसे संकेत कर रहे थे कि चलो वृन्दावन। वह सुदिन अब आ गया। आप जब पहले-पहले वृन्दावन पधारे थे तब वहाँके सुप्रसिद्ध सन्त श्रीरामकृष्णदासजीने कहा था कि यहाँ तो पत्ते-पत्तेमें श्रीकृष्ण हैं, यहाँ संन्यासप्रधान ब्रह्मका क्या काम ? किन्तु इन पूर्णानन्द ब्रह्मका हृदय-घन तो श्यामब्रह्म ही था। वही श्रीकृष्णाश्रम और वहाँकी लीलाके रूपमें प्रकट हुआ। इस रासस्थलीका प्रवेश-मुहूर्त्त अनेक सन्तोंके सहित बसन्त-पञ्चमीको हुआ। श्रीभगवान्ने 'ऋतूनां कुसुमाकरः' कहकर बसन्तको अपनी विभूति ही बताया है। ऐसा सुहावना यह समय है। इस समय प्रकृति महारानी प्रफुल्लित होकर अपने अन्तर्निहित सौन्दर्य-लावण्यको उद्घाटितकर नख-शिखसे शृङ्गार करती है। प्रकृतिका मधुर उल्लास ही मधुमय बसन्तका माधुर्य है। सर्वत्र रस और रङ्गकी माधुरी छा जाती है। तथा सब ओर भीनी-भीनी मधुमयी महँकका विस्तार हो जाता है। इस बसन्तपञ्चमीके मुहूर्त्तसे यह स्पष्ट संकेत मिला कि आपके अन्तर्निहित सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य और सौरस्यका मधुर उल्लास ही इस रसस्थलीमें अपने अपूर्व वैभवसे प्रस्फुटित होगा। इस प्रकृतिका नहीं अप्राकृत रसोल्लास ही रिम-झिम-रिमझिम करते आविर्भूत होगा। रसीले, रँगीले प्रभुकी मधुमयी लीला ही चहल-पहलसे चल पड़ेगी। इसका शिलान्यास हुआ था गन्धर्वावतार

ब्रजयुवराज-सखा श्रीग्वारियाबाबाके हाथसे। यह भी इस बातका स्पष्ट संकेत था कि यह आश्रम गान्धर्व-विद्यासे तरङ्गायमान होगा। यहाँ प्रिया-प्रियतमकी विविध लीलाओंमें जय-जय बलिहारी-बलिहारीके घोषके साथ गान-तानकी काकिली मुखरित होगी। यह गाना नहीं नित्यपरिकरका हृदयालाप है, यह गीत नहीं प्रभुका प्रताप है, यह नृत्य नहीं आनन्दाह्लाद-प्रदायिनी श्रीकिशोरीजीका नित्य किशोर श्रीश्यामसुन्दरके साथ नित्य बिहार है। इसीसे सारी सृष्टि माङ्गलिक पीताम्बर धारणकर पीले-पीले कुसुमोंकी रङ्ग-बिरङ्गी सजावटके साथ मानो निकुञ्ज ही बन जाती है।

धीरे-धीरे आश्रम बनकर तैयार हुआ और श्रीमहाराजजीने इसका नाम रखा श्रीकृष्णाश्रम। व्रजमें श्रीनन्दरायजीके प्रांगणमें जो नव-नवोल्लासमय नन्दोत्सवकी धूम होती थी उसी दिव्य आनन्दोल्लासका प्रादुर्भाव इस आँगनमें होगा—यही इस नामसे संकेत मिला। और वह दिव्य आनन्दोत्सव आरम्भ हुआ इसके प्रतिष्ठा-महोत्सवसे। फिर तो यह नंदगाँव-बरसानेकी युगल-जोड़ीकी नित्यबिहारस्थली ही बन गयी। जब यह श्रीकृष्णलीलास्थल बन गया तो इसमें उनकी बहिन कात्यायिनी देवी भी आ गयीं। वह जगदम्बामण्डल ही इसमें मातृमण्डल नामसे प्रकट हुआ, जो वास्तवमें श्रीमहाराजजीका महिमामण्डल ही है। इसके साथ ही श्रीहरि भगवान्‌की लीला भी आरम्भ हुई और उसीके कारण हरिनिकुञ्ज एवं गौरहरिकी लीलाका भी आविर्भाव हुआ।

बस, चतुरशिरोमणियोंने जान लिया कि श्रीमहाराजजीकी नित्य-महिमा श्रीवृन्दावनके नित्य युगलकिशोरको लाड़ लड़ाने आयी है। जैसे रजिकशेखर श्रीकृष्ण और श्रीरासेश्वरीजीने श्रीवृन्दावनमें आविर्भूत होकर रसिक भक्तोंके चित्त चुरा लिये उसी प्रकार आपने भक्त और गुरुभगवान् रूप धारकर सबको अनुपम लीलारसका पान कराया। बसन्तमें सौन्दर्यलक्ष्मी चमक उठती है, आनन्दलक्ष्मी बोल उठती है और रसलक्ष्मी कोमलाङ्गोंमें खेल उठती है। अतः ऋतुराज कुसुमाकरके साथ रसराज श्रीकृष्ण रङ्ग-बिरङ्गी ओढ़नीमें छिप-छिपकर टुकुर-टुकुर वह शोभा देखने लगते हैं। केवल देखते ही नहीं उनकी मोहिनी मुसकान ही इस कैमारीवनको[1] मधुवन करके मिठास बिखेरने लगती है। उस मिठासको रसिकमण्डलीमें लुटानेके लिए रासेश्वरी श्रीराधे सखीपरिकरके सहित

१. वह स्थान जहाँ श्रीकृष्णाश्रम स्थित है।

आविर्भूत होती हैं। वह रसकी लूट ही इनका रास है। ऐसे अद्भुत वसन्त-साम्राज्यमें श्रीपूर्णानन्द गुरुभगवान्‌के प्राकट्यने उस दिव्य रसको दुगुना करके खोल दिया और इस प्रकार वह दिव्य रस प्राणिमात्रके लिए सुलभ हो गया। सारी प्रकृतिका दिव्य और अदिव्य सरस सौन्दर्य उल्लसित होकर मानो अपनी अद्भुत कान्तियाँ बिखेरने लगा। बस, आपकी आनन्दमयी गोद पाकर प्रिया-प्रियतम आनन्दविभोर हो गये। इस प्रकार व्रजमाधुरी पूर्ण वैभवमें उल्लसित हो उठी।

यह है सद्गुरु श्रीउड़िया भगवान्‌की सतत चमत्कृति, सन्तत सार्वभौम लीला, आत्मप्रेमका निरुपम सौन्दर्य, आत्मचिन्तनकी अचिन्त्य रचना, आत्मश्रीका रसोल्लास और आनन्दाम्बुधिका अद्भुत उद्रेक। यही अनन्तके आलिंगनके लिए है रसिकोंकी दौड़। इसे क्या कहूँ? हद कहूँ तो बेहद, गहराई कहूँ तो अगाध, स्वादु कहूँ तो स्वयं मूक, सौन्दर्य कहूँ तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' फिर अचिन्त्यका चिन्तन? बस, यही तो साधन है। अकथनीयका कथन? बस, यही तो कौशल है। अदर्शनका दर्शन? यही तो आश्चर्य है। पूर्णका अवगाहन? यही तो वैचित्र्य है। उसे, क्या कहें? इस अद्भुत आश्चर्यमयी मूर्त्तिमें सब असम्भव भी सम्भव है, अलौकिकका अवलोकन है, लोकातीतमें निमज्जन है। ऐसे हैं ये पूर्ण अद्भुत मूर्त्ति सन्त-सम्राट् हमारे श्रीमहाराजजी। इनकी उदार कीर्त्तिमें ही यह करामात है, फिर स्वयं इनके विषयमें तो कहना ही क्या है। इनकी कीर्त्ति इतनी उदार है कि वह अपने कीर्तनमात्रसे ही इन्हें दे डालती है, फिर ये स्वयं न जाने क्या दे डालेंगे। इनका क्या निर्वचन करें, इनमें तो निमज्जन करना है। ये रस हैं, आस्वादनीय हैं। इन्हें जिधरसे भी देखो वहीं पूर्ण हैं। किन्तु ये मिलते तभी हैं जब अपनेको भीतरसे खाली कर दिया जाय। आकाशमें स्थित घटके समान बाहर-भीतरसे खाली हो जाओगे तभी समुद्रमें डूबे हुए घटके समान बाहर-भीतरसे पूर्ण हो सकोगे।

अन्तःशून्यं बहिःशून्यं शून्यकुम्भमिवाम्बरे।
अन्तःपूर्णं बहिःपूर्णं पूर्णकुम्भमिवार्णवे॥

मुमुक्षुओंके लिए अविचल ब्रह्मनिष्ठा ही आपकी देन है और भक्तोंके लिए अविचल विश्वास और समर्पण। आप उनके लिए कहते हैं—

सुने न काहू की कही, कहे न अपनी बात।
नारायन वा रूपमें, मगन रहे दिन-रात॥

प्रतिष्ठा-महोत्सव

किसी जिज्ञासुने पूछा—"भगवन्! आप ब्रह्म हैं?"

श्रीमहाराजजी—क्या तुम ब्रह्मको आँखोंसे देखकर पूछ रहे हो?

जिज्ञासु—तब क्या आप ज्ञानी हैं?

श्रीमहाराजजी—ज्ञान होनेपर क्या ज्ञानका अभिमानी कोई धर्मी रहता है।

जिज्ञासु—तब क्या आप अज्ञानी हैं?

श्रीमहाराजजी—बावले हो, क्या अज्ञान कभी दृष्टिमें आया है?

जिज्ञासु—तब, आप कौन हैं?

श्रीमहाराजजी—तुम जितना देख रहे हो उसीके विषयमें पूछो। तुम मुझे काम करता देखते हो। बस, मैं चराचरका सेवक हूँ।

जिज्ञासुका मन श्रद्धासे झुक गया। उसने मन ही मन कहा, "चराचरके सेवक तो भगवान् हैं अथवा वे सन्त हैं जो उनसे एक हो चुके हैं।

आपकी यह सचराचर सेवा श्रीकृष्णाश्रमके प्रतिष्ठा-महोत्सवसे आरम्भ हुई। अथवा ऐसा भी कैसे कहें यह तो सर्वात्मविहारके विविध वैभवका प्राकट्य ही था। श्रीमहाराजजी तो कहते थे कि वृन्दावन-आश्रम ब्रह्मचारी वासुदेवका सङ्कल्प है। किन्तु अब तो उनके प्रतापसे उस जङ्गलमें अलग-अलग ट्रस्टोंके अधीन आश्रमोंका एक नगर ही बस गया है। इस आश्रममें आरम्भमें एक छोटी-सी कोठी बनी थी। उसमें तीन कोठरी, एक बरामदा और एक चबूतरा नीचे थे तथा एक कुटी ऊपर। इस ऊपरवाली कुटीमें ही आरम्भसे अबतक हमारे पूज्य बाबा रहे हैं। उसके पश्चात् श्रीमहाराजजीके लिए एक अलग कुटी बनी, जिसमें नीचे तीन गुफाएँ थीं। अन्तमें रायबहादुर ठाकुर कञ्चनसिंहजी गोरहेवालोंने इसका द्वार बनवाया, जिसके इधर-उधर छः सात कमरे और रसोईघर हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक मकान इस आश्रमके पश्चिम ओर भी बनवाया, जो पीछे मातृमण्डलके नामसे प्रसिद्ध हुआ। अब तो इस आश्रममें बहुत वृद्धि हो गयी है और यह वृन्दावनके प्रधान स्थानोंमें है। लोग यही कहते हैं कि दर्शन करना हो तो श्रीबाँकेबिहारीजीके करो और सत्सङ्ग सुनना या रास देखना हो तो श्रीउड़ियाबाबाके स्थानमें जाओ।

इस आश्रमकी ब्रजमण्डलमें जैसी प्रतिष्ठा है वैसा ही विराट् इसका प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ था, क्योंकि इसकी अन्तरात्मा तो वे सन्त थे जो

अनादि आनन्दके साथ एक होकर सर्वरूपमें देदीप्यमान हो रहे थे। उस अलौकिक उत्सवकी चर्चा अभीतक सुननेमें आती है। लोगोंने अपनी आयुमें इतना बड़ा उत्सव पहले कभी नहीं देखा था। यह उत्सव सन् १९३२ ई० के माघ शुक्ल २ से फाल्गुन शुक्ल २ तक रहा। इसमें अन्य कार्यक्रमोंके अतिरिक्त पन्द्रह दिनका अखण्ड संकीर्तन भी रखा गया था। इसके लिए आश्रमके सामने श्रीदावानलविहारीके बगीचेमें एक पृथक् मण्डप बनाया गया था। सब लोगोंके ठहरनेकी पूरी-पूरी व्यवस्था की गई थी। श्रीमहाराजजी और पूज्य बाबाके परिकरके प्राय: छ: सौ व्यक्ति सङ्कीर्तन करनेवाले थे। अत: सङ्कीर्तन-मण्डलमें हर समय कम-से-कम सौ आदमी कीर्तन करते रहते थे। उनके साथ एक घण्टा, एक नगाड़ा, एक ढोलक, एक हारमोनियम और पच्चीस जोड़ी झाँझ रहती थीं। इसकी व्यवस्था पं० ललिताप्रसादजी के अधीन थी। कीर्तन बड़ी ही धूम-धामसे होता था। पूज्य बाबा प्रात:काल चारसे पाँच बजेतक, मध्याह्नमें ग्यारहसे बारह बजेतक और सायङ्कालमें छ: से सात बजेतक समष्टि सङ्कीर्तन कराते थे। आप अनेक प्रकारसे नृत्य करते हुए घण्टा बजाते थे। उस समय तो सैकड़ों कीर्तनकार नामघोष करके आकाशको गुञ्जायमान कर देते थे। आनन्दकी लूट-सी होने लगती थी। इस समय श्रीमहाराजजी सहज समाधिमें मग्न हुए एक ओर खड़े रहते थे। इस सङ्कीर्तनमें कई बार अश्रद्धालु पुरुषोंको भी बड़े विचित्र और चमत्कारी अनुभव हुए। कीर्तनकारोंको तो अपने-अपने भावके अनुसार बड़े ही दिव्य अनुभव होते थे। वे कभी देखते कि हम लोग दिव्य धाममें हैं और युगलसरकारके दिव्य विहारमें सम्मिलित होकर अनेकों दिव्य लीलाओंका रसास्वादन कर रहे हैं। कभी तो मालूम होता मानो श्रीरघुनाथजीके साथ अवधमें खेल रहे हैं और कभी ऐसा जान पड़ता कि श्रीनवद्वीपधाममें श्रीगौरसुन्दर और श्रीपाद नित्यानन्द अपने भक्तपरिकरके साथ सङ्कीर्तन कर रहे हैं और हम भी उसमें सम्मिलित हैं। सभी भावोन्मत्त हो जाते थे, किसीको तन-मनकी सुधि नहीं रहती थी। कभी करुणारसकी जागृति होती तो सब लोग रुदन करने लगते और हास्य रसका उदय होता तो सभी प्रसन्नतापूर्वक नृत्य करते हुए अट्टहास करने लगते। सचमुच उस समय इस महासंकीर्तनके रूपमें वृन्दावनमें महारास ही हो गया।

आश्रमके भीतर एक बहुत बड़ा पंडाल बनाया गया था। उसमें

प्रातःकाल आठसे ग्यारह बजेतक श्रीमद्भागवतका पारायण और कथा होती थी। मूल ग्रन्थका पारायण श्रीबाँकेविहारीजीके सेवाधिकारी गोस्वामी मदनमोहनजी करते थे तथा कथा स्वामी रामानुजदासजी कहते थे। आपकी व्याख्या बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण और मनोरम होती थी। उस समय सैकड़ों भक्त बड़े मनोयोगसे कथा सुनते थे। इसके पश्चात् १२ से २ बजेतक विश्राम का समय था। मध्याह्नोत्तर दोसे पाँच बजेतक कथा एवं प्रवचनोंका क्रम रहता था। इसके व्यवस्थापक थे पं० श्रीलालजी याज्ञिक। इस समय ग्वालियरवाले बाबा रामदासजी रामचरितमानसकी बड़ी ही अपूर्व कथा कहते थे। पं० जगन्नाथजी भक्तमाली भक्तमालजीका अद्भुत प्रवचन करते थे तथा गोस्वामी श्रीगौरगोपालजी गौरचरित्रका रसास्वादन कराते थे। बाबा श्रीरघुनाथदासजीका भी बड़ा ही प्रेमानन्दपूर्ण भाषण होता था। इनके अतिरिक्त जो वृन्दावनके अनेकों गोस्वामीस्वरूप, आचार्यचरण और उपदेशक पधारे थे उनमें गोस्वामी प्राणगोपालजी, विजयकृष्णजी, श्रीकृष्णचैतन्यजी, श्रीरङ्गाचार्यजी, श्रीचक्रपाणिजी एवं पं० कृष्णबल्लभजीके नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। वेदान्तविषयपर श्रीकृष्णानन्दजी अवधूतका बड़ा विलक्षण भाषण होता था। दो-तीन दिन महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा और कविरत्न पं० अखिलानन्दजीके भी भाषण हुए। इस समय स्थानीय तथा बाहरसे पधारे हुए महात्माओंका भी बड़ा अपूर्व सम्मेलन हुआ। गङ्गातीर निवासी स्वामी श्रीशास्त्रानन्दजी, निर्मलानन्दजी और भोलेबाबाजी, भावपुरवाले स्वामी हीरानन्दजी तथा स्वामी श्रीकृष्णानन्ददासजी मण्डलीवाले प्रायः पूरे उत्सवमें रहे। व्रजविदेही महन्त स्वामी धनञ्जयदासजी काठियाबाबाका भी उत्सवमें पूर्ण सहयोग रहा।

रात्रिको समष्टि सङ्कीर्तनके पश्चात् ८ से १०॥ बजेतक श्रीरासलीला होती थी। श्रीव्रजलालजी बौहरे, बाबूलालजी पिसावेवाले, पं० कृष्णलालजी तथा बाबूलालजीकी मण्डलियोंने चार-चार दिन लीलायें कीं। इन लीलाओंमें बड़ा ही अद्भुत रस रहा। अन्तिम दिन सब मण्डलियोंका महारास हुआ। श्रीवृन्दावनमें रासलीला तो जगह-जगह होती है, परन्तु ऐसा प्रायः सबका अनुभव है कि लीलामें जैसा आनन्द इस स्थानपर आता है वैसा अन्यत्र नहीं आता। इसका कारण श्रीमहाराजजीका गुप्त रससञ्चार और पूज्य बाबाकी अद्भुत लीला-निष्ठा ही थी। बाबा जो भी कार्य करते थे उसमें भाव और क्रियाका पूर्ण सहयोग रहता था।

रासलीलामें आप चिन्मय नित्यधामकी ही भावना रखते थे। और जितनी देर लीला होती थी उतनी देर चँवर या पंखे द्वारा श्रीयुगलसरकार तथा सखीपरिकरकी परिचर्या करते रहते थे।

माघ शुक्ला पूर्णिमाको स्वामी श्रीरामानुजदासजीकी अध्यक्षतामें कविसम्मेलन हुआ। उसमें कई महानुभावोंने भाग लिया। आश्रमके पास ही श्रीदावानलविहारीके मन्दिरमें भोजनभण्डार और कोठार था। वहाँ आठ-दस चौकोंमें हर समय कच्ची रसोई बनती रहती थी और जिन्हें जब सुविधा होती थी चौकेमें जाकर पा लेते थे। इसके प्रधान प्रबन्धक थे सेठ केशवराम धीरजराम अनूपशहरवाले और उनके सहायक थे पं० किशोरीलाल और नन्नामल। जो लोग पक्का भोजन करना चाहते थे उन्हें उनके डेरेपर ही पहुँचा दिया जाता था। उत्सवमें आये हुए सब भक्तोंकी सूची बना ली गयी थी और उन्हें पृथक्-पृथक् मण्डलोंमें विभक्त कर दिया गया था। एक-एक मण्डलका प्रबन्ध एक-एक मुख्य पुरुषको सौंपा गया था। सेवा सुचारुरूपसे खूब चली। श्रीकृष्णाश्रमके आस-पासके सब स्थान माँग लिये गये थे। इनके सिवा सैकड़ों डेरे और रावटियाँ लगायी गयी थीं। इस प्रकार वहाँ एक नगर ही बस गया था। रोशनी और सफाई विभागके अध्यक्ष थे मास्टर राधावल्लभजी। जलविभाग सौंपा गया था रामघाटवाले बाबू रामसहायजीको। इन्होंने बड़ी अद्भुत व्यवस्था की। इस उत्सवमें सब प्रकारकी सेवाके लिए एक स्वयंसेवकोंका दल था। उसके प्रधान थे फर्रुखाबादवाले दण्डिस्वामी श्रीआत्मबोध तीर्थ और उनके सहायक थे मथुराप्रसाद दीक्षित। जूतोंकी सँभाल भी सुव्यवस्थित पद्धतिसे नम्बर देकर हुई। दण्डिस्वामीजीकी निर्भयता और सेवानिष्ठा निःसन्देह सराहनीय थी। इसके सिवा यात्रियोंकी सुविधाके लिए उत्सवमें ही डाकखाने और औषधालयकी व्यवस्था थी तथा आश्रमके पास ही एक अस्थायी रेलवे स्टेशन भी स्थापित करा दिया गया था। इस मेलेके प्रधान प्रबन्धक थे श्रीजानकीप्रसाद बागला और कोषाध्यक्ष थे श्रीगनेशीलालजीके मुनीम भजनलाल।

श्रीमहाराजजी कमरमें दुपट्टा बाँधकर स्वयं ही सब आगन्तुकोंका निरीक्षण करते थे। उनकी वह अद्भुत छवि देखते ही बनती थी। यद्यपि आगन्तुकोंकी संख्या अपार थी तथापि रात्रिको सोते समय श्रीमहाराजजी प्रत्येक व्यक्तिकी सुधि ले लेते थे। किसे भोजन मिला है किसे नहीं, किसे सोनेका स्थान है किसे नहीं इत्यादि सब बातोंका निरीक्षण वे स्वयं करते

थे। यह उनकी परमदयालुता थी। श्रीरामायणजीके ये शब्द स्पष्ट चरितार्थ हो रहे थे—

'अस कपि एक न सेना माहीं । राम कुसल जेहि बूझा नाहीं ॥'

सहस्रों नर-नारियोंमें ऐसा कोई नहीं था जिससे आपने कुशल न पूछा हो। ऐसा उत्सव न हुआ न हो, मानो भरद्वाजके आश्रमके समान सर्वत्र सिद्धियाँ कार्य-सम्पन्न कर रही थीं।

फाल्गुन कृष्ण २ को समष्टि भण्डारा हुआ। इसमें वैष्णवोंके भोजनका प्रबन्ध तो श्रीकाठिया बाबाके आश्रममें किया गया तथा उन्हींके तत्त्वावधानमें यह काम छोड़ दिया गया। बड़े-बड़े मन्दिरोंमें वहीं भोग तैयार कराया गया और वहींसे गोस्वामी-स्वरूपोंको प्रसाद वितरण हुआ। अन्य सब साधुसमाज, ब्राह्मणवर्ग, दरिद्रनारायण तथा उत्सवमें आये हुए भक्तमण्डलके भोजनका प्रबन्ध श्रीकृष्णाश्रममें ही रखा गया। इस भण्डारेमें परोसनेका प्रबन्ध बड़ा ही अद्‌भुत था। लड्डू, पूड़ी, कचौड़ी, रायता, शाक और सोंठ—इतनी चीजें परोसी जानेवाली थीं, उनके टिकट छपवा लिये गये थे। और जिस आदमीको जो चीज परोसनी थीं उसे उसीकी टिकट दे दी जाती थी इस प्रकार सब काम बहुत नियमानुसार किया गया था।

हमारे श्रीमहाराजजीके भक्त मथुराप्रसाद दीक्षितकी एक बैण्ड बाजेकी मण्डली थी। श्रीमहाराजजीके आशीर्वादसे वह बहुत नामी हो गयी थी। बाँध या वृन्दावनमें जहाँ भी उत्सव होता वह सेवाके लिए उपस्थित हो जाती थी। इस बैण्डने इस उत्सवकी अपूर्व शोभा बढ़ायी। भण्डारेके दिन श्रीमहाराजजीने बैण्डमास्टर श्रीबलदेवप्रसादको आज्ञा दी कि तुम श्रीकाठियाबाबाके स्थानपर जाकर वैष्णव महात्माओंका स्वागत करो। उस समय सबको नंगे पाँव रहना होगा। आपकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया गया। सारा काम बड़ी धूमधामसे समाप्त होनेपर सब लोग लौट आये।

भण्डारेमें तो श्रीमहाराजजीके अनेक चमत्कार देखे गये। जिस दिन बड़ा भण्डारा था फर्रुखाबादवालोंके अधीन बीचका भण्डार था। महाराजजीने पूछा, "मथुराप्रसाद सब काम ठीक चल रहा है ?" उन्होंने कहा, "महाराजजी ! ठीक है।" परन्तु पारसकी ओर देखा तो उन्हें कुछ सन्देह हुआ। वे बोले, "पहली बारमें ही बहुत सामान खर्च हो गया

है।" आप हँसते हुए बोले, "सब ठीक है।" फिर जहाँ लड्डुओंका ढेर था उसकी ईंटोंकी मेड़पर बैठ गये। अपनी चादरका सिरा लड्डुओंपर डाल दिया और एक लड्डू तोड़कर सब ढेरपर फैलाकर कहा, "इसे चटाइयोंसे ढँक दो।" इसी प्रकार पूड़ियोंके ढेरपर भी किया और शाककी नाँदोंको अपने हाथसे स्पर्श कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भण्डार बढ़ता ही गया। रातको दस बजेतक पंक्तियाँ बैठती रहीं। इस भण्डारेमें इतने लोगोंका भोजन हुआ था कि आश्रममें स्थान न रहनेके कारण उसके आस-पास दावानलकुण्ड और रेलवे लाइनतक सड़कपर पंक्तियाँ लगानी पड़ी थीं। उस दिन प्राय: एक सौ बीस मन आटा सेका गया था। किसीके लिए भी कोई रोक-टोक नहीं थी। फिर भी इसके पीछे बहुत सामान बच गया। इस प्रकार वह भण्डार मानो अक्षय हो गया। कई दिन बाँटते-बाँटते थक गये, तब भी नहीं घटा। विदाईमें सब लोगोंको घरके लिए प्रसाद दिया गया। वृन्दावनके समस्त स्कूलों और पाठशालाओंमें भी प्रसाद बाँटा गया। कच्चा सामान वैष्णव महात्माओंके स्थानोंपर भेज दिया गया।

भण्डारके समय एक दुर्घटनासे भी कई लोग आपकी कृपासे बाल-बाल बच गये। बड़े फाटकपर अनेकों भक्त प्रबन्धमें लगे हुए थे। अच्छी मजबूत लाठियोंकी बाड़ लगा दी गई थी। केवल एक-एक आदमी ही उसमें होकर निकल सकता था। परन्तु बाहरसे लोगोंने इतने जोरसे धक्का लगाया कि फाटकपर जो प्रबन्धक थे वे उसे सँभाल न सके। भीड़ एक साथ भीतर घुस आयी। उसके कारण आठ-दस स्त्री-पुरुष गिर गये और अनेकों आदमी उनके ऊपर होकर निकल गये। यह दशा देखकर जो लोग परोसनेमें लगे थे बड़े जोरसे चिल्लाये कि भीतर आनेवालोंको एकदम पीछे धकेल दो, नहीं तो जो नीचे गिर गये हैं वे मर जायेंगे। बस, सब लोगोंने भीड़को धकेलकर फाटक बन्द कर दिया। फिर नीचे गिरे हुए स्त्री-पुरुषोंको उठाया। उसी समय वैद्य और डाक्टर आ गये, क्योंकि सरकारी अस्पतालका कैम्प बाहर ही लगा हुआ था। एक स्त्रीको तो प्राय: एक घण्टेमें चेत हुआ। यह समाचार जब श्रीमहाराजजीने सुना तो वे अपनी कुटीकी गुफामें उतर गये और थोड़ी देरमें ऊपर आकर बोले, "उन सभी स्त्री-पुरुषोंको भोजन देकर उनके स्थानतक पहुँचा दो। परन्तु उन लोगोंने आग्रह किया कि हम बाबाके चरण स्पर्श बिना किये नहीं जायेंगे। आप उनके पास गये और उनके सिरोंपर हाथ फेरा। तब वे

सब आपको प्रणाम करके आपसे प्रसाद लेकर चले गये। इस प्रकार उनका सहसा स्वस्थ हो जाना एक विलक्षण चमत्कार ही था।

फिर श्रीमहाराजजीकी आज्ञासे भीड़को एक साथ बाहर बैठाकर भोजन कराया गया। पारसकी सामग्री देखते हुए इतने बड़े जन-समुदायको एक साथ भोजन कराना भी आश्चर्य ही था। इसे देखकर सब चकित हो गये। रातको दस बजेतक पंगतें बैठती रहीं। जब भण्डारा बन्द करनेकी आज्ञा हुई उस समय भी आप वहाँ उपस्थित थे और बहुत प्रसन्न दिखायी देते थे। इतने हीमें लड्डुओंवाला ढेर खिसका और जो मेंड़ बँधी थी वह पूर्ण हो गयी। इसी प्रकार और सामानकी वृद्धि होती देखी गयी। यह चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित हो गये। इसके पश्चात् आप सब कर्म-चारियोंको छतपर ले गये और अपने हाथसे परोसकर सबको भोजन कराया। आपका वह प्रेम अनिर्वचनीय था। आपका यह मातृस्वभाव तो सदा ही रहा। फिर आप देदामयीवाले सोहनाको लेकर सब कुछ छोड़कर बाँधके उत्सवके लिए चले गये। सोहना जाटव जातिमें उत्पन्न एक बालक था, किन्तु स्वभावका अत्यन्त सरल, विनीत और श्रीचरणोंका अनन्याश्रित था। उसकी इच्छा थी कि मैं कुछ समय अकेला आपकी सेवामें रहूँ। उसकी यह इच्छा इस समय पूर्ण हो गयी।

इस प्रकार श्रीवृन्दावन आपकी लीलारसवर्धनी राजधानी बनी। अब तो आप नित्य उत्सवरूप ही जान पड़ते थे। जिनका रोम-रोम ही उत्सव है उनके उत्सवोंका क्या वर्णन करूँ। साधककी दृष्टिसे वैराजपाद[1] में प्रवेश करना साधनका आरम्भ है, किन्तु श्रीमहाराजजीको देखते हुए तो शुद्ध परात्पर ब्रह्ममें पूर्णतया समाकर फिर वैराजपादमें अपने स्वरूपसे अवतरित होना उनका आनन्दोल्लास ही था। इस प्रकार अब उत्सवोंका तांता आरम्भ हो गया। इनमें-से कुछका विवरण अगले प्रसङ्गमें किया जाता है। अब आप किसी विशेष निमित्तसे बाहर जाते तो फिर लौटकर वृन्दावनमें ही आ जाते थे।

---

१. माण्डूक्य-उपनिषद्के अनुसार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंके अभिमानी विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन साधनपाद हैं और तुरीय साध्यपाद है। उक्त साधनपादोंका बाध करनेपर ही तुरीयकी उपलब्धि होती है। अतः साधनपादोंमें प्रथम होनेके कारण यहाँ वैराजपादसे साधनका आरम्भ बताया गया है।

हमारे महोत्सव

हमारे लिए क्या योग, क्या उपासना और क्या वेदान्त सभी यह शिक्षा देनेके लिए हैं कि जो जगन्नाटक हो रहा है वह वास्तवमें श्रीजगदीश्वर के रसानन्दका प्राकट्य करनेवाला महोत्सव ही है। उसका रसास्वादन करनेके लिए ही है। इसे भगवद्रूपसे ग्रहण करें यही इसके रहस्यका उद्घाटन करनेकी कुञ्जी है। वास्तवमें अनन्त भगवान् मंगलभवन हैं और उनका विधान भी मंगलमय है। उसे ज्यों-का-त्यों मंगलमय रूपसे ग्रहण करनेके लिए अमाङ्गलिक दृष्टिकी निवृत्ति ही अपेक्षित है। इसीसे शास्त्र कहता है कि ईश्वर-सृष्टि बन्धनकारक नहीं है, जीवसृष्टि ही बाँधनेवाली है। जीव जिस दृष्टिसे सृष्टिको अपनाता है उसीके अनुसार उसके बन्धन या मोक्षकी व्यवस्था होती है। वास्तवमें तो इस सृष्टिके रूपमें अनादि अनन्त श्रीहरिका रसोत्सव ही चल रहा है। उसका सञ्चालन भी मंगलप्रद और आनन्दमय ही है। प्रत्येक मानवके लिए इस विराट् महोत्सवसे अधिक रसाभिव्यञ्जक और कोई उत्सव नहीं हो सकता। देखिये, प्रभु विभु होकर भी कैसा रस प्रदान करते हैं। वे प्रकाशकी अभिव्यक्तिके लिए अन्धकारका रूप धारण करके आते हैं क्योंकि अन्धकार ही प्रकाशके प्रफुल्लित सौन्दर्यको उद्घाटित करता है। इसी प्रकार अन्धकार निहित कृष्णत्वकी रसरूपता प्रकाश अपनेको समाप्य करके प्रकट करता है। शीत, उष्णादि भी इसी तरह एक-दूसरेकी आस्वादनीय मधुरिमाको उद्घाटित करते हैं। प्रत्येक ऋतु आगे आनेवाली नवीन ऋतुके लिए उसका सुन्दर पृष्ठभाग या भूमिका-स्थली ही रहती है। यह महोत्सव आधिभौतिक विराट्में ही नहीं अध्यात्ममें भी हो रहा है। यह रसास्वादनकी शैली जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें भी है। यह अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत्की नित्याह्लादमयी क्रीडा है। यह अजन्मा और अमरणधर्माके रसास्वादनके लिए उस अनन्तकी रसाभिव्यञ्जनी लीला है। देखा जाय तो यह अनन्तकी रङ्ग-विरङ्गी बन्दनवार है। परन्तु याद रखें, चतुर और प्रतिभाशाली पुरुषको इस सजावटमें ही नहीं भूल जाना चाहिए।

इसी प्रकार गुणवैचित्र्यकी भी ऐसी ही महती देन है। तमोगुणकी उपस्थिति ही रजोगुणकी चहल-पहलको सौन्दर्य प्रदान करती है। फिर पारस्परिक तारतम्यका विचार करके ही एकको छोड़कर दूसरेको ग्रहण किया जाता है। फिर रजोगुणकी चहल-पहल (प्रवृत्ति) ही प्रकाश-

प्रधान निष्क्रिय एवं शान्तरसमय सत्त्वगुणके सौन्दर्यकी ओर प्रेरित करती है, जिससे साधककी अनन्त शुद्धप्रकाशमय नित्य सत्त्वमें स्थिति होती है। इस प्रकार साधकसे साधनाक्रमके उत्तरोत्तर विकासके लिए यह गुणवैषम्यकी लीला चलती रहती है, जिससे वह सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंको पार करके अपने चरम लक्ष्यमें प्रतिष्ठित होता है। भगवान्‌ने अपने ही सजातीय सखा जीवके लिए यह अद्‌भुत रसमहोत्सव रचा है। यदि यह खेल समझदारीसे खेला जाय तो रसाभिव्यञ्जक द्वारोंको लाँघते हुए अमृतद्वारमें प्रवेश करते ही जीव जीव नहीं रहेगा, अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान लेगा। फिर यह खेल खेल नहीं रहेगा, अपना ही चिद्विलास हो जायगा। अपनी ही दृष्टिका विलास जान पड़ेगा और नवीन-नवीन त्रिपुटीरूपसे प्रतिभासित होगा। इस प्रकार समझ लीजिये कि यदि गुण न हों तो गुणवैतृष्ण्यका क्या मूल्य रहेगा। यदि गुणोंका आविर्भाव-तिरोभाव और गुणावर्तका खेल न होता तो त्रिगुणातीत निःस्पन्द, निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व, निःसङ्ग स्वरूपका सौष्ठव स्पष्टतया क्या समझमें आ सकता था ?

श्रीकृष्णजन्माष्टमी—इस अनन्त महोत्सवका, जो कि सदा-सर्वदा हो ही रहा है, उद्‌घाटन करनेके लिए नित्योत्सवस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया। भगवान्‌के आगमनकी सूचना देनेके लिए ही काले-काले बादल उमड़-घुमड़कर आते हैं। सूचना देते-देते वे आनन्दवाष्पमें बरस-बरसकर स्वयं ही व्रजभूमिमें समर्पित हो जाते हैं। इससे वे यह स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि वास्तविक प्रपत्ति यही है। फिर हँसी-खुशीमें गर्ज-गर्जकर मानो श्यामसुन्दरके आगमनका सन्देश ही सुनाते हैं। इसके साथ ही बीच-बीचमें अपने श्याम-वक्षःस्थलमें दमकती हुई सौदामिनीकी भी झाँकी कराते हैं। मानो यह इङ्गित कर रहे हैं कि श्यामके हृदयमें श्यामा है और श्यामाके हृदयमें श्याम हैं। इस प्रकार ये अन्योन्याश्लिष्ट श्यामा-श्याम अपने आविर्भावकी सूचना देकर हमें श्रीकृष्णजन्माष्टमी और राधाजन्माष्टमीका स्मरण कराते हैं। फिर यह सूचित करनेके लिए कि श्रीवृन्दावन और युगलसरकार दो नहीं हैं, अभिन्न ही हैं, अपने-आप प्रेमावेशमें पानी-पानी होकर प्यासी भूमिमें समा जाते हैं, क्योंकि प्यास ही प्रियाजीका स्वरूप है—'प्यास ही को रूप मानो प्यारीजू को रूप है।' युगलसरकारके ऐसे अनुपम अनुरागसे अनुरञ्जित होकर व्रजभूमि फूली नहीं समाती। जो अबतक प्रतीक्षामें सूख रही थी वह उनके आगमनके आनन्दसे उल्लसित हो उठती है और

उसमें सर्वत्र हरियाली छा जाती है। मोर नाचने लगते हैं और कृष्णप्रिया कालिन्दी कल-कल रव करती बड़े वेगसे उफन-उफनकर दौड़ने लनती है। वह मानो यह सोचकर बेचैन हो उठती है कि कहीं प्यारे चरणरज दिये बिना ही न चले जायँ।

हाँ, तो यह जन्माष्टमी आयी। गुरु और गोविन्द दोनों हीका जन्म दिन होनेके कारण हमारे लिए तो यह महान् पर्व होता था। सुनते हैं कि सनकादि सर्वदा पञ्चवर्षीय बालक-जैसे ही जान पड़ते हैं। उनकी अव्याहत गति है। इस पर्वपर श्रीमहाराजजी भी हमें ऐसे ही लगते थे। उस समय वे अत्यन्त प्रसन्नता बिखेरते श्रीकृष्णाश्रमके प्रांगणको, जो वास्तवमें श्रीनन्द-बाबाका आँगन ही है, प्रकाशित करते इधर-उधर घूमते दिखायी देते थे। गुरुदेव तो अन्धकारको निवृत्त करनेवाले हैं, वे मंगलमूल अमंगलहारी हैं। आपका आविर्भाव भी इसी तिथिको दिनके ग्यारह और बारह बजेके बीचमें हुआ था। इससे आपने मानो यह संकेत किया कि प्रत्येक सन्धिमें परमात्मा है। अतः सन्धिमें ठहरोगे तो परमात्मासे मिलन होगा। आश्रममें यह उत्सव बड़ी धूमधामसे गाजेबाजेके साथ मनाया जाता था। बीच-बीचमें वर्षा हो जाती तो जान पड़ता था मानो देवगण आनन्दाश्रुओंकी वर्षा कर रहे हैं। अथवा ये कहो कि इस महदोल्लासके कारण विराट्-विग्रहमें ही स्वेद और कम्पन हो रहे हैं। उस समय माताएँ और भक्तजन साक्षात् गोपी और गोप जैसे जान पड़ते थे। जन्मके समय मध्याह्नमें श्रीमहाराजजी को नवीन वस्त्र धारण कराकर उनका पूजन किया जाता। उस समय वह छबि देखते ही बनती थी। सब ओर प्रसन्नता छायी रहती थी। अद्भुत अखण्ड सङ्कीर्तन चलता रहता था। प्रेमपूर्ण पदगानसे वातावरण मुखरित हो उठता था। इस प्रकार दिनभर खूब आनन्द रहता था।

जब रात्रि आती तो यह आनन्द और भी अधिक उल्लसित हो उठता। मानो रात्रि रूपमें स्वयं कात्यायिनीदेवी ही श्यामके आगमनकी सूचना दे रही हों। आश्रममें रासमण्डली द्वारा श्रीकृष्णकी जन्मलीलाका अनुकरण होता था तथा बालगोपालका पूजन किया जाता था। फिर प्रेमी भक्त श्रीमहाराजजीका कृष्णरूपमें श्रृङ्गार करके हिंडोलेमें झुलाते थे। गुरुदेव सर्वदेवमय होते हैं। अतः सभी भक्त इस आनन्दोत्सवमें सम्मिलित होते थे। मनोहर आदि भक्त भाट बनकर अनेक प्रकारके विनोदमय

अनुकरण करते थे। झूलेमें श्रीमहाराजजी साक्षात् श्यामसुन्दर-जैसे ही जान पड़ते थे। यह आनन्दोत्सव पूर्ण होनेपर आपका शृङ्गार उतार दिया जाता था और फिर सब भक्तोंके साथ आप श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शनार्थ जाते थे। उस दिन तो श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शन रात्रिभर खुले रहते हैं। वहाँसे आकर अर्धरात्रिमें श्रीकृष्णजन्मके समय भगवान्‌की आरती उतारी जाती और फिर सब लोग प्रसाद ग्रहण करते थे। इस प्रकार आनन्दपूर्वक रात्रि-जागरण होता और फिर बड़ी धूमसे प्रभाती कीर्तन होता था।

दूसरे दिन नन्दोत्सव किया जाता था। प्रातःकाल रासमण्डली नन्दोत्सवकी लीला करती और मध्याह्नोत्तर पूज्य बाबा तथा स्वामीजीके साथ आप विराज जाते। फिर सब भक्त आनन्दमें नृत्य करते दधि-काँदोका उत्सव करते। इस प्रकार बड़े आनन्दसे यह उत्सव मनाया जाता था। यह आनन्द तो वे ही जानते हैं जिन्हें इसमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार राधाष्टमीका उत्सव भी बड़े उत्साहसे मनाया जाता था।

शरत्पूर्णिमा—इसके पश्चात् आश्विन पूर्णिमाको शरदोत्सव होता था। यह व्रजका तो महापर्व है, क्योंकि इसी रात्रिमें रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दरकी परम रसमयी रासलीला हुई थी। उस रातको हमारे आश्रममें भी कई रासमण्डलियाँ मिलकर रास करती थीं। इस रात्रिमें पूर्णचन्द्र अपनी उज्ज्वल पूर्णतामें उद्भासित होकर कमनीय कान्ति बिखेरते हैं तथा अपनी अमृतवर्षिणी किरणोंसे सुधास्राव करते हुए प्राणिमात्रको पुष्टि प्रदान करते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो आज विराट् भगवान् अपने अमृतवर्षी नेत्रोंसे रासेश्वर एवं रासेश्वरीका रसमय विहार निहार रहे हों। उससे उन्हें जो आनन्दानुभूति होती है उसकी मुसकान ही आज पूर्णचन्द्रके रूपमें उद्भासित होती है।

इस पर्वपर हमारे यहाँ कई मन दूधकी खीर बनायी जाती थी। अर्धरात्रि तक शरच्चन्द्रकी किरणें पड़नेसे उसमें मानों अमृत ही घुल-मिल जाता था। फिर सर्वात्मस्वरूप श्रीगुरुदेव स्वयं अपने करकमलोंसे सबको यथेच्छ रूपसे वह प्रसाद वितरण करते थे। इस पर्वपर भी श्रीकृष्ण रूपमें आपका पूजन किया जाता था। इन सब लीलाओंसे हमें स्मरण होता था—**'आत्मारामोऽप्यरीरमत्।'**

दीपावली और अन्नकूट—दीपावलीको सारे आश्रममें दीपमालिका

सजायी जाती थी तथा अन्नकूटके पर्वपर बीसियों प्रकारके पदार्थ बनाकर भगवान्‌को भोग लगाया जाता और अनेकों अतिथि-अभ्यागतोंके सहित सभी आश्रमवासियोंको प्रसाद छकाया जाता अन्नकूट प्रायः दीपावलीके दूसरे दिन करनेका नियम है। परन्तु गृहस्थोंका प्रधान त्यौहार होनेके कारण दीपावलीपर अधिकांश भक्त आ नहीं सकते थे। इसलिए हमारे आश्रममें प्रायः कार्त्तिक शु० ९ (अक्षयनवमी) को यह पर्व मनाया जाता था।

इनके अतिरिक्त गीताजयन्ती, बसन्तपञ्चमी, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, अक्षयतृतीया और गुरुपूर्णिमा हमारे आश्रमके प्रधान पर्व थे। तथा शतचण्डी, सहस्रचण्डी आदि अनेकों नैमित्तिक अनुष्ठान भी होते ही रहते थे। उनका कहाँतक वर्णन किया जाय। नीचे दो प्रधान उत्सवोंका वर्णन करके यह प्रसङ्ग समाप्त किया जाता है।

श्रीवृन्दावनकी परिक्रमा—सं० १९४४ वि० का होलीका उत्सव बड़ी धूमधामसे हुआ। उसमें जो अखण्ड सङ्कीर्तन होता था उसमें सौ-सौ आदमियोंकी मण्डलियाँ सैकड़ों झाँझ, ढोलक, शङ्ख और घण्टोंके साथ सङ्कीर्तन करती थीं आश्रमके मण्डपमें सबेरे ८ से १० बजेतक रासलीला होती थी मध्याह्नोत्तर अनेकों महापुरुष और विद्वानोंके प्रवचन तथा कथाएँ होती थीं और रात्रिमें अखण्ड सङ्कीर्तन एवं भक्तजनोंके लीलानुकरण होते थे। इस उत्सवके अन्तर्गत रङ्गभरी एकादशीके दिन सम्पूर्ण भक्तपरिकरके सहित श्रीवृन्दावनकी परिक्रमा करनेका निश्चय हुआ। ऐसा निर्णय होते ही पाँच-छः मील लम्बे मार्गकी सफाई की गयी और जगह-जगह बन्दनवार लगाये गये। चार स्थानोंमें कदलीस्तम्भ एवं लता-पत्रादि लगाकर चार मण्डप बनाये गये। एकादशीको प्रातःकाल ४ बजे प्रभाती कीर्तन हुआ। फिर पं० हरियशजीने पूज्य बाबा और श्रीमहाराजजीका चन्दन-पुष्पादिसे पूजन किया तथा अन्य सन्त और भक्तजनोंको मालाएँ पहनायीं।

बस, यहींसे सङ्कीर्तन करते हुए यात्रा आरम्भ हुई। आगे-आगे अनेकों झण्डे और झण्डियाँ चलीं तथा साथमें गैसके हंडे भी रहे। कीर्तन बड़ी धूम-धामसे हो रहा था। पूज्य बाबा बड़ी मस्तीसे घण्टा बजाते हुए नृत्य कर रहे थे। परिक्रमाके मार्गमें जो चार मण्डप बनाये गये थे उनमें-से प्रथम विश्राम-स्थलपर बाबाने जमकर कीर्तन किया। इसके पश्चात् दूसरी ध्वनि उठाकर कीर्तन करते चले। इस यात्रामें सबसे आगे बैण्ड बाजा था उसके पीछे वृन्दावनकी जनता थी। फिर पूज्य बाबाकी कीर्तनमण्डली

चलती थी और उसके पीछे अनेकों कीर्तनमण्डलियाँ सङ्कीर्तन करती चल रही थीं।

श्रीवृन्दावनमें अनेकों भक्तजन परिक्रमा लगाते हैं। तिसपर भी यह एक प्रधान एकादशी थी। श्रीमहाराजजी और बाबाकी परिक्रमाकी सर्वत्र धूम मची हुई थी। इसलिए इस यात्रामें हजारों प्रेमी और विरक्त सम्मिलित हो गये थे। इस प्रकार आज तो मानो आनन्दकी लूट-सी मची हुई थी। हमारा भक्तमण्डल जिस प्रकार प्रथम विश्रामस्थलपर रुका उसी प्रकार उसने आगेके तीन मण्डपोंपर भी ठहरकर विश्राम लिया। दूसरे विश्राम-स्थलपर श्रीबाबाने प्रिया-प्रियतमकी अनुपम रूपमाधुरीका वर्णन किया तथा तीसरेपर भगवान्‌की लीलाओंका और वृन्दावनके रसिकोंका महत्त्व सुनाया। यह मण्डप श्रीजगन्नाथघाटपर था। यहाँ श्रीमहाराजजीके कहनेसे बाबाने आधे घण्टेके लिए जलपानकी छुट्टी कर दी। तब श्रीमहाराजजीने स्वयं सबको फलाहारी प्रसाद वितरण किया। इसके पश्चात् ठीक १२ बजे पुनः परिक्रमा आरम्भ हुई। चौथे विश्रामस्थलपर पहुँचकर जमकर कीर्तन हुआ और पूज्य बाबाने भगवन्नामकी महिमाका वर्णन किया। इस प्रकार चारों विश्रामस्थलोंपर आपने भगवान्‌के नाम, धाम, लीला और रूपका पृथक्-पृथक् वर्णन किया। दोपहरके पश्चात् प्रायः दो बजे यह भक्तमण्डल पुनः आश्रमपर पहुँचा। इस प्रकार दस घण्टेमें यह परिक्रमा पूरी हुई। किन्तु आश्चर्य तो यह था कि किसीको लेशमात्र भी थकान नहीं जान पड़ी।

ग्वालियरका उत्सव—इसी वर्ष रामनवमीपर बाबा श्रीरामदासजीने अपने गुरुस्थान करह (ग्वालियर) में एक बहुत विशाल महोत्सवकी, योजना की। बाबा रामदासजीसे प्रयागकुम्भके अवसरपर ही श्रीमहाराजजीका मिलन हुआ था। तबसे उनके साथ आपका प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। श्रीमहाराजजी उनके रामचरितमानसके भावपूर्ण प्रवचनसे आकर्षित हुए थे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। तथा बाबा आपके प्रेमपूर्ण व्यवहारसे आकर्षित हुए। आपका सौम्य-स्वभाव, अद्भुत विनयकी मिठास और अत्यन्त मर्यादापूर्ण व्यवहार देखते ही बनते थे। श्रीमहाराजजी ही आपको बाँधपर ले गये थे। फिर दोनों महापुरुषोंसे आपका प्रेम-सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आपका प्रतिपादन सर्वथा पक्षपातरहित तथा सभी भावोंका पोषक होता है। अतः जब आपने अपने यहाँ महोत्सवमें पधारनेके लिए प्रेमपूर्ण

आग्रह किया तो श्रीमहाराजजी और बाबा दोनों हीने स्वीकार कर लिया ।

ग्वालियरके लिए प्रस्थान करते समय आश्रमसे बाहर आते ही श्रीमहाराजजीने भगवद्दाससे कहा, 'देख, भगवद्दास ! अब कितना आनन्द है। आश्रममें तो घरके बड़े-बूढ़ेकी तरह रहना पड़ता था। अब मैं किसी को नहीं खिलाऊँगा। सब स्वयं भिक्षा माँगकर खायेंगे। अपनी भिक्षाकी झोली, कमण्डलु और पुस्तकोंका बस्ता भी आपने अपने पास ही रखा। परन्तु पूरे आठ मील भी नहीं गये कि लोगोंने दूध और बालभोग लेकर सेवामें भेट किये। गोरहेवाले ठाकुर कञ्चनसिंहजी अपनी बग्घीमें चल रहे थे और सब प्रकारकी सेवा कर रहे थे। ठाकुरानीजी कहती थीं कि कोई भिक्षा मत लाना, श्रीमहाराजजीकी रसोई बन रही है। कैसा उदार चित्त था उनका। रास्तेमें बराबर सत्सङ्ग चलता रहता था। स्वयं ही प्रश्न किया कि गुरु कौन है ? फिर स्वयं ही उत्तर दिया कि जो सबसे मोह छुड़ावे और अपनेमें भी राग न करावे तथा सर्वत्याग करा दे वही गुरु है। कभी-कभी बीस-बीस मील चलते तब भी थकावटका नाम नहीं, क्योंकि स्वयं आनन्द-मूर्त्ति हमारे साथ थे। ऐसा लगता कि आनन्दकी तरङ्गोंमें उछलते-कूदते जा रहे हैं। इस प्रकार बड़े आनन्दसे करह पहुँच गये। वहाँ अपूर्व स्वागत हुआ।

करह पहुँचनेपर देखा कि बाबा रामदासजी उत्सवके कार्यमें इतने संलग्न हैं कि उन्हें तनिक भी चैन नहीं मिलता। तब आपने उनसे कहा, "बाबा ! आप चिन्ता न करें, हम सब प्रबन्ध स्वयं कर लेंगे। बाबा स्वयं लिखते हैं—'जब स्वामीजी स्थान करहके उत्सवमें पधारे तो बड़ी तत्परतासे प्रत्येक कार्य स्वयं करते थे। आपने निजजनोंकी सम्पूर्ण सेवाकार्योंके लिए आज्ञा दे रखी थी। यहाँ तक कह रखा था कि माला और भजन छोड़कर भी भगवत्सेवा-भावसे सम्पूर्ण काम करो। कथा, कीर्तन, सत्सङ्ग एवं रास-लीला और रामलीलाकी व्यवस्थाका भार हमारे परम उदार बाबाने स्वयं ले लिया। आपने स्पष्ट कह दिया कि यह बाबा रामदासका नहीं, स्वयं हमारा ही उत्सव है। इस प्रकार सब व्यवस्था खूब सुचारु रूपसे चली।

उत्सवके प्रत्येक प्रोग्राममें बाबा रामदासजीके गुरुदेव श्रीमौनीबाबा पधारते थे। उस समय उनके साथ भक्तमण्डली 'जय सियाराम जय जय सियाराम' की तुमुल ध्वनि करती आती थी। आपके नेत्रोंसे प्रायः

अश्रुपात होता रहता था। आपके दर्शन करके ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे त्यागी, तपस्वी और श्रीरघुनाथजीके अनन्यशरण श्रीमौनीबाबा हैं वैसे ही सुयोग्य शिष्य आपको बाबा रामदासजी मिले हैं।

उत्सवका विस्तार प्रायः चार मीलके घेरेमें था। सभी लोग नामजप अथवा सङ्कीर्तनमें संलग्न थे। बहिर्मुखता कहीं भी देखनेमें नहीं आयी। उत्सवमें आये हुए लोगोंके भोजनादिका भी समुचित प्रबन्ध था। नित्यप्रति प्रायः दस हजार लोगोंकी पंक्तियाँ लगती थीं। भोजन बहुत दिव्य बनता था। उत्सव-भूमिसे प्रायः तीन मील दूर चम्बल नदी थी, वहाँसे पानी ढोनेकी गाड़ियों द्वारा जल लाया जाता था। कई बार इन्द्रदेवने भी सेवा की। वर्षाके कारण जलकी कठिनता बहुत कुछ दूर हो गयी।

अन्तिम दिन समष्टि भण्डारा हुआ। उसमें प्रायः छः सौ मन आटेके मालपूआ बने और पाँच सौ बोरी खाँडके लड्डू। वह तो एक अद्भुत यज्ञ था।

आश्रमका कार्यक्रम

श्रीमहाराजजीके सान्निध्यमें सत्सङ्गका तो मानो सदावर्त्त लगा हुआ था। यद्यपि सत्सङ्गभवनका सारा कार्यक्रम पूज्य बाबाकी रुचिके अनुसार ही होता था। आपके यहाँ जो कार्यक्रम रहता था उससे यह मालूम हुआ कि जिसके साथ त्याग-वैराग्यका सम्बन्ध हो उसके लिए सत्सङ्ग भी साधनाका एक प्रधान अङ्ग है। अतः आपके यहाँकी दिनचर्यामें सत्सङ्गकी प्रधानता थी। श्रीवृन्दावनमें यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध थी कि यदि किसीको सत्सङ्गकी आवश्यकता है तो उसका पूरा लाभ श्रीउड़ियाबाबाजीके आश्रममें ही मिल सकता है। यहाँ सबेरे तीन बजेसे लेकर रात्रिके ग्यारह बजेतक सत्सङ्गका अनवरत क्रम चलता रहता था। यदि निराकारवादियोंको ब्रह्मविचारका पूरा-पूरा अवसर प्राप्त था तो साकारोपासकोंको कथा-कीर्तनके साथ-साथ रासरसिकेश्वर श्रीश्यामसुन्दरकी हृदयहारिणी अनुपम लीला, भक्तजनोंके मधुमय चरित्रोंके अभिनय और प्रेमी भक्तों द्वारा उपदेशप्रद प्रहसन भी देखनेको मिलते थे। ऐसी तो आज भी प्रसिद्धि है कि रासलीलाकी मर्यादाका जैसा निर्वाह श्रीउड़ियाबाबाजीके स्थानपर होता है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता। पूज्य श्रीमहाराजजी इन सभी कार्यक्रमोंमें स्वयं उपस्थित रहते थे। उनके अन्तरङ्ग भक्त भी आजतक यह रहस्य नहीं जान सके कि श्रीमहाराजजी शैव थे, शाक्त थे, रामोपासक

थे अथवा वेदान्ती ? सङ्कीर्तन होता तो आप प्रेमसमाधिकी मुद्रामें खड़े रहते। रासमें विराजते तो उसका पूरा-पूरा रसास्वादन करते दिखायी देते। कथा-वार्ता चलती तो उसके प्रधान श्रोताके रूपमें भी आप ही दिखायी देते। जब भक्तजन प्रहसनादिका अनुकरण करते तो आप हँसते, प्रसन्न होते और मनोविनोदका भाव दर्शाते। जब कभी ब्रह्मचर्चा चलती तो आपके मनोभावोंसे पता चलता कि आप मानो मूर्त्तिमती ब्रह्मनिष्ठा ही हैं। प्रसङ्गवश आपके मुखसे कई बार सुना कि यदि संसार एक क्षणमें नष्ट हो जाय तो हमें क्या और यदि सृष्टि सौगुनी बढ़ जाय तो भी इससे हमारा क्या सम्बन्ध ? इन भावों और विचारोंसे आपके अन्तस्तलका कुछ आभास प्राप्त होता है। कितना अच्छा क्रम था वह। साकारोपासकोंको आप निर्गुण ब्रह्मचर्चासे सदैव दूर रखते थे। दोनों मार्गोंके साधकोंको आप अपनी-अपनी निष्ठामें सुदृढ़ रहनेका ही उपदेश करते थे। अन्य महापुरुषोंकी भाँति अपने ही विचारोंको दूसरोंपर लादना आपने सीखा ही नहीं था। आप सर्वसाधारणके सामने योगवासिष्ठादि वेदान्त-ग्रन्थोंका प्रवचन करना उचित नहीं समझते थे। आपके यहाँ सर्वदा गीता, भागवत, रामायण एवं भक्तमाल आदि सार्वदेशिक ग्रन्थोंकी ही कथाएँ हुआ करती थीं। जब आप अन्य कथावाचकोंकी कथाएँ सुनकर प्रसन्न होते और उनकी प्रशंसा करते तब तो यही जान पड़ता था कि 'सुनहिं राम यद्यपि सब जानहिं।' आश्रममें ऐसी-ऐसी रामलीला, रासलीला एवं चैतन्यलीलाएँ हुई हैं कि मैंने अच्छे-अच्छे महात्माओंको यह कहते सुना है कि लीलाएँ तो बस श्रीउड़ियाबाबाजीके आश्रममें हो चुकीं।

प्रेमी भक्त

पूज्यपाद श्रीमहाराजजीका भक्तपरिकर बहुत विशाल था। उसका संक्षिप्त परिचय देना भी इस पुस्तकके सीमित कलेवरमें सम्भव नहीं है। उनमें-से कुछ चर्चा प्रसङ्गवश जहाँ-तहाँ आ चुकी हैं। फिर भी कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्ति रह ही गये हैं, जिनका सामान्य परिचय देना आवश्यक है। नीचे हम संक्षेपमें उनकी चर्चा करते हैं—

कुंवर कञ्चनसिंह—गोरहा (जि० एटा) के जमींदार रायबहादुर कुंवर कञ्चनसिंह और उनकी धर्मपत्नी दुर्गाकुँवरिजी तो वास्तवमें हमारे परिकरके लिए नन्दबाबा और यशोदामैयाके तुल्य ही थे। उन्होंने ही अपने स्वयंके रहनेके लिए जो स्थान बनाया था उसीको मातृमण्डल

कहते हैं। वहीं सब गृहस्थ भक्त और मातृवर्ग ठहरते थे। सेवा तो सभी भक्तोंने की थी—'को बड़-छोट कहत अपराधू।' परन्तु कोई विशेष घटना घटकर एक महान् भक्तकी आदर्श श्रद्धा-भक्तिको खोल देती है, उसका गान तो करना ही पड़ता है। एक दिन ला० गनेशीलाल अपने पुत्र रामचरनसे कह रहे थे, "रामचरन! सेवा तो ठाकुर साहबकी है, अपनी तो कुछ भी नहीं है। कुछ पैसे खर्चकर दिये तो क्या हुआ? देखो, ठाकुरानी साहिबाका सारा जेवर, जो लाखों रुपयोंका था, वृन्दावन-आश्रममें चोरी हो गया। सुनकर महाराजजीको भी बहुत खेद हुआ, किन्तु ये लोग तनिक भी दुखी नहीं हुए, उन्होंने यह कहा कि श्रीमहाराजजीकी चीज थी, वे चाहे लुटा दें, चाहे चोरको दे दें।" श्रीमहाराजजीकी अद्भुत भक्तवत्सलताने उनका दुःख हर लिया। उस घटनाके पश्चात् इनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी तथा सेवाभावमें विकास ही हुआ। श्रीमहाराजजी जब-जब पैदल यात्रा करते थे, प्रायः रास्तेभर अपनी बग्घीमें चलकर उनकी सेवा करते थे। श्रीमहाराजजीकी तो सन्तोचित सर्वात्मदृष्टि थी। माताजीने कहा था कि श्रीमहाराजजीने पीछे यह बता दिया था कि इस चोरीमें किस-किसका हाथ था। परन्तु आप तो सर्वथा न्यस्तदण्ड थे। ठाकुर साहबने ही आश्रमका फाटक और उसके दोनों ओर ऊपर-नीचे सब कुछ बनाया था। रात-दिन वे स्वयं इस काममें लगे रहे। जब काम पूरा हो गया तब हमारे पूज्य बाबाने कहा था—"ठाकुर साहबका सब-कुछ बन गया।"

वास्तवमें ठाकुरसाहब धर्मराज ही थे। उनकी प्रजा सुखी थी। हम लोगोंको अपने बच्चोंकी तरह छातीसे लगाकर वात्सल्यसे सींचते थे। आप स्वयं श्रीमहाराजजीके विषयमें लिखते हैं—'अपने जीवनकालमें मैंने जितने महात्माओंके दर्शन किये हैं उनमें सबसे अधिक मेरी श्रद्धा बाबामें ही हुई। मुझे अनेक बार उन्हें भिक्षा करानेका अवसर हुआ। परन्तु मैंने उन्हें कभी स्वादके साथ भोजन करते नहीं देखा। भोजन करनेमें उसके स्वादपर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं थी। इसी प्रकार आपकी सब विषयोंसे असङ्गता देखनेमें आती थी। सन् १९४७ में मैं एक मोटर-दुर्घटनामें ग्रस्त हो गया था। उस समय मुझे एक मिनटके लिए मूर्च्छा हो गयी थी। अपने मनमें कोई सङ्कल्प न होनेपर भी उस समय मुझे बाबाका दर्शन हो रहा था। यद्यपि आप उस समय वृन्दावनमें थे। उस दुर्घटनासे मेरी जो प्राणरक्षा हुई उसे मैं बाबाका ही प्रसाद मानता हूँ।'

आप दोनों साक्षात् राजर्षि-दम्पति ही थे। बड़े नियमनिष्ठ थे। इनकी सेवा का स्पष्ट फल अन्तिम जीवनमें देखा गया। ये इतने अन्तर्मुख हो गये थे कि हर समय अपने इष्टमें ही लवलीन रहते थे, संसारका कुछ भी पता नहीं था। इनके विषयमें पूज्य बाबाने जो बात कही थी वह सच्ची निकली।

माता दुर्गाकुँवरि तो साक्षात् अन्नपूर्णा ही थीं। उनकी उदारता और अनन्यनिष्ठा विलक्षण ही थी। श्रीमहाराजजीकी प्रत्येक लीलामें आनन्द मनाना इनकी स्वाभाविकी सम्पत्ति थी। आप लिखती हैं—'उनके दर्शन और स्मरणसे जो अनिर्वचनीय सुख और शान्ति मिलती थी वह अनिर्वचनीय है। हमें कष्ट और आपत्तियोंसे कभी संघर्ष नहीं करना पड़ता था। श्रीमहाराजजी स्वयं ही उनका निवारण करते रहते थे। एकबार मैंने श्रीमहाराजजीसे कहा कि भजन नहीं होता तब आपने कहा कि तुम चिन्ता मत करो। तुम्हारे लिए मैं भजन करूँगा। श्रीमहाराजजीके निर्वाणके बाद ये उनके वियोगमें रोते-रोते अन्धी-सी हो गयी थीं। इनकी बीमारीमें मैं गया था। ये श्रीमहाराजजीके सिवा और सब भूल गयी थीं। किन्तु चेहरा शीशा-जैसा दमकता था। ऐसा जान पड़ता था कि भगवान् इनके अन्तःकरणमें विराजमान हैं। उनकी प्रसन्नता इनके रोम-रोमसे उद्भासित हो रही थी।

इनके धर्मपुत्र कुँवर नाहरसिंह वास्तवमें अनन्यताकी अधिकृत व्याख्या ही हैं। ये नियमके पक्के हैं और सदा प्रसन्न रहते हैं। श्रीरामायणजी और रामलीलाके प्रेमी हैं। देखा जाय तो ये गृहस्थोंकी पोशाकमें सन्त ही हैं। प्रायः तीस वर्षकी आयुमें ही पत्नीका देहावसान हो गया था, परन्तु सब प्रकारसे सुयोग्य और सम्पन्न होनेपर भी विवाह नहीं किया। इन्होंने श्रीमहाराजजीका सौंपा हुआ कर्त्तव्य प्राणपणसे पूरा किया। ठाकुरसाहब और ठाकुरानीजीकी ऐसी सेवा की कि ये श्रीमहाराजजीके दिये हुए उनके पुत्र ही सिद्ध हुए। ये लोग अपनी गोरहा और नरौलीकी रियासत इनपर छोड़कर सर्वथा श्रीमहाराजजीकी सेवामें ही रहते थे। श्रीमहाराजजी के प्रति भी इनका भाव बड़ा अद्भुत है। ये लिखते हैं—'एक बार मैं ठाकुरसाहबके साथ मोहनपुरसे श्रीमहाराजजीके दर्शन करके लौट रहा था। रातके नौ-दस बजेका समय था। मार्गमें मुझे हैजा हो गया। पेटमें भयानक दर्द था। कै और दस्त दोनों चल रहे थे। व्याकुलताके कारण मैं नहरके किनारे लोट-पोट रहा था। ठाकुरसाहब और ठाकुरानी बड़े

दुखी हो रहे थे। सोचते थे कि अब मोहनपुर श्रीमहाराजजीके पास ही लौट चलें। किन्तु श्रीमहाराजजीकी कृपासे मैं उस-समय अपनेको शरीरसे अलग ही अनुसन्धान कर रहा था। मैंने कहा, 'नहीं, मुझे ऐसे स्वामीजीसे क्या मतलब जो मोहनपुरमें है और यहाँ नहीं हैं।" उसी समय ठाकुरानीजीके हृदयमें ऐसी प्रेरणा हुई कि इनकी नाभिपर हींगका फाया रखना चाहिए। उन्होंने ऐसा ही किया और मैं ठीक हो गया।'

श्रीचैतन्यदेव—ये आपके एक अनन्यनिष्ठ सेवक थे। अलीगढ़के रहनेवाले थे तथा जातिके कायस्थ थे। इनका पूर्वाश्रमका नाम व्रजकिशोर था। पहले सर्विस करते थे फिर बाबा रामदासजी उदासीनसे विरक्त-वेशकी दीक्षा ले ली। भक्तहृदय और प्रेमी प्रकृतिके सज्जन थे। अन्तिम दिनोंमें इन्हें आन्त्रिक क्षय और राजयक्ष्मा दोनों रोग हो गये। ऐसे संक्रामक रोगोंसे सभी लोग भय मानते हैं। अतः आश्रमके लोगोंने इन्हें एक प्रकारसे त्याग ही दिया था। बाबा रामदासजीके सिवा और कोई उनके पास नहीं जाता था। श्रीमहाराजजीने उन्हें परमहंस-आश्रममें रखा। आश्रम छोड़ते समय उन्हें बहुत दुःख हुआ। लोग श्रीमहाराजजीको भी उनके पास जानेसे रोकते थे। परन्तु वे चुपचाप रात्रिमें ही आते थे। उस समय वे उन्हें आश्वासन देते और अपनी कृपामयी दृष्टिसे उनका दुःख हल्का करते थे। उनसे कहते कि कोई नहीं देखता तो न सही, मैं तो तुम्हारे साथ हूँ। एकबार विशारदजीने आपको उनके पास जाते देखा तो वे साथ हो लिए। आप उनसे आँखोंमें आँसू भरकर बोले, "चिरञ्जी ! ये लोग कैसे हैं ? यदि यह रोग मुझे हो जाता तो मुझे भी आश्रममें न रहने देते।"

एकबार चेतनदेवकी बहिन उन्हें देखनेके लिए आयी। उसने उन्हें स्पर्शतक नहीं किया और न कोई आर्थिक सहायता ही की। श्रीमहाराजजी दिखाकर कहने लगे, "देखो, यह संसार कैसा है ? यहाँ कौन किसका भाई और कौन किसकी बहिन ?"

एकबार उन्हें भयङ्कर दस्त होने लगे। वह वेदना सहन न कर सकनेके कारण वे रोने लगे। तब आप बोले, "मैं तुम्हारे लिए कीर्तन कराऊँगा, तुम ठीक हो जाओगे।" परन्तु कीर्तनमण्डलीके पहुँचनेसे पूर्व ही वे ठीक हो गये। और उसके पश्चात् प्राणप्रयाण-पर्यन्त उन्हें कोई असह्य वेदना नहीं हुई।

श्रीमहाराजजीने मुझे उनकी सेवा सौंपी थी। वे कहा करते थे, "मैंने इसे सूलीपर चढ़ाया है।" किन्तु मैं तो केवल निमित्तमात्र था, करते-धरते तो सब वे ही थे। जिस दिन उनका शरीर शान्त हुआ श्रीमहाराजजीका बालसूर्यके समान एक तेजोमय विग्रह मेरे शरीरसे निकलकर अन्तरिक्षमें अन्तर्हित हो गया। मैं बहुत रोया। मैंने अनुभव किया कि यह सारी सेवा तो आपने ही मेरे भीतर रहकर की थी, मुझे केवल झूठी प्रतिष्ठा दिलायी। सच है, **'उमा दारुयोषितकी नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥'** उन दिनों मेरे दिल, दिमाग और ओज अलौकिक ही थे। आप मुझे कुटियाके ऊपर ले गये और बोले, "जैसे यह सब दृश्य इदं रूप है वैसे ही इस शरीरको भी देखो। मस्त रहो। याद रखो, आँख बन्द करनेपर **'नेह नानास्ति किञ्चन'** और आँख खोलनेपर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'**

सरोजनीदेवी—ये एक बङ्गाली महिला थीं। बचपनसे ही वृन्दावनमें रहकर भजन-साधन करती थीं। ये बड़ी ही भगवद्भक्ता, विदुषी और साधु प्रकृतिकी थीं। पूर्वाश्रममें इनका श्रीअरविन्द घोषसे भी सम्पर्क रहा था। श्रीमहाराजजीमें इनको अटूट श्रद्धा थी। ये उन्हें 'गोपालजी' कहा करती थीं। जब ये बीमार हुईं तो श्रीमहाराजजीने मुझे इनकी सेवा सौंपी। एक दिन प्रातःकाल मुझसे बोलीं, "आज रातमें मुझे बड़ी असह्य वेदना हुई। उस समय गोपालजी दिव्य देहसे मेरे पास आये और मेरा दुःख शमन करके चले गये।" अन्तकाल उपस्थित होनेसे पूर्व जब वे होशमें थीं तब श्रीमहाराजजी उनके पास गये और उनसे पूछा, "यदि तुम्हारे सामने हजारों-हजारों कृष्ण नाच रहे हों तो भी क्या तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा कि ये प्रतीतिमात्र और सत्ताशून्य हैं।" श्रीमहाराजजी प्रत्येककी अपनी ही निष्ठाकी पुष्टि करते थे। माँने कहा, "गोपालजी ! यदि आपकी कृपा होगी तो हो जायगा।" अब वे अचेत हो गयीं तो मैंने श्रीमहाराजजीसे पूछा कि माँकी क्या गति होगी ? आपने हँसकर कहा, "बेटा ! जीवन भरकी जो निष्ठा होगी वही मुख्य रहेगी। मुक्ति तो ज्ञानसमकाल ही होती है।"

जब उनका शरीर शान्त हुआ तो श्रीमहाराजजी और बाबा अपने परिकरके सहित उनकी शवयात्रामें गये। बाबाने अपने हाथसे उनकी चित्ता बनायी और अग्नि प्रज्वलित होनेपर संकीर्तन करते हुए उसकी परिक्रमा की। फिर व्रजमण्डलके सभी वैष्णवोंका भण्डारा किया।

मातृमण्डल

बहिनजी—इनका नाम चमेलीदेवी था। परन्तु श्रीमहाराजजी तथा और भी सब लोग इन्हें 'बहिनजी' कहकर ही सम्बोधन करते थे। सुनते हैं कि ये दिल्लीकी रहनेवाली थीं और जन्मतः खत्री थीं। ये परमभक्ता और श्रीमहाराजजीमें अनन्य निष्ठा रखनेवाली थीं। श्रीमहाराजजीके यहाँ प्रत्येक एकादशीको श्रीरामचरितमानसका अखण्ड पाठ होता था। इसमें पन्द्रह-सोलह घण्टे लग जाते थे ये उतनी देर खड़ी रहकर उसे सुनती थीं। इनकी तीव्र सहिष्णुताके और भी कई प्रसङ्ग हैं। जिस समय श्रीमहाराजजी गढ़मुक्तेश्वरसे प्रयाग गये उस समय ये वहाँ उपस्थित नहीं थीं। इन्हें जब मालूम हुआ तो ये अकेली चल दीं और सारी यात्रा पैदल ही की। रात्रिमें प्रायः जङ्गलमें ही रहती थीं। रास्तेभर केवल भुने चने खाकर ही निर्वाह किया। किन्तु इन्हें मार्गमें ऐसा अनुभव होता रहा कि श्रीमहाराजजी मेरे साथ हैं। एकबार अनूपशहरसे गङ्गाजीकी धाराके सहारे-सहारे कर्णवासको चल दीं। कहीं-कहीं किनारा बहुत ऊँचा आता तब भी धाराके समीप रहकर ही चलतीं। कहीं किनारे पर ही गहरा जल था इसलिए धारामें पड़कर बहने लगीं। प्रायः पाँच मील बहनेपर किसीने कर्णवासमें ही बाहर निकाला। इसी तरह एकबार कुएँमें गिर जानेपर भी बच गयीं। वे जीवन-पर्यन्त श्रीमहाराजजीकी सन्निधिमें ही रहीं और वृन्दावन-आश्रममें ही किसी विषैले कीड़ेके काटनेसे कुछ घण्टोंमें ही इनका देहान्त हो गया। अन्तसमय भी इन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था कि श्रीमहाराजजी आये हैं और मैं उनके साथ जा रही हूँ।

हरिप्यारी—ये वृन्दावनकी ही रहनेवाली हैं। परन्तु अपने घरपर न रहकर आश्रममें ही रहती हैं। पहले-पहले ये दिल्लीमें श्रीमहाराजजीको मिली थीं तबसे अधिकतर उनकी सन्निधिमें ही रहीं। बहुत ही बुद्धिमती और साधननिष्ठ हैं। श्रीमहाराजजीका सुख ही इनका सुख रहा है। इनके व्यवहारसे कभी किसीको कोई असन्तोष नहीं हुआ। सब लोग इन्हें 'बीबी' कहकर सम्बोधन करते हैं।

त्रिवेणी—ये आगरेकी रहनेवाली हैं। बड़ा ही शान्त और संयत स्वभाव है। हरिप्यारीजीके साथ ही रहती हैं। श्रीचरणोंकी पादुकाओंके समीप नियमसे श्रीरामचरितमानसका पाठ और रामचन्द्रजीकी उपासना यही इनका दैनिक कृत्य है।

भगवतीदेवी—ये स्वामी सनातनदेवकी माताजी थीं। उनके संन्यास लेनेपर ये घर छोड़कर आश्रममें ही रहने लगीं। ये बड़ी साधु प्रकृतिकी थीं। अपने कामसे-काम रखती थीं। खाने-पीने या कपड़ा पहननेका कोई शौक नहीं था। कमसे-कममें निर्वाह कर लेना इनका स्वभाव था। अन्तिम समयतक स्वयं ही अपना काम करती रहीं, नियमसे नामजप, ठाकुर-सेवा और श्रीमहाराजजीके मन्दिर एवं कुटियाकी परिक्रमाएँ लगाना इनका दैनिक कृत्य था। प्राय: ८५ वर्षकी आयुमें अपने घरपर ही इनका स्वर्गवास हुआ।

शर्बती—ये अनूपशहरकी रहनेवाली हैं। पहलेसे ही सन्तोंकी सन्निधि में रहती रही हैं। पहले श्रीभोले बाबाजीकी शिष्या जयदेवीजीके पास रहती थीं। फिर श्रीमहाराजजीमें इनकी अनन्य निष्ठा हो गयी। उन्हें ही सब कुछ मानती हैं। सभी परिकरके साथ इनकी आत्मीयता है और वैसा ही स्नेह श्रीस्वामीजीके परिकरके साथ भी है।

चन्द्रावली—यह विश्रामपुर जिला आगराकी रहनेवाली है। श्रीमहाराजजीकी अनन्य भक्ता है। 'श्रीमहाराजजी ! श्रीमहाराजजी !' बस यही इसका महामन्त्र है। अष्टयाम सेवाकी भाँति हर समय उन्हींकी सेवा-पूजामें लगी रहती है। मातृमण्डलकी सफाईमें मुख्यतया इसीका हाथ है। ऐसा भाव रहता है कि महाराजजीको कहीं गन्दगी न जान पड़े।

सैंड़ौलवाली माताजी—इनका नाम भगवती था। ये सैड़ौल गाँवकी रहनेवाली ब्राह्मणी थीं। नित्यप्रति एक लाख नाम जपती थीं। श्रीमहाराजजीकी अत्यन्त भक्ता थीं और उनके विषयमें इन्हें अनेकों चमत्कार होते थे। बहुत शान्त और संयत जीवन था। कभी किसीसे कोई मन-मुटाव नहीं हुआ। अन्तिम दिनोंमें आश्रममें आकर रहने लगी थीं, किन्तु देहावसान घरपर ही हुआ।

शकुन्तला—यह चन्दौसीकी रहनेवाली हैं। श्रीमहाराजजीकी परम-भक्ता हैं। स्वभाव बहुत उदार और मिलनसार है। शङ्करजीकी उपासना और रामचरितमानसका पाठ करती हैं। पूज्य बाबा और स्वामीजीमें भी अत्यन्त श्रद्धा है। इनके पिताजी तथा भाई अपनी आयका दशमांश श्रीमहाराजजीकी सेवामें लगाते रहे हैं।

लीलावती—यह अतरौलीकी रहनेवाली है। श्रीमहाराजजीमें गुरु-भाव है और प्रिया-प्रियतमकी उपासना है। आचार-विचारका विशेष ध्यान रहता है। इसने अपना मकान श्रीमहाराजजीके ट्रस्टको दे दिया है। ●

: १७ :

पंजाबयात्रा

रुग्णावस्था

श्रीमहाराजजीके चरणसान्निध्यमें नित्य निरन्तर आनन्द ही रहा। आप कहा करते थे कि हमारा आश्रम तो साक्षात् वैकुण्ठ है। वे ऐसा कहें अथवा न कहें, था ऐसा ही, इसमें सन्देह नहीं। महापुरुषोंके जीवनमें जो प्रवाह आता-जाता है, जो परिस्थिति या घटना घटती हैं, उन सबके आने-जानेका एकमात्र प्रयोजन है उस महान् सबल ब्रह्मण्यमूर्त्तिका परिचय देना। भगवान्ने कहा है—'**बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्**' अर्थात् मैं बलवानोंका कामना और आसक्तिसे शून्य बल हूँ। इसकी स्पष्ट व्याख्या यहीं मिली। जो किसीका नहीं होता वही सबका होता है—यह ध्रुव सत्य पग-पगपर साधकको सावधान करता है कि देखो और समझो। श्रीमहाराजजीका जीवन भी स्पष्टतया यही दिखाता है कि जीवनदर्शन और ब्रह्मदर्शन दो नहीं, एक ही हैं। आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि बड़े-से बड़ा मान या अपमान होनेपर भी आपको क्षोभ नहीं होता था। उदारता इतनी भरपूर थी कि अपनेको दे डालनेमें भी किसी प्रकारकी हिचक नहीं थी। सर्वसुलभ ऐसे थे जैसे व्रजके ठाकुर।

आपके जीवनमें सबसे विकराल घाटी वह थी जब आपका शरीर रोगाक्रान्त हुआ। पता नहीं, यह आपका अपना ही भोग था या करुणावश किसी दूसरेका अपने ऊपर ले लिया था। परन्तु भक्तोंके लिए तो यह अत्यन्त क्लेशप्रद था। उस स्थितिमें भी आप अपने स्वरूपमें अलमस्त रहते थे। किसी प्रकारकी चिन्ता या बेचैनीका तो प्रश्न ही क्या था? उस समय मानो आप यह संकेत कर रहे थे कि अमिट प्रसन्नता यह है, अडिग धैर्य भी यही है तथा अद्वितीय सत्यकी आत्मदृष्टिसे समाराधना भी यही है। आपको बहुमूत्रका रोग हुआ और शरीरमें सूजन आ गयी। एक दिन आप कह रहे

थे कि यह तो ऐसा रोग है कि हड्डियोंको भी पानी-पानी कर देता है। तब बाबाने **'नाशै रोग हरै सब पीरा। जपत निरन्तर हनुमत बीरा'** इस सम्पुट के साथ श्रीहनुमान-चालीसाका सङ्कीर्तन आरम्भ किया। आप कहा करते थे कि बेटा! जिस प्रकार तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहते वैसे ही यह रोग भी नहीं छोड़ना चाहता। किन्तु इस रुग्णावस्थामें भी आप पथ्य और औषधिकी विशेष परवाह नहीं करते थे। जो जैसी दवा ले आता उसे ही खा लेते और जो कुछ कोई ले आता उसीका भोग लगा लेते। अपनी चाल-ढालमें कोई परिवर्तन नहीं किया और न रहन-सहनमें कोई अन्तर आया।

इस विकट रोगके समय ब्रह्मचारी श्रीरामजी, जो आगे चलकर ज्योतिर्मठके शङ्कराचार्य हुए, आपकी सेवामें रहते थे। वस्तुतः सेवा तो उन्होंने की। पीछेसे मधुसूदन ब्रह्मचारी भी आकर सम्मिलित हो गये। उन दिनों हमारे परिकरके लिए दुःख और दुर्भाग्यके बादल ही छाये हुए थे। तभी पूज्य बाबाके सहित पूजनीया माँने आपसे अनुरोध किया कि पिताजी! यदि आप सङ्कल्प करें तो ठीक हो जायेंगे। परन्तु आप तो उन दिनोंमें हम लोगोंके आगे कभी-कभी गाते थे—**'गोवर्धन कूँ जाऊँ मेरी वीर, ना माने मेरो मनुआँ।'** रात्रिको कभी लेट जाते और गाने लगते—**'गोविन्द गुण गाओ रे। रंका तारे बंका तारे तारे सदन कसाई।'** कभी-कभी कहते थे, "जो पूछना हो पूछ लो, फिर कहनेवाले नहीं मिलेंगे।" कभी-कभी स्वयं ही सावधान करते हुए कहने लगते, 'यह बात लाख रुपयेकी है, गाँठ बाँधकर रख लो।' अहा! वे कृपालु कितना हमारे भावी हितका ध्यान रखते थे। और हमें सावधान कर रहे थे।

रोग अपनी भयंकर गतिसे चल रहा था। परन्तु आपकी अपनी वही अलमस्ती चाल थी। मानो यह दिखा रहे थे कि आँखें खोलो और देखो कि रोगमें क्या सार है। घबरानेकी क्या आवश्यकता है। जिन्हें ऐसा अविचल आत्मबोध है कि मैं ऐसी ठोस वस्तु हूँ जिसका कोई भी छेदन-भेदन नहीं कर सकता, वह क्यों व्याकुल होगा। व्याकुलता तो दूर वहाँ तो इस शरीर और रोगकी पहुँच ही नहीं है। उस अलक्ष्यमें इसकी दाल नहीं गलती। बादल तो सूर्य या चन्द्रमाको ढाँप भी सकते हैं परन्तु हमने स्पष्ट देखा कि इन रोगके बादलोंसे, दुःखकी छायासे और हम लोगोंकी व्याकुलतासे आप टस-से-मस भी नहीं हुए। वही प्रसन्नताका प्रवाह, वही प्रेमभरी चितवन, वही दयामयी दृष्टि, वही कृपाकी अकुलाहट,

वही लालन-पालनका वात्सल्य और वही सर्वहितमय समारम्भ ज्यों-के-त्यों चल रहे थे। वे तो निरावरण सूर्यके समान अपने अद्वितीय तीव्र प्रभावमें ही देदीप्यमान हो रहे थे। परन्तु दुःख कहता था कि मैं भी उनके अद्वितीय स्वरूपसे पृथक् थोड़े ही हूँ। राहु-ग्रसित चन्द्रमा तो मलिन पड़ जाता है, परन्तु रोगग्रस्त होनेपर भी आप मानो दिखा रहे थे कि चन्द्रमाके और हमारे अमृतमें महान् अन्तर है। यह तो अमृत ब्रह्मका सबल रस है; यहाँ रोगके कारण विषाद नहीं, उल्टे उसका आवाहन था। जिस प्रकार शिव कालीको अपने वक्षःस्थलपर नृत्य करनेके लिए बुलाते हैं और दिखाते हैं कि तू कितना ही नृत्य कर, हमारी निःस्पृहतामें कोई अन्तर नहीं आ सकता, हमारी असङ्गतामें आँच नहीं लग सकती, क्योंकि देखते हुए भी न देखना हमारा स्वभाव है। आप दिखा रहे थे कि **'यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत्'** (जहाँ सब आत्मा ही हो गया वहाँ कौन किसके द्वारा क्या देखे ?) अतः इस रोगद्वारा भी आपकी अविचल आत्मनिष्ठाका अद्भुत परिचय मिल रहा था।

यह बात सं० २००४ वि० की है। आपने कहा था कि बाँध टूट जायगा। बाँधपर जहाँ आप निवास करते थे वह स्थान 'कैलास' कहलाता था। कैसा आश्चर्य कि सबसे पहले वही टूटा। फिर २००४ की होलीके उत्सवपर पूज्य श्रीबाबा और माँके आग्रहसे कार द्वारा बाँधपर गये। जब वहाँसे कर्णवास आये तो आपने कहा कि यह भूमि भयानक-सी लगती है। बाँधपर बाबाने भी कहा था कि गङ्गाजी मुख फाड़कर देख रही हैं, पता नहीं वह क्या करेंगी। इन सब बातोंसे आपके प्रयाणके संकेत मिल रहे थे।

पंजाब यात्राका सङ्कल्प

पूज्य बाबा प्रायः प्रतिवर्ष गुरुपूर्णिमा आपके पास ही करते थे। सं० २००५ की गुरुपूर्णिमा कहाँ होगी—इसका निश्चय नहीं था, क्योंकि श्रीमहाराजजी कानपुरवाली माँजीकी प्रार्थनासे कानपुर चले गये थे। पीछे आप वृन्दावन लौट आये और वहीं गुरुपूर्णिमा भी हुई। परन्तु बाबा यह सूचना पाकर कि इस वर्ष महाराजजी वृन्दावनमें नहीं हैं प्रयागमें ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीके यहाँ रह गये। वहाँ आपके स्वास्थ्यलाभके लिए उन्होंने अनुष्ठान भी आरम्भ करा दिया। इधर श्रीमहाराजजी सब कुछ जानते हुए भी सबको प्रेमसे रखते थे और बार-बार बाबाके पास भी आनेके लिए खबर भेजते थे। तथापि बाबा माँके साथ बहुत देरसे माघ-

मासमें यह कार्यक्रम लेकर आये कि आपको होशियारपुर ले जायँ और वहाँ खान-पानका नियन्त्रण करके स्वस्थ करें। साथमें कम-से-कम आदमी चलें।

किन्तु श्रीमहाराजजी किसीको भी छोड़ना नहीं चाहते थे। वे जानते थे कि आगे इन लोगोंपर क्या विपत्ति आनेवाली है। आप तो हमें अपना स्नेहरस पिला रहे थे, जिसकी जुगाली करके हम आगे जी सकें। बाबाके आनेसे पहले ही आपने आज्ञा दी कि सारे आश्रमकी सजावट करो। इधर जो सम्पत्ति थी उसे ट्रस्टके अधीन कर रहे थे। बाबू रामसहायजीने कानपुरवाली माँजीके मन्दिरको भी ट्रस्टके अधीन करनेका आग्रह किया। तब आपने कहा कि मैं उन्हें देनेवाला कौन हूँ ? इनकी भूमि तो हमारे नामसे खरीदी नहीं गयी, फिर इन्हें देनेका मुझे क्या अधिकार है। आश्रममें भी जिन-जिनने रुपया दिया है वे ही इसे सँभालें। यह सब तो मेरी इच्छाके बिना ही बन गया है। यदि मेरी इच्छा होती तो यहाँ सुवर्णके भवन खड़े हो सकते थे। आपकी ऐसी निरपेक्षता देखकर मैं तो दंग रह गया। रामदासजीने एक रात को कहा, "प्रभो ! इस आश्रमका कुछ प्रबन्ध होना चाहिए।" तब आपने अपना शरीर दिखाकर कहा, "बेटा ! यह भी टूटनेवाला है, फिर किसका प्रबन्ध किया जाय।" मैंने कहा, "महाराजजी ! मन्दिरोंकी प्रतिष्ठाका उत्सव तो बहुत जोरदार होगा न ?" आप बोले, "बेटा ! यह तो स्वप्न की बात है।" फिर आपने आश्रमका क्षेत्र बन्द करके हम लोगोंको झोली दी कि भिक्षा माँगकर खाओ और रहो यहीं। कभी-कभी पंचाङ्ग देखकर कहते थे कि इसे सबके सामने जाना होगा। तरीवाले पण्डितजीने कहा, "महाराजजी ! आपके शरीरको शस्त्र द्वारा जाना होगा। यदि आप चाहें तो रोक सकते हैं।"

अब बाबाके आनेका समय हुआ। रामस्वरूप ब्रह्मचारी और मैंने मिलकर श्रीमहाराजजीकी कुटियासे ही सजावट की। पहले आप किसीके भी आनेपर ऐसी सजावट नहीं कराते थे। अब मानो आगेके लिए ऐसी परिपाटी डाल रहे थे कि आश्रमवालोंको ऐसा करना चाहिए। इन दिनों प्रयागमें जो प्रोग्राम बन रहे थे उनका संकेत भी आप रात्रिके समय दिया करते थे। जब बाबा और माँ पधारे तो उनका खूब स्वागत कराया। फिर होशियारपुर जानेका निश्चय हुआ और मार्गमें दिल्ली, कुरुक्षेत्र, अम्बाला और खन्नामें ठहरनेका कार्यक्रम बना।

वृन्दावनसे अम्बालातक

श्रीकृष्णानन्दजी अवधूतका खन्नावाले स्वामी त्रिवेणीपुरीजीमें गुरुभाव था। वे इन महापुरुषोंको वहाँ ले जाना चाहते थे। यात्राके लिए तीन बसें तैयार की गयीं। पहला पड़ाव था दिल्ली। वह तो आपका अपना गढ़ ही था। वहाँ श्रीगुलराजजी तथा विपिनचन्द्र आदि भक्तोंने अद्भुत स्वागत किया। सेठ गुलराजजी दिल्लीमें एक गृहस्थ सन्त थे। ऐसे साधन-सम्पन्न, सन्तस्वभाव गृहस्थ विरले ही होते हैं। उनका एक सत्सङ्ग मण्डल था, जिसमें सैकड़ों गृहस्थ सम्मिलित थे। उनका नित्यप्रति नियमसे सत्सङ्ग और स्वाध्याय चलता था। कई विरक्त सन्त भी गुलराजजीसे साधनमें प्रेरणा प्राप्त करते थे। इनका कुदसिया घाटपर अपना एक घाट था। उसीपर इस समारोहकी योजना हुई। श्रीविपिनचन्द्र मिश्र भी बहुत ही साधनसम्पन्न सद्गृहस्थ हैं। यद्यपि उस समय ये नये-नये वकील हुए थे, किन्तु अब तो दिल्ली हाईकोर्टके एक माननीय जज हैं। सभी प्रमुख सन्तोंसे इनका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और स्वयं भी बाबूरूप-में सच्चे सन्त ही हैं। बड़े प्रसन्नवदन और हँसमुख हैं तथा हँसी-हँसीमें ही सत्संगका अमृतपान कराते हैं। श्रीमहाराजजीके विषयमें ये लिखते हैं—'बाबा क्या थे—यह हम क्या कह सकते हैं? बाबा ज्ञेय नहीं ज्ञान थे। इसलिए प्रत्येक द्रष्टाकी दृष्टिके अनुसार प्रतिभासित होते थे। वस्तुतः वे चलते-फिरते स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही थे। उनमें सभी गुणों और भावोंका आरोप किया जा सकता था। भिन्न-भिन्न व्यक्ति उनसे भिन्न-भिन्न भाव और सम्बन्ध जोड़ते थे। और वे महापुरुष उन सभीकी पुष्टि कर देते थे। तथा जीवनपर्यन्त निभाते रहते थे सत्तासामान्यमें व्यवहार करते थे। तथा सभी क्रिया और भावोंको बिना किसी आग्रहके प्रकाशित करते थे। सभामें श्रेष्ठ आसनपर बैठते थे पूजा भी स्वीकार करते थे और दूसरे ही क्षण सेवाकार्य करते भी दिखायी देते थे। कभी अत्यन्त शान्त, गम्भीर और श्रेष्ठतम भूमिकामें समाधिस्थ प्रतीत होते थे और कभी दूसरोंकी नकल करके मनोरञ्जन भी करते थे।..........उपदेश सर्वदा प्रश्नकर्ताकी भूमिकासे ऊँचे उठकर देते थे। शास्त्र, अनुभव और तर्क-सम्मत उत्तर विलक्षण रीतिसे देना उनका स्वभाव था। कोई ब्रह्मज्ञानकी बात विशेष करता तो उसे अभ्यासकी शिक्षा देते और कोई अभ्यासमें बहुत लगा रहता तो उसे मस्तीका सिद्धान्त सुनाते। कहते कि यदि कोई एक बार भी लाटसाहबसे हाथ मिला लेता है तो उसे जीवनभर

तथा उसके पुत्र-पौत्रोंको भी उसका अहंकार और गौरव बना रहता है। तुम कैसे हो कि आज प्रातःकाल ही भगवान्‌के नाम और रूपके दर्शन करके आये हो अभी एक घण्टेमें ही पिटी-सी सूरत हो गयी।'

सब लोग कुदसिया घाटपर ही ठहरे, किन्तु माताजी अपने एक भक्तके यहाँ रहीं। यहाँ तीन दिनतक सत्संग और रासलीलाका आनन्द रहा। श्रीजुगलकिशोर विरला आपको अपने लक्ष्मीनारायण-मन्दिरमें ले गये और ऐसी भावनासे कि हमारी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे संसदभवनमें भी आपका पदार्पण कराया। श्रीगनेशीलालका भानजा जुगलकिशोर आपको मुगल-गार्डनमें ले गया और वहाँ आपका चलचित्र लिया। दिल्लीमें आपके अनेकों भक्त थे, जिनमें श्रीअतुलकृष्ण गुप्त, आत्माराम खेमका, वारूमल, परमानन्द दीक्षित, रघुवीरसिंह, शिवचरणलाल, गौरीशंकर खन्ना, दशरथ-नन्दन, खुशालचन्द तुली और बालाप्रसाद आदिके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

यहाँसे आप सब भक्तपरिकरके सहित बसोंद्वारा कुरुक्षेत्र पहुँचे। यह श्रीगीताजीका जन्मस्थान है और सबलोग गीताभवनमें ही ठहराये गये थे। तब हम लोगोंने आपसे प्रश्न किया कि गीताका सार क्या है। आप बोले—

'निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखःदुखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्॥'[१]

इस समय आपके साथ कोई आग्रहपूर्वक खिलाने-पिलानेवाले तो थे नहीं और स्वयं अपने हाथसे आप कुछ खाते नहीं थे। समष्टिमें जो कुछ बनता था वह आपके रुग्णशरीरके अनुरूप नहीं होता था। फिर भी आप दिखा रहे थे कि फकीरीमें यही तो आनन्द है कि प्रत्येक परिस्थितिमें सन्तुष्ट रहें।

यहाँसे अम्बाला छावनी गये। वहाँ भी सत्संग और रासलीलाका प्रोग्राम रहा। वहाँकी बालिकाओंने रामचरितका अभिनय किया। प्रायः तीन दिन ठहरकर यहाँसे खन्ना गये।

---

१. जो मान और मोहसे मुक्त हैं, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जो नित्यनिरन्तर आत्मदर्शनमें संलग्न रहते हैं, जिनकी सब कामनाएँ निवृत्त हो गयी हैं और जो सुख-दुःखादि सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे छूट चुके हैं वे विवेकी पुरुष ही उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं।

खन्नामें

खन्नामें बहुत बृहत् आयोजन था। अवधूतशिरोमणि श्रीत्रिवेणीपुरीजी महाराजका वहाँ बड़ा प्रभाव था। वे वास्तवमें अद्‌भुत महापुरुष थे। उनके अनेकों भक्त तो उन्हें श्रीनानकदेवका अवतार मानते थे। उनका बालवत् सरलस्वभाव था और ब्रह्मनिष्ठाके तो वे मूर्तिमान् स्वरूप ही थे, जो शब्द बोलते उसका ब्रह्मपरक अर्थ कर डालते थे। अत्यन्त महान् होनेपर भी उनमें निरभिमानताकी मिठास भरी हुई थी। उनमें सरलता, सरसता और विनयका अद्‌भुत सम्मिश्रण था। मालूम होता था कि उनके आन्तरिक ज्ञान, विज्ञान और भक्तिरूप त्रिवेणीका ही इस रूपमें प्राकटच हुआ है। आपका स्वभाव और शिक्षा थी—भीखमें-से भीख दे, तीन लोक जीतले।' इलायचीका प्रसाद देते समय आप यही बात कहते जाते थे। आपमें सन्तकी सरलता, अवधूतका आनन्द, बालकों-जैसा भोलापन और आत्मस्वरूपसे मातृवत् व्यवहार देखते ही बनता था।

वहाँ जो उत्सव हुआ उसने भी यह दिखा दिया कि यदि उत्साह और श्रद्धाका स्वरूप देखना हो तो पंजाबमें देखो। प्रेममयी परिचर्याकी झाँकी यहीं मिली। लंगर रात-दिन चलता रहता था। वहाँके भक्तोंमें केवल देनेका ही शौक था, लेनेका नहीं। सन्तदर्शनकी सच्ची ललक उनमें देखी गयी। जैसा सर्वत्र होता था वहाँ भी कथा, कीर्तन, प्रवचन और रासलीलाका कार्यक्रम रहा। जनताका ऐसा उत्साह था कि बहुत अधिक भीड़ होनेके कारण अन्तिम दिन रासलीला बन्द करनी पड़ी। यहाँ नौ दिन निवास रहा।

श्रीमहाराजजीका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिर रहा था। उसमें लाभका कोई चिह्न नहीं देखा जाता था। अब आगे होशियारपुर जानेके विषयमें विचार होने लगा। यह निश्चय हुआ कि साथमें बहुत थोड़े लोग जायेंगे। श्रीमहाराजजीके साथ जो साधुलोग चल रहे थे उन्हें यहींसे विदा करनेका निश्चय हुआ। श्रीमहाराजजी तो बड़े भक्तवत्सल थे। वे जानते थे कि इन्हें बहुत बड़ा विछोह होनेवाला है। प्रायः दो सालसे सभीको भजन करनेकी शिक्षा देते थे किन्तु किसीको कहीं भेजते नहीं थे। कोई जानेकी आज्ञा माँगता तो उन्हें अच्छा नहीं लगता था। इससे उनका कोई स्वार्थ थोड़े ही था। ऐसा विचार आना तो अपना ही अधःपतन करना है। बस,

यह उनके कृपामय हृदयका क्रन्दन ही था, उनके मातृस्नेहपूर्ण दिलका दुलार था, उनकी अनाथोंको सनाथ करनेवाली सार्वभौम दृष्टिकी सरस धारा थी तथा उनके आश्रित-प्रतिपालन और परिपोषणकी पराकाष्ठा थी। स्वयं जा रहे हैं, किन्तु भीतरसे थाम भी रहे हैं। आँखोंसे ओझल होनेकी तैयारी स्पष्ट दीख रही है, किन्तु किसीका हृदय विदीर्ण न हो, इसलिए स्वयं मृत्युञ्जयस्वरूप आप अपने अमृतमय हस्तसे सहारा दे रहे हैं। अपनी अमृतमयी दृष्टिसे पोषित कर रहे हैं। क्या कहें आपके उस अद्‌भुत स्नेहका रस, आपके उस वात्सल्यकी महिमा और मूक दुलारकी करामात। आपका यह दुलार ले जाता है आनन्द-ब्रह्ममें और बैठता हैं पूर्णकी गोदमें। यह दुलार ही अनन्त कालतक समरस जीवन बितानेकी सञ्जीवनी है। यह प्यार ही प्रेमामृतपान करनेकी—पिपासाकी देन है। यह तो साक्षात् रामवनवासका ही दृश्य था। राम स्वयं वनवासके लिए जा रहे थे, किन्तु वे स्वयं ही विछोहके हजारों-हजारों डंकोंसे व्यथित अयोध्यावासियोंकी तीखी जलनको—उनके करुण क्रन्दनको शान्त भी कर रहे थे।

यद्यपि सबको विदा करनेका प्रस्ताव होनेपर आपने 'हाँ' कर दिया विदा भी करने लगे और दावानलबिहारीकी तरह सबका दुःख स्वयं पी भी गये, तथापि आपके स्वास्थ्यपर इसका भी विपरीत ही प्रभाव पड़ा। इस निर्णयके पश्चात् बाबा और माँ आपको तथा कुछ अन्य भक्तोंको लेकर सरहिन्द गये। यह वह स्थान था जहाँ कि गुरु गोविन्दसिंहजीके दो पुत्रोंको जीवित ही दीवारमें चिनवा दिया गया था। वहाँ आपके नेत्रोंसे आँसू टपकने लगे। वहाँके ग्रन्थीने मुझसे कहा, 'ब्रह्मचारी! इनमें नूर बरस रहा है। इनके भीतर वाहगुरुका वास है। क्या गजबका नूर है, इन्हें कभी मत छोड़ना।' इतनेमें ही आप लघुशंकासे निवृत्त होनेके लिए गये। तब मैंने अवसर देखकर माँ और बाबासे कहा, "देखिये महाराजजीकी क्या दशा है, उन्हें कितना ज्वर चढ़ा हुआ है, वे स्वयं तो कुछ कहते नहीं, आप स्वयं देखकर निर्णय करें।" बाबा तो आपके स्वास्थ्यके लिये चिन्तित थे ही। उन्होंने देखकर यह निश्चय किया कि अब और आगे नहीं जायँगे।

दूसरे दिन श्रीमहाराजजी सोलनवाले राजासाहबकी कारसे वृन्दावन लौट आये। आकर माताजी तथा और सबके ठहरनेकी व्यवस्था की। रातमें बहुत जोरसे शीत चढ़ा। शरीरके कम्पके कारण तखत भी हिल उठता था। तब रामजी और बीबी चन्द्रवती आपको सँभालनेके लिए गये। मैं तो सत्सङ्गभवनसे देखकर ही अकुला रहा था।

अब होलीके उत्सवकी तैयारी होने लगी। उत्सव यथावत् पूर्ण हुआ। स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी अमृतसर चले गये। इसके कुछ काल पूर्व श्रीमक्खनलाल केलाकी पुत्री कुसुम एक मोटर-दुर्घटनामें घायल हो गयी थी। आप मोटरद्वारा आगरा जाकर उसे देख आये। वह कहती थी कि उस समय श्रीमहाराजजीने मुझे यह श्लोक दिया था—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥[1]

(गीता २।१५)

आपकी अमृतमयी दृष्टि पड़नेसे उसकी पीड़ा भी बहुत कुछ शान्त हो गयी।

वहाँसे आप समाई और हाथरस होते हुए तथा भक्तोंसे मिलते हुए पुनः वृन्दावन लौट आये।



१. पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जिस पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय कष्ट नहीं पहुँचाते और जो सुख-दुःखमें समान रहते हैं वह अमरत्व का अधिकारी है।

: १८ :

लीला-संवरण

इस प्रकार कुछ समय निकल जानेपर चैत्र कृष्णा १४ सं० २००५ वि० आयी उसी दिन श्रीमाताजीको काशी जाना था और बाबा ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीके यहाँ झूसी जा रहे थे। आपने कारतक जाकर दोनोंको विदा किया। किसीको विदा करनेके लिए उसकी सवारीतक जानेकी घटना भी यह पहली बार ही हुई थी। प्रातःकालके सत्संगमें नित्यप्रतिकी भाँति आपने गीताजीका प्रवचन किया उस दिन इन श्लोकोंकी व्याख्या हुई थी—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥[1]

(गी० २।२७,२८)

सबेरे चाय पीनेके समय आपने कहा, "यह कुटिया सूनी-सूनी लगती है।" दोपहरको रामायण कीर्तनके समय पल्टू बाबाने एक ही आसन बिछाया था। आपने उन्हें डाँटा कि यह तुमने क्या अशुभ कर डाला। मध्याह्नोत्तर ढाई बजेसे सत्संग आरम्भ होता था। उसके पहले आप स्नान-घरमें लघुशङ्कासे निवृत्त होकर बाहर आये। सामने स्वामी प्रबोधानन्द खड़े थे। उन्हें दिखाकर कहा, "प्रबोधानन्द ! देख, सामनेके वृक्षपर गृद्ध बैठा है, मालूम होता है यहाँ श्मशान होगा। फिर बगलमें रामचरितमानसकी एक नयी पोथी दबाकर कथामण्डपमें आये। उसी पोथीसे उस दिन रामायणजी का गान हुआ। उसके पश्चात् श्रीआनन्द ब्रह्मचारीने ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी की 'भागवती कथा' पढ़नी आरम्भ की। आप समाधिस्थ होकर बैठ गये। इस प्रकार तो आप सर्वदा ही बैठते थे। किन्तु आजकी समाधि कुछ विशेष गम्भीर थी। आज आप अत्यन्त निश्चल भावसे बैठे हुए थे। स्वामी अद्वैतानन्द पीछे खड़े हुए मोरछलसे मक्खियाँ उड़ा रहे थे। प्रायः पच्चीस श्रोताओं के सामने कथा हो रही थी। इतने होमें पीछेसे ठाकुरदास[2] आया। उसने

१. जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है और मरनेवालेका जन्म निश्चित् है। अतः जो निश्चित बात है उसके विषयमें तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सब प्राणी आरम्भमें (उत्पत्तिसे पूर्व) अव्यक्त होते हैं, बीचमें व्यक्त रहते हैं और अन्तमें भी अव्यक्त हो जाते हैं, अतः इस (मरण) में दुःख क्यों किया जाय।

२. यह बाँधकी ओरका रहनेवाला एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति था। उसकी ऐसी प्रवृत्ति क्यों हुई इसका पता कुछ नहीं लग सका।

अद्वैतानन्दजीसे मोरछल माँगा, किन्तु उन्होंने मना कर दिया। इसपर यह वहाँसे चला गया। प्रायः दस मिनटमें फिर लौट आया। लौटकर पीछेसे ही उसने बड़ी तेजीसे एक गँड़ासे द्वारा आपके सिरपर तीन वार किये। बहिनजी ने उसे झटका मारा और श्रीमहाराजजीके सिरपर हाथ रखा। इससे उनकी अँगुलीमें भी चोट आ गयी। यह घटना इतनी तेजीसे हुई कि उपस्थित लोगोंकी समँझमें कुछ नहीं आया कि क्या हो रहा है। चोट लगनेपर श्रीमहाराजजीका हाथ सिरपर गया और उसकी एक अँगुली कट गयी।

अब लोगोंको पता चला कि क्या हो रहा है। कुछने तो श्रीमहाराजजी को सँभाला और कुछ उसके पीछे भगे। उन्होंने उसे पकड़कर उसी गँड़ासेसे समाप्त कर दिया। मैं भीतर भागा पहुँचा तब श्रीरामजीने कहा, "भागो, डाक्टरोंको लाओ।" वैसा ही किया गया। डाक्टरोंने अपना प्रयत्न किया। आपने आँखें खोलकर पूछा, "क्या हुआ ?" फिर प्रणव उच्चारण किया और शान्त हो गये।

क्या हुआ ? हमारे भाग्य फूटे। पुण्य बीत गया, प्रमाद बढ़ गया। जैसे यादवोंने श्रीकृष्णको नहीं पहचाना वैसे ही हम भी नहीं पहचान सके कि ये क्या हैं ? आपने तो अपने लीलासंवरणमें दिखा दिया अपना अद्भुत बल-पौरुष, अनुपम शान्ति, अद्वितीय अगाध रसमें निमज्जन और स्थिति अगतिमें गति और अरूपमें रूप। आपने दिखाया कि किस बलसे आत्मप्राप्ति होती है और अद्वितीय आत्मप्रेमकी देन क्या है ? आपमें उदारता इतनी थी कि अपनेको भी लुटा दिया। पूर्ण भगवान्‌की यही पूर्ण देन है। साथ ही यह भी दिखा दिया कि संसार तो बदलेमें यही देता है। यदि मार खानेका इतना बल हो तभी प्रवृत्तिमें पैर रखना। कहते थे कि मैं करके दिखाता हूँ, सो आपने ईश्वरीय साहस और जीवनकी पराकाष्ठा दिखा दी इस श्रुतिका अर्थ मूर्त्तिमान् हो गया—**'छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत उपल इव तिष्ठासेदाकाशवत् तिष्ठासेत्।'** अर्थात् छेदन किये जानेपर भी न तो कोप करे, न काँपे, अपितु पत्थरकी तरह रहे, आकाशकी भाँति रहे। बस, अब तो एकमात्र सम्बल यही है—**'तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्'** (कविजनों द्वारा कीर्तित आपका पापापहारी कथामृत ही हम सन्तप्तोंका जीवन है।) वे तो कहीं गये नहीं हैं। श्रुति कहती है—**'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ते'** (तत्त्ववेत्ताके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता।)

श्रीमहाराजजी क्या हैं। वे अद्वितीय हैं, अनुपमेय हैं, अवर्णनीय हैं, अस्वादनीय हैं और वरणीय हैं। उनका चिन्तन ही उन्हें पानेका सोपान है। और हमारे लिए तो वे जैसे तब थे वैसे ही अब भी हैं।

फिर तो सभी लोग एकत्रित हुए और निर्वाणोत्सव हुआ। उसके पश्चात् पूज्य बाबाके आदेशसे स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीको ट्रस्टाधिपति बनाया गया। वे तो बने बनाये ही थे, क्योंकि स्वयं श्रीमहाराजजीकी रुचि ऐसी ही थी।

निर्वाणके पश्चात्

श्रीमहाराजजीकी कृपारसमूर्ति अब भी हमारे हित के लिए अकुलाती है और हमारे साथ ही है। इस बातका स्पष्ट अनुभव अगणित भक्तोंको हो रहा है। यहाँ उनमें-से दोके प्रसङ्ग प्रस्तुत किये जाते हैं।

ब्रह्मचारी श्रीरामजी—आज-कल जो ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी शान्तानन्दजी हैं अपने पूर्वाश्रममें वे कई वर्षोंतक श्रीमहाराजजीकी सेवामें रहे हैं। उस समय उन्हें श्रीरामजी ब्रह्मचारी कहते थे। पहले वे गीताप्रेस, गोरखपुरमें काम करते थे। वहाँसे विरक्त होकर वे घूमते-घूमते चित्रकूटकी ओर गये। यह बात सन् १९४२ ई० की है। उन दिनों इन्हें किन्हीं अनुभवी पथप्रदर्शककी खोज थी, जो इन्हें संसार-सागरसे निकालकर परमानन्दकी अनुभूति करा दे। चित्रकूटमें इन्होंने एक महात्मासे श्रीमहाराजजीके विषयमें सुना कि वे बड़े अनुभवी; उदार और सर्वगुणसम्पन्न उच्चकोटिके महात्मा हैं। नाम सुनकर बड़ा हर्ष हुआ और ऐसी उत्कण्ठा हुई कि शीघ्र ही चलकर दर्शन करूँ। प्रयागके कुम्भमें इन्हें श्रीआनन्द ब्रह्मचारी मिल गये। उनसे इन्हें श्रीमहाराजजीका विशेष परिचय प्राप्त हुआ। उनके साथ ये श्रीहरि बाबाजीके बाँधपर पहुँचे। यहीं उन दिनों श्रीमहाराजजी विराजमान थे। उनके दर्शन करके इनका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। परन्तु महापुरुषोंकी महिमा बड़ी विचित्र होती है—**'सन्तकी महिमा वेद न जानै।'** बड़ी कठिन परीक्षा हुई। किन्तु भगवत्कृपासे अन्तमें शरण मिल गयी। श्रीमहाराजजीके यहाँ सत्संगका सुन्दर सुयोग था। वेदान्त विषयपर जिज्ञासाओंके गम्भीर प्रश्नोत्तर होते थे। परन्तु इन्हें तो उस समय सगुण ब्रह्ममें ही विशेष प्रेम था। इसलिए अधिकतर एकान्तमें ही रहते थे।

उन्हीं दिनों स्वामी अखण्डानन्दजी संन्यास लेकर वहाँ आये हुए थे। ये अधिकतर उन्हींके पास रहते थे। साधनके विषयमें भी अधिकतर उन्हींसे इन्हें मार्ग-दर्शन मिला। इसके कई वर्ष पश्चात् एक दिन वृन्दावनमें उनसे श्रीमहाराजजीके विषयमें बात-चीत हो रही थी। उन्होंने कहा, "यदि तुम भगवान् रामको प्रसन्न करना चाहते हो तो श्रीशंकरजीकी सेवा करो। हमारे श्रीमहाराजजी शंकर-स्वरूप ही हैं। उन्हींकी सेवासे तुम अपना अभीष्ट प्राप्त कर लोगे। सौभाग्यवश इन्हें श्रीमहाराजजीकी ओरसे सेवाकी स्वीकृति मिल गयी। वैशाख शु० ६ सं० २००२ वि० से ये श्रीमहाराजजीकी सेवामें रहने लगे। फिर तो इन्हें नित्य-नये अनुभव होने लगे। वे इनके मन की प्रत्येक वृत्तिको क्रियारूपमें परिणत होनेसे पहले ही जान लेते थे। कछवी जैसे अपने अण्डोंकी रक्षा करती है वैसे ही ये दूर रहें चाहे समीप वे व्यवहार और परमार्थ दोनों हीमें इनकी रक्षा करते थे।

श्रीमहाराजजीने जब अपनी लौकिक लीला-संवरण कर ली तो अपना कोई सहारा न देखकर इन्हें उनके वियोगमें बड़ी व्याकुलता हुई। मनमें आया कि उत्तराखण्डमें चलकर अपना जीवन समाप्त कर दूँ। अतः ये बिना किसी से कुछ कहे चल दिये और यमुनोत्तरी होते गंगोत्तरी पहुँचे। वहाँ रात्रिमें स्वप्नमें इन्हें मकरवाहिनी भगवती भागीरथीने दर्शन दिया और कहा, "बेटा! घबराओ मत। तुम्हें महाराजजीके दर्शन अवश्य होंगे।" यह कहकर वे अन्तर्धान हो गयीं और इनकी निद्रा खुल गयी। प्रातःकाल होनेपर ये गंगातटकी एक शिलापर बैठकर ध्यान करने लगे। थोड़ी देरमें इन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वहाँका स्थान नहीं है, श्रीवृन्दावनका आश्रम है। श्रीमहाराजजी अर्ध पद्मासनसे बैठे हैं और ये उनके चरणोंपर सिर रखकर कह रहे हैं, "महाराजजी! मुझे मत छोड़िये।" वे कह रहे हैं, "तुमने मेरे पास रहकर क्या नहीं सीखा? देखो, मैं तो स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ। सदा तुम्हारे पास ही हूँ और रहूँगा भी। तुम्हारे सामने जो घटना हुई है वह तो मायाका खेल था। तुम दुःख मत मानो। जब मैं तुम्हारा रक्षक सर्वदा तुम्हारे पास हूँ तो फिर क्यों चिन्ता करते हो?"

इसके पश्चात् इनकी आँखोंके आगेका दृश्य बदल गया। उन्होंने देखा कि वही गंगातट है, ये शिलापर बैठे हुए हैं और नीचे श्रीगंगाजी हर-हर ध्वनि करती तीव्र वेगसे बह रही हैं। इस घटनासे इनके मनमें

हर्ष और विषाद दोनों हुए। श्रीमहाराजजीके कथनको स्मरण करके उठे और अपने निवास-स्थानपर चले आये।

इसके कुछ काल पश्चात् इन्होंने ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास ले लिया। तब इनका योगपट्ट हुआ दण्डिस्वामी शातानन्द सरस्वती। अपनी वसीयतमें उन्होंने इन्हें ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। अतः उनका निर्वाण होनेपर ये ज्योतिष्पीठपर अभिषिक्त हुए।

श्रीपल्टू बाबा—इसी प्रकार पल्टूबाबाको भी श्रीमहाराजजीके विरह का अत्यन्त सन्ताप था। उनके मनमें व्याकुलता अधिक बढ़ती तो चित्त बहलानेके लिए बाहर चले जाते थे। एक रात्रिको श्रीमहाराजजीने स्वप्नमें दर्शन दिये और बोले, "क्या तुम मुझे शरीर समझते हो? मैं क्या शरीर हूँ? तुम मेरे इस शरीरसे प्रेम करते हो। शरीर तो आजतक किसीका भी नहीं रहा। ब्रह्मा और शिवका शरीर भी उनकी आयु समाप्त होनेपर नहीं रहता। मेरे सत्संगका क्या यही फल है। याद रखो, शरीर तो सभी अनित्य हैं।" इस प्रकार उपदेश पाकर इन्हें बहुत आश्वासन मिला और ये आपकी आज्ञानुसार नियमसे भजन करते अन्तिम समय तक श्रीवृन्दावन आश्रममें ही रहे। वहीं पाँच-छः साल पश्चात् इनका देहावसान हुआ।

यहाँ इनका कुछ परिचय देना अप्रासंगिक न होगा। ये जिला बरेली के रहनेवाले थे और सतनामी सन्त थे। इनका साम्प्रदायिक नाम गरीबदास था। पढ़े-लिखे बिल्कुल नहीं थे। परन्तु सन्तोंकी वाणियाँ बहुत याद थीं। पुराने सन्त थे, देशाटन भी खूब किया था और साधुताकी बड़ी ठसक थी। पहले-पहल खुरजामें श्रीकेदारनाथ भक्त और मुनिलालजीसे इनकी भेट हुई। वे इन्हें श्रीमहाराजजीके पास मोहनपुर ले गये। उनका दर्शन करनेपर मन उन्हींकी ओर आकर्षित हो गया और शेष जीवन अधिकतर उन्हींकी सन्निधिमें व्यतीत हुआ। ये सन्तोंकी वाणियाँ बड़े उत्साहसे सुनाते थे—मुख्यतया पल्टू साहबकी। इसलिए श्रीमहाराजजी इनको 'पल्टू' कहने लगे तथा आगेके जीवनमें यही इनका नाम हो गया।

इसी प्रकारके अनुभव और भी कई साधकोंको हुए हैं।

फिर ट्रस्टाधिपतिजीने भी आश्रमका कार्य खूब सँभाला। पूज्य बाबा पहले कुछ उदासीनसे रहते थे, किन्तु अब वे खूब मधुर स्नेह देने लगे।

श्रीमहाराजजीके रक्तरञ्जित वस्त्रोंको कुटियाके नीचेवाली गुफामें समाधि दी गयी। फिर पूज्य बाबा, स्वामी श्रीशास्त्रानन्दजी, स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी और ट्रस्टाधिपतिजी आदि सब महात्मा रामघाट गये। वहाँ श्रीमहाराजजीके साधु-आश्रमका प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ। उसका खर्चा ठाकुर कञ्चनसिंहजीने दिया। इसके कुछ वर्ष पश्चात् पूज्य बाबाके कर-कमलोंसे मन्दिरका शिलान्यास हुआ और श्रीऋषिजीके प्रयाससे ट्रस्टके तत्त्वावधानमें एक संगमरमरका मन्दिर बना। लाला गनेशीलालजीके उत्साह और उद्योगसे ट्रस्टकी ओरसे ही जयपुरके कलाकार श्रीगोपीचन्द्र मिश्रने प्रतिमा तैयार की। उसकी प्रतिष्ठा बड़ी धूम-धामसे करनेका निश्चय हुआ। उसका कुछ विवरण आगे दिया जाता है।

प्रतिष्ठा–महोत्सव

मूर्तिप्रतिष्ठाकी तिथि सं० २०१६ वि० की शिवरात्रि निश्चित हुई। आप साक्षात् सदाशिव-स्वरूप ही थे। इसी भावसे भक्तलोग आपकी आराधना भी करते थे। अतः आपके अर्चा विग्रहकी प्रतिष्ठाके लिए यही तिथि सर्वथा उपयुक्त समझी गयी। प्रतिष्ठाका कर्मकाण्ड कराया पं० चन्द्रशेखरजी हाथरसवालोंने। यजमान थे श्रीधीरजरामजी। कर्मकाण्डकी व्यवस्थाका कार्य श्रीगनेशीलालजीने किया। इसी प्रकार अन्यान्य कार्य भी भिन्न-भिन्न महानुभावोंको सौंप दिये गये। कार्य बहुत सुव्यवस्थित और उत्साहके साथ हुआ। श्रीमहाराजजीसे प्रेम रखनेवाले प्रायः सभी सन्त और महापुरुषोंको निमन्त्रित किया गया। पूज्य बाबा, पूजनीया माँ और स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीके तत्त्वावधानमें यह उत्सव बड़े समारोहसे हुआ। सर्वश्री जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी शान्तानन्द सरस्वती, स्वामी शास्त्रानन्दजी, स्वामी निर्मलानन्दजी और श्रीकिशोरीजी आदि अनेकों महापुरुषोंने इस महोत्सवकी शोभा बढ़ायी। अर्चावतार रूपमें यह एक प्रकारसे आपका जन्मोत्सव ही था। अतः सन्त-महात्माओं और सेवकोंको यथोचित वस्त्रादिसे भी सम्मानित किया गया। अब तक प्रतिवर्ष चैत्रकी अमावस्याको आपका निर्वाणोत्सव होता था। इसके पश्चात् वह गौण हो गया और प्रतिवर्ष शिवरात्रिको पाटोत्सव मनाया जाने लगा।

उपसंहार

इस प्रकार देवाधिदेव महादेव रूपसे सर्वदेवमय गुरुदेवका जो शिवरात्रि-महोत्सव होता था इस रूपमें फिरसे प्रतिष्ठापित हुआ और इस

प्रकार उनकी कृपा प्रत्यक्ष हुई। सन्त, महन्त और भक्त आपके आगमनकी बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे थे। आप तो पूर्ण हैं, पता नहीं किस रूपमें कहाँ प्रकट हो जाँय। आपके वियोगसे अबतक जो क्षण-क्षण और कण-कण विषादग्रस्त हो रहा था, उसने भी करवट बदल ली। अब ऐसा अनुभव होने लगा कि जो सदाशिव सर्वात्मा श्रीगुरुदेव अपने अमूर्त्त पूर्णानन्दस्वरूपमें समा गये थे वे पुनः मूर्त्त कृपारूप होकर आविर्भूत हो रहे हैं। उस अनन्त कृपामूर्त्तिके आविर्भावकी सूचनाका बढ़ते हुए उत्साहसे स्वागत हुआ। उनका वह दिव्य अर्चा-विग्रह सम्पूर्ण मंगलोंका उद्‌गम स्थान है। वह प्रफुल्लित आनन्दसे तरङ्गायमान है। उसके प्राकटचको उद्‌घोषित करते हुए विविध वाद्योंकी स्वरलहरीने दिग्दिगन्तको गुञ्जायमान कर दिया। वेदमन्त्रोंका घोष विविध स्वरोंमें तरङ्गायमान होने लगा। सभी भक्त अपने हृदय और नेत्रोंके पाँवड़े बिछाकर आपके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अतः सभीके हृदय उल्लसित हो गये। उस समय वहाँके वातावरणमें जो दैवी सम्पत्तिका आभास मिलता था उससे मानों आपके पधारनेकी सूचना मिल रही थी। श्रीरामके वन-गमनके पश्चात् जैसे अयोध्या दुःख और सन्तापकी आवास-भूमि बन गयी थी और फिर वही उनके पधारनेपर जैसे आनन्दसे उल्लसित हो उठी, उसी प्रकार जो श्रीकृष्णाश्रम आपके वियोगमें अत्यन्त सन्तप्त हो रहा था वह अब पुनः आनन्दकी उछालमें, माधुर्यकी मिठासमें और महिमाकी मौजमें महक उठा। ऐसा भी अनुभव होने लगा कि स्वयं धामी श्रीराधाकृष्ण प्रत्यक्ष श्रीपूर्णानन्दकी आनन्दमयी अंक पानेके लिये मानो मचल-मचलकर, आनन्दसे लचक-लचककर और विनोदमें हँस-हँसकर माधुरी बिखेरते आ रहे हैं। वे ऐसा अनुभव करा रहे हैं कि व्रजका आनन्द तीनों लोकोंसे न्यारा है। प्रभुकी रासलीला भी चल पड़ी। अब यह अनुभव होने लगा कि **'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद'** (नारद ! मेरे भक्त जहाँ मेरा नाम गान करते हैं वहीं मैं रहता हूँ)।

आपकी प्रतिमाकी प्राणप्रतिष्ठा होनेपर लोगोंको तरह-तरहके अनुभव हुए। किन्हींको उनसे नेत्र हिलते दिखायी दिये। इससे उन्हें ऐसा ढाढस बँधा कि जो हमें छोड़कर चले गये थे वे फिर आ गये हैं। किन्हींको हृदयकी धड़कन जान पड़ी, इससे उनके हृदय उत्साहित होकर उनके हृदयसे अभिन्न हो गये। पूजनीया माँ तो उन अर्चावतार गुरुभगवान्‌से बाँह

भरकर मिलीं। किन्तु पूज्य बाबा तो अपने लजीलेपनके साथ मुग्ध आनन्दरसानुभूतिमें ही डूबे हुए थे। ऐसा जान पड़ता था मानो दोनोंकी प्यार भरी दृष्टियाँ ही आपसमें प्रेमालिंगन कर रही हैं। अभी आपको आये कुछ भी देर नहीं हुई तो भी आप पूज्य बाबाके ध्यानमें ही निमग्न जान पड़ते थे। बाबा भी सब कुछ भूलकर उनके इस आगमनके आनन्दमें डूब गये, जैसा कि पहले प्रत्येक उत्सवके अवसरपर होता था। सब ऐसे मन्त्रमुग्ध थे मानो आनन्दकी अभिव्यक्तिकी अनिर्वचनीयताका ही मूक गान गा रहे हैं।

इधर श्रीमहाराजजीके अर्चावतार भगवान् ऐसी प्रफुल्लता बिखेर रहे थे मानो समागत सन्तोंका स्वागत कर रहे हों। उनके आगमनपर मानो अपना आनन्द अभिव्यक्त कर रहे हों। उस समय अर्चाविग्रहमें तो आपका आविर्भाव हुआ ही, साथ ही आप सबमें इतने व्याप गये कि व्याप्य-व्यापकताको भी मिथ्या करके मानों स्वयं ही सबकी देख-भाल करनेमें लग गये। तब ऐसा जान पड़ा कि जैसे व्रजका ठाकुर बिना छेड़-छाड़ किये नहीं रह सकता वैसे ही आप सर्वात्मभावसे सबकी समाराधना किये बिना नहीं रह सकते। निदाघसन्तप्त जीवोंको जैसे हरिद्वारमें गंगास्नान करके आनन्द आता है उससे शतगुणित आनन्द हम दुःखसन्तप्त लोगोंको आपको इस रूपमें आविर्भूत देखकर मिला। फिरसे नया जीवन, नयी उमंग, नवीन स्फूर्त्ति और नया उत्साह जाग उठा। यह कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि अति अद्भुत मृत्युञ्जय गुरु भगवान्‌का आविर्भाव हुआ था। अब हमको यह मालूम हुआ कि हमें अकुलानेकी आवश्यकता नहीं है, हमारे हृदयका धैर्य छूटनेका कोई निमित्त नहीं है, शापसन्दग्ध सगरपुत्रोंके समान हमारा यह जीवन राखकी ढेरी नहीं है, क्योंकि अब तो गंगावतरणके समान हमें पावन करने, प्रसन्नता देने और परमार्थ-गति प्रदान करनेके लिए यह अर्चनावतरण हुआ है। इस अवतरणके द्वारा आपने अपने न्यस्त-दण्ड स्वभावकी सहज कृपा, निरुपाधि सौन्दर्यकी महिमा पतित-पावनी विरुदावलीकी अनुपम उदारता तथा एकबार अपनाकर पुनः न त्यागनेका अद्वितीय शरणागतवात्सल्य ही प्रदर्शित किया। इतना ही नहीं, इस रूपमें वह प्रेमभरी चितवन, वह रसभरे नेत्र, वह निःस्पन्द ब्रह्मप्रतिमान-रूपा शाम्भवी मुद्रा, वह तन-स्थिर मन-स्थिरका सतत संगीत तथा मूर्त्त और अमूर्त्त ब्रह्मकी रसमाधुरी देखते ही बनती है।

यह अर्चावतार अपने रोम-रोमसे या परमाणु-परमाणुसे पूर्ण आनन्दका प्रतिभान करा रहा है। कई दर्शक ऐसा कहते सुने गये कि यह मूर्त्ति है या साक्षात् बाबा ही हैं। यह मानो अपनी मधुर मुसकानमें गा रही है—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

इस प्रकार इस अर्चाविग्रहके रूपमें भक्तोंको परम आलम्बन मिल गया तथा जीवनका सम्बल और अनुग्रहकी अद्भुत झाँकी मिल गयी।

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः।
अर्पिता तेन मे देवः प्रीयतां परमेश्वरः॥
न जानामि योगं जपं नैव पूजां,
नतोऽहं सदा सर्वदा शम्भु तुभ्यम्।
जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं
प्रभो पाहि आपन्नमामीश शम्भो॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२६	निरशा	निराशा
१४	८	अशान्त हैं।	शान्त हैं।
१५	१५	हजिरा-	हाजिरा-
१९	२२	टाँट-	डाँट-
२०	२४	विधि-वशात	विधि-वशात्
२७	१८	अहा	कहा
३२	१०	निश्चित	निश्चिन्त
३६	१८	नियम	नियम था
३७	टिप्पणी–४	वासदेवजी	वासुदेवजी
३७	टिप्पणी–५	मेष	मेषः
३८	१९	किञ्चित्	क्वचित्
३८	२६	यज्ञेय	यज्ञेश
५२	४	कायके	कार्यके
५२	१३	है	है।
५७	१६	दशन	दर्शन
५७	अन्तिम	-निष्ट'	-निष्ठः'
६३	११	तमोमय	तपोमय
७६	६	निरभिमान	निरभिमानकी
७६	१२	फलिष	फलित
८६	१४	भ्रमके	भ्रमरके
८७	६	सिद्धान्त	सिद्धासन
९०	२१	समष्ठिरूप	समष्टिरूप
९२	टिप्पणी–१	पदकी	पर्देकी
९४	९, १०	उपशय	उपशम
९५	१५	देकर	देखकर
९५	३०	ज्योतिषने	ज्योतिषीने
१०६	१४	चमक	चमके
१०६	२८	उन्हीं	उन्हें
१०७	८	भोज	भोजन

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११८	६	आजो	जाओ
१२६	७	जाती	जाती है
१३६	अन्तिम	ब्दोंमें	शब्दोंमें
१४७	६	सहना	सहनी
१४८	३०	सुनिश्चित्	सुनिश्चित
१५१	१८	मय्येवं	मय्येव
१५८	२०	बदलने	बदलते
१५६	६	-ऽग्रत्र-	-ऽग्रत-
१५६	१५	लगे	कहने लगे
१६३	१६	-मध्यसेत्	-मभ्यसेत्
१६८	५	आपके	उसके
१७६	११	वाच्छामि	वाञ्छामि
१६४	२१	प्रिय	प्रियः
२०२	२१	पढ़नेका	पढ़ानेका
२०३	१	आपके	आपने
२०६	२७	क्लोवा	क्लीवा
२०७	१०	ओर	और
२१०	१०	का पालीवाल	पालीवालका
२१४	२६	श्रीमहाराजजीक	श्रीमहाराजजीके
२१८	१	ईश्वरकी	ईश्वर ही
२१६	६	रही है।	रही है,
२२५	टिप्पणी–२	मनुष्य है,	मनुष्य है'
२२६	२०	वक्तं····कृत्रिमम	वक्तुं····कृत्रिमम्
२३७	२	इसी	इसी प्रकार
२३८	६	इनके	इनसे
२५३	२३	विद्वद्‌मण्डली	विद्वन्मण्डली
२७८	७	कूटस्थ, स्वामी	कूटस्थ स्वामी,
२८०	७	विभ्रङ्गिरं	विभ्रद्‌गिरं
३११	५	निराकार	नीराकार
३१२	अन्तिम	सतरूप	सन्तरूप
३२६	१२	तिष्ठन्त	तिष्ठन्तं

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३०	८	नानुषञ्जते	नानुषज्जते
३३०	१६	-चलस्थिरः	चलं स्थिरः
३३०	१७	(३।१३)	(६।१३)
३६२	१८	डिप्टि	डिपुटी
३७६	१७	फलम	फलम्
३७६	अन्तिम	एक-सो	एक-सी
३८०	४	समद्रङ्	समदृङ्
३८५	२३	ओर	और
३९१	१०	इन्होंने	इनके
४००	१९	-त्रिल क्याम्	-त्रिलोक्याम्
४५४	२६	श्रीप्रभुदत्तजीकी	श्रीप्रभुदत्तजीको
४५४	२६	भागीरथजीकी	भगीरथजीकी
४५५	११	मुरारी	मुरारे
४५५	१२	अनिवच्छिन्न	अनवच्छिन्न
४५६	१४	चौकमें	चौकेमें
४५८	२६	ब्राह्मी	ब्राह्म
४६७	३	अधूरालाप	मधुरालाप
४६९	९	स्कन्धमैं	स्कन्धमें
४७०	१४	प्रथक्	पृथक्
४७१	२	करता	कराता
४७१	१४	मिलनकी	अमिलनकी
४७१	१५	संजोग	संयोग
४७२	७	काच न	काचन
४७५	९	विष्ठावान्	निष्ठावान्
४७८	१	अपने	आपने
४८३	२	विवयम	विनयम्
४८४	१४	अन्तता	अनन्तता
४८५	९	भावनामैं	भावनामें
४९६	१६	वहा	वही
४९६	२८	विद्याभास्कर,	विद्याभास्कर
५००	३,९	बोधवान	बोधवान्

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२१	१४	जीनन	जीवन
५४६	१२	रजिकशेखर	रसिकशेखर
५५८	१६	समाप्य	समाप्त
५६०	२	लनती	लगती
५६६	२५	कुछ	कुछकी
५६६	१६	ही	हो
५८२	७	मृत्युध्रुवं	मृत्युर्ध्रुवं
५८२	१०	अव्यक्ता-	अव्यक्त-



हमारे अन्य प्रकाशन

गीतातत्त्वालोक—यह परमपूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज द्वारा की हुई श्रीमद्भगवद्गीताकी व्याख्या है। इस ग्रन्थरत्नपर अब तक अनेकों व्याख्याएँ हो चुकी हैं। यह भी अपने ढङ्गकी अनोखी हैं। इसका मुख्य लक्ष्य तो अद्वैतपरक ही है, परन्तु उसके लिये कोई पक्षपातपूर्ण खींचतान नहीं है। प्रसंगके अनुसार भक्ति और कर्मका भी सुन्दर विवेचन है। एक तत्त्वनिष्ठ महापुरुषकी वाणी है। शैली सुबोध और सरल है। मूल्य १६ रु० मात्र।

श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश—पूज्यपाद बाबाकी यह पुस्तक साधकों के बड़े कामकी है। इसमें आचार, उपासना और ज्ञान तीन खण्ड हैं। वे सहज स्वभाव रूपसे जो साधकोपयोगी चर्चा करते थे उसमेंसे जिस प्रकारके साधकोंको जो विशेष उपयोगी जान पड़ती थी उसे वे लिख लेते थे। उन्हीं उपदेश-रत्नोंका यह संग्रह है। अबतक इस पुस्तकके अनेकों संस्करण हो चुके हैं। प्राय: ५०० पृष्ठोंकी पुस्तकका मूल्य ८ रु० है।

श्रीउड़ियाबाबाजीके संस्मरण—इसमें पूज्य बाबाके विभिन्न भक्तोंकी श्रद्धाञ्जलियाँ हैं, जिनसे उनकी अद्भुत ब्रह्मनिष्ठा और अलौकिक शक्तियोंका परिचय मिलता है। बहुतसे रोचक और प्रेरक प्रसंगोंका उल्लेख हुआ है। पुस्तक के दो खण्ड हैं। प्रत्येक खण्डका मूल्य ८ रु० है।

